पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,

हरिद्वार

वर्ग संख्या . . . .

आगत संख्या 36240

पुस्तक-वितरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित १५वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा ५ पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

गुरुकुल विश्वविद्यालय के कुलपति
श्री पं. इन्द्र जी विद्यावाचस्पति की सेवा में
समालोचनार्थ सादर भेंट
हरिदत्त विद्यालंकार

यूरोप का आधुनिक इतिहास

(१७८९ से १९४९ तक)

प्रथम भाग

(१७८९ से १९१४ तक)

लेखक
मंगलाप्रसाद पारितोषिक विजेता
सत्यकेतु विद्यालंकार डी० लिट० (पेरिस)

सरस्वती सदन
नैनीताल
१९५०

मूल्य १०)

Published by
The Indian Press Ltd. Allahabad
for Saraswati Sadan, Nainital

Printed by K. Mittra at
The Indian Press Ltd.
Allahabad

विषय-सूची

दूसरा भाग

चित्र सूची

पहला भाग

पृष्ठ

दूसरा भाग

निवेदन

स्वतन्त्र भारत के शासन-विधान में यह बात स्वीकृत कर ली गई है, कि हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है, और अधिक से अधिक पन्द्रह सालों में भारत की संघ सरकार अपने प्रायः सभी कार्य हिन्दी में करने लगेगी। भारतीय संघ के अन्तर्गत अनेक राज्य हिन्दी को अपनी राज-भाषा स्वीकार कर चुके हैं। अनेक विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा भी हिन्दी के माध्यम द्वारा दी जाने लगी है। अब हिन्दी को वह गौरव-पूर्ण व उच्च स्थान प्राप्त हो गया है, जिसके लिए देश के राष्ट्रसेवक पिछली आधी सदी से यत्न कर रहे थे।

इस दशा में हिन्दी के लेखकों व प्रकाशकों पर विशेष उत्तरदायित्व आ गया है। अब यह आवश्यक हो गया है, कि इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति, रसायन, भौतिक विज्ञान आदि सभी आधुनिक विषयों पर उच्च से उच्च ज्ञान हिन्दी में उपलब्ध हो। हिन्दी का साहित्य-भण्डार विविध वैज्ञानिक व आधुनिक विषयों की उच्च कोटि की पुस्तकों से इतना अधिक परिपूर्ण हो जाय, कि किसी को यह कहने का अवसर न रहे, कि साहित्य की कमी के कारण हिन्दी को उच्च शिक्षा की माध्यम बनाने व सरकारी कार्यों के लिए प्रयोग करने में रुकावट होती है।

हमारा प्रयत्न यह है, कि विविध विषयों पर उच्च कोटि की पुस्तकें हिन्दी में तैयार कराके उन्हें प्रकाशित करें। 'यूरोप का आधुनिक इतिहास' इसी मार्ग पर हमारा पहला कदम है। हमें आशा है, कि यह ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य की एक भारी कमी को पूर्ण करेगा।

सरस्वती सदन
नैनीताल

प्रारम्भिक शब्द

संसार के आधुनिक इतिहास में यूरोप का महत्त्व बहुत अधिक है। सभ्यता, संस्कृति, ज्ञान, विज्ञान, कला-कौशल, व्यापार, व्यवसाय आदि सभी क्षेत्रों में यूरोप इस समय संसार का शिरोमणि है। संसार की शान्ति यूरोप की राजनीति पर आश्रित है। यूरोप से जो नई लहर शुरू होती है, यूरोप में जो घटना घटती है, उसका प्रभाव सारे संसार पर पड़ता है।

यूरोप का यह महत्त्व सदा से नहीं चला आ रहा। न ही यूरोप सदैव इतना उन्नत रहा है। आज से लगभग डेढ़ सदी पूर्व यूरोप की प्रायः वही दशा थी, जो भारत, चीन, ईरान आदि अन्य देशों की थी। सर्वत्र एकतंन्त्र, स्वेच्छाचारी राजा राज्य करते थे। लोकतन्त्र शासन का कहीं नाम भी न था। कल-कारखानों का विकास नहीं हुआ था। कारीगर अपने घर पर बैठकर मोटे, भद्दे औजारों से कार्य करते थे। रेल, मोटर, हवाई जहाज, तार, रेडियो आदि का नाम भी कोई नहीं जानता था। यूरोप में जो यह असाधारण उन्नति हुई है, वह पिछली डेढ़ सदी की कृति है। यूरोप का यह डेढ़ सदी का इतिहास सचमुच बड़ा अद्भुत व आश्चर्यजनक है। इस थोड़े से काल में यूरोप उन्नति की दौड़ में किस प्रकार इतना आगे बढ़ गया, इसकी कहानी बड़ी मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद है। इसी आश्चर्य जनक उन्नति की कहानी को सरल व स्पष्ट रूप से लिखने का प्रयत्न मैंने इस इतिहास में किया है।

भारत में यूरोप के इतिहास को पढ़ने का रिवाज बहुत कम है। ब्रिटेन के शासन-काल में यहाँ स्कूलों और कालिजों में इँगलैंड का

इतिहास पढ़ाया जाता था। अपने देश के इतिहास की अपेक्षा भी इँगलैंड के इतिहास को अधिक महत्त्व दिया जाता था। यह हमारे देश का दुर्भाग्य था। हम ब्रिटेन के साम्राज्य के अधीन थे, अतः यदि ब्रिटिश लोग हमें अपने देश का इतिहास पढ़ा कर अपनी उत्कृष्टता का सिक्का हमारे दिमागों पर जमाने का प्रयत्न करते, तो इसमें आश्चर्य ही क्या था? यह ठीक है, कि केवल अपने देश के इतिहास को जानने से काम नहीं चल सकता। हमें दूसरे देशों का भी इतिहास पढ़ना चाहिए। आजकल प्रवृत्ति यह है, कि संसार के इतिहास को समग्र रूप से पढ़ा जाय। संसार एक है, मनुष्य जाति एक है, एक देश का दूसरे देश के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यही कारण है, कि मानवीय उन्नति की कथा को भी समग्र रूप से ही पढ़ना उचित है। अपने देश का इतिहास तो विस्तार के साथ पृथक् रूप से पढ़ना ही चाहिए। पर अपने देश के इतिहास के साथ साथ संसार के इतिहास को भी समग्र रूप से पढ़ना आवश्यक है। यूरोप और अमेरिका के उन्नत देशों में आजकल यही ढंग बरता जाता है। वहाँ स्कूलों तक में इतिहास के कोर्स का निर्माण इसी दृष्टि से किया जाता है। पर भारत में स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के बाद भी अभी कालिजों तक में 'इँगलैंड का इतिहास' पढ़ाया जा रहा है। यूरोप व समग्र संसार के इतिहास को पढ़ने की प्रवृत्ति अभी इस देश में बहुत कम है।

इसमें सन्देह नहीं, कि इँगलैंड के इतिहास में अनेक उपयोगी अंश हैं। विशेषतया, पार्लियामेंट द्वारा शासन का विकास और ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार—ये दो बातें ऐसी हैं, जो इँगलैंड के इतिहास की विशेषताएँ हैं, और जिनके सम्बन्ध में यथोचित जानकारी प्रत्येक इतिहास-प्रेमी के लिए आवश्यक है। पर इँगलैंड के इतिहास की और बहुत सी घटनाएँ ऐसी हैं, जिनका दूसरे देशों के लिए कोई विशेष उपयोग नहीं है। मेरी सम्मति में, आजकल भारत के स्कूलों और

कालिजों में जो स्थान इँगलैण्ड के इतिहास को प्राप्त है, वह यूरोप के इतिहास को मिलना चाहिए। इँगलैण्ड के इतिहास की मुख्य घटनाएँ, पार्लियामेंट द्वारा शासन का विकास और ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार—यूरोप के इतिहास में आ ही जाती हैं। यूरोप का इतिहास पढ़ने से फ्रांस, जर्मनी, रशिया आदि अन्य देशों के इतिहास की भी उन बहुत सी घटनाओं का बोध होता है, जिन्हें जाने बिना संसार की वर्तमान प्रगति का परिचय नहीं हो सकता। मुझे आशा है, हमारे देश के शिक्षा-विज्ञ इस तरफ ध्यान देंगे, और यूरोप के आधुनिक इतिहास को पढ़ने की ओर हिन्दी पाठकों की रुचि अधिकाधिक बढ़ेगी। भारत में अब स्वराज्य स्थापित हो गया है। राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ हमारे देश में सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक क्षेत्रों में भी स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति बढ़ रही है। नये विचार प्रवेश कर रहे हैं, और पुरानी रूढ़ियों व विश्वासों के विरुद्ध एक प्रकार की प्रतिक्रिया व क्रान्ति की प्रवृत्ति प्रबल हो रही है। ऐसे समय में यूरोप के आधुनिक इतिहास का अनुशीलन और भी अधिक उपयोगी है। यूरोप में ये प्रवृत्तियाँ हम से पहले आ चुकी हैं, और उसका अनुभव हमारे लिए मार्ग-प्रदर्शन कर सकता है।

यद्यपि यह पुस्तक यूरोप का आधुनिक इतिहास है, पर इसमें अन्य देशों का वृत्तान्त भी संक्षेप से आ गया है। जापान, चीन, ईरान, टर्की, अमेरिका आदि अन्य देशों के आधुनिक इतिहास की बहुत सी ज्ञातव्य बातों का समावेश प्रसंगवश इस पुस्तक में हुआ है। इससे इस पुस्तक की उपयोगिता और भी अधिक बढ़ गई है। मुझे आशा है, कि इस इतिहास से हिन्दी-प्रेमियों को सन्तोष होगा।

सत्यकेतु विद्यालंकार

अपने प्रातःस्मरणीय स्वर्गीय पिता

श्री आशाराम

और

अपनी पूजनीया स्वर्गीया माता

श्रीमती रामरक्खी देवी

की

पुण्य स्मृति में

पहला भाग

(१७८९ से १९१४ तक)

यूरोप का आधुनिक इतिहास

पहला अध्याय

विषय प्रवेश

१. प्रस्तावना

फ्रांस में राज्य क्रान्ति को हुए अभी डेढ़ सौ वर्ष के लगभग हुए हैं। डेढ़ सदी के इस थोड़े से समय में यूरोप ने जो असाधारण उन्नति की है, उसे देखकर आश्चर्य होता है। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, व्यावसायिक, धार्मिक—सभी क्षेत्रों में यूरोप में एक युगान्तर उपस्थित हो गया है। अठारहवीं सदी के अन्तिम भाग में, फ्रेंच राज्यक्रान्ति के श्रीगणेश के समय, यूरोप में एक भी देश ऐसा नहीं था, जहाँ लोकतन्त्र शासन हो। प्रायः सब देशों में वंशक्रम से आये हुए एकतन्त्र स्वेच्छाचारी निरंकुश राजा राज्य करते थे। उनका शासन सम्बन्धी मुख्य सिद्धान्त यह था—"हम पृथ्वी पर ईश्वर के प्रतिनिधि हैं, और हमारी इच्छा ही कानून है।" समाज में ऊँच नीच का भेद विद्यमान था। कुछ लोग ऊँचे समझे जाते थे, क्योंकि वे कुलीन घर में पैदा हुए थे। दूसरे लोग नीचे समझे जाते थे, क्योंकि वे जन्म से नीच थे। कल कारखानों का

विकास उस समय नहीं हुआ था। रेल, मोटर, तार, हवाई जहाज आदि का नाम तक भी कोई नहीं जानता था। सूत कातने के लिये तकुवे और चरखे काम में आते थे। घोड़े या बैल से चलनेवाली लकड़ी की गाड़ियाँ सवारी के काम आती थीं। समुद्र में जहाज चलते थे, पर भाप व बिजली से नहीं, अपितु पाल व चप्पुओं से। कारीगर लोग अपने घर में बैठकर पुराने ढंग के मोटे औजारों से काम करते थे। यान्त्रिक-शक्ति से चलनेवाले विशाल कारखाने यूरोप में उस समय तक नहीं बने थे। स्त्रियों को स्वाधीनता नहीं मिली थी। उनका कार्य क्षेत्र घर था, और घर से बाहर वे बहुत कम दिखाई देती थीं। धर्म के मामले में लोग बड़े संकीर्ण और असहिष्णु थे। प्रोटेस्टेन्ट और रोमन कैथोलिक लोग आपस में खूब लड़ते थे। आजकल के ज्ञान विज्ञान उस समय विकसित नहीं हुए थे। जिन बातों पर आज यूरोप गर्व करता है, उनका प्रादुर्भाव उस समय तक नहीं हुआ था।

डेढ़ सदी के इस थोड़े से समय में कितना भारी परिवर्तन हो गया है। इस बीच में पाश्चात्य संसार ने कैसी आश्चर्यजनक उन्नति की है। आज यूरोप में एक भी देश ऐसा नहीं है, जहाँ किसी न किसी रूप में लोकतन्त्र शासन विद्यमान न हो। वंशक्रम से आये हुए निरंकुश राजाओं के स्वेच्छाचारी शासन आज यूरोप से नष्ट हो गये हैं। 'राजाओं के दैवी अधिकार' अब स्वप्न की बात हो गया है। समाज में ऊँच नीच का भेद मिट गया है। जन्म के कारण न आज कोई ऊँचा है, न नीचा। रेल, तार, मोटर, हवाई जहाज और रेडियो ने देश और काल पर कैसी अद्भुत विजय प्राप्त की है। आज बम्बई में बैठे लण्डन से बात की जा सकती है। दिल्ली में पेरिस का संगीत सुना जा सकता है। तीन दिन में हजारों मील की दूरी पार कर भारत से यूरोप पहुँच सकते हैं। आज कपड़ा बनाने के लिये तकली, चरखे व करघे की आवश्यकता नहीं रही। आज कपड़े की ऐसी मिलें विद्यमान हैं, जो एक दिन

में लाखों गज कपड़ा तैयार करती हैं। कल कारखानों के विकास ने यूरोप के आर्थिक जीवन को बिलकुल बदल दिया है। स्वतन्त्र कारीगर का स्थान आज पूँजीपति और मजदूर ने ले लिया है। स्त्रियाँ अब स्वाधीन हो चुकी हैं। उन्हें सब क्षेत्रों में अब पुरुषों के बराबर अधिकार मिल गये हैं। स्त्रियों की स्वाधीनता के कारण यूरोप के सामाजिक और पारिवारिक जीवन में भारी परिवर्तन आ गया है। धर्म के क्षेत्र में आज प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है। धर्म के कारण आज कोई व्यक्ति किसी अधिकार से वञ्चित नहीं रहता।

यह महान् परिवर्तन किस प्रकार आ गया, यही हम इस इतिहास में स्पष्ट करेंगे। पर यह ध्यान में रखना चाहिए, कि यह परिवर्तन एकदम नहीं हुआ। मनुष्य जाति के इतिहास में कोई परिवर्तन अकस्मात् व एकदम नहीं होता। मानव शरीर के समान मनुष्य जाति भी एक जीती जागती चेतन सत्ता है। उसमें उन्नति और ह्रास दोनों धीरे धीरे होते हैं। हमने १७८९ से यूरोप के आधुनिक इतिहास को शुरू किया है। इस वर्ष फ्रांस में राज्य क्रान्ति का श्रीगणेश हुआ था। पर यह नहीं समझना चाहिये, कि १७८९ में ये सब महान् परिवर्तन यूरोप में अकस्मात् शुरू हो गये थे। ये परिवर्तन देर से धीरे धीरे हो रहे थे। १७८९ के बाद भी ये धीरे धीरे होते रहे। पर सुगमता के लिये हमने १७८९ के साल को आधुनिक यूरोपियन इतिहास का प्रारम्भ करने के लिये चुन लिया है। जिस प्रकार मनुष्य के जीवन में बाल्य, यौवन और बुढ़ापा—तीनों अवस्थायें क्रमशः आती हैं। हम यह नहीं बता सकते कि किस दिन बाल्यकाल समाप्त हुआ और यौवन का प्रारम्भ हुआ, या यौवन का अन्त हो बुढ़ापा शुरू हुआ। पर यह निश्चित है, कि किसी समय बाल्य के बाद यौवन और यौवन के बाद बुढ़ापा आ जाता है। हम केवल सुगमता के लिये यह मान लेते हैं, कि २५ वर्ष की आयु में यौवन और ५० वर्ष में बुढ़ापा शुरू हो जाता है। इसी तरह मनुष्य जाति के इतिहास में परिवर्तनों के धीरे धीरे

होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता, कि कब मध्यकाल समा हुआ और आधुनिक काल का प्रारम्भ हुआ। पर इतिहास लेख अपनी सुगमता के लिये कोई निश्चित वर्ष चुन लेते हैं, और हमने इ इतिहास में फ्रांस की राज्यक्रान्ति के श्रीगणेश के वर्ष—सन् १७८९ आधुनिक यूरोपियन इतिहास को शुरू करने के लिये चुना है।

१७८९ से १९४९ तक लगभग डेढ़ सदी के इस काल में यूरोप जो आश्चर्यजनक उन्नति की है, उसी पर हम इस ग्रन्थ में प्रका डालेंगे। पर यूरोप के आधुनिक इतिहास को शुरू करने से पूर्व यह जरू है, कि हम प्राचीन और मध्यकालीन यूरोप के सम्बन्ध में भी कुछ विच करें। पुराने यूरोप को जाने बिना नवीन यूरोप को समझ सकना कठिन है

२. प्राचीन काल

यूरोप का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। आज से ढाई हजार यूरोप का बड़ा भाग जङ्गलों से आच्छादित था। जहाँ आजकल इङ्गलै फ्रांस, जर्मनी, रूस, नार्वे, स्वीडन, आस्ट्रिया आदि के सभ्य और सम राज्य हैं; वहाँ उस समय प्रायः जंगली और असभ्य लोग बसते थे। उ समय यूरोप में केवल दो देश ऐसे थे, जहाँ सभ्यता का विकास हो र था। ये देश हैं, ग्रीस और रोम। आज से ढाई हजार वर्ष पहले ग्री अच्छा उन्नत और सभ्य देश था। वहाँ के लोग सुन्दर मकानों में र थे, खेती करते थे, संसार के गूढ़ तत्त्वों पर विचार करते थे, और विवि देवी देवताओं की पूजा कर इहलोक और परलोक में सुखी होने प्रयत्न करते थे। राजनीतिक दृष्टि से ग्रीस एक राज्य नहीं था। उ बहुत से छोटे-छोटे राज्य थे, जिन्हें हम नगर-राज्य (सिटी स्टेट कहते हैं। विविध नगर राज्यों के निवासी आपस में निरन्तर लड़ते र थे, और एक दूसरे को अधीन कर अपना 'साम्राज्य' बनाने का य किया करते थे। कुछ नगर-राज्यों में वंशक्रम से आये राजा शा

करते थे, तो दूसरों के गणशासन (रिपब्लिक) था। जनता अपना शासन स्वयं करती थी। ग्रीस में बहुत से तत्त्ववेत्ता उत्पन्न हुए, जिन्होंने दार्शनिक शैली से अध्यात्म, राजनीति, सदाचार आदि विषयों पर बड़ा गम्भीर विचार किया। सुकरात, प्लेटो और अरिष्टोटल इनमें सर्व-प्रधान हैं।

ग्रीस के उत्तर में एक छोटा-सा राज्य था, जिसे मैसिडोनिया कहते थे। ईसा से चार सदी पूर्व इसमें फिलिप नाम का एक बड़ा प्रतापी राजा हुआ। फिलिप ने एक-एक करके ग्रीस के सब नगर-राज्यों को जीत लिया। तब से ग्रीस मैसिडोनियन साम्राज्य में शामिल हो गया और उसकी स्वतन्त्र सत्ता नष्ट हो गई। इसी फिलिप का लड़का सिकन्दर था, जिसने ईजिप्ट, एशिया माइनर, एशिया आदि को जीतकर भारत पर हमला किया था, और भारत में व्यास नदी तक का प्रदेश विजय कर लिया था।

जिस समय सिकन्दर अपने विशाल साम्राज्य के निर्माण में लगा था, उसी समय उधर रोम में भी बड़ी उन्नति हो रही थी। रोम पहले एक छोटा सा नगर-राज्य था। रोम की तरह ही अन्य भी बहुत से छोटे-छोटे नगर-राज्य उस समय इटली में विद्यमान थे। रोम का शासन गणतन्त्र था। कुछ कुलीन परिवारों का 'गण' (समूह) वहाँ पर शासन करता था। धीरे-धीरे रोमन लोगों ने समीप के राज्यों पर आक्रमण कर उन्हें जीतना शुरू किया और २७५ ई० पू० तक प्रायः सारे इटली पर रोम का आधिपत्य स्थापित हो गया। पर रोमन लोग इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुए। उनमें असाधारण शक्ति और स्फूर्ति थी। वे निरन्तर विजय करते गये, और सवा दो सदी बाद ५० ई० पू० में यूरोप के जिन प्रदेशों पर आजकल स्पेन, फ्रांस और बेल्जियम के राज्य हैं, वे उन्होंने जीत लिये। पूर्व में ग्रीस और एशिया माइनर उनके अधीन हो गये थे। उत्तरी अफ्रीका के बहुत से प्रदेश भी उनके शासन में आ गये

थे। रोम का छोटा-सा गणराज्य इस विशाल साम्राज्य पर शासन क रहा था।

यद्यपि रोम की काया बहुत बढ़ गई थी, पर उसके शासन निरन्तर ह्रास होता जा रहा था। रोम के नागरिकों के लिये इस विशाल साम्राज्य पर शासन करना निरन्तर कठिन होता जाता था। इसी कारण रोम के गण शासन का अन्त हुआ, और सीजर, जो पहले रोम क एक सफल सेनापति था, अपनी सेना के बल से रोम का सम्राट् ब गया। सीजर से (२७ ई० पू०) रोम में राजसत्ता का प्रारम्भ हुआ, औ आगे कई सदियों तक वहाँ एकतन्त्र राजा ही शासन करते रहे। रो के राजाओं में से बहुत से एकतन्त्र, स्वेच्छाचारी, क्रूर और अत्याचा थे। धार्मिक दृष्टि से वे बड़े असहिष्णु थे। ईसाइयों पर वे घोर अत्याच करते थे। ईसाई प्रचारकों को जीते जी आग में जलवा देना उन लिये बड़ी मामूली बात थी।

कई रोमन सम्राट् बड़े प्रतापी हुए। उन्होंने अपना साम्राज्य औ अधिक विस्तृत किया। सम्राट् ट्राजन (१०० ई०) के समय में रोम साम्राज्य का अधिकतम विस्तार हुआ। उसके समय में इङ्गलैंड, फ्रां स्पेन, बेल्जियम, राइन और डैन्यूब नदियों तक जर्मनी, आस्ट्रि और हंगरी, ग्रीस, बल्गेरिया, रूमानिया, एशिया माइनर, आर्मीनि सीरिया, पैलेस्टाइन, ईजिप्ट, और उत्तरी अफ्रीका का भूमध्यसागर साथ साथ का सारा प्रदेश रोमन-साम्राज्य के अन्तर्गत था। यहाँ इ लैंड, फ्रांस आदि जो नाम हमने दिये हैं, ये उस समय इन देशों के थे। ये नाम बाद में हुए। केवल सुगमता के लिये ये नाम हमने दिये

रोम का यह साम्राज्य देर तक कायम नहीं रह सका। रोमन-साम्रा के उत्तर में बहुत सी जङ्गली जातियाँ निवास करती थीं, इन्हें ऐ हासिक लोग जर्मन जातियाँ कहते हैं। तीसरी सदी में इन जर्मन जाति ने रोमन साम्राज्य पर आक्रमण शुरू किये। इस समय तक रोमन सम्रा

निर्बल होने शुरू हो गये थे। वे राजकार्य से विमुख हो भोग विलास में फसने लगे थे। इन निर्बल सम्राटों के लिये सम्भव नहीं था, कि इन शक्तिशाली जर्मन जातियों की बाढ़ को रोक सकें। गाथ, फ्रैंक, वैन्डल, लाम्बार्ड आदि विविध जर्मन जातियाँ कई सदियों तक निरन्तर आक्रमण करती रहीं और इनके आक्रमणों से रोमन साम्राज्य टुकड़े टुकड़े हो गया।

पहले रोमन साम्राज्य दो भागों में विभक्त हुआ पूर्वी साम्राज्य और पश्चिमी साम्राज्य। पूर्वी साम्राज्य की राजधानी कान्स्टेन्टिनोपल थी और पश्चिमी साम्राज्य की रोम। कान्स्टेन्टिनोपल का पूर्वी साम्राज्य पन्द्रहवीं सदी तक कायम रहा। पर रोम का पश्चिमी साम्राज्य पाँचवीं सदी में नष्ट हो गया। जर्मन जातियों ने रोमन साम्राज्य के भस्मावशेष पर अपने स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना की। ऐंगल जाति ने इङ्गलैंड, फ्रैंक जाति ने फ्रान्स, लाम्बार्ड जाति ने लाम्बार्डी—इसी प्रकार अन्य विविध जातियों ने अपने अपने विविध राज्य कायम किये। ये जातियाँ विजेता अवश्य थीं पर सभ्यता की दृष्टि से रोमन लोगों से बहुत पीछे थीं। यही कारण है, कि रोमन साम्राज्य को विजय करके भी भाषा, सभ्यता, धर्म, संस्कृति आदि के क्षेत्र में ये जर्मन जातियाँ रोमन लोगों से पराभूत हो गईं। इन्होंने रोमन लिपि, रोमन धर्म (उस समय तक रोमन लोग ईसाई हो चुके थे) रोमन सभ्यता तथा रोमन कला को स्वीकृत किया।

हमने अभी ईसाई धर्म का जिक्र किया था। इस धर्म का प्रारम्भ रोमन साम्राज्य के एक दूरवर्ती प्रांत पैलेस्टाइन में हुआ था। पैलेस्टाइन में यहूदी या हिब्रू लोग बसते थे। इनमें जीसस नाम के एक सुधारक का जन्म हुआ, जिसने यहूदियों के प्राचीन धर्म में सुधार कर एक नये धार्मिक आन्दोलन का प्रारम्भ किया। इसी को ईसाई धर्म कहते हैं। रोमन सम्राट् इस नये धार्मिक आन्दोलन को नहीं सह सके। इसका कारण यह था, कि जीसस रोमन सम्राट् को 'दैवी' नहीं मानता था। उस समय के रोमन लोग सम्राट् को देवता समझ कर उसकी पूजा करते थे। पर

जीसस इसका विरोध करता था। इसी लिये उसे प्राण-दण्ड दिया गया और उसके अनुयायियों पर घोर अत्याचार किये गये। पर ईसाई धर्म का प्रचार इन अत्याचारों से रुका नहीं। सर्व साधारण लोग ईसाई धर्म के उदात्त सिद्धान्तों तथा उसके प्रचारकों की कुर्बानियों से प्रभावित हो बड़े वेग से उसकी ओर आकृष्ट हो रहे थे। अन्त में सम्राट् कान्स्टन्टाइन (३०६ ई०) ने जब ईसाई धर्म को स्वीकार कर उसे राजधर्म बना लिया, तब उसका प्रचार और भी तेजी से हुआ और धीरे-धीरे रोमन साम्राज्य के सब निवासी ईसाई हो गये। रोम, कान्स्टेन्टिनोपल आदि साम्राज्य के बड़े नगरों में बड़े बड़े ईसाई मठ कायम हुए, और इनके महन्त अपने ईसाई भक्तों से बहुत सा धन ऐश्वर्य भेंट उपहार आदि के रूप में प्राप्त करने लगे।

जर्मन जातियों के आक्रमणों से रोमन साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया था। यूरोप की राजनीतिक एकता नष्ट हो गई थी। पर ईसाई धर्म के कारण धार्मिक एकता अब भी विद्यमान थी। फ्रैंक, इङ्गलिश, स्पेनिश, लाम्बार्ड आदि सब राज्यों के निवासी राजनीतिक दृष्टि से पृथक् होते हुए भी धार्मिक दृष्टि से एक थे और अपने को एक समझते थे। रोम की राजनीतिक शक्ति नष्ट हो गई थी, पर उसका रोब अब भी कायम था। रोम के रोब के साथ वहाँ के ईसाई मठ का रोब भी विद्यमान था और क्योंकि विविध यूरोपियन राज्यों के निवासी एक ईसाई धर्म के अनुयायी थे, इसलिये वे गौरवशाली रोम के ईसाई महन्त (पोप) का रोब भी मानते थे। रोम के सम्राट् नष्ट हो चुके थे, पर रोम के पोप तो विद्यमान थे। राजनीतिक दृष्टि से लोग चाहे अपने अपने राजा की अधीनता स्वीकार करते हों, पर धार्मिक दृष्टि से सब लोग रोम के पोप को अपना स्वामी समझते थे। रोम का राजनीतिक साम्राज्य नष्ट हो जाने के बाद भी उसका धार्मिक साम्राज्य जारी था। रोम का पोप विविध देशों में अपने प्रतिनिधि नियत करता था। ईसाई चर्च की सारी सम्पत्ति पोप

उसके प्रतिनिधियों के अधीन थी। पादरी और पुरोहित लोग अपने को पोप के अधीन समझते थे। पोप एक धार्मिक चक्रवर्ती के समान सम्पूर्ण क्रिश्चियन संसार (क्रिश्चियन्डम) पर शासन करता था।

३. सामन्त पद्धति और पवित्र रोमन साम्राज्य

इस समय यूरोप में कोई एक राज्य नहीं था। दस बीस नहीं, सैकड़ों नहीं, अपितु हजारों छोटे बड़े राज्य इस समय यूरोप में कायम थे। छठी और सातवीं सदी—यूरोप के इतिहास में अव्यवस्था और अराजकता की सदियाँ थीं। जिन जर्मन जातियों ने आक्रमण कर रोमन साम्राज्य को छिन्न भिन्न कर दिया था, उनके सैकड़ों सरदारों ने भिन्न भिन्न स्थानों पर अपने स्वतन्त्र राज्य कायम कर लिये थे। उनके अतिरिक्त, जो प्रदेश जर्मन आक्रमणों से बच गये थे, उन पर पुराने रोमन युग के जमींदार या राजकर्मचारी स्वतन्त्रता के साथ राज्य करने लगे थे। कोई कई प्रदेश ईसाई महन्तों के हाथ में थे, और कहीं बड़े व्यापारिक नगरों में व्यापारियों के समूह स्वतन्त्रता के साथ राज्य करते थे। मतलब यह है, कि यह काल राजनीतिक दृष्टि से सर्वथा अराजकता से पूर्ण था। जिसके पास शक्ति थी, वही अपनी सत्ता कायम किये हुए था, सर्वसाधारण लोगों की जान और माल इस समय तब तक सुरक्षित नहीं थे, जब तक वे किसी शक्तिशाली व्यक्ति के संरक्षण में अपने को न ले आवें। इसी परिस्थिति में सामन्त पद्धति का जन्म हुआ।

उस अव्यवस्था और अराजकता के युग में इस पद्धति द्वारा धीरे धीरे व्यवस्था का विकास हुआ। जिन प्रदेशों पर कोई विजेता सरदार अपना अधिकार स्थापित करता था, वहाँ वह जीते हुए प्रदेश को अपने साथियों में बाँट देता था। यदि उस विजेता सरदार को हम राजा कहें, तो उसके इन साथियों को हमें सामन्त कहना चाहिये। ये सामन्त यद्यपि अपनी जागीर राज्य से प्राप्त करते थे, पर अपने प्रदेश के पूरे स्वामी

होते थे। राजा के साथ उनका यह सम्बन्ध था, कि जब राजा को आवश्यकता हो, वे अपने सैनिकों के साथ उसकी सहायता करते थे। कौन सामन्त कितने सैनिक लावे, इसकी संख्या रिवाज द्वारा निश्चित होती थी। इसके अतिरिक्त, विशेष विशेष अवसरों पर ये सामन्त राजा की सेवा में तरह तरह के उपहार भेंट किया करते थे। कोई निश्चित टैक्स इन्हें नहीं देना पड़ता था। जब तक ये राजा के विरुद्ध विद्रोह न करें, और उसके प्रति अनुरक्त रहें, जागीर पर इनका और इनकी सन्तान का अधिकार रहता था। सामन्त लोग भी अपनी जागीर को अपने साथियों में बाँटते थे। इस प्रकार सामन्तों के भी सामन्त होते थे। उनका सम्बन्ध अपने स्वामी से ठीक वैसा ही होता था, जैसा बड़े सामन्त का अपने राजा से।

जिन प्रदेशों पर किसी विजेता सरदार ने अधिकार नहीं किया था, वहाँ पर भी इसी ढङ्ग की सामन्त पद्धति का विकास हो गया था। वहाँ के निर्बल लोगों ने अपने प्रदेश के शक्तिशाली व्यक्ति के साथ, और इन शक्तिशाली लोगों ने उस प्रदेश के और अधिक प्रबल व्यक्ति के साथ इसी पद्धति से सम्बन्ध कर लिया था। सामन्तपद्धति एक पिरामिड के समान थी, जिसमें सबसे ऊपर एक प्रबल प्रतापी राजा होता था, उसके नीचे कुछ बड़े बड़े सामन्त, उनके नीचे बहुत से रावराजा और सबसे नीचे अनगिनत छोटे छोटे जागीरदार होते थे।

सामन्तपद्धति के समय विविध राजाओं में परस्पर संघर्ष चलता रहता था। जो राजा हार जाता था, वह प्रायः विजेता का सामन्त बन जाता था। अनेक प्रतापी सामन्त अपने राजा के विरुद्ध विद्रोह कर अपने को स्वतन्त्र राजा बनाने का उद्योग करते रहते थे। इस प्रकार सामन्तपद्धति के युग में शान्ति या व्यवस्था कायम नहीं रह सकती थी। सामन्तपद्धति के विकसित हो जाने पर भी यह अव्यवस्था और अराजकता का युग था।

विविध सामन्तों और राजाओं के इस संघर्ष में सबसे अधिक सफलता चार्ल्स मार्टल को हुई। यह चार्ल्स मार्टल सम्पूर्ण फ्रांस, बेल्जियम,

हालैण्ड, जर्मनी और आस्ट्रिया का अधिपति था। यह मतलब नहीं, कि इन विस्तृत प्रदेशों का यह एकच्छत्र सम्राट् था। इन प्रदेशों पर अनगिनत छोटे बड़े सामन्त राज्य करते थे, पर उन सब पर इस चार्ल्स मार्टल का आधिपत्य था। इसका समय ७२१ ईस्वी से शुरू होता है। चार्ल्स मार्टल के बाद उसका लड़का पेपिन (७५१) और उसके बाद शार्लमेगन (७६८) इन विस्तृत प्रदेशों का अधिपति बना। शार्लमेगन ने अपने प्रदेशों को और अधिक विस्तृत किया। पहले उसने उत्तरी इटली को विजय किया और उसके बाद ७७५ ईस्वी में रोम को भी जीत लिया।

अब शार्लमेगन फ्रांस, जर्मनी, हालैण्ड, बेल्जियम, आस्ट्रिया और इटली का स्वामी था। रोम उसके अधीन था। उसका साम्राज्य पुराने रोमन साम्राज्य का स्मरण दिखाता था। रोमन साम्राज्य की स्मृति अभी तक जीवित थी। रोम का राजनीतिक साम्राज्य यद्यपि नष्ट हो गया था, तथापि रोम का धार्मिक साम्राज्य अभी विद्यमान था। रोम के धार्मिक साम्राज्य ने रोम के राजनीतिक साम्राज्य की कल्पना को भी जीवित रखा हुआ था। शार्लमेगन द्वारा इसी कल्पना को मूर्तरूप धारण करने का अवसर अब प्राप्त हुआ।

७९५ ईस्वी में पोप के प्रभावशाली पद पर लिओ तृतीय आरूढ़ हुआ। रोम में लिओ तृतीय के विरोधी बहुत अधिक थे। ७९९ ईस्वी में जब रोम में एक जुलूस निकल रहा था, लिओ पर हमला हुआ और उसे बाधित होकर रोम से भागना पड़ा। उस समय इटली का अधिपति शार्लमेगन था, अतः स्वाभाविक रूप से लिओ ने अपनी रक्षा के लिये शार्लमेगन से अपील की। शार्लमेगन की सहायता से ८०० ईस्वी में लिओ तृतीय ने फिर रोम में प्रवेश किया और पोप की गद्दी को प्राप्त किया।

८०० ईस्वी में क्रिसमस के दिन एक बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना हुई। जिस समय शार्लमेगन सेण्टपीटर के गिरजे में प्रार्थना कर उठ रहा था,

पोप लिओ तृतीय ने उसके सिर पर राजमुकुट धर उसे 'सीजर' और 'आगस्टस' के रूप में सम्बोधित किया। 'सीजर' और 'आगस्टस' प्राचीन रोमन सम्राटों की उपाधियाँ थीं। शार्लमेगम को सीजर और आगस्टस बना कर लिओ तृतीय ने रोमन साम्राज्य का पुनरुद्धार किया। क्योंकि ये नये सम्राट् पोप से अभिषिक्त हो सम्राट् पद को प्राप्त करते थे और पोप के धार्मिक प्रभुत्व को मानते थे, इसी लिये इन्हें 'पवित्र रोमन सम्राट्' और इनके साम्राज्य को पवित्र रोमन साम्राज्य (होली रोमन एम्पायर) कहते हैं।

४७६ ई० में रोमन साम्राज्य का अन्तिम रूप से विनाश हुआ था—अब आठवीं और नवीं शताब्दियों के सन्धिकाल में ८०० ईस्वी के क्रिसमस के दिन इसका पुनरुद्धार हुआ। यद्यपि कहने को यह रोमन साम्राज्य था, पर इसकी शक्ति का केन्द्र इटली न होकर जर्मनी था। ये नये रोमन सम्राट् एकतन्त्र प्रतापी सम्राट् न थे, इनकी शक्ति उन अनगिनत सामन्तों पर आश्रित थी, जो सदा विद्रोह और स्वेच्छाचार के लिये उद्यत रहते थे। पवित्र रोमन सम्राट् का पद भी शार्लमेगन के वंशजों में सदा स्थिर नहीं रहा। जब अन्य राजवंश अधिक प्रबल हो गये, और अन्य राजाओं व सामन्तों को अपनी प्रभुता स्वीकृत कराने में समर्थ हुए, तो पवित्र रोमन सम्राट् भी उसी वंश के होने लगे।

शार्लमेगन की मृत्यु ८१४ ईस्वी में हुई। उसके बाद उसके वंशधरों ने परस्पर लड़ाई प्रारम्भ कर दी। शार्लमेगन का साम्राज्य बहुत विस्तृत था। उसमें भाषा, संस्कृति आदि की बहुत भिन्नता थी। उसका जो प्रदेश पहले रोमन साम्राज्य में रह चुका था—उसकी भाषा, सभ्यता आदि पर रोम का बड़ा प्रभाव था। जो प्रदेश पुराने रोमन साम्राज्य में नहीं रहे थे, उन पर रोमन प्रभाव नहीं था। इस कारण र्हाइन नदी के पश्चिम और पूर्व के प्रदेशों में मौलिक भिन्नता थी। शार्लमेगन के वंशधरों के पारस्परिक झगड़ों के कारण ये दोनों प्रदेश एक दूसरे से

पृथक् हो गये। रहाइन के पश्चिम में फ्रांस का प्रदेश पवित्र रोमन साम्राज्य से निकल गया। ८४० ईस्वी के बाद फ्रांस का विकास एक पृथक् राज्य के रूप में होने लगा और रहाइन के पूर्व में विविध राजा व महाराजा पवित्र रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत रहते हुए निरन्तर एक दूसरे के साथ संघर्ष में व्याप्त रहे।

४. क्रूसेड

छठी शताब्दि के अन्त में अरब के मरुस्थल में एक महान् नेता तथा सुधारक का जन्म हुआ। इसका नाम था मुहम्मद। मुहम्मद से पूर्व अरब में बहुत सी छोटी-छोटी जातियाँ थीं, जो निरन्तर आपस में लड़ती रहती थीं। अरब लोग देवी देवताओं की पूजा करते थे, और अनेक विधि-विधानों तथा पूजापाठ द्वारा उन्हें संतुष्ट करते थे। मुहम्मद ने अरब के इस पुराने धर्म में सुधार किया। ईश्वर एक है, सब मनुष्य उस एक ईश्वर के पुत्र हैं, सब परस्पर भाई हैं—इन सिद्धान्तों का प्रचार मुहम्मद ने किया। इतना ही नहीं, मुहम्मद ने अरब की विविध जातियों को संगठित कर उसे एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में परिवर्तित किया। इसके बाद अरब लोगों ने बड़ी उन्नति की। देखते-देखते अरब का साम्राज्य पूर्व में सिन्ध नदी तक और पश्चिम में स्पेन तक विस्तृत हो गया। सिन्ध, बिलोचिस्तान, पर्शिया, ईराक, आर्मीनिया, काशगर, तुर्किस्तान, एशिया माइनर, पेलेस्टाइन, ईजिप्ट, उत्तरी अफ्रीका और स्पेन—ये सब प्रदेश अरब साम्राज्य के अन्तर्गत थे। सभ्यता के क्षेत्र में भी अरब लोगों ने बड़ी उन्नति की। गणित, ज्योतिष, चिकित्सा आदि के क्षेत्र में इन अरबों ने बहुत सी नई खोज की। अरब लोग धार्मिक क्षेत्र में भी सहिष्णु थे। ईसाईयों की धर्म भूमि पेलेस्टाइन उनके साम्राज्य के अन्तर्गत थी—पर वहाँ तीर्थ करने के लिये आनेवाले ईसाई यात्रियों पर वे अत्याचार नहीं करते थे।

पर अरबों का यह सभ्य और समृद्ध साम्राज्य देर तक कायम नहीं रहा। उत्तर पूर्व की ओर से उस पर तुर्क जातियों के आक्रमण शुरू हुए। इन तुर्क आक्रान्ताओं ने अरब साम्राज्य को छिन्न भिन्न कर दिया और उसके खण्डहरों पर अपने विविध राज्य कायम किये। तुर्क जातियों ने अरब साम्राज्य के धर्म-इस्लाम तथा वहाँ की सभ्यता को अपना लिया, क्योंकि इन दृष्टियों से तुर्क लोग अरबों से बहुत पिछड़े हुए थे। पर तुर्क लोग अरबों के समान सहिष्णु नहीं थे—उन्होंने पेलेस्टाइन में आनेवाले ईसाई यात्रियों पर अत्याचार प्रारम्भ किये और यूरोप में इस बात पर बड़ा असन्तोष हुआ।

उस समय अर्बन द्वितीय रोम का पोप था। उसने १०६५ ई० में यूरोप के विविध राजाओं से अपील की, कि आपस में युद्ध बन्द कर पेलेस्टाइन को तुर्कों के हाथ से मुक्त करावें। पीटर नाम का एक भिक्खु सारे यूरोप में इस बात के लिये आन्दोलन करता हुआ भ्रमण करने लगा, कि लोग पवित्र धर्मभूमि से तुर्कों को बहिष्कृत करने के लिये तैयार हों। सारे यूरोप में धार्मिक जोश फैल गया—और लोग धर्मयुद्ध (क्रूसेड) के लिये निकल पड़े। इन धर्मयुद्धों का विस्तृत वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। कुल मिलाकर आठ क्रूसेड (१०६५ से १२५० ई० तक) हुए। पर अन्ततोगत्वा पेलेस्टाइन तुर्क लोगों के ही हाथ में रहा।

यद्यपि क्रूसेडर अपना उद्देश्य पूर्ण नहीं कर सके, पर इनसे यह लाभ अवश्य हुआ, कि यूरोप के विविध राजा महाराजा कुछ समय के लिये एक उद्देश्य से संगठित हुए, और परस्पर मिलकर कार्य करने में समर्थ हुए। इन धर्मयुद्धों से व्यापार तथा पर्यटन को भी बड़ा प्रोत्साहन मिला। यूरोप के लोगों को अन्य देशों को अवलोकन करने का अवसर मिला। इससे उनकी दृष्टि भी कुछ विशाल होने लगी।

५. चर्च की स्थिति

मध्यकालीन यूरोप में क्रिश्चियन चर्च का प्रभाव बहुत अधिक था। उस समय के राजाओं को प्रजा की भलाई का जरा भी ध्यान नहीं था। उन्हें आपस में लड़ने झगड़ने से ही फुरसत नहीं मिलती थी। सामन्तपद्धति के कारण उस समय के राज्य बहुत असंगठित तथा अव्यवस्थित थे। परन्तु क्रिश्चियन चर्च की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न थी। चर्च का जनता पर प्रभाव था। सब क्रिश्चियन लोग पोप को अपना धर्मगुरु मानते थे। चर्च का संगठन बहुत उत्तम था। स्थान स्थान पर धार्मिक मठ बने हुए थे। उनके पादरी पोप के अधीन थे और उसकी आज्ञाओं का पालन करते थे। उस समय यूरोप में जो शिक्षा, विद्या व प्रकाश था, वह चर्च में केन्द्रित था। सर्वसाधारण जनता चर्च में आकर आश्वासन व शान्ति अनुभव करती थी। पादरी लोग जनता को इहलोक और परलोक में सुख देने के लिये अनेकविध उपायों का अनुष्ठान किया करते थे।

सर्वसाधारण जनता पर प्रभाव रखने के अतिरिक्त उस समय चर्च के पास शक्ति भी बहुत थी। लोग समय समय पर चर्च को दान दक्षिणा देते रहते थे। जिन लोगों के कोई सन्तान न हो, वे प्रायः अपनी सम्पत्ति चर्च को दे देते थे। दान-दक्षिणा, चढ़ावा और विरासत में प्राप्त हुई सम्पत्तियों के कारण चर्च बहुत अधिक समृद्ध हो गया था। संगठन और व्यवस्था के कारण भी चर्च की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। यह आवश्यक था, कि प्रत्येक व्यक्ति चर्च के अधीन हो और उसकी आज्ञाओं का पालन करे, जिस प्रकार कि आजकल प्रत्येक व्यक्ति राज्य के अधीन होता है और उसकी आज्ञाओं को मानता है। चर्च सरकार के समान लोगों से बाकायदा टैक्स भी वसूल करता था। चर्च के आदमी, पुजारी और पुरोहित राज-कर से मुक्त थे। चर्च की सम्पत्ति पर राजा कर नहीं

लगा सकता था—पर चर्च के टैक्सों से कोई वञ्चित नहीं था। चर्च के अपने कानून थे, अपने न्यायालय थे, अपनी पुलिस थी, और अपनी दण्ड व्यवस्थायें थीं। चर्च का संगठन ठीक राज्यों का सा था। चर्च की अपनी सरकार होती थी। प्रत्येक व्यक्ति चर्च की सरकार के अधीन था, चाहे वह पुरोहित हो या सामान्य मनुष्य। पर चर्च के आदमियों पर राजा का कानून नहीं लगता था—उन्हें राजकीय न्यायालय दण्ड नहीं दे सकते थे।

चर्च की स्थिति सब राज्यों व राजाओं से ऊपर थी। प्रत्येक राजा उसके अधीन होता था। यदि चर्च चाहे, तो किसी भी राजा को पदच्युत कर सकता था। अपनी आज्ञा को मनाने के लिये चर्च के पास दो बड़े साधन थे—

१. धर्म-बहिष्कार—यदि कोई राजा व अन्य मनुष्य चर्च की बात न माने, तो चर्च उसे धर्म-बहिष्कृत कर देता था। आजकल धर्म से बहिष्कृत हो जाना बड़ी बात नहीं है। पर उस समय के यूरोपियन लोग धर्मप्राण होते थे। धर्म-बहिष्कार उन्हें काबू करने के लिए बड़ा उत्तम साधन था।

२. धार्मिक हड़ताल—यदि कोई राजा धर्म-बहिष्कार से काबू न आवे, तो चर्च उसके राज्य में हड़ताल कर देता था। पादरी अपना काम करना बन्द कर देते थे। बच्चों का बपतिस्मा नहीं होता था। मृतकों का संस्कार नहीं हो सकता था। चर्च के घण्टे नहीं सुनाई देते थे। पादरी लोग श्रद्धालु भक्तों से पाप श्रवण करना बन्द कर देते थे। धर्मप्राण जनता चिन्ताकुल हो किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाती थी। सारे राज्य में हाहाकार मच जाता था।

अनेक बार पोप राजा को पदच्युत कर उसके स्थान पर किसी अन्य व्यक्ति के राजा बनने की उद्घोषणा करता था, और धर्म भक्त प्रजा को आज्ञा देता था, कि पदच्युत राजा का साथ छोड़कर नये राजा का

अनुगमन करें। उस समय की यूरोपियन जनता पोप की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकती थी।

मध्यकाल में पोप और चर्च की यह महान् शक्ति थी। उनके ये असाधारण अधिकार थे।

पर धीरे धीरे चर्च में विकार आने लगा। पोप और अन्य पादरी लोग अपने कर्तव्यों से विमुख हो भोग विलास में मस्त रहने लगे। पोप एक वैभवशाली सम्राट् की तरह अपना जीवन व्यतीत करता था—उसके विशप और एबट बड़े बड़े सामन्तों और मनसबदारों के समान आराम की जिन्दगी व्यतीत करते थे। सम्पत्ति के बढ़ने के साथ साथ पादरियों में अनेक दोष तथा बुराइयाँ आने लगी थीं। धर्मगुरु का असली कार्य सेवा, परोपकार और सन्मार्ग का प्रदर्शन है। पर यूरोप के मध्यकालीन धर्मगुरु पदों के लिये आपस में लड़ते थे, आमोद प्रमोद में मस्त रहते थे और स्वार्थ का जीवन व्यतीत करते थे। इन कारणों से चर्च का प्रभाव धीरे धीरे कम होने लगा। लोग सोचने लगे, कि क्या चर्च की यह अपार सम्पत्ति और भोगविलास क्रिश्चियन धर्म के अनुकूल है।

यही कारण है, कि तेरहवीं सदी में यूरोप में अनेक ऐसे आचार्य उत्पन्न होने शुरू हुए, जिन्होंने चर्च की शक्ति और वैभव के विरुद्ध आवाज उठाई। वाल्डो, जान हस्स और विक्लिफ इनमें प्रमुख हैं। इन आचार्यों ने यत्न किया, कि ईसाई धर्म का सुधार किया जावे और चर्च अपने कर्तव्य का पालन करे। पर पोप की सम्पति में ये लोग काफिर और धर्मद्रोही थे। इनके विरुद्ध क्रूसेड उद्घोषित किया गया। वाल्डो के अनुयायी वाल्डेन्सियन लोग दक्षिणी फ्रांस में बुरी तरह कतल किये गये। बोहेमिया में हस्स के अनुयायियों के विरुद्ध बाकायदा सेनायें भेजी गईं। हस्स को जीते जी आग में जलाया गया। विक्लिफ की हड्डियों को कबर से निकाल कर अग्नि में भस्म किया गया।

फा० २

चर्च के विरुद्ध केवल जनता में ही असन्तोष नहीं था। राजा लोग भी चर्च को शक्ति तथा वैभव को ईर्षा की दृष्टि से देखने लगे। अनेक आत्माभिमानी राजा चर्च के इशारे पर नाचने के लिये तैयार नहीं थे। उन्होंने उसके विरुद्ध विद्रोह किया। सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय (१२२०-१२५०) इनमें मुख्य है। पर चर्च की शक्ति इस समय बहुत अधिक थी। जिस तरह चर्च वाल्डो और हस्स को खाक में मिला सकता था, वैसे ही फ्रेडरिक द्वितीय का भी मानमर्दन कर सकता था। तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दियों में कितने ही राजाओं और सम्राटों ने पोप के विरुद्ध विद्रोह किया, पर वे सफल न हो सके।

६. मध्यकाल में यूरोप की दशा

सामन्त पद्धति, पवित्र रोमन साम्राज्य और शक्तिशाली चर्च-मध्यकालीन यूरोप की ये तीन बड़ी विशेषतायें हैं। पर इस काल में जनता की क्या दशा थी? मध्यकालीन यूरोप में शिक्षा का प्रचार बहुत कम था। सर्वसाधारण जनता सर्वथा अशिक्षित और निरक्षर थी। बड़े बड़े राजा, महाराजा, सामन्त और अमीर उमरा उस समय प्रायः निरक्षर होते थे। विद्या अगर कहीं थी, तो केवल क्रिश्चियन मठों में। उस समय यूरोप के शिक्षणालय केवल मठों में और पादरियों के अधीन होते थे। मठों में जो शिक्षा उस समय दी जाती थी, वह मुख्यतया धार्मिक होती थी। बाइबल और उसके विविध भाष्य उस समय अध्ययन की सबसे उत्कृष्ट सामग्री थे। चर्च के गुरु और शिष्य लेटिन के अध्यापन और अध्ययन में व्यस्त रहते थे। लेटिन के व्याकरण को बड़ी सूक्ष्मता से पढ़ा जाता था। फिर लेटिन ग्रन्थों को कण्ठस्थ करने की बारी आती थी। स्वतन्त्र विज्ञानों का विकास उस समय तक नहीं हुआ था। लोगों में स्वतन्त्र विचार की प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव था। अपनी बुद्धि से काम लेना गुनाह समझा जाता था। बाइबल और उसके भाष्यों

प्राचीन सत्य शास्त्रों में जो कुछ लिखा है, उसको पढ़कर कण्ठस्थ कर लेना उस समय की सबसे बड़ी विद्वत्ता थी। अंग्रेजी, फ्रेञ्च, जर्मन, इटालियन आदि भाषायें उस समय अशिक्षित जन-साधारण की भाषायें थीं, न इनमें कोई साहित्य था और न विद्या। उस समय के विद्वान् केवल लेटिन व ग्रीक भाषा पढ़ते थे। साधारण लोक-भाषाओं को तुच्छ दृष्टि से देखा जाता था।

उस समय यूरोप कृषि प्रधान था। अधिकांश जनता देहातों में बसती थी। भूमि पर बड़े जमींदारों का अधिकार था। सर्व साधारण लोग दासों के समान जीवन व्यतीत करते थे। जिस भूमि पर वे खेती करते थे, उस पर उनका कोई भी अधिकार नहीं था। जमींदार जब चाहें उन्हें बेदखल कर सकता था। देहात प्रायः गन्दे और मैले होते थे। मामूली किसान अपने पशुओं को अपने ही साथ कच्चे मकानों में रखते थे। शहरों की संख्या बहुत कम थी। शहरों की गलियाँ बहुत तङ्ग तथा टेढ़ी-मेढ़ी होती थीं। लोग छोटे-छोटे और तंग घरों में निवास करते थे। शहर के एक मुहल्ले में बड़े कुलीन लोग, दूसरे मुहल्ले में अमीर व्यापारी लोग और तीसरे हिस्से में व्यवसायी लोग बसते थे। गरीब मजदूर शहर से बाहर मैले कुचैले झोपड़ों में निवास करते थे। शहर के अमीर लोग इन्हें अछूत और अपवित्र समझते थे।

यूरोप के इतिहास में मध्यकाल को अन्धकार और अज्ञान का युग कहा जाता है। इस समय लोगों में तरह-तरह के अन्धविश्वास प्रचलित थे। बीमारी का इलाज दवाई से कराना लोग पाप समझते थे। उनका खयाल था, कि रोग ईश्वर के कोप का परिणाम है। अतः उससे बचने का उपाय केवल प्रार्थना और पूजा है। विज्ञान का उस समय सर्वथा अभाव था। लोग समझते थे, जमीन स्थिर है, सूर्य उसके चारों ओर घूमता है। जमीन गोल नहीं, अपितु चपटी है। नक्षत्रों के सम्बन्ध में आम लोगों का विचार था, कि ये जीवित जागृत चेतन प्राणी हैं।

भूगोल का ज्ञान लोगों को बहुत कम था। इँगलैण्ड के पश्चिम में अटलांटिक सागर से परे क्या है? अफ्रीका कितना विशाल है? भारतवर्ष कहाँ है? ये सब बातें लोगों को नहीं मालूम थीं। चीन और भारत का नाम कुछ लोग जानते थे, पर उन्हें भी यह ज्ञात नहीं था, कि ये देश किस जगह पर स्थित हैं।

लोग अपने अज्ञान में सन्तुष्ट थे। उनमें जरा भी जिज्ञासा नहीं थी। वे अपनी हालत से सर्वथा सन्तुष्ट हो एक निद्रामयी जिन्दगी व्यतीत कर रहे थे। इसी काल में अरब, मंगोलिया, भारत तथा चीन की दशा यूरोप से बहुत उत्तम थी। इन देशों के मुकाबले में यूरोप उस समय एक 'अर्ध-सभ्य' देश था।

७. यूरोप का पुनः जागरण और धार्मिक सुधारणा

पर धीरे-धीरे यूरोप की दशा में परिवर्तन आना शुरू हुआ। वहाँ एक नई लहर शुरू हुई, जिसे हम पुनः जागरण की लहर कहते हैं। इसका प्रारम्भ निम्नलिखित कारणों व परिस्थितियों से हुआ—

(१) हम पहले कह चुके हैं, कि जिस समय यूरोप में अविद्यान्धकार छाया हुआ था, तब अरब में ज्ञान का दीपक प्रज्वलित था। अरब लोगों का साम्राज्य स्पेन तथा उत्तरी अफ्रीका में भी विस्तृत था। यहाँ अरबों के अनेक बड़े बड़े विद्यापीठ विद्यमान थे, जिनमें ज्योतिष, गणित तथा अन्य विज्ञानों के अतिरिक्त प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों के ग्रन्थों का भी स्वाध्याय होता था। यूरोपियन लोग इन विद्यापीठों के संसर्ग में आकर नवीन ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हुए। अरब पंडित बड़े स्वतन्त्र विचारक तथा उदार होते थे। इनके संसर्ग से यूरोप में भी स्वतन्त्र विचार की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई।

(२) यूरोप में अनेक ऐसे विचारक उत्पन्न हुए, जो चर्च के प्रमाणवाद को मानने के लिये तैयार न थे, जो स्वतन्त्र विचार और वैज्ञा-

निक खोज के पक्षपाती थे। उदाहरण के लिये रोजर बेकन (१२१०-१२९३) को लीजिये। उसने इस बात पर बड़ा जोर दिया, कि हमें पुराणी लकीर का फकीर न होकर अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिये। हमें पुराने ग्रन्थों को कण्ठस्थ करने के स्थान पर वैज्ञानिक परीक्षणों पर जोर देना चाहिये। सत्य जानने का यह तरीका नहीं है, कि हम प्राचीन शास्त्रों की पंक्तियाँ लगायें, अपितु सत्य ज्ञान का सर्वोत्तम साधन यह है, कि हम परीक्षण करें। रोजन बेकन इस युग का एक प्रतिनिधि है। उसी के समान अन्य बहुत से विचारक इस समय यूरोप में उत्पन्न हुए, जो बुद्धि स्वातन्त्र्य के पक्षपाती थे, और मनुष्य के दिमाग को प्रमाणवाद की जंजीरों से मुक्त कराने का आन्दोलन कर रहे थे।

(३) बुद्धि स्वातन्त्र्य के आन्दोलन के परिणामस्वरूप अनेक विचारकों ने सत्य की खोज के लिये परीक्षण शुरू किये। पहले यूरोपियन लोगों का यह विश्वास था, कि जो चीज बोझ में सौ गुनी होगी, वह सौ गुने वेग से नीचे गिरेगी। यह विश्वास ठीक है या नहीं, इस पर लोग शास्त्रीय विचार तो किया करते थे, पर इसके लिये परीक्षण करने का कष्ट नहीं उठाते थे। गेलिलियो (१५६४-१६४२) ने पहले पहल परीक्षण करके इस विश्वास को असत्य सिद्ध किया। कोपर्निकस (१४७३-१५४३) ने पहले पहल इस सत्य का पता किया कि सूर्य स्थिर है और पृथ्वी उसके चारों ओर घूमती है। इसी तरह के अन्य बहुत से विचारक अब यूरोप में उत्पन्न होने लगे, जो परीक्षणों द्वारा सत्य की खोज कर नये नये तथ्यों का पता लगा रहे थे। उस समय के विद्वान् इनका केवल उपहास ही नहीं करते थे, अपितु इन्हें 'धर्म-द्रोही' और काफिर समझते थे। इन्हें भयङ्कर दण्ड दिये गये। अनेक को जीते जी आग में जलाया गया। वस्तुतः ये लोग विज्ञान के लिये शहीद हो रहे थे। चर्च के सब अत्याचारों के बावजूद भी बुद्धि स्वातन्त्र्य और वैज्ञानिक खोज की यह

प्रवृत्ति रुकी नहीं। आज संसार ने जो असाधारण उन्नति की है, उसमें यह प्रवृत्ति बहुत बड़ा कारण है।

(४) इसी समय यूरोप में कागज और छापेखानें का प्रवेश हुआ। पहले यूरोप में लिखने के लिये बकरी की खाल प्रयोग में आती थी। कागज का आविष्कार सबसे पूर्व चीन में हुआ था। चीन से यह मंगोल लोगों ने सीखा, मंगोलों से अरबों ने और फिर अरबों द्वारा कागज का प्रवेश यूरोप में हुआ। चौदहवीं सदी में पहले पहल यूरोप में कागज का निर्माण शुरू हुआ था। अगली सदी में छापेखाने का भी प्रवेश हुआ और यूरोप में पुस्तकें अच्छी तथा सस्ती छपने लगीं। जनता में ज्ञान-विस्तार के लिये पुस्तकों का प्राचुर्य तथा सस्ता होना बहुत आवश्यक है। कागज और छापेखाने का प्रवेश यूरोप के पुनः जागरण में बहुत सहायक हुआ।

इसके साथ ही पोप और चर्च के विरुद्ध असन्तोष की जो लहर प्रारम्भ हो रही थी, वह बड़ी तेजी के साथ यूरोप में एक नई जागृति सी उत्पन्न कर रही थी। हम ऊपर वाल्डो, हस्स तथा विक्लिफ का नाम दे चुके हैं। धीरे धीरे चर्च के विरुद्ध यह असन्तोष उग्र रूप धारण करता जा रहा था। पन्द्रहवीं सदी के अन्त में जर्मनी में एक सुधारक उत्पन्न हुआ, जिसका नाम लूथर (१४८३-१५४६) था। उन दिनों पोप को रोम के गिरजे के लिये रुपये की आवश्यकता थी। रुपया इकट्ठा करने का एक सरल उपाय पाप-मोचन-पत्र जारी करना था। उस समय क्रिश्चियन लोग यह विश्वास करते थे, कि धर्म-मन्दिर बनवाने आदि सत्कर्मों से पाप मुक्त हो सकते हैं। इसलिये पोप समय समय पर लोगों को यह अवसर प्रदान करते थे, कि मन्दिर निर्माण में हाथ बटा कर पापों से मुक्त होने का सौभाग्य प्राप्त करें। इसके लिये वे पाप-मोचन-पत्र जारी किया करते थे, जिन्हें धर्मप्राण क्रिश्चियन लोग बड़ी उत्सुकता से खरीदा करते थे। सन् १५१७ में पोप का एक एजेण्ट इन पाप-मोचन-पत्रों द्वारा क्रिश्चियन लोगों

को पापों से मुक्त करता हुआ विटनबर्ग पहुँचा, जहाँ लूथर अध्यापन का कार्य करता था। लूथर एक पुराने ढंग का पादरी था, और धार्मिक प्रश्नों पर शास्त्रीय दृष्टि से विचार किया करता था। बाइबल तथा अन्य क्रिश्चियन शास्त्रों का वह बड़ा गम्भीर विद्वान् था। उसने अनुभव किया कि पाप-मोचन-पत्रों की व्यवस्था शास्त्रों के अनुकूल नहीं है। अतः उसने इसके विरुद्ध एक निबन्ध प्रकाशित किया। यह निबन्ध सर्वसाधारण जनता के लिये नहीं था। इसे लेटिन में लिखा गया था और केवल विद्वानों के सम्मुख अपने विचार प्रकट करने के उद्देश्य से ही लूथर ने इसे प्रकाशित किया था।

पर राजाओं और जनता में चर्च के विरुद्ध जो असन्तोष की अग्नि विद्यमान थी, वह इस घटना से प्रदीप्त हो गई। छापेखाने का प्रवेश इस समय तक यूरोप में हो चुका था। चर्च के विरोधियों ने अपने विचार छाप छाप कर प्रकाशित करने शुरू किये। लूथर इनका नेता बना। अनेक राजाओं ने इस आन्दोलन का साथ दिया। वे चर्च के वैभव तथा शक्ति को ईर्षा की दृष्टि से देखते थे। चर्च की सम्पत्ति को जब्त कर अपनी शक्ति बढ़ाने का यह सुवर्णावसर उन्हें प्राप्त हुआ था। देखते देखते चर्च और उसके विरोधियों की बाकायदा लड़ाई शुरू हो गई। इस समय यूरोप दो भागों में विभक्त हो गया। एक भाग वह, जो पोप और चर्च के प्रभुत्व को पूर्ववत् स्वीकार करता था और दूसरा भाग वह जो पोप के विरुद्ध विद्रोह कर उसके प्रभुत्व का विरोध करता था। पहले भाग को 'रोमन कैथोलिक चर्च' और दूसरे भाग को 'प्रोटेस्टेन्ट चर्च' कहते हैं।

जहाँ पोप के विरुद्ध विद्रोह कर पृथक् चर्च की स्थापना हो रही थी, वहाँ भी वस्तुतः चर्च स्वतन्त्र नहीं हुआ था। वहाँ प्रायः चर्च के अधिपति राजा लोग हो रहे थे, जो चर्च की सम्पत्ति तथा जायदाद को जब्त कर अपने काबू में करते जाते थे। उत्तरी जर्मनी के विविध राजा महाराजाओं ने इसी तरह चर्च की सम्पत्ति जब्त कर अपने अधीन कर ली

थी और अपने अपने राज्य में स्वयं चर्च के अधिपति बन गये थे। इङ्गलैण्ड में भी हेनरी अष्टम (१५३०) ने अपने एक स्वार्थ को पूर्ण करने के लिये पोप के विरुद्ध विद्रोह किया और इङ्गलिश चर्च को पोप की अधीनता से मुक्त कर राजा के अधीन कर दिया। यही दशा अन्य अनेक देशों में भी हुई। अभिप्राय यह है, कि जो प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन इस समय यूरोप में चल रहा था, उसका उद्देश्य केवल धार्मिक सुधार नहीं था। उसमें अनेक राजाओं के निजू स्वार्थ भी कार्य कर रहे थे। पर इसमें सन्देह नहीं, कि इस आन्दोलन ने यूरोप में एक नई जागृति उत्पन्न करने में अवश्य सहायता की। इससे रोमन कैथोलिक चर्च में भी नवजीवन का सञ्चार हुआ। प्रोटेस्टेण्ट लोगों का विरोध करने के उद्देश्य से रोमन कैथोलिक लोगों में अनेक ऐसे सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ, जो बड़े सतर्क और जीवित जागृत थे। जैसुएट सम्प्रदाय इनमें प्रमुख है। इस सम्प्रदाय की स्थापना इग्नेटियस लोयोला (१५३९) ने की थी। लोयोला स्पेन का निवासी था। जैसुएट सम्प्रदाय आगे चल कर बहुत ही शक्तिशाली हुआ। दूर दूर देशों में ईसाई-धर्म के प्रसार के लिये इस सम्प्रदाय के पादरियों ने बड़ा भारी कार्य किया।

प्रोटेस्टेण्ट और रोमन कैथोलिक लोगों का पारस्परिक संघर्ष बड़ा ही वीभत्स और प्रचण्ड था। जहाँ के राजा प्रोटेस्टेण्ट थे, वे रोमन कैथोलिक लोगों पर घोर अत्याचार करते थे। जहाँ के राजा रोमन कैथोलिक थे, वे प्रोटेस्टेण्ट लोगों को जीने नहीं देते थे। रोमन कैथोलिक राज्यों में पोप की संरक्षकता में एक विशेष धार्मिक न्यायालय (इन्क्वीजिशन कोर्ट) का निर्माण हुआ था। जिन लोगों पर जरा भी संदेह होता था, कि वे चर्च के विरुद्ध सम्मति रखते हैं, उन्हें इस न्यायालय के सम्मुख पेश किया जाता था। वहाँ उन्हें कठोर दण्ड दिये जाते थे। मुख्य दण्ड यह था, कि ऐसे लोगों को जीते जी आग में जला दिया जावे। एक एक राजा के शासनकाल में एक एक देश में इस ढंग से

हजारों आदमियों को केवल इसलिये प्राणदण्ड दिया गया, क्योंकि वे धार्मिक क्षेत्र में स्वतन्त्र शामिल रखते थे। यूरोप के इतिहास में यह धार्मिक असहिष्णुता सचमुच बड़ी वीभत्स है।

पर इन सब अत्याचारों और संघर्षों के होते हुए भी धीरे-धीरे यूरोप में एक नवयुग का प्रारम्भ हो रहा था। लोग स्वतन्त्रता के साथ विचार करने लगे थे। वे अपनी सम्मति और विचारों के लिये प्राणों की बलि देने लगे थे।

८. नये प्रदेशों की खोज

पन्द्रहवीं सदी तक यूरोप के लोगों को बाहरी दुनिया का बहुत कम परिचय था। उस समय समुद्र में जो जहाज चलते थे, वे चप्पुओं से खेये जाते थे। दिग्दर्शक यन्त्र का प्रवेश भी तब तक यूरोप में नहीं हुआ था। ऐसे समय में उन जहाजों व नौकाओं से महासमुद्रों को पार करना नितान्त कठिन था। पर पन्द्रहवीं सदी में दिग्दर्शक यन्त्र का प्रवेश पहले पहल यूरोप में हुआ। यह यन्त्र भी कागज के समान अरब होता हुआ चीन से यूरोप में आया था। इसके साथ ही अब जहाज पहले की अपेक्षा बड़े और मजबूत बनने लगे। चप्पुओं के साथ साथ पाल का भी प्रयोग शुरू हुआ। पाल से चलनेवाले जहाजों से यह सम्भव था, कि अनुकूल वायु के साथ महासमुद्र को पार किया जा सके।

उस समय यूरोप और एशिया का व्यापारिक मार्ग लालसागर से ईजिप्ट होता हुआ भूमध्यसागर पहुँचता था। एक दूसरा मार्ग एशिया की खाड़ी से बसरा बगदाद होता हुआ एशिया माइनर के बन्दरगाहों पर जाता था। पहले इन व्यापारिक मार्गों पर अरबों का अधिकार था। अरब लोग सभ्य थे और व्यापार के महत्त्व को भली भाँति अनुभव करते थे। पर पन्द्रहवीं सदी में तुर्क लोग इन प्रदेशों के स्वामी हो गये और एशिया व यूरोप के व्यापारिक मार्ग रुद्ध होने लगे। सन् १४५३ में

जब तुर्क विजेता मुहम्मद द्वितीय ने कान्स्टेन्टिनोपल को भी जी लिया, तब तो यूरोप के लोगों के लिये इन पुराने मार्गों से व्यापार कर सकना अत्यन्त कठिन था।

अब यूरोपियन लोगों को नये मार्ग ढूँढ निकालने की चिन्ता हुई। उस समय यूरोप का भारत आदि प्राच्य देशों से घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था। विशेषयता, मसाले बहुत बड़ी मात्रा में पूर्व की तरफ से यूरोप में आते थे। इस व्यापार से लाभ उठाने के लिये अब नये मार्गों की खोज प्रारम्भ हुई। इस कार्य में पोर्तुगाल और स्पेन ने विशेष तत्परता प्रदर्शित की। पोर्तुगीज लोगों ने सोचा, कि अफ्रीका का चक्कर काटकर पूर्व में पहुँचा जा सकता है। इसी दृष्टि से अनेक पोर्तुगीज मल्लाहों ने समुद्र तट के साथ साथ यात्रा प्रारम्भ की। आखिर, १४९८ में वास्कोडिगामा नामक पोर्तुगीज मल्लाह एक नवीन मार्ग से पहले पहल भारत पहुँचने में समर्थ हुआ।

अफ्रीका का चक्कर काटकर एशिया पहुँचने का यह नया मार्ग इस प्रकार आविष्कृत हुआ। पर इसी समय कोलम्बस नामक एक इटालियन मल्लाह के मन में एक नई कल्पना उत्पन्न हुई। पृथिवी गोल है, यह बात उस समय तक ज्ञात हो चुकी थी। कोलम्बस ने सोचा कि यदि अटलांटिक सागर में निरन्तर पश्चिम की ओर चलते जावें, तो जमीन के गोल होने के कारण भारत पहुँचा जा सकता है। कोलम्बस के इस विचार का इटली में किसी ने स्वागत नहीं किया। पर स्पेन के राजा ने उसकी सहायता की और १४९२ में वह अपनी कल्पना को क्रिया में परिणत करने के लिये चल पड़ा। उसके साथ छोटे छोटे तीन जहाज थे, जिनके मल्लाहों की कुल संख्या ८८ थी। अटलांटिक सागर में पश्चिम की तरफ चलते चलते ११ अक्टूबर १४९२ को जमीन के दर्शन हुए। कोलम्बस ने समझा, कि भारतवर्ष आ गया। वस्तुतः वह भारत नहीं था—वह एक नया महाद्वीप था, जो अब अमेरिका के नाम से प्रसिद्ध है।

कोलम्बस को जो महाद्वीप अचानक ही प्राप्त हो गया था, वह अत्यन्त विशाल था। उसके अधिकांश प्रदेश में जंगली और असभ्य जातियाँ निवास करती थीं। पर दो प्रदेश ऐसे भी थे, जहाँ अच्छे उन्नत सभ्य लोग बसते थे। ये प्रदेश थे मैक्सिको और पेरू। मैक्सिको में एजटेक सभ्यता और पेरू में मय सभ्यता का विकास उस समय हो रहा था। कोलम्बस स्पेन के राजा की सहायता से समुद्र-यात्रा के लिये निकला था, अतः स्वाभाविक रूप से अमेरिका पर स्पेन का अधिकार हुआ। स्पेनिश लोगों ने बड़ी निर्दयता से अमेरिका के निवासियों को नष्ट किया। न केवल वहाँ के जंगली असभ्य लोगों को, अपितु एजटेक और मय लोगों का भी क्रूरता से संहार किया गया। यूरोप के लोग तब तक बारूद का प्रयोग जान चुके थे। वे बन्दूक चलाना सीख चुके थे। बन्दूक की मार के सामने अमेरिकन लोग न ठहर सके और कुछ ही समय में उन लोगों का विनाश हो गया। स्पेनिश लोगों ने इस विशाल भूखण्ड में अपने उपनिवेश बसाने प्रारम्भ किये। यह प्रदेश खनिज पदार्थों की दृष्टि से बड़ा समृद्धि था। सोने चाँदी की खानों से आकृष्ट हो स्पेनिश लोग बड़ी संख्या में अमेरिका जाने लगे। इन नये प्राप्त हुए प्रदेशों से स्पेन की समृद्धि दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ने लगी। स्पेन की होड़ में अन्य यूरोपियन राज्य भी अमेरिका जाकर बसने के लिये प्रयत्नशील हुए। दक्षिण अमेरिका में स्पेनिश लोग बस रहे थे; वहाँ पर उनका कब्जा हो चुका था। अतः फ्रांस, ब्रिटेन आदि ने उत्तरी अमेरिका में बसना शुरू किया। जहाँ आजकल संयुक्त राज्य अमेरिका है, वहाँ ब्रिटेन के तथा जहाँ अब कनाडा है, वहाँ फ्राँस के उपनिवेश बसने शुरू हुए। अमेरिका के विस्तृत प्रदेशों पर अधिकार करने के लिये इन यूरोपियन राज्यों में परस्पर संघर्ष का भी प्रारम्भ हुआ।

अफ्रीका का चक्कर काटकर पहले पहल पोर्तुगीज लोग भारत आये थे। उन्होंने इस नये मार्ग से पूर्वीय देशों के व्यापार को हस्तगत करना

शुरू किया। इस व्यापार से पोर्तुगीज लोग बड़े समृद्ध हो गये। उनकी देखा देखी फिर अन्य यूरोपियन राज्य भी इसी दक्षिण मार्ग से एशिया जाने लगे। हालैण्ड, फ्रांस, ब्रिटेन आदि में पूर्वी व्यापार को हस्तगत करने के लिये कम्पनियाँ खड़ी की गईं। ये कम्पनियाँ पूर्वी देशों के विविध बन्दरगाहों पर अपनी कोठियाँ कायम करती थीं, और अधिक से अधिक व्यापार पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का उद्योग करती थीं।

पर ये यूरोपियन जातियाँ केवल व्यापार से ही सन्तुष्ट नहीं रहीं। एशिया के विविध राज्यों की दशा उस समय उत्तम नहीं थी। भारत को ही लीजिये। अठारहवीं सदी में मुगल साम्राज्य क्षीण हो गया था और विविध राजनीतिक सत्तायें शक्ति के लिये परस्पर संघर्ष करने लगी थीं। यही दशा उस समय जावा, सुमात्रा, मलाया आदि देशों की थी। यूरोपियन लोगों ने इस राजनीतिक दुर्दशा का लाभ उठाया और व्यापार के साथ साथ अपनी राजनीतक सत्ता भी स्थापित करनी शुरू की।

अमेरिका की प्राप्ति तथा पूर्वी व्यापार के दक्षिणी मार्ग की खोज से यूरोप के उत्कर्ष में बहुत सहायता मिली। जिन यूरोपियन लोगों को पहले यह भी ज्ञात नहीं था, कि भारत कहाँ है, और अफ्रीका कितना विशाल है, वे अब सारे भूमण्डल की परिक्रमा करने लगे। वस्तुतः यूरोप का अब पुनः जागरण हो गया था।

९. शक्तिशाली और निरंकुश राजा

यूरोप में सभ्यता का पुनः जागरण हो रहा था। सब ओर नवजीवन और स्फूर्ति के चिह्न प्रगट हो रहे थे। पर राजनीतिक क्षेत्र में अभी कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। राजा पहले की ही तरह निरंकुश और स्वेच्छाचारी थे। पोप की शक्ति कम हो जाने के कारण उनका प्रभाव और भी बढ़ गया था। वे बड़े वैभव के साथ राजप्रासादों में निवास करते थे और आमोद प्रमोद में अपना जीवन व्यतीत करते थे।

मध्यकाल के प्रारम्भ में सैकड़ों हजारों राजा, महाराजा और सामन्त यूरोप के विविध प्रदेशों पर शासन करते थे। हम पहले बाता चुके हैं, कि ये आपस में निरन्तर लड़ते रहते थे। कोई किसी की प्रभुता स्वीकार नहीं करता था। पर धीरे-धीरे इन बहुत से राजा महाराजों के बीच में कुछ शक्तिशाली राजाओं का विकाश शुरू हुआ, जिन्होंने अपने सामन्तों को पूरी तरह काबू में ला अपना एकतन्त्र शासन स्थापित किया। सामन्त लोग उनके प्रतिद्वन्द्वी न हो उनके पूर्णतया वशवर्ती हो गये। वे आपस के झगड़ों को लड़ाई से निबटाने के स्थान पर उस शक्तिशाली राजा से न्याय कराने लगे। अपनी-अपनी जागीरों में स्वतन्त्र राजा के समान रहने के स्थान पर वे उस एक राजा के शानदार दरबार में रहना अधिक सम्मानास्पद समझने लगे। यह स्थिति यूरोप में एकदम नहीं आ गई। इसे आने में भी बहुत समय लगा। सत्रहवीं सदी तक यूरोप के अधिकांश देशों में यह स्थिति आ चुकी थी। इसे आने में बारूद का प्रवेश बहुत सहायक हुआ। सामन्तों की शक्ति का आधार मुख्यतया उनके पृथक् पृथक् दुर्ग थे, जो प्रायः मट्टी के बने होते थे। जब तक बारूद नहीं थी, सामन्त अपने इन दुर्गों में सर्वथा अजेय थे। पर तोपों और बारूद के सम्मुख मट्टी के दुर्ग देर तक नहीं ठहर सकते थे। यही कारण है, कि जब बारूद की मार से दुर्ग नष्ट होने लगे, तो सामन्तों की शक्ति भी क्षीण होनी शुरू हुई। इसके अतिरिक्त चौदहवीं पन्द्रहवीं सदियों में यूरोप के प्रायः सभी देशों में बड़े भयङ्कर युद्ध हुए। ये युद्ध विविध राजवंशों और विविध सामन्तों में परस्पर हो रहे थे। इनके कारण बहुत से राजकुल नष्ट हो गये और विविध सामन्तों की शक्ति क्षीण हो गई। इसी का परिणाम हुआ, कि कुछ शक्तिशाली राजाओं के लिये उत्कर्ष का मार्ग साफ हो गया और स्वेच्छाचारी निरंकुश राजाओं का विकास हुआ।

फ्रांस, इङ्गलैण्ड, स्पेन, रूस आदि सभी देशों में यही प्रक्रिया हु थी। इस प्रक्रिया का प्रदर्शन कर सकना यहाँ सम्भव नहीं है, पर सत्रह सदी तक इन सब देशों के शक्तिशाली राजाओं ने अपने-अपने सामन्त को पूरी तरह काबू कर अपनी सत्ता का पूर्णतया विकास कर लिया था इङ्गलैंड का राजा हेनरी अष्टम (१५३०), फ्रांस का राजा लुई १४ (१६४३), स्पेन का राजा फिलप द्वितीय (१५५८), रूस का रा पीटर (१६८६), सब इसी प्रकार के शक्तिशाली निरंकुश राजा थे वे अपने को पृथिवी पर ईश्वर का प्रतिनिधि समझते थे। उनकी इच्छा ही कानून थी। उनका वैभव अपरम्पार था। सारी प्रजा और साम उन्हें ईश्वर का अवतार मानते थे। उनके दैवी होने में किसी को सन्देह नहीं था।

निरंकुश शासन के इस युग में भी कोई कोई स्थान ऐसे थे, ज जनता के शासन का धीरे-धीरे सूत्रपात्र हो रहा था। स्विटजरलैंड पहाड़ी घाटी के निवासी चौदहवीं सदी में ही अपना शासन अपने आ करने लगे थे। होलैण्ड के निवासियों ने स्पेन के स्वेच्छारी शासन विरुद विद्रोह कर १६४८ में स्वतन्त्रता प्राप्त की थी। स्वतन्त्र हो के बाद होलैण्ड में जो सरकार कायम हुई थी; उसमें जनता का प्रया हाथ था। पर लोक सत्तात्मक शासन के लिए सबसे प्रबल संघर्ष इ लैण्ड में हुआ। अठारहवीं सदी में स्टुअर्ट वंशी राजाओं के स्वेच्छाचा शासन के विरुद्ध इङ्गलैण्ड में जो क्रान्ति हुई, उस पर हम आगे चल कर प्रकाश डालेंगे। पर इन थोड़े से अपवादों को छोड़कर अठारह सदी तक यूरोप के सभी देशों के शासक पूर्णतया स्वेच्छारो रहे।

पर यूरोप में सर्वत्र जो पुनः जागरण हो रहा था, जो युग-परिवर्त हो रहा था, उसका प्रभाव राजनीतिक क्षेत्र पर न पड़े, यह असम्भव था कुछ समय बाद ही अठारहवीं सदी के अन्त में फ्रांस में राज्यक्रान्ति हुई इस क्रान्ति के साथ यूरोप के राजनीतिक क्षेत्र में एक नवीन प्रवृत्ति क

प्रारम्भ हुआ। आज वह प्रवृत्ति पूर्णतया सफल हो चुकी है। सब देशों में एकतन्त्र शासनों का अन्त हो लोक-तन्त्र शासनों का स्थापना हो गई है। यूरोप के आधुनिक इतिहास में हम इन्हीं महान् परिवर्तनों का अध्ययन करेंगे।

यूरोप के पुनः जागरण का क्षेत्र बहुत विस्तृत था। जब एक बार मनुष्यों ने पुरानी रूढ़ियों और अन्धविश्वासों का परित्याग कर अपनी बुद्धि से काम लेना प्रारम्भ किया, तब उनके बन्धन निरन्तर टूटते गए। प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति का मार्ग उनके लिए खुलता गया। न केवल राजनीतिक क्षेत्र में, अपितु सामाजिक, आर्थिक, व्यावसायिक और धार्मिक क्षेत्रों में भी यूरोप ने असाधारण उन्नति की। हम इस इतिहास में इसी चौमुखी उन्नति पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

हमने १७८६ तक यूरोप का इतिहास बहुत संक्षेप से यहाँ दिया है। इसे क्रमबद्ध इतिहास कहा जा सकता है, इस बात में भी हमें सन्देह है। हमने यहाँ केवल उन बातों को लिखा है, जिनका जानना आधुनिक यूरोपियन इतिहास को समझने के लिये अनिवार्य है। कुछ बातें जो आवश्यक थीं, हमने जान बूझ कर यहाँ नहीं लिखीं। उन्हें यूरोप के आधुनिक इतिहास में विविध प्रकरणों को स्पष्ट करते हुए दिया गया है। उनका वहाँ देना अधिक उपयोगी है।

दूसरा अध्याय

राज्यक्रान्ति से पूर्व फ्रांस की दशा

एकतन्त्र राजा—राज्यक्रान्ति से पूर्व फ्रांस में स्वेच्छाचारी एकतन्त्र राजा राज्य करते थे। ये राजा वंशक्रमानुगत होते थे और अपने को ईश्वर के सिवा किसी अन्य के सम्मुख उत्तरदायी न समझते थे। इनकी इच्छा ही कानून थी। ये जिसे चाहते, राजकीय पद पर नियत करते। जिसे चाहते पद-च्युत करते। राजा अपनी इच्छा से जनता पर कर लगाता था और राजकीय आमदनी को अपनी इच्छानुसार ही खर्च करता था। सन्धि और विग्रह का अधिकार केवल राजा को था। वह अपनी इच्छा से, प्रजा से किसी भी प्रकार की सलाह बिना लिये, किसी राजा व देश से लड़ाई शुरू कर सकता था। वह जिसे चाहे कैद कर सकता था। जिसे चाहे सजा दे सकता था। लुई १६वाँ अभिमान से कहा करता था—"यह कानून है, क्योंकि मेरी ऐसी ही इच्छा है। राज्य की प्रभुत्व शक्ति मुझमें निहित है। कानून बनाने का हक केवल मुझे है, इसके लिये मुझे किसी पर आश्रित रहने व किसी का सहयोग लेने की आवश्यकता नहीं।" फ्रांस के राजाओं का शासन-सम्बन्धी मूल सिद्धान्त यह था, कि राजा पृथिवी पर परमेश्वर का प्रतिनिधि है। वह राजा है, क्योंकि परमेश्वर ने उसे राजा बनाया है। जिस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पर परमेश्वर ब्रह्माण्ड के विविध प्राणियों की किसी भी प्रकार

सम्मति बिना लिये स्वेच्छा से शासन करता है, उसी प्रकार राजा अपने राज्य में प्रजा की सम्मति पर जरा भी आश्रित हुए बिना अपनी इच्छा से शासन करता है। यदि राजा दयालु है, प्रजा का सौभाग्य है। यदि राजा अत्याचारी है, तो किसी का क्या बस है! परमेश्वर के शासन में आँधियाँ आती हैं, तूफान आते हैं, महामारियाँ फैलती हैं, भूकम्प आते हैं—इन सब ईश्वरीय विधानों के सम्मुख मनुष्य क्या कर सकता है? कुछ नहीं। अपने पापों का फल समझ कर चुप रह जाने के सिवा मनुष्य की गति ही क्या है? इस प्रकार, यदि राजा अत्याचार करता है, कर से जनता को पीड़ित करता है, निरपराधियों को शूली पर चढ़ाता है, तो इन राजकीय विधानों के सम्मुख मनुष्य का क्या बस है? मनुष्य को यह सब राजकीय प्रकोप भी चुपचाप सहना ही चाहिये! और हो ही क्या सकता है?

फ्रांस के राजा इसी पुराने सिद्धान्त को माननेवाले थे। अधिकांश जनता भी यही विश्वास रखती थी। जनता का सम्पूर्ण जीवन राजा पर आश्रित था। राजा बड़ी शानशौकत से, हजारों पार्श्वचरों और अनुचरों के साथ वर्साय के राजप्रासाद में निवास करता था। पेरिस से १२ मील दूर राजा और उसके दरबारियों के भोग-विलास का केन्द्र यह वर्साय नगर विराजमान था। इसकी कुल आबादी ८० हजार थी। ये इतने लोग राजा और उनके दरबार की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये ही इस सुन्दरी नगरी में एकत्रित थे। राजा का महल तीस करोड़ रुपये की लागत से बनाया गया था। यह विपुल धनराशि जनता से कर के रुप में वसूल की गई थी। राज दरबार में १५ हजार आदमी थे। अकेली रानी के नौकरों की संख्या ५०० से ऊपर थी। राजा के खर्च की कोई हद न थी। राजा की अपनी घुड़साल पर ही सालाना एक करोड़ रुपये से अधिक खर्च आता था। ५० लाख के लगभग रुपये खाने पीने में उठा दिये जाते थे। राजा के आमोद प्रमोद, शान शौकत और

भोग विलास का खर्च ६ करोड़ रुपया सालाना से कम न था ? यह सब धन कहाँ से प्राप्त होता था ? जनता के टैक्सों से, गरीब जनता के पसीने की मेहनत से।

यह भोग विलास प्रधान, स्वेच्छाचारी, एकतन्त्र शासन जनता के लिये असह्य न होता, यदि इसमें क्षमता होती। एकतन्त्र शासन दुनिया में रहे हैं, हजारों सालों तक रहे हैं; पर वे सफल तभी हुए, जब कि वे मजबूत थे—जब कि उनमें शक्ति थी। पर फ्रांस का इस समय का शासन बहुत ही ढीला ढाला तथा विच्छृङ्खल हो गया था। राजा तथा उसके कर्मचारियों को शासन की कोई परवाह न थी। उन्हें परवाह थी, अपने आमोद-प्रमोद की, अपने सम्मान की और अपने आराम की जिंदगी की। ऐसा शासन देर तक कायम नहीं रह सकता था। जब उसे क्रांति का धक्का लगा, तब मुकाबला नहीं कर सका। वह पुराने खोखले वृक्ष की तरह लड़खड़ाकर गिर गया।

२ **राजा की स्वेच्छाचारिता**—राजा की स्वेच्छाचारिता अनेक अंशों में सीमा को लाँघ चुकी थी। फ्रांस के राजा जिसको चाहते गिरफ्तार कर सकते थे। केवल राजा ही नहीं, उसके रिश्तेदारों, कृपापात्रों, कर्मचारियों और सरदारों को भी यह अद्‌भुत अधिकार प्राप्त था। राजा एक किस्म के "मुद्रित पत्र" जारी किया करता था, इन पर राजा की मुद्रा लगी होती थी और किसी भी व्यक्ति को गिरफ्तार करने तथा सजा देने का हुकम जारी किया गया होता था। किसको गिरफ्तार किया जाय, उसके नाम की जगह खाली रहती थी। कितनी और क्या सजा दी जाय, इसका स्थान भी खाली रहता था। जिस आदमी के पास यह "मुद्रित पत्र" मौजूद हो, उसे इन खाली स्थानों को भर देना होता था। वे "मुद्रित पत्र" की खाना पूरी कर जिसे चाहते गिरफ्तार करवा देते और जो सजा चाहते, दिलवा देते। राजा को यह जानने की जरूरत भी नहीं थी, कि किसे और क्या सजा दी जा रही है। ये "मुद्रित पत्र"

भी एक सौगात थे, एक उपहार थे, एक कृपा थी—जिसे राजा बड़ी उदारता के साथ अपने कृपापात्रों को प्रदान किया करते थे। कितने निरपराध इन "मुद्रित पात्रों" से कष्ट भोगते थे, इसका अनुमान सहज में ही किया जा सकता है। जो आदमी राजा की कृपा से यह "मुद्रित पत्र" प्राप्त कर ले, उसके दुश्मनों की खैर नहीं थी। न्याय और स्वतन्त्रता का खून करने के लिये इससे उत्तम साधन अन्य क्या हो सकता था? इन "मुद्रित पत्रों" के कारण जनता का जीवन सदा खतरे में रहता था, उनका जीवन राजा और उसके कृपापात्रों के हाथ में रहता था।

फ्रांस की जनता पर जो टैक्स लगाये जाते थे, वे दो प्रकार के थे—प्रत्यक्ष और परोक्ष। परोक्ष टैक्सों में नमक, शराब, तमाखू और आयात और निर्यात माल पर लगाये गये टैक्स प्रमुख थे। नमक पर कर की मात्रा बहुत अधिक थी। इस कर से जनता बहुत कष्ट में थी। नमक जैसी उपयोगी वस्तु उन्हें बहुत ही मँहगी कीमत से प्राप्त होती थी। इन करों को वसूल करने का तरीका बहुत ही अजीब था। अमीर आदमियों व कम्पनियों को टैक्स वसूल करने का ठीका राज्य की तरफ से दे दिया जाता था। ये ठेकेदार एक निश्चित धनराशि देकर मनमानी टैक्स वसूल करने का हक प्राप्त कर लेते थे। इन्हें अपनी जेब भरने से मतलब था। जनता की अवस्था की जरा भी परवाह किये बिना ये अपने स्वार्थ को दृष्टि में रखकर टैक्स वसूल करते थे।

प्रत्यक्ष-कर भूमि तथा अन्य प्रकार की सम्पत्ति से होनेवाली आमदनी पर लिया जाता था। पर इस कर का ढंग इस प्रकार का था; कि अमीरों पर बहुत ही कम बोझ पड़ता था। गरीबों पर टैक्स का भार बहुत अधिक था। मामूली किसान अपनी जमीनों से जो कुछ पैदा करते थे, उसका आधा उन्हें भूमिकर के रूप में राज्य को दे देना होता था। पर बड़े बड़े जमींदार राज्य-कर से प्रायः मुक्त ही रहते थे।

विविध करों से जो आमदनी होती थी, राजा उसका उपयोग अपनी इच्छा से करता था। राजा के निजी खर्च और राज्य के खर्च में कोई भेद न था। राजा जितना चाहे, खर्च कर सकता था। वह जो बिल बना दे; राजकर्मचारियों को आँख मींच कर उसे स्वीकार करना पड़ता था। वे कोई आपत्ति न कर सकते थे।

लोक सभाओं का अभाव—फ्रांस में कानून बनाने के लिये या राजकीय विषयों पर विचार करने के लिये कोई ऐसी लोक-सभाएँ न थीं; जिनमें जनता के प्रनिनिधि एकत्रित हो सकें। निस्सन्देह, पुराने समयों में फ्रांस में भी एक इस प्रकार की सभा थी, जिसे 'एस्टेट्स जनरल' कहते थे, पर सन् १६१४ के बाद उसका एक भी अधिवेशन नहीं हुआ था। लोग यह भी भूल गये थे, कि इस 'एस्टेट्स जनरल' के क्या संगठन और नियम थे। अब तो फ्रांस पर राजा का अबाधित शासन था। उसने अपनी मदद के लिये कुछ सभायें बनाई थीं, पर ये राजा की अपनी सृष्टि थी। ये राजा के सम्मुख उत्तरदायी थीं, उसकी इच्छा पर अवलंबित थीं, इनका प्रयोजन यही था, कि राजा अपने सामान्य राजकीय कार्यों से भी निश्चिन्त हो सके, वह सब चिन्ताओं से मुक्त होकर मौज से अपने कृपापात्रों के साथ आमोद प्रमोद में विलीन रह सके।

राष्ट्रीयता का अभाव—फ्रांस पर एक राजा का अबाधित राज्य था, इससे ऊपर से देखने पर तो यह मालूम होता था, कि फ्रांस एक देश है—एक राष्ट्र है। पर वास्तविकता यह नहीं थी। फ्रांस में राष्ट्रीयता का अभी उदय नहीं हुआ था। जनता में एक राष्ट्र की भावना का सर्वथा अभाव था। भिन्न भिन्न प्रदेशों के लोग अपने को फ्रांसीसी न समझकर उस उस प्रांत का निवासी समझते थे। पुराने जमाने में फ्रांस में अनेक राजाओं व सामन्तों का शासन था। फ्रांस अनेक छोटे छोटे राज्यों में विभक्त था। अब ये विविध राज्य नष्ट हो चुके थे, पर उनकी स्मृति मौजूद थी। यह स्मृति केवल मनुष्यों के हृदयों में ही नहीं थी, अपितु

देश के कानूनों और विविध संस्थाओं में भी विद्यमान थी। अब तक भी इन प्रदेशों में से बहुतों की सीमा पर आयात और निर्यात कर लगते थे। अगर कोई व्यापारी फ्रांस के दक्षिणी समुद्र तट से माल लाद कर उत्तर में जाना चाहे तो रास्ते में अनेक स्थान पर उसके माल की तलाशी होती थी, अनेक स्थान पर उसे चुंगी देनी पड़ती थी। ये आयात और निर्यात-कर स्पष्ट रूप में यह जताते थे, कि फ्रांस अब भी एक देश नहीं है, अनेक देशों का समूह है। इन विविध प्रदेशों में टैक्स वसूल करने के नियम तथा ढंग भी एक दूसरे से पृथक् थे।

फ्रांस अभी एक राष्ट्र नहीं बना था, इसका सबसे अच्छा प्रमाण यह है, कि उसके कानून की कोई पद्धति प्रचलित नहीं थी। दक्षिणीय फ्रांस में विशेषतया रोमन कानून का प्रचार था। पर उत्तरीय, पश्चिमीय और पूर्वीय फ्रांस में २८५ किसम के कानून प्रयोग में आ रहे थे। ये विविध कानूनी फ्रांस के मध्यकालीन विभेदों के अवशेष थे। इन भिन्न भिन्न कानूनों के रहते हुए फ्रांस में एक राष्ट्र की भावना कैसे उत्पन्न हो सकती थी?

सामाजिक रचना—फ्रांस की सामाजिक रचना स्वतन्त्रता पर आश्रित न होकर स्थिति-जन्म मूलक स्थिति पर आश्रित थी। सब फ्रांस निवासियों के अधिकार एक समान न थे। कुछ लोग विशेष अधिकार रखते थे और कुछ के कोई भी अधिकार न थे। कुछ लोग बड़े थे और कुछ लोग छोटे। कुछ लोग कुलीन समझे जाते थे और कुछ लोग नीच। फ्रांस में सामाजिक संगठन का आधार-भूत सिद्धांत यह था, कि सब मनुष्य एक समान और स्वतन्त्र नहीं हैं। कुछ लोग स्वभावतः ही बड़े हैं, विशेष अधिकार रखते हैं, अमीर हैं; और दूसरे स्वभावतः ही छोटे हैं, अधिकार रहित हैं, और गरीब हैं। रूसो का प्रसिद्ध सिद्धान्त "परमेश्वर ने सब मनुष्यों को एक समान और स्वतंत्र उत्पन्न किया है"

उस समय फ्रांस में केवल कुछ विचारकों के दिमागों में ही था, क्रिया में नहीं।

फ्रांस की जनता को हम तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं—कुलीन श्रेणी, पुरोहित श्रेणी और सर्वसाधारण जनता। इसमें से कुलीन और पुरोहित श्रेणियाँ विशेष अधिकारों से युक्त थी, ऊँची समझी जाती थीं, और संख्या में बहुत कम होने पर भी बहुत अधिक प्रभाव रखती थीं। सर्वसाधारण जनता की उनके मुकाबिले में न कोई स्थिति थी और न कोई अधिकार।

फ्रांस की सम्पूर्ण भूमि का एक चौथाई भाग कुलीन श्रेणी की सम्पत्ति था। ये कुलीन लोग मध्यकालीन सामन्त पद्धति के अवशेष थे। इनकी राजनीतिक स्थिति अब क्षीण हो चुकी थी, पर सामाजिक और आर्थिक अधिकार वैसे ही कायम थे। राज्य, सेना और चर्च के सब उच्च पद इन्हीं के लिये सुरक्षित थे। अनेक प्रकार के टैक्सों से ये बरी थे। ये समझते थे, हमें रुपये पैसे के रूप में टैक्स देने की क्या जरूरत है? हम तो अपना टैक्स तलवार से देते हैं। जो कुलीन लोग अमीर होते थे, वे बड़ी शान शौकत के साथ राज दरबार में राजा के इर्द गिर्द निवास करते थे। वहाँ इनके भोग विलास की कोई सीमा न थी। इनका पेशा केवल मौज उड़ाना ही न होता था, अपितु दरबार की साजिशों से भी इन्हें फुरसत न मिलती थी। इनकी जमीन किसान लोग जोतते थे। जमीन की फिकर करने की इन्हें कोई जरूरत न थी। राज्य के बड़े बड़े पद, खास तौर पर आमदनीवाले पद—नीलाम हुआ करते थे और ये कुलीन लोग उन्हें खरीदने के लिये सदा उत्सुक रहते थे। ये पद इनकी शान को बढ़ाते थे, और साथ ही आमदनी को बढ़ाने में भी सहायक होते थे, क्योंकि उस समय के फ्रांस के शासन में रिश्वतखोरी का बाजार बहुत गरम रहता था।

परन्तु कुलीन श्रेणी के सभी लोग अमीर न थे। बहुत से कुलीन लोग जूए, शराब तथा इसी प्रकार के अन्य व्यसनों में फँसे रहने के

कारण ऋणी होकर तबाह हो गये थे। एक कुलीन के मरने पर उसकी सम्पत्ति का दो तिहाई हिस्सा सबसे बड़े लड़के को मिलता था, बाकी तिहाई हिस्सा छोटे लड़कों में बाँट दिया जाता था। विरासत के इस कायदे से भी बहुत से कुलीन लोग गरीब हो गये थे। पर गरीब होने पर भी इनके अधिकारों में कोई कमी न आती थी। इनका रहन सहन मामूली किसानों का सा ही था। अनेक कुलीनों की आमदनी साधारण किसानों से भी कम थी—पर इनके अधिकार अक्षुण्ण थे। लोग इन्हें मजाक में कहा करते थे कि ये 'कबूतर खाने या जोहड़ के महान् और शक्तिशाली सामन्त हैं।'

पुराने कुलीन लोगों में से बहुतों की इस प्रकार दुर्दशा हो रही थी। दूसरी तरफ राजा की कृपा ने अनेक कुलीन लोगों को श्रीमन्त बना दिया था। स्वेच्छाचारी एकतन्त्र राजाओं की कृपा कटाक्ष से बहुत से साधारण आदमी कुलीनों की श्रेणी में पहुँच गये थे। सर्वसाधारण लोगों में ऊँचे घरानों के लिये एक विशेष प्रकार का आदर भाव होता है। वे उन्हें अपने से अच्छी स्थिति में देखने के लिये अभ्यस्त होते हैं। उन कुलीनों के विशेष अधिकारों का उपभोग करना उन्हें नहीं चुभता। पर जब कोई उन्हीं की तरह का मामूली आदमी विशेष अधिकारों को प्राप्त कर लेता है, तब वह उन्हें असह्य हो जाता है। फ्रांस की जनता की दृष्टि में राजा की कृपा से कुलीन बने हुए इन मामूली लोगों के विशेष अधिकार काँटे की तरह से चुभते थे। इसी प्रकार, कुलीनता के रोब को कायम रखने के लिये आर्थिक समृद्धि अत्यन्त आवश्यक होती है। गरीबी की हालत में कुछ समय तक तो खानदान का रोब काम करता रहता है, पर कुछ समय बाद ही वह काफूर की तरह उड़ जाता है। फ्रांस के गरीब कुलीनों का रोब भी इसी प्रकार निरन्तर क्षीण हो रहा था। पर कुलीनता के सब विशेष अधिकार इन्हें प्राप्त थे और जनता को ये सह्य न थे।

धार्मिक सुधारणा का युग इस समय समाप्त हो चुका था, पर फ्रांस में रोमन कैथेलिक चर्च का ही अभी आधिपत्य था। यह चर्च राज्य के अन्दर एक दूसरे राज्य के समान था। इसकी अपनी सरकार और अपने राजकर्मचारी थे। फ्रांस की बहुत सी भूमि चर्च की मल्कियत थी। किसी किसी प्रदेश में तो ४० फी सदी जमीन चर्च की सम्पत्ति थी। इस जमीन से चर्च को भारी आमदनी थी। इसके सिवा चर्च सब लोगों से कर वसूल करता था। जमीन की उपज का दसवाँ हिस्सा चर्च को कर रूप में जाता था। हिसाब लगाया गया है, कि चर्च की कुल आमदनी तीस करोड़ रुपये वार्षिक के लगभग थी। चर्च की जमीनों और सम्पति पर राज्य कोई कर न लेता था। चर्च जो टैक्स वसूल करता था, वह केवल रोमन कैथेलिक लोगों से ही नहीं, अपितु प्रोटेस्टेण्ट और यहूदी लोगों से भी लिया जाता था। इन सब कारणों से चर्च के प्रभाव और शक्ति की कोई सीमा न थी। राज्य के बाद उसी का स्थान सर्वोच्च था। इस अत्यन्त प्रभावशाली चर्च के संचालकों का महत्त्व उस समय में कितना अधिक होगा, इसका अनुमान कर सकना कठिन नहीं है।

चर्च का संचालन करनेवाली पुरोहित-श्रेणी को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—उच्च पुरोहित और सामान्य पुरोहित।

उच्च पुरोहितों की संख्या ६००० के लगभग थी। ये आर्कबिशप, बिशप, एबट आदि चर्च के ऊँचे पदों पर नियत थे। इनके प्रभाव और समृद्धि की कोई सीमा न थी। ये बड़े बड़े कुलीन श्रीमन्तों की तरह शानशौकत और भोगविलास से जीवन व्यतीत करते थे। धार्मिक कर्तव्यों की तरफ इनका कोई ध्यान न था। इनमें से बहुत से राजदरबार में मौज किया करते थे और कुलीन लोगों की तरह राजदरबार की अन्दरूनी साजिशों में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने में ही अपने जीवन की सफलता समझते थे। इसमें से बहुतों की आमदनी लाखों रुपये साल

थी। इस आमदनी का उपयोग अनाथों और पीड़ितों की सहायता में न होकर सहभोजों और शराब की दावतों में होता था। बहुत से उच्च पुरोहितों को परमेश्वर में विश्वास तक न था, फिर भी वे चर्च के ऊँचे से ऊँचे पदों पर विराजमान थे।

चर्च के वास्तविक कर्तव्यों का सम्पादन सामान्य पुरोहित करते थे। इनकी संख्या सवा लाख के लगभग थी। ये सर्वसाधारण जनता में से लिये जाते थे। देहातों में इनका निवास था, ये ही धार्मिक विधि विधानों और कर्म काण्डों का सम्पादन करते थे। ये लड़कों को पढ़ाते थे और मामूली लोगों की तरह सुख या दुख में दिन काटते थे। इन्हें बहुत थोड़ा वेतन मिलता था। सारा काम ये करते थे, पर बेफिकरी से पेट भर सकना भी इनके लिए दूभर था। चर्च की विशाल आमदनी का बहुत थोड़ा सा हिस्सा इनके पल्ले पड़ता था। उसका फल तो वे लोग प्राप्त करते थे, जो राजा के साथ वर्साय में मौज उड़ाते थे। यही कारण है, कि सामान्य पुरोहितों के हृदयों में उच्च पुरोहितों के प्रति विद्वेष की भावना थी और राज्य क्रान्ति के समय में उन्होंने जनता का साथ दिया।

इस काल में फ्रांस के अन्दर जनता को धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त न थी। यद्यपि फ्रांस की अधिकांश जनता रोमन कैथोलिक धर्म को मानने-वाली थी, पर यहूदियों और प्रोटेस्टेन्टों की संख्या भी कम न थी। फ्रांस के कानून के मुताबिक प्रत्येक आदमी के लिये चाहे वह यहूदी या प्रोटेन्टेण्ट धर्म को माननेवाला क्यों न हो, चर्च के—जो कि रोमन कैथोलिक था—अधीन होना आवश्यक था। सब आदमियों को चर्च का सदस्य होना होता था और चर्च के करों को देना पड़ता था। रोमन कैथोलिक लोगों के अतिरिक्त अन्य लोगों के विवाह तक गैर कानूनी समझे जाते थे। उनकी मृत्यु के बाद उनके कैथोलिक रिश्तेदार सम्पत्ति के मालिक बनने के लिये दावा कर सकते थे, और इस प्रकार उनके वास्तविक उत्तराधिकारियों से विरासत के हक को छीन सकते थे। विधर्मियों को

अपने विश्वासों के अनुसार स्वतन्त्रतापूर्वक धार्मिक कृत्यों तक को करने का अधिकार नहीं था। जब भी धार्मिक स्वतन्त्रता के लिये फ्रांस में कोशिश की गई, पुरोहितों ने उसका विरोध किया।

एक तरफ जब फ्रांस के कानून के अनुसार धार्मिक स्वतन्त्रता को पूर्णतया रोक दिया गया था, दूसरी तरफ नास्तिकता की प्रवृत्ति बड़ी तेजी के साथ बढ़ रही थी। सर्वसाधारण जनता में ही नहीं, पुरोहितों और उच्च पुरोहितों में भी नास्तिकता की लहर बड़ी तेजी से चल रही थी।

इन कुलीन और पुरोहित (निस्सन्देह, उच्चपुरोहित) श्रेणियों के विशेषाधिकार अनेक प्रकार के थे। अपनी अपनी जमींदारियों से कई किसम की आमदनी रिवाज के आधार पर प्राप्त करते थे। विवाह आदि विशेष अवसरों पर किसी खास खर्च के आ पड़ने पर, ये बड़े जमींदार अपने आसामियों तथा अपनी जमींदारी के निवासियों से तरह-तरह के नजराने वसूल करते थे। जो माल इनके इलाके में आता था, उस पर वे कर लेते थे। स्वतन्त्र किसानों से उनकी उपज का खास हिस्सा प्राप्त करते थे। इनके इलाकों में कई किस्म के कारोबार, जैसे आटे की चक्की, शराबखाना आदि इनके सिवा दूसरा न कर सकता था, और सब लोगों के लिये आवश्यक था, कि उन कामों को इन्हीं के कारखानों में करावें। जमीन के क्रय विक्रय के समय में उसकी कीमत का पाँचवाँ हिस्सा ये बड़े जमींदार प्राप्त करते थे। शिकार इनका खास अधिकार था। इसके लिये बहुत सी जमीन सुरक्षित रखी जाती थी, ताकि जानवर संख्या में खूब बढ़ सकें। नजदीक के किसान शिकार के इन जानवरों को किसी किस्म का नुकसान नहीं पहुँचा सकते थे, चाहे वे खेतों को तबाह ही क्यों न कर दें। जमींदारों के कबूतर खानों में पले हुए हजारों कबूतर किसानों के खेतों को उजाड़ते फिरते थे, पर किसी की क्या हिम्मत थी जो उन्हें उड़ा भी दे। तरह तरह के जानवर—जिनका शिकार खेल कर जमींदार आनन्द प्राप्त करता था, खेतों की

तवाही मचाते फिरते थे, पर कोई किसान उन्हें मार नहीं सकता था। जमींदारों के इन विशेषाधिकारों से लोग तंग आ गये थे, पर बेबस थे।

फ्रांस में कुलीन और पुरोहित श्रेणियों के लोगों की कुल आबादी दो या ढाई लाख से अधिक नहीं थी। शेष जनता—जिनकी आबादी ढाई करोड़ के लगभग थी, किस दशा में थी? इस सर्वसाधारण जनता को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—मध्य श्रेणी के लोग, शहरों के मजदूरी पेशा लोग और देहातों के किसान लोग।

मध्य श्रेणी में वे लोग सम्मिलित हैं, जो कुलीन व पुरोहित श्रेणी के न थे और जो हाथ से मेहनत किये बिना अन्य तरीकों से आमदनी प्राप्त करने में समर्थ थे, जैसे वकील, चिकित्सक, साहित्यिक लेखक व कवि, व्यापारी, साहूकार, कलाविज्ञ, नट नर्तक, सरकारी नौकर और तरह तरह के कारखानों के मालिक। ऐसे लोगों की आबादी बीस लाख के लगभग थी। फ्रांस की सम्पत्ति, दिमाग, विद्या और कारोबार इसी मध्य श्रेणी के लोगों के पास थे। तरह तरह के कारोबार और तिजारत से ये लोग लगातार अमीर होते जाते थे। राजा और कुलीन श्रीमन्त लोग इनसे रुपया कर्ज लेते थे। महाजन के तौर पर इनकी शक्ति और प्रतिष्ठा निरन्तर बढ़ रही थी। इसी श्रेणी के लोगों में बहुत से विचारक, दार्शनिक तथा लेखक उत्पन्न हुए थे, जो फ्रांस में पहली बार 'लोकमत' नाम की नई वस्तु को पैदा कर रहे थे। सांसारिक दृष्टि से सब प्रकार उन्नत तथा सफल होते हुए भी इनके राजनीतिक अधिकार कोई न थे। राजनीतिक अधिकारों की दृष्टि से इनकी वही हैसियत थी, जो कि एक नंगे भूखे किसान की थी। यही कारण है, कि इनमें असन्तोष निरन्तर बढ़ रहा था। ये लोग अपनी वर्तमान दशा में असन्तोष अनुभव कर रहे थे। योग्यता और सम्पत्ति की दृष्टि से ये कुलीन श्रेणी की बराबरी के थे, पर अधिकारों की दृष्टि से इनकी कोई गिनती न थी। जब फ्रांस में राज्यक्रान्ति हुई, तो इन्हीं लोगों ने उसका सबसे अधिक

साथ दिया। क्रान्ति में इन्हें स्पष्ट रूप से अपनी इस दुरवस्था के अन्त होने की सम्भावना नजर आ रही थी।

शहरों के मजदूरीपेशा लोगों की संख्या २५ लाख के लगभग थी। शहरों का व्यावसायिक जीवन उस समय या तो आर्थिक श्रेणियों (Guilds) में संगठित था, या छोटे छोटे कारखानों में। जो मजदूर इन श्रेणियों के सदस्य थे, उनकी हालत बहुत बुरी न थी। पर श्रेणियों के कड़े कायदे उनकी स्वतन्त्रता के मार्ग में सबसे बड़ी रुकावट थे। जो मजदूर कारखानों में काम करते थे, उनकी दशा बहुत खराब थी। उन्हें बहुत थोड़ा वेतन मिलता था उन्हें बहुत अधिक समय तक काम करना पड़ता था। उनकी मेहनत बहुत ही थकानेवाली तथा कष्टप्रद होती थी। इन मजदूरों का किसी प्रकार संगठन नहीं था। वे अपनी हालत से बहुत असन्तुष्ट थे। जब राज्यक्रान्ति हुई, तो यही मजदूरी पेशा लोग थे—जो बड़े उत्साह के साथ सब तरह की अव्यवस्था और दंगा मचाने के लिये उसमें शामिल हो गये। क्रान्ति में इन्होंने गँवाना कुछ नहीं था। क्रान्ति में इनकी मौज ही मौज थी। बिना पसीना बहाये क्रान्ति के समय ये उससे बहुत अधिक प्राप्त कर सकते थे, जितना कि इन्हें मजदूरी से मिलता था।

देहातों के किसानों की संख्या दो करोड़ के लगभग थी। ये कुल जनता के अस्सी फीसदी भाग थे। पर इनकी हालत सबसे अधिक खराब थी। ये ग्रामों में कुलीन श्रेणी के जमींदारों की जागीरों में निवास करते थे। आधे के करीब किसान अभी तक 'भूमिदास' व 'अर्धदास' थे, जो अपनी इच्छानुसार अपने मालिक की जमीन को छोड़कर कहीं बाहर नहीं जा सकते थे। इन्हें बाधित होकर अपने मालिक की जमीन को जोतना पड़ता था पर शेष आधे किसान स्वतन्त्र थे। ये जहाँ चाहें आ जा सकते थे, और जमीनों पर अपने हक को बेच व खरीद सकते थे। जमीनों पर इनका हक मान लिया गया था, और बहुत से किसान अपनी

जमीन के मालिक भी बन गये थे। परन्तु किसान चाहे अभी भूमि-दास की दशा में हों, चाहे स्वतन्त्र हों और चाहे अपनी जमीन के स्वयं मालिक हों, विविध किसम के टैक्सों से दबे हुए थे। ऐसे किसानों को ही लीजिये, जो अपनी जमीन के आप मालिक थे। राजा उनसे टैक्स लेता था, जमींदार उनसे नजराने लेता था और चर्च उनसे आमदनी का दसवाँ हिस्सा वसूल करता था।

यह नहीं समझना चाहिये, कि फ्रांस के किसानों की दशा इस समय में असाधारण रूप से खराब थी। वास्तविकता तो यह है कि उनकी दशा अन्य देशों के किसानों की दशा से बहुत काफी अच्छी थी। क्रान्ति के लिये यह जरूरी नहीं है, कि लोग बहुत पददलित हों, बहुत अत्याचार पीड़ित हों। जनता भयङ्कर से भयङ्कर अत्याचारों से सताई हुई रह सकती है, और हो सकता है कि उसको अपनी स्थिति से जरा भी असंतोष न हो। हजारों साल तक मनुष्य जाति का अधिकांश भाग दास-प्रथा का शिकार रहा है। दास की दशा में लोग भयङ्कर से भयङ्कर अत्याचारों को दैवीय विधान समझकर सहन करते रहे हैं। क्रान्ति के लिये जन साधारण की दशा ऐसी होनी चाहिये, कि वे अत्याचारों को अनुभव कर सकें, अपनी दुर्दशा को समझ सकें। फ्रांस में क्रान्ति सफलता से हो सकी, इसका कारण ही यह था, कि सर्वसाधारण लोगों की हालत इस हद तक उन्नत हो गई थी, कि वे अपने ऊपर किये गये अत्याचारों को—अपनी दुर्दशा को अनुभव कर सकते थे। ज्यों-ज्यों उनकी दशा सुधरती गई वे अपने जमींदारों को डाकू समझने लगे, चर्च के दशांश कर को लूट समझने लगे और राजा के अनुत्तरदायी शासन को अनुचित बताने लगे। यूरोपियन देशों में फ्रांस ही सबसे पहले अत्याचारों के खिलाफ विद्रोह करने के लिये अग्रसर हुआ; इसका प्रधान कारण यही था, कि वहाँ के जन साधारण की दशा पर्याप्त अच्छी थी।

यह सब होते हुए भी यह न भूलना चाहिये कि फ्रांस के अधिकांश किसान भूखे, नंगे और गरीब थे। जमींदारों के शिकार के विशेषाधिकार जहाँ एक तरफ उनके खेतों को उजाड़े बिना नहीं छोड़ते थे, वहाँ दुर्भिक्ष अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि आदि अप्राकृतिक विपत्तियाँ भी उनकी तबाही करने में किसी प्रकार की कसर नहीं रहने देती थीं। फ्रांस के किसानों पर विविध प्रकार के करों का बोझा इतना अधिक था, कि उनके पास यदि अपने गुजारे के लिये भी अनाज बच जावे, तो उसे वे बड़ी भारी गनीमत समझते थे।

व्यापार और व्यवसाय—फ्रांस के व्यापार और व्यवसाय इस काल में धीरे-धीरे, परन्तु निरन्तर उन्नति कर रहे थे। व्यापारिक और व्यवसायिक क्रान्ति का प्रभाव यूरोप के सभी देशों में दृष्टिगोचर होना शुरू हो गया था। इन क्रान्तियों के सम्बन्ध में हम पृथक् रूप से विस्तार से प्रकाश डालेंगे। परन्तु यहाँ इतना बता देना आवश्यक है, कि फ्रांस में ऐसे लोगों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही थी, जो आन्तरिक और बाह्य व्यापार द्वारा धनी होते जा रहे थे। उस समय में यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले यानों का आविष्कार नहीं हुआ था। इसीलिये पेरिस से मार्सेय्य तक जाने में ११ दिन लगते थे। जलमार्ग द्वारा पेरिस से रूआँ (Rouen) तक १८ दिन लगते थे। पर इसमें सन्देह नहीं, कि जल और स्थल दोनों प्रकार के मार्गों को उन्नत करने का उस समय में पर्याप्त प्रयत्न किया जा रहा था। सन् १७८८ में ३६ हजार मील सड़क बन चुकी थी। करोड़ों रुपया सड़कों और पुलों के लिये खर्च किया जा रहा था। इञ्जीनियरों को तैयार करने के लिये फ्रांस में एक विद्यालय की भी स्थापना हो चुकी थी। इन सब प्रयत्नों का परिणाम था, कि फ्रांस का व्यापार काफी अच्छी गति से निरन्तर उन्नति कर रहा था। परन्तु इस व्यापारिक उन्नति में फ्रांस का एक देश न होना सबसे बड़ी बाधा थी। जगह जगह पर चुंगी देना तथा

माल को खोलना व्यापारी के लिये बहुत कष्टप्रद होता है, और इससे आन्तरिक व्यापार की उन्नति में बड़ी रुकावट होती है।

व्यावसायिक क्रान्ति के कारण पुराने जमाने की आर्थिक श्रेणियों (Guilds) का स्थान कारखाने ले रहे थे। इन कारखानों में पूँजी-पतियों की अधीनता में बहुत से मजदूर काम करते थे। आर्थिक उत्पत्ति का सारा काम ये मजदूर करते थे, पर व्यवसाय पर इनका कोई हक नहीं था, ये मशीनों की तरह पूँजीपति के हित के लिए काम करते थे। बदले में इन्हें मजदूरी मिलती थी, जिसकी दर बहुत कम होती थी। इन कारखानों की वजह से एक इस प्रकार की श्रेणी उत्पन्न हो रही थी, जो शहरों में रहती हुई, नई लहरों से जानकारी रखती हुई और आर्थिक उत्पत्ति का सारा कार्य करती हुई भी सर्वथा असहाय थी। इस श्रेणी के लोगों को अभी अपनी शक्ति और महत्त्व का ज्ञान नहीं हुआ था। पर फिर भी वे अपने हितों को कुछ कुछ समझने लगे थे और इसी का परिणाम था, कि यद्यपि फ्रांस की राज्यक्रान्ति राजनीतिक स्वाधीनता की स्थापना के लिये विशेष रूप से प्रयत्न कर रही थी, तथापि आर्थिक समस्या की कुछ झलक उसमें विद्यमान थी।

तीसरा अध्याय

क्रान्ति की भावना का प्रादुर्भाव

अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में यूरोप के सभी देशों की लगभग वही हालत थी, जिसका हमने ऊपर वर्णन किया है। इस पुराने जमाने के खिलाफ सबसे पहले राज्यक्रान्ति फ्रांस में हुई, इसका कारण यह नहीं है, कि फ्रांस की दशा अन्य देशों से अधिक खराब थी। वस्तुतः फ्रांस की दशा अन्य देशों से कहीं अच्छी थी। क्रांति सबसे पहले फ्रांस में हुई, इसका प्रधान कारण वह क्रांति की भावना है, जो अनेक विचारकों द्वारा फ्रांस में उत्पन्न की जा रही थी। इस समय तक यूरोप के दिमाग पुराने अन्ध-विश्वासों की जकड़ से बहुत कुछ छुटकारा पा चुके थे। लोग अपने दिमागों से स्वच्छन्दतापूर्वक विचार करने लग गये थे। वे किसी बात पर इसीलिये विश्वास नहीं कर लेते थे क्योंकि बहुत सी सदियों से मनुष्य वैसे ही मानते आये हैं, या धार्मिक ग्रंथ में वैसा लिखा है, अपितु अपनी बुद्धि की कसौटी पर कस कर सच या झूठ का फैसला करने की प्रवृत्ति उनमें पैदा हो चुकी थी। इसी का परिणाम था, कि अनेक विचारक ऐसे उत्पन्न हुए, जिन्होंने मनुष्य जाति के हजारों सालों से चले आ रहे विश्वासों के आगे प्रश्नात्मक चिह्न लगाया और नये विचार जनता के सम्मुख पेश किये। फ्रांस में भी इसी प्रकार के बहुत से विचारक थे, जो क्रांति की भावना को जनता में उत्पन्न कर रहे थे। ये

विचारक कौन थे, और इनके क्या विचार थे, इस विषय पर हम संक्षेप से प्रकाश डालते हैं—

मान्टस्क—इसका काल सन् १६८६ से १७५५ तक है। यह स्वयं कुलीन श्रेणी का था। इसने राजा के दैवीय अधिकार के सिद्धान्त के खिलाफ आवाज उठाई। मान्टस्क का कहना था कि राजा ईश्वरीय विधान की कृति नहीं है, वह इतिहास की रचना है, घटनाओं के विकास ने राजसंस्था का प्रादुर्भाव किया है। मान्टस्क ने फ्रांस के शासन विधान के मुकाबले में इङ्गलैंड के शासन विधान की बहुत अधिक प्रशंसा की। वह कहता था, कि इङ्गलैंड का शासन संसार में सर्वोत्तम है, क्योंकि उसमें नागरिकों की स्वतन्त्रता सुरक्षित है। मान्टस्क ने ही सबसे पहले राज्य की विविध शक्तियों को पृथक् पृथक् रखने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। राजशक्ति को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—शासन, व्यवस्थापन (कानून-निर्माण) और न्याय। मान्टस्क का सिद्धान्त था, कि ये तीनों शक्तियाँ एक ही व्यक्ति के हाथ में न होकर पृथक् पृथक् हाथों में रहनी चाहियें। यह सिद्धान्त राजशासन के प्रमुख सिद्धान्तों में से एक है, और वर्त्तमान काल में सब लोग इसे मानते हैं। पर अठारहवीं सदी के लिये यह सिद्धान्त एक नई चीज थी। फ्रांस के एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन में मान्टस्क का यह सिद्धान्त किसी भी तरह लागू नहीं हो सकता था।

वाल्टेयर—वाल्टेयर कुलीन श्रेणी का न होकर मध्य श्रेणी का था। अपने समय के अत्याचारों और अन्यायों का उसे प्रत्यक्ष अनुभव था। वह अच्छी तरह जानता था, कि जब कोई कुलीन सरदार गुस्से में आकर मारने पीटने लगता है, तो उसकी मार कितनी भयङ्कर होती है। वह अच्छी तरह समझता था, कि बास्तीय की जेल में एक वर्ष व्यतीत करना कितना कष्टप्रद होता है। कुछ समय तक वाल्टेयर राजदरबार में रहा। पर वह देर तक वहाँ न रह सका। उसे फ्रांस छोड़कर प्रशिया और

इङ्गलैंड भागना पड़ा। वाल्टेयर को पुराने जमाने के अन्याय और विषमता के खिलाफ प्रचण्ड घृणा थी। उसका विश्वास था, कि इस पुराने जमाने को जड़ से उखाड़ देने में ही भला है। वह किसी किसम के समझौते को सहन नहीं कर सकता था। वह कहता था, हम नवीन युग की आधार शिला तभी स्थापित कर सकेंगे, जब कि पुराने जमाने के नाम को भी पृथिवी से मिटा दिया जावेगा। इसलिये पुराने जमाने के विरुद्ध प्रचार को ही उसने अपना मुख्य कार्य बनाया। उसने चर्च और राज्य दोनों की बुराइयों के ऊपर जबरदस्त हमले किए। उसकी शैली बहुत जोरदार थी। व्यङ्ग लिखने में वह सिद्धहस्त था। वाल्टेयर लोकतन्त्र शासन का पक्षपाती नहीं था, वह कहा करता था कि सौ चूहों की बजाय एक शेर का शासन मुझे अधिक पसन्द है। यदि वह लोकतन्त्र शासन का पक्षपाती नहीं था, तो एकतन्त्र शासन का तो बड़ा भारी दुश्मन था। चर्च और राज्य के दोषों के विरुद्ध उसने जो पुस्तकें लिखी, उनके कारण लोगों का ध्यान इन बुराइयों की तरफ आकृष्ट हुआ, और लोग इन दोषों को नष्ट कर एक नवीन युग की कल्पना करने लगे।

रूसो—क्रान्ति की भावना को प्रादुर्भूत करने में सबसे प्रधान स्थान रूसो का है। रूसो केवल दोष प्रदर्शन का ही कार्य नहीं करता था वह नवीन युग की कल्पना का विधायक था, वह माननीय समाज का एक नवीन संगठन चाहता था। उसके विचार में मनुष्य जाति का भूतकाल बहुत ही उज्ज्वल था। एक समय ऐसा था, जब सब लोग स्वतन्त्र थे, कोई किसी का दास न था, कोई पराधीन न था, सब एक दूसरे के बराबर थे। न उस समय में लोगों को टैक्स देने पड़ते थे, न लड़ाइयाँ होती थीं, न कोई राजा था, न कोई प्रजा थी। यह सुवर्णीय समय सदा के लिये स्थिर न रह सका। जिसे आजकल 'सभ्यता' कहा जाता है, उसके प्रादुर्भाव के साथ मनुष्यों में वैयक्तिक सम्पत्ति की उत्पत्ति हुई, और इस वैयक्तिक सम्पत्ति के पैदा होते ही मनुष्यों में लोभ, मोह आदि प्रगट होने

लगे, वह सुवर्णीय युग समाप्त हो गया और विषमता, अत्याचार व पराधीनता का युग आ गया। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **सामाजिक समय** (Social Contract) का प्रारम्भ उसने इन शब्दों से किया है—

"मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होते हैं, पर वह सर्वत्र जंजीरों में जकड़े हुए पाये जाते हैं। कुछ लोग अपने को दूसरों का मालिक समझते हैं पर वस्तुतः वे दूसरों की अपेक्षा भी अधिक गुलाम होते हैं, यह परिवर्तन कैसे आ गया? मैं नहीं जानता। इस परिवर्तन को किस प्रकार न्याय्य और समुचित कहा जा सकता है? मेरा विश्वास है कि इस प्रश्न का उत्तर मैं दे सकता हूँ।"

रूसो ने इस प्रश्न का उत्तर यह दिया है, कि मानवीय समाज व राज्य में जनता की इच्छा ही सर्वोपरि है, सरकार की न्याय्यता इसी जनता की इच्छा पर आश्रित है। जनता शासन करने के लिये किसी एक आदमी को—जैसे राजा—नियत कर सकती है, पर उस आदमी की सत्ता जनता की इच्छा पर ही निर्भर है। जनता अपनी इच्छा को कानून की शक्ल में प्रगट करती है, जिसके अनुसार राजा को शासन करना चाहिये।

यह विचार अठारहवीं सदी के लोगों के लिये 'भयानक क्रान्तिकारी विचार थे। जनता की इच्छा कानून है, राजा की इच्छा कानून नहीं है, यह भाव फ्रांस की राज्यक्रांति में प्रधान रूप से काम कर रहा था। रूसो की विचार-सरणी के अनुसार राज्य का निर्माण जनता के आपस के समय (Contract-ठीका) द्वारा हुआ, अतः राज्य में लोक मत ही सर्वोपरि होना चाहिये। वह शासन-पद्धति सर्वोत्तम है, जिसमें बहुमत के अनुसार शासन होता है। रूसो के ये सिद्धान्त एक नये संदेश के समान सम्पूर्ण यूरोप में व्याप्त हो गये। फ्रांस के क्रान्तिकारियों के लिये रूसो के विचार 'धार्मिक सिद्धांतों' का सा महत्त्व रखते थे। रूसो ने केवल पुराने जमाने की आलोचना ही नहीं की, अपितु नवीन युग का चित्र भी लोगों के सम्मुख उपस्थित किया। जनता ने अनुभव किया, कि यह नवीन चित्र बहुत ही सुन्दर है। वे उसके अनुयायी हो गये।

दिदरो—क्रान्ति की भावना को जन्म देनेवाले विचारकों में दिदरो भी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। दिदरो ने एक विशाल विश्वकोश को प्रकाशित करने की योजना की और इसके लिये बहुत से वैज्ञानिकों और विद्वानों को अपने साथ एकत्रित किया। इस विश्वकोश का उद्देश्य यह था, कि उस समय के सम्पूर्ण ज्ञान को सरल भाषा में उपस्थित किया जाय, ताकि पढ़े लिखे लोग सुगमता से उन सब विषयों का ज्ञान प्राप्त कर सकें, जिन्हें जानने का उन्हें अन्यथा अवसर नहीं मिलता। दिदरो और उसके साथी किसी पर आक्षेप नहीं करना चाहते थे, उनका विचार था कि जहाँ तक भी हो सके, दूसरों के विरोध से बचा जाय। परन्तु ज्ञान को चाहे कितने ही सरल स्वरूप में पेश किया जावे, वह बहुत से लोगों के लिये आपत्तिजनक हो ही जाता है। राज्य क्या चीज है, चर्च का प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ, जनता के क्या अधिकार हैं—इत्यादि विषयों पर यदि अच्छी तरह प्रकाश डाला जावे, तो एकतन्त्र राजाओं व विशेषाधिकार प्राप्त पुरोहितों को यह सब किस प्रकार सह्य हो सकता है? वस्तुतः, सत्य ज्ञान को सरल रूप में पेश करना ही अन्धविश्वास और अज्ञान पर आश्रित लोगों के लिये सबसे अधिक कष्टप्रद होता है। विश्वकोश के इन लेखकों ने ज्ञान को जिस प्रकार जनता के सम्मुख उपस्थित करना प्रारम्भ किया, वह राजा तथा चर्च को सह्य न हो सका। इस विश्वकोश द्वारा जनता को विचार करने के लिये सामग्री मिल रही थी। वे इस ग्रन्थ को पढ़कर स्वयं यह सोच सकते थे, कि किस संस्था के क्या गुण व दोष हैं? इस प्रकार विश्वकोश की यह योजना क्रान्ति की भावना को प्रादुर्भूत करने में बहुत ही सहायक थी। १७५२ में इस विश्वकोश के प्रथम दो ग्रन्थ प्रकाशित हुए। प्रकाशित होते ही राजा के मन्त्रियों ने उद्घोषित किया कि, ये ग्रन्थ राजसत्ता तथा धर्म के खिलाफ हैं, अतः इन्हें नहीं पढ़ना चाहिये। पर इस उद्घोषणा के बावजूद भी विश्वकोश के अन्य खण्ड

बड़ी तेजी से प्रकाशित होते गये। ग्राहकों की संख्या बढ़ने लगी और विश्वकोश का प्रचार तेजी से होना शुरू हुआ। पर साथ ही विरोध भी बढ़ता गया। विरोधी कहने लगे, कि यह विश्वकोश माननीय समाज और धर्म की जड़ पर कुठाराघात करनेवाला है। राजशक्ति ने फिर हस्तक्षेप किया। विश्वकोश के अब तक सात खण्ड निकले थे, उनके विक्रय को रोक दिया गया और अगले खण्डों को प्रकाशित करने का लाइसेन्स वापिस ले लिया गया। पर दिदरो ने अपना काम बन्द नहीं किया। दस साल बाद उसने विश्वकोश के दस खण्ड और निकाले। और इस प्रकार अपने महान् ग्रन्थ को पूर्ण कर दिया। सरकारी विरोध के होने पर भी विश्वकोश की बिक्री बन्द नहीं हुई।

इस विश्वकोश में एकतन्त्र राजसत्ता, धार्मिक असहिष्णुता, दास-प्रथा अन्याययुक्त टैक्स, सामन्तपद्धति, फौजदारी कानून आदि सभी विषयों पर विस्तार से विचार किया गया था और इस विचार का ढंग इस प्रकार का था, कि इन सबके दोष पाठकों के सम्मुख आ जाते थे। क्रान्ति की भावना के लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी था।

क्वेसने—क्वेसने लुई १५ वें का राजवैद्य था। इसने उन बहुत से विद्वानों को अपने पास आश्रय दिया था, जिन्हें 'अर्थशास्त्री' कहा जाता है। ये 'अर्थशास्त्री' व्यापार व्यवसाय और आय व्यय आदि आर्थिक विषयों पर विचार करते थे और अपने समय की आर्थिक बुराइयों का विरोध कर सुधार की योजनायें पेश करते थे। इनका प्रधान सिद्धान्त यह था, कि आर्थिक जगत् में 'खुला छोड़ दो' की नीति का अनुसरण करना चाहिये। प्रकृति के अन्य क्षेत्रों की तरह आर्थिक क्षेत्र में भी बहुत से स्वाभाविक नियम काम करते हैं। मनुष्य को चाहिये, कि उन्हें पता लगाये और उन्हीं के अनुसार अपने कार्य को मर्यादित करे। यह स्पष्ट है, कि मनुष्यों के आर्थिक कार्यों में यदि राजा की तरफ से हस्तक्षेप होगा, तो वह प्राकृतिक नियमों के प्रतिकूल होगा। अतः राजा

को चाहिये कि 'खुला छोड़ दो' की नीति का अवलम्बन करे। उस समय का राजा आर्थिक क्षेत्र में अनेक प्रकार के हस्तक्षेप करता था, उस समय में व्यापार के मार्ग में अनेक प्रकार की बाधायें थीं, श्रमियों के संगठनों के लिये अनेक प्रकार की रुकावटें थीं। 'अर्थशास्त्री' लोग इन सबका जोरदार तरीके से विरोध कर रहे थे।

छपी हुई पुस्तिकायें—इन सुप्रसिद्ध लेखकों और विचारकों के अतिरिक्त अन्य भी बहुत से लोग थे, जो अपने समय के प्रश्नों और समस्याओं पर गम्भीरता के साथ विचार करने लगे थे। इस काल में समाचार-पत्र प्रकाशित नहीं होते थे। वर्तमान काल में लोकमत को उत्पन्न करने तथा जनता को मार्ग प्रदर्शित करने का काम प्रधानतया समाचार-पत्र करते हैं। उस समय तक समाचार-पत्रों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, पर छोटे छोटे ट्रैक्ट व पुस्तिकायें बड़े परिमाण में छपने व प्रकाशित होने लग गई थीं। छापाखाना यूरोप में प्रवेश कर चुका था, और हजारों की तादाद में छपे हुए पर्चे फ्रांस के बाजारों में दृष्टिगोचर होने लगे थे। ये पर्चे लोगों की आँखें खोलने लग गये थे। लोग इन्हें शौक से पढ़ते थे, और इन पर बहस करते थे। उन सब बातों पर विचार होना अब प्रारम्भ हो गया था, जिन्हें अब से पहले विचार करने के लायक ही नहीं समझा जाता था। यह परिवर्तन क्रान्ति की भावना को उत्पन्न करने के लिये बड़ा भारी कार्य कर रहा था।

न्यायालयों के अधिकार—लोकमत इन छपे हुए पर्चों से केवल प्रगट ही नहीं होता था, अपितु शासन पर भी उसका प्रभाव पड़ना शुरू हो गया था। यद्यपि उस काल में कोई ऐसी लोक सभायें न थीं, जिनमें जनता के प्रतिनिधि लोकमत को प्रगट करने का अवसर प्राप्त कर सकें, पर ऐसे साधनों का सर्वथा अभाव भी न था, जिनसे राजा के स्वेच्छाचार को रोका जा सके। इस प्रकार के साधनों में सर्वप्रथम वे 'न्यायालय' थे, जिन्हें 'पार्लमां' कहा जाता था। इनका नाम ही इङ्ग-

लैंड की 'पार्लियामैण्ट' से मिलता है, स्वरूप नहीं। ये न्यायालय संख्या में १३ थे, जिनमें सर्वप्रथम पेरिस का न्यायालय था। इनमें केवल मुकदमों का निर्णय ही नहीं होता था। इनका यह भी दावा था, और यह दावा सर्वथा उपयुक्त था, कि राजा जब किसी नये कानून का निर्माण करे, तो उसे पहले इनके पास रजिस्टर्ड करने के लिये भेजे, क्योंकि जब तक कोई कानून इनके रजिस्टरों में दर्ज न होगा, तब तक ये उसका प्रयोग ही किस प्रकार कर सकेंगे ? यद्यपि कानून बनाने का एकमात्र हक राजा को ही था, पर यदि ये न्यायालय किसी कानून को पसन्द न करते हों, तो उसे अपने पास दर्ज करने के स्थान पर उसके विरुद्ध एक आवेदन राजा की सेवा में भेज देते थे। इन आवेदनों को वे केवल राजा की सेवा में ही नहीं भेजते थे, अपितु, उसकी हजारों प्रतियाँ छपवा कर जनता में वितीर्ण भी कर देते थे। इन छपी हुई प्रतियों से जनता को यह भली भाँति ज्ञात हो जाता था कि पार्लमां ने राजा के किस कानून का और किन आधारों पर विरोध किया है।

जब राजा पार्लमां द्वारा भेजा हुआ इस प्रकार का आवेदन प्राप्त करता था, तब उसके सम्मुख तीन मार्ग होते थे। या तो वह पार्लमां के विरोध को स्वीकार कर अपने कानून को वापिस ले ले, या उसमें उचित परिवर्तन कर दे, या पार्लमां की बैठक को अपने सम्मुख बुलाकर अपने ही श्रीमुख से उसे हुक्म दे कि उस कानून को रजिस्टर्ड कर लें। इस दशा में पार्लमां के पास अन्य कोई मार्ग न था। उसे बाधित होकर उस कानून को अपने पास दर्ज करना होता था। अन्त में राजा की इच्छा ही विजयी होती थी।

पर धीरे धीरे पार्लमां ने अपनी शक्ति बढ़ानी शुरू की। उसने यह भी दावा करना शुरू किया, कि उसकी इच्छा के विरुद्ध जो कानून दर्ज कराये जाते हैं वे वस्तुतः न्याय्य नहीं समझे जा सकते। न्याय करना तो

पार्लमां के हाथ में ही था, अतः वे मजे से किसी कानून की उपेक्षा कर सकती थीं।

पार्लमां की इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ, कि सर्वसाधारण जनता राजकीय मामलों में बहुत दिलचस्पी लेने लगी। लोकमत को विकसित करने में पार्लमां द्वारा प्रकाशित आवेदन-पत्रों ने बहुत बड़ा काम किया। लोग इस बात पर विचार और बहस करने लगे, कि राजा ने जो कानून जारी किये हैं, वे उचित हैं या नहीं, वे न्याय हैं या नहीं।

अमेरिकन क्रांति का प्रभाव—फ्रांस में क्रांति की भावनाओं को उत्पन्न करने में कुछ अन्य घटनाओं ने भी बहुत सहायता की। सन् १६७६ में अमेरिकन स्वाधीनता का संग्राम लड़ा गया था। अमेरिका ने इङ्गलिश आधिपत्य के विरुद्ध स्वतन्त्रता प्राप्त की थी। ब्रिटिश आधिपत्य से मुक्त होकर अमेरिका ने अपने देश में लोकतन्त्र शासन का विकास किया था। क्रान्ति की भावनाओं की इस स्थूल मूर्तिमान् विजय ने सब जगह क्रान्तिकारियों के हृदयों को उत्साह से भर दिया था। अमेरिकन स्वाधीनता संग्राम में सहायता पहुँचाने के लिये हजारों की संख्या में फ्रांसीसी युवक स्वयंसेवक बनकर गये थे। ये लोग अपनी आँखों से अपने स्वप्नों को क्रिया में परिणत होते देखकर अपने देश में वापिस आये थे। इनके हृदय स्फूर्ति से परिपूर्ण थे। पुराने जमाने का अन्त कर नवीन युग की स्थापना के लिये इन्हें बड़ा उत्साह था। अमेरिका की स्वाधीनता से फ्रांस में भी नवीन भावनायें बड़ी तेजी से हिलोरें लेने लग गई थीं।

उस समय के राजा इन नई प्रवृत्तियों से सर्वथा बेफिकर हों, यह बात नहीं थी। वे खुली हुई आँखों से इन नवीन लहरों को देख रहे थे। पर इनके वास्तविक महत्त्व को समझने की क्षमता उनमें नहीं थी। उनका विचार था, कि कुछ मामूली से परिवर्तनों से काम चल जायगा। उन्होंने अनेक सुधार किये भी। कुलीन और पुरोहित श्रेणियों के

अधिकारों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये भी गये। कानूनों का भी संशोधन हुआ। पर यह सब अपर्याप्त था। इन सबसे तो क्रान्ति की भावना और भी बलवती होती गई। इन थोड़े से परिवर्तनों से जनता सन्तुष्ट कैसे हो सकती थी इन्होंने तो उसकी हिम्मत को और भी आगे बढ़ा दिया। क्रान्ति की जो भावना विचारकों द्वारा प्रारम्भ की गई थी, वह निरन्तर बढ़ती ही गई और अन्त में राज्य-क्रान्ति के रूप में फूट पड़ी। जिस समय सुधार तथा परिवर्तन जनता की माँग व आवश्कताओं से बहुत पीछे रह जाते हैं, उस समय क्रान्ति के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं रहता।

चौथा अध्याय

सोलहवें लुई का शासन

सन् १७७४ में पन्द्रहवें लुई की मृत्यु हुई। उसके शासन काल में जो असफल युद्ध लड़े गए थे, उनका वर्णन करने की हमें आवश्यकता नहीं है। पर इतना ध्यान में रखना चाहिये कि इनसे फ्रांस को कोई लाभ तो हुआ नहीं था, अपितु बहुत से प्रदेश उसकी अधीनता से निकल गए थे। इतना ही नहीं, इन युद्धों में खर्च इतना अधिक हुआ था, कि फ्रांस का राजकोश सर्वथा दिवालिया हो गया था। लोगों पर टैक्सों का बोझ पहले ही इतना अधिक था कि नये टैक्स नहीं लगाये जा सकते थे। ऐसे समय में राज्य को दिवालिया होने से बचाने का केवल एक ही उपाय था, वह यह कि खर्च में कमी की जाय। पर फ्रांस की सरकार का इस ओर जरा भी ध्यान नहीं था। उसे प्रति वर्ष सवा दो करोड़ के लगभग घाटा हो रहा था। राजकीय मामलों का संचालन दरबारी कर रहे थे, शासन में वेश्याओं का बड़ा हाथ था। राजा के कृपापात्र खुले हाथ कोश को लुटा रहे थे। इस भयानक दशा में फ्रांस को अनाथ छोड़कर १५वाँ लुई इस लोक से सदा के लिये विदा हो गया और उसकी जगह पर उसका लड़का सोलहवाँ लुई राजगद्दी पर बैठा।

राजा १६वाँ लुई—राज सिंहासन पर बैठते समय १६वें लुई की आयु केवल १६ वर्ष की थी। उसकी शिक्षा राज दरबार के विकृत

वातावरण में हुई थी। उसे शिकार खेलने तथा आमोद-प्रमोद में मस्त रहने से बड़ा आनन्द मिलता था। अपनी कमजोरियों तथा अयोग्यताओं के बावजूद भी वह एक भलामानस युवक था। उसका दिल अच्छा था। यदि वह अधिक उद्योगशील तथा मजबूत होता, तो अवश्य ही अपनी प्रजा का कुछ भला कर सकता।

उसकी रानी—लुई का विवाह मेरी आंतोआंत नाम की राजकुमारी से हुआ था उस समय में बहुत से विवाह राजनीतिक उद्देश्य से किये जाते थे। उस समय में राजा और राजवंशों के विवाह का मतलब था, राज्यों का विवाह या सन्धि। इसी किसम की एक सन्धि को—१७५६ में हुई आष्ट्रिया और फ्रांस की सन्धि—सुदृढ़ करने के लिये आष्ट्रियन राजकुमारी मेरी का विवाह १६वें लुई से कर दिया गया था। यह मेरी आंतोआंत बहुत ही उथली तथा आरामपसन्द स्त्री थी। उसे आचार व्यवहार का कोई ख्याल न था। राजदरबार के रीति रिवाज तक उसकी दृष्टि में कोई महत्त्व न रखते थे। उसके दिल में जो आता, वही वह करती। राजा से उसे स्नेह नहीं था, वह उसके भारी तथा आलसी तन से घृणा करती थी। उसके बहुत से कृपापात्र तथा स्नेहपात्र थे। इन्हें सहायता देने के लिये वह जो चाहती थी, करती थी। उसे उचित अनुचित का कोई विचार न था।

टूर्जो (१७७४-१७७६)—राजगद्दी पर बैठते ही १६वें लुई ने टूर्जो को अपना प्रधान मन्त्री बनाया। यह टूर्जो फ्रांस का सबसे योग्य अर्थशास्त्री था। वह केवल विद्वान् ही नहीं था, उसे शासन का क्रियात्मक अनुभव भी था। अपने कार्य को सँभालते ही टूर्जो ने सबसे पहले मितव्ययिता पर ध्यान दिया। वह अच्छी प्रकार अनुभव करता था कि फ्रांस को दिवालिया होने से बचाने तथा टैक्स के बोझ को हलका करने का एकमात्र उपाय मितव्ययिता है। मितव्ययिता का सबसे उत्तम उपाय यही था, कि राजदरबार के महान् व्यय को कम किया जावे। वर्साय

के भोग-विलास और शान-शौकत पर जो भारी रकम खर्च होती थी, उसमें कमी की जावे। पर इस खर्च को कम करना कोई हँसी खेल न था। राजदरबारी इसके लिये कब तैयार हो सकते थे? वे जो मौज उड़ा रहे थे, उसे छोड़ना उनके लिये कैसे सम्भव था? वे रात-दिन राजा के आसपास रहते थे। उठते बैठते, खाते पीते हर समय वे राजा के साथ रहते थे। उन्हें ऐसे मौकों की कमी न थी, जब वे उस आदमी के खिलाफ—जिसे वे न चाहते हों, राजा के कान भर सकें। टूर्जो तो केवल कामकाज के समय ही राजा से मिलता था। उसका प्रभाव इन दरबारियों के मुकाबिले में क्या हो सकता था? टूर्जो १७७४ में अपने पद पर नियुक्त हुआ था। १७७६ में उसे पृथक् होना पड़ा। बड़े बड़े अमीर उमरा उसके इतने विरुद्ध हो गये थे, कि उसके लिये कार्य करना असम्भव हो गया। टूर्जो के सामने बड़ी बड़ी योजनायें थीं। वह राष्ट्रीय ऋण को संगठित करना चाहता था, वह बजट का निर्माण वैज्ञानिक ढंग से करना चाहता था। वह टैक्स की पद्धति में परिवर्तन करना चाहता था, वह व्यापार की विविध बाधाओं को हटाकर मुक्तद्वार वाणिज्य की नीति का अवलम्बन करना चाहता था। वह फ्रांस में लोक सभाओं की स्थापना करना चाहता। पर उसकी सब योजनायें यूँ ही धरी रह गईं। दरबारियों की कृपा से उसे अपने पद से पृथक् होना पड़ा।

नैकर—टूर्जो के बाद नैकर को प्रधानमन्त्री बनाया गया। यह नैकर स्विटजरलैण्ड का रहनेवाला था, और पेरिस में महाजनी करता था। उसने बजट के आय और व्यय को सन्तुलित करने के लिये टैक्स के तरीके में बहुत से सुधार प्रस्तावित किये और राष्ट्रीय ऋण लेने की योजना की। पर कुलीन और पुरोहित श्रेणियों को उसकी ये योजनायें पसन्द न आईं। असली बात तो यह है, कि सुधार के लिये जो भी वास्तविक और सच्चे प्रयत्न उस समय में किये जा सकते थे, उनसे इन विशेषाधिकार प्राप्त श्रेणियों को कुछ न कुछ हानि अवश्य ही पहुँचती

थी, परन्तु ये ऐसे किसी भी प्रस्ताव का स्वागत करने के लिये उद्यत न थे, जिससे उन पर जरा भी आँच आती हो। इन लोगों ने सब तरह से नैकर का विरोध करना शुरू किया। उसे विदेशी कहकर बदनाम किया गया। उसे प्रोटेस्टेन्ट कहकर विधर्मी बताया गया। रानी ने उसको बर्खास्त करने के लिये बड़ा जोर दिया। परिणाम यह हुआ कि नैकर को भी उसी राह पर जाना पड़ा, जिस पर टूर्जो गया था। पर जाने से पहले वह एक महत्त्वपूर्ण कार्य कर गया। उसने राजा को एक आवेदन पत्र लिखा, जिसमें फ्रांस की आर्थिक दशा का ठीक ठीक विवरण दिया गया था। इस आवेदन पत्र की अस्सी हजार प्रतियाँ छपाई गईं। जनता ने इसे बड़े उत्साह तथा शौक से पढ़ा। पहली बार उन्हें प्रामाणिक रूप से यह जानने का अवसर मिला, कि आर्थिक दृष्टि से राज्य की कितनी दुर्दशा हो गई है।

कैलोन—नैकर के बाद उसके महत्त्वपूर्ण पद पर कैलोन को अधिष्ठित किया गया। कैलोन एक दरबारी था। आर्थिक क्षेत्र में उसका एक ही असूल था और वह यह कि राजकीय व्यय के लिये जितने धन की आवश्यकता हो, उसे ऋण लेकर प्राप्त कर लिया जावे। राजा और उसके दरबारियों को मौज उड़ाने के लिये रुपये की जरूरत थी। टैक्सों से इतना रुपया प्राप्त नहीं होता था, कि सब आवश्यकतायें पूर्ण की जा सकें। एक उपाय और था, वह यह कि कर्ज लिया जाये। कैलोन ने इसी का आश्रय लिया। चार सालों में उसने ६० करोड़ रुपये कर्ज लिये। पर कर्ज की भी कोई हद होती है। इससे अधिक कर्ज भी न मिल सका। लोग इतने बेवकूफ न थे, कि इस प्रकार कर्ज देते जावें। आखिर, कैलोन को भी सुधारों की सूझी। उसने राजा को सूचना दी कि फ्रांस के दिवालिया होने में अब अधिक बिलम्ब नहीं है। यदि इस विकट परिस्थिति से फ्रांस की रक्षा करनी हो, तो उसके लिये बड़े महत्त्वपूर्ण सुधारों की आवश्यकता है कैलोन की सम्मति में सबसे अधिक

महत्त्वपूर्ण सुधार यह था, कि कुलीन और पुरोहित श्रेणियों पर भी भूमिकर लगाया जावे। अब तक ये श्रेणियाँ इस कर से प्रायः मुक्त थीं। कैलोन चाहता था, कि सब लोगों पर भूमिकर एक समान रूप से लगाया जावे। इसलिये उसने राजा को सलाह दी, कि कुलीन श्रेणियों और चर्च के प्रमुख व्यक्तियों को बुलाया जावे और उनके सम्मुख ये सुधार विचार के लिये उपस्थित किये जावें।

प्रमुख लोगों की सभा (१७८६)—राज्य और चर्च के प्रमुख व्यक्तियों की सभा बुलाई गई। इस सभा में सर्वसाधारण जनता के प्रतिनिधि नहीं बुलाये गये थे। केवल विशेषाधिकार प्राप्त लोग इसमें आये थे। इस सभा के सम्मुख कैलोन ने फ्रांस की वास्तविक दशा का चित्र खींच कर अपने सुधार प्रस्तावित किये। कैलोन ने बताया कि फ्रांस को १२ करोड़ रुपया वार्षिक घाटा हो रहा है। राष्ट्रीय ऋण की मात्रा २४ करोड़ बढ़ गई है। अधिक किफायत नहीं की जा सकती। कितनी भी किफायत की जाय, घाटा दूर नहीं हो सकता। नया कर्ज भी अब नहीं मिलता। अब क्या किया जाय ? सर्वसाधारण जनता पहले ही टैक्सों के बोझ से लदी हुई है, उस पर नये टैक्स नहीं लगाये जा सकते। हाँ, एक उपाय है। टैक्स की पद्धति के दोषों को दूर किया जाय, तो समस्या हल हो सकती है। बहुत से लोग टैक्स से मुक्त हैं, बहुत से लोग विशेषाधिकार प्राप्त हैं। हाँ, यदि इनसे भी टैक्स वसूल किये जावें, यदि टैक्स का कानून सब प्रदेशों तथा सब लोगों पर एक समान रूप से लागू हो, तो आर्थिक पहेली सुलझाई जा सकती है। कैलोन ने बड़ी निर्भयता से अपने कार्यक्रम को—अपने सुधारों को पेश किया। पर प्रमुख लोगों की इस सभा को कैलोन पर विश्वास न था, वे उसके सुधारों को स्वीकृत करने के लिये तैयार न थे। कैलोन बर्खास्त कर दिया गया और उसके साथ ही प्रमुख लोगों की यह सभा भी बर्खास्त कर दी गई !

आर्थिक समस्या को हल करने के लिये राजा ने स्वयं कुछ सुधार प्रस्तावित किये। इसके लिये राजा ने दो नये टैक्स लगाने का निश्चय किया था। सामान्य रीति से इन टैक्सों को दर्ज करने के लिये पेरिस के न्यायालय (पार्लमां) के पास भेजा गया। पर इस बार पेरिस के न्यायालय ने असाधारण मार्ग का अवलम्बन किया। उसने इन नये टैक्सों को दर्ज करने से ही इन्कार नहीं किया, पर साथ ही यह भी उद्घोषित किया कि किसी नये स्थिर टैक्स को लगाने की अनुमति के देने का अधिकार 'एस्टेट्स जनरल' में एकत्रित जनता को ही है, अन्य किसी को नहीं। इस उद्घोषणा के कुछ दिन बाद ही पेरिस के न्यायालय ने राजा से प्रार्थना की, कि राज्य के 'एस्टेट्स जनरल' के अधिवेशन को बुलाया जाय।

राजा के लिये अब एक नई समस्या उपस्थित हो गई थी। न्यायालय उसके नये टैक्सों को दर्ज नहीं करते थे। उन्होंने खुल्लम-खुल्ला राजा तथा उसके सहायकों के कार्य का विरोध करना शुरू कर दिया था। राजा ने पेरिस के न्यायालय को बर्खास्त कर दिया, और न्याय की नई पद्धति की स्थापना की। पर स्थिति अब उसके काबू से बाहर हो चुकी थी। क्रान्ति की भावना लोगों में गहरा स्थान प्राप्त कर गई थी। आखिर, उसे मजबूर होकर 'एस्टेट्स जनरल' के अधिवेशन को बुलाने के लिये सहमति देनी पड़ी।

पाँचवाँ अध्याय

क्रान्ति का श्रीगणेश

एस्टेट्स जनरल—'एस्टेट्स जनरल' के अधिवेशन के साथ ही क्रान्ति का श्रीगणेश हो जाता है। राजा की यह प्रथम पराजय थी। उसे यह स्वीकार करना पड़ा था, कि वह अकेला अपनी इच्छा से—चाहे साक्षात् परमात्मा ने ही उसे राज्य करने के लिये नियुक्त किया हो—फ्रांस की आर्थिक समस्या का हल नहीं कर सकता। उसे जनता की सहायता की आवश्यकता को स्वीकार करना पड़ा था। क्रान्ति के सिद्धांत की यह भारी विजय थी।

एस्टेट्स जनरल क्या चीज थी, उसका निर्माण किस प्रकार होता था और उसके क्या नियम थे—इन बातों को जाननेवाला उस समय कोई न था। इस सभा का १७५ सालों से कोई भी अधिवेशन नहीं हुआ था। सभी लोग इसकी चर्चा तो करते थे, पर इसका ठीक ठीक परिज्ञान किसी को न था। परिणाम यह हुआ, कि यह कार्य विद्वानों के सुपुर्द किया गया। आखिरकार, फ्रांस के विद्वानों ने बड़े अनुसन्धान के अनन्तर यह पता लगाया कि एस्टेट्स जनरल का क्या स्वरूप था।

जिन दिनों फ्रांस में सामन्तपद्धति (Feudal system) प्रचलित थी, तब इस सभा के अधिवेशन हुआ करते थे। इसका निर्माण सामन्तपद्धति की परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर हुआ था। यह सभा तीन विभागों

में विभक्त थी और इन विभागों में क्रमशः, पुरोहित, कुलीन तथा तृतीय (सर्वसाधारण जनता) श्रेणि के प्रतिनिधि सम्मिलित हुआ करते थे। तीनों श्रेणियों के सदस्यों की संख्या बराबर बराबर होती थी और प्रत्येक विभाग पृथक् पृथक् वोट देता था। एक विभाग का एक वोट समझा जाता था। किस विभाग की क्या सम्मति है, यह बहुमत से निर्णय किया जाता था। तीन विभागों में से कम से कम दो जिसके पक्ष में हों, वह स्वीकृत समझा जाता था। मध्यकाल की परिस्थितियों के अनुसार यह व्यवस्था सर्वथा उपयुक्त थी। उस समय राष्ट्रीय भावनाओं का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। पुरोहित और कुलीन श्रेणियों की महत्ता लोगों की दृष्टि में निर्विवाद थी। सर्वसाधारण जनता में अपने महत्त्व का विचार ही उत्पन्न नहीं हुआ था। उस जमाने में यह भी बहुत बड़ी बात थी, कि सर्वसाधारण जनता के प्रतिनिधि इस सभा में सम्मिलित हों। उस समय में यह बिलकुल स्वाभाविक था कि कुलीन और पुरोहित श्रेणियाँ पृथक् विभागों में वोट करें और अपने को साधारण जनता से अलग रखें। पर अब १७८८ में जमाना बिलकुल बदल चुका था। अब सर्वसाधारण लोगों के प्रतिनिधि यह दावा करते थे, कि हम ९६ फीसदी से अधिक जनता के प्रतिनिधि हैं। पुरोहितों और कुलीनों को पृथक्-पृथक् जितने सदस्य प्राप्त हैं, उतने ही हमें भी प्राप्त हों—यह कहाँ का न्याय है।

प्रतिनिधियों की संख्या--इस समय राजा का प्रधान मन्त्री नैकर था। कैलोन के पतन के बाद उसे फिर अपने पुराने पद पर नियत किया गया था। नैकर ने स्वीकार किया, कि सर्वसाधारण जनता को दुगने प्रतिनिधि मिलने चाहियें। कुलीनों और पुरोहितों के तीन तीन सौ प्रतिनिधि होते थे, अतः सर्वसाधारण जनता को ६०० प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया।

वोट का प्रकार—परन्तु इससे वास्तविक समस्या का हल नहीं हुआ। सर्वसाधारण जनता को दुगने प्रतिनिधि मिल गये—पर इससे

लाभ कुछ नहीं हुआ ? यदि तीनों विभागों को एक सभा में वोट देना होता, तो प्रत्येक सदस्य का एक वोट गिना जाता और सम्पूर्ण सदस्यों के बहुमत से निर्णय होता—तब तो अवश्य लाभ था। पर यदि इसके विपरीत अब भी पहले की ही तरह प्रत्येक विभाग का एक एक वोट गिना जावे और प्रत्येक विभाग अपना निर्णय पृथक् रूप से करे, तो इससे क्या लाभ हुआ ? अतः सर्वसाधारण जनता ने यह आन्दोलन शुरू किया कि वोट का ढंग बदलना चाहिये। तीनों विभागों की पृथक्-पृथक् सभा न होकर एक साथ सभा होनी चाहिये और उसमें बहुमत से निर्णय किया जाना चाहिये। पर नैकर ने इस प्रस्ताव को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया।

शिकायत-पत्र—एस्टेट्स जनरल के लिये प्रतिनिधियों को निर्वाचित करने के साथ ही पुराने रिवाज के अनुसार जनता को यह भी अवसर दिया गया था, कि सरकार और देश के शासन से उन्हें जो शिकायतें हों, उन्हें लिखकर भेजें। लोगों ने इस अवसर का पूर्णरूप से उपयोग किया। हजारों की संख्या में शिकायत-पत्र लिखकर भेजे गए। ६० हजार के लगभग इस प्रकार के शिकायत-पत्र सुरक्षित कर लिये गए हैं, और उनके अनुशीलन से भली भाँति जाना जा सकता है, कि उस समय लोग क्या अनुभव करते थे और उन्हें क्या शिकायतें थीं। इन शिकायत-पत्रों से जिन्हें कि फ्रांस में काये (cahiers) कहा जाता था, ज्ञात होता है कि उस समय फ्रांसीसी लोग रिपब्लिक नहीं चाहते थे, वे केवल राजा के स्वेच्छाचारी शासन का अन्त करने के लिये इच्छुक थे। वे प्रत्येक मनुष्य को वोट का अधिकारी नहीं समझते थे, लोक तंत्र शासन का यह प्रारम्भिक तत्त्व उनकी समझ में नहीं आया था। परंतु साथ ही, उस समय के शासन के विविध दोषों की अनुभूति उनमें उत्पन्न हो चुकी थी और वे उन्हें दूर करने के लिये पूर्णतया उद्यत थे। एक भारी परिवर्तन के लिये लोग तैयार हो गये थे।

अधिवेशन का प्रारम्भ (५ मई १७८६)—५ मई १७८६ के दिन एस्टेट्स जनरल की प्रथम बैठक हुई। सदस्यों को आज्ञा दी गई थी कि वे उसी पोशाक को पहन कर आवें, जो कि मध्यकाल में इस सभा के सदस्य पहना करते थे। राजा अपनी आज्ञा से सदस्यों की पोशाक को पुराना बना सकता था, पर उनकी भावनाओं और विचारों को पुराना बनाना उसकी सामर्थ्य से बाहर था। वर्साय के एक शानदार महल में एस्टेट्स जनरल का प्रारम्भिक अधिवेशन शुरू हुआ। बीच में ऊँचे राजसिंहासन पर राजा विराजमान था। रानी उसके पार्श्व में बैठी थी। सबसे पहले राजा का प्रारम्भिक भाषण हुआ। राजा इस भाषण को रट कर लाया था, और पाठशाला में पढ़नेवाले लड़के की तरह उसने उसे उगल दिया। नैकर के भाषण में तीन घण्टे लगे। जब राजा और उसके प्रधान मन्त्री के भाषण हो चुके, तो जय जयकार की ध्वनि के बीच राजा और रानी ने सभाभवन से प्रस्थान किया।

एस्टेट्स जनरल के इस अधिवेशन के प्रारम्भ होते ही कुछ ऐसी घटनायें हो गईं, जिनसे कि सर्वसाधारण जनता के प्रतिनिधि चिढ़ गये। जब तक पुरोहित और कुलीन श्रेणियों के प्रतिनिधि बैठ नहीं गये, तब तक उन्हें खड़े रहना पड़ा। राजा जब अपना प्रारम्भिक भाषण दे रहा था, तब सब लोगों ने अपनी टोपियाँ उतारी हुई थीं। भाषण की समाप्ति के अनन्तर जब राजा अपने सिंहासन पर बैठा, तो उसने अपनी टोपी सिर पर रख ली। उसके बाद कुलीनों और पुरोहितों ने भी अपनी टोपियाँ सिर पर रख लीं। पर जब सर्वसाधारण जनता के प्रतिनिधि भी यही करने लगे, तो उन्हें टोका गया। ये बातें मामूली थीं, पर इनसे शुरू में ही सर्वसाधारण लोगों के मनों पर बहुत बुरा असर पड़ा।

वोट किस प्रकार से लिये जावें, इस बात का फैसला अभी नहीं हुआ था। यद्यपि प्रारम्भिक अधिवेशन में सभाभवन से प्रस्थान करने से पूर्व राजा ने तीनों विभागों को पृथक्-पृथक् जाकर अपना अपना अधि-

वेशन करने का आदेश दिया था, पर तृतीय श्रेणी के प्रतिनिधि इ मानने के लिये उद्यत न थे। वे निरन्तर अन्य दोनों विभागों को इस के लिये निमन्त्रित कर रहे थे, कि वे उनके साथ मिलकर एक सभा के रू राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करें। पर अन्य विभागों ने इस प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। आखिर, जब तृतीय श्रेणी के लोग अन्य विभा के व्यवहार से सर्वथा निराश हो गये, तो उन्होंने एक बड़े साहस कार्य किया। १७ जून को तृतीय श्रेणी के विभाग के सम्मुख यह प्रस्त उपस्थित किया गया, कि क्योंकि वे ९५ फीसदी जनता के प्रतिनिधि और क्योंकि वास्तविक शक्ति यह सर्वसाधारण जनता ही है, अ निश्चय किया जाता है, कि जनता के ये वास्तविक प्रतिनिधि राष्ट्रीय महास का रूप धारण कर लें। इस प्रस्ताव के पक्ष में ४९१ वोट आये विपक्ष में ९०। प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। 'एस्टेट्स जनरल' के तृती श्रेणी के प्रतिनिधियों ने अपने को राष्ट्रीय महासभा के रूप में परिव कर लिया। कुलीनों और पुरोहितों की सर्वथा उपेक्षा कर दी गई।

जब राजा और उसके दरबारियों को यह समाचार मिला, तो उन होश आई। राजा ने आज्ञा दी कि तीनों विभागों का अधिवेशन साथ किया जावे, वह स्वयं सभापति बनेगा। ऐसा ही किया गया 'एस्टेट्स जनरल' के तीनों विभाग एक सभा के रूप में एकत्रित हु राजा सभापति बना और उसने अपने श्रीमुख से अनेक सुधार प्र किये। जब यह सब हो चुका, तो राजा ने बड़ी गम्भीरता से आज्ञा कि अब तीनों विभाग पृथक्-पृथक् चले जावें और अपने-अपने अधि वेशन करें। पुरोहित और कुलीन श्रेणियों के अधिकांश सदस्य आ का पालन कर उठकर चले गये। शेष सदस्य चुपचाप बैठे रहे। वे दे रहे थे, कि अब क्या होता है। एक बार फिर राजकीय आज्ञा दोहराई गई मिराबो ने इसका प्रतिवाद किया। उसने निधड़क होकर कहा कि तब तक वहाँ से नहीं उठेंगे, जब तक कि बन्दूक के कुन्दों से उन्हें बा

नहीं निकाल दिया जावेगा। यह मिराबो सर्वसाधारण जनता का प्रमुख और प्रभावशाली नेता था।

जनता की विजय—अन्त में राजा की पराजय हुई। उसे जनता की माँग स्वीकार करनी पड़ी। उसने आज्ञा प्रकाशित की, कि तीनों विभागों का अधिवेशन एक साथ हो, कुलीन और पुरोहित-श्रेणियों के जो सदस्य अभी तक तृतीय श्रेणी के साथ राष्ट्रीय महासभा में सम्मिलित नहीं हुए हैं, वे सम्मिलित हो जावें। आखिर सर्वसाधारण जनता अपने महत्त्व को प्रदर्शित करने में सफल हुई। कुलीन और पुरोहित-श्रेणियों पर उसकी विजय हुई।

दरबार की साजिश—सर्वसाधारण जनता जिस ढंग से शक्ति प्राप्त करती जा रही थी, वह राजदरबार के लोगों को सह्य न था। वे अच्छी तरह जानते थे, कि उनकी भलाई इसी में है, कि राजा का एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन कायम रहे। ये लोग सुधार के जानी दुश्मन थे। वे अपने विशेषाधिकारों को किसी भी प्रकार छोड़ने के लिये तैयार न थे। वे यह भी सहन नहीं कर सकते थे कि राजा की स्थिति वैध शासक की हो जावे। फ्रांस के शासन में जनता का हाथ हो जाने पर उन्हें मौज उड़ाने का अवसर कैसे मिलेगा? रानी इन दरबारियों का हृदय से समर्थन कर रही थी। राजा का छोटा भाई आर्तोआ का काउन्ट भी उनका प्रबल पक्षपोषक था। ये लोग सर्वसाधारण जनता की हरकतों को बहुत ही खतरनाक तथा शैतानियत से भरी हुई समझते थे, और उन्हें कुचलने के लिये सब प्रकार के उपाय का अवलम्बन करने के पक्ष में थे। इन्होंने साजिश की, कि राष्ट्रीय महासभा को तोड़ दिया जावे। पर ये यह भी जानते थे, कि जनता इसे सहन न कर सकेगी, वह गदर के लिये तैयार हो जावेगी। इसलिये इसका प्रबन्ध वे पहले से ही कर देना चाहते थे। उन्होंने गदर को कुचलने के लिये विदेशी सैनिकों का प्रयोग करने का निश्चय किया। उस समय में वेतन की

खातिर बहुत से सैनिक दूसरे देशों में नौकरी किया करते थे। विशेष स्विटजरलैण्ड और जर्मनी के वीर योद्धा यूरोप के अनेक राजाओं पास सैनिक की नौकरी करते थे। इन्हें केवल अपनी नौकरी से मत था। अपने मालिक के हुक्म से ये कुछ भी करने को तैयार हो थे। दरबार का गुट चाहता था, कि इन सैनिकों की एक सेना बुलाकर पेरिस में तैनात कर दिया जाय, ताकि यदि राष्ट्रीय महा के बर्खास्त करने पर जनता विद्रोह करे, तो उसे कुचल दिया जा उनकी यह भी इच्छा थी कि नैकर को—जो सर्वसाधारण जनता सहानुभूति रखता था—पदच्युत कर दिया जावे।

राजा इस साजिश से सहमत हो गया। स्विस और जर्मन सैनि की सेनायें पेरिस में तैनात कर दी गईं। जब पेरिस की जनता को समाचार मिले, तब वह भड़क उठी। एक उद्यान में बहुत से लोग एक त्रित थे और इस विषय पर बातचीत कर रहे थे। कैमिल देसमो नाम का एक नवयुवक अखबारनवीस उनके बीच में पहुँचा और चिल्ला चिल्लाकर कहने लगा कि शीघ्र ही स्विस सिपाही 'देशभक्त को कतल करते हुए दिखाई पड़ेंगे, अतः हमें चाहिये कि अपने शस्त्रों से सुसज्जित कर संगठित करें, ताकि दरबारी गुट से अपनी र की जा सके। देसमोलाँ का आन्दोलन काम कर गया। सारी र लोग पेरिस की गलियों में चक्कर लगाते फिरे। जितने भी हथिया मिल सके, एकत्रित किये गये। लूटमार मच गई।

बस्तीय्य का पतन—कुछ ही दिनों बाद पेरिस के लोग फिर इक हुए। उन्हें हथियारों की खोज थी। वे देशभक्ति का कोई महत्त्वपू कार्य करना चाहते थे। लोगों की एक भीड़ बस्तीय्य की तरफ निक गई। यह एक पुराना किला था, जो अब जेलखाने के तौर पर इस्तेमा होता था। लोगों को इससे विशेष घृणा थी। उनका खयाल था कि फ्रांस की सरकार के क्रूर अत्याचारों का यह एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र है

उन्हें पूर्ण आशा थी कि यहाँ बहुत से हथियार इकट्ठे ही मिल जावेंगे। बस्तीय्य का किलेदार लौनी नाम का एक महानुभाव था। उसने किले को खोलने से इंकार कर दिया। बहुत सी भीड़ इकट्ठी हो गई। दोनों तरफ से कहा सुनी होने लगी। पता नहीं, किस प्रकार बस्तीय्य की सेना ने भीड़ पर गोली चला दी। सौ देशभक्त मरकर गिर पड़े। लोगों में जोश फैल गया। हमला होने लगा। आखिर, लौनी को मजबूर होना पड़ा कि किले के दरवाजे खोल दे। कुछ जनता अन्दर घुस गई। कैदियों को बन्धन से मुक्त कर दिया गया। लौनी और उसके सम्पूर्ण सैनिकों के सिर धड़ से अलग कर दिये गये। इन सब सिरों को लाठियों और बरछों की नोक पर लटका कर सारे पेरिस में जुलूस निकाला गया। बस्तीय्य को ध्वंस कर दिया गया। यह घटना १४ जुलाई सन् १७८९ के दिन हुई थी। इस घटना का बड़ा महत्त्व है। फ्रांस में आज भी १४ जुलाई का दिन प्रधान राष्ट्रीय त्यौहार के रूप में मनाया जाता है। निस्सन्देह, पुराने युग के एकतन्त्र शासन पर यह प्रथम आघात था। इस घटना से भली भाँति स्पष्ट हो गया कि क्रान्ति अब हुए बिना न रहेगी। कुलीन श्रेणी के बहुत से लोग इसी समय से फ्रांस छोड़कर और देशों में जाने लग गये। सारे देश में अव्यवस्था फैल गई।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक सेना—स्थिति इतनी बिगड़ चुकी थी, कि उसे सँभाल सकना राजा की शक्ति के बाहर था। जब किसी देश में अव्यवस्था फैलने लगती है, शासनसूत्र ढीला पड़ता है, तो बदमाशों और लफङ्गों की बन आती है। पेरिस की भी अब यही दशा थी। सारे शहर में हजारों की संख्या में भूखे, नंगे लोग तबाही मचाते फिरते थे। वे जिस पर चाहते हमला कर देते, जिस दूकान को चाहते लूट लेते। इस अव्यवस्था में पेरिस के लोगों की जान और माल की रक्षा करने के लिये राष्ट्रीय नेताओं ने एक 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक सेना' का संगठन किया। लफायत इसका सेनापति बनाया गया। पेरिस में शान्ति और व्यवस्था कायम

रखने में राष्ट्रीय सेना को पूरी सफलता प्राप्त हुई। राजा को यह बहाना बनाने का अवसर नहीं दिया गया, कि इस अव्यवस्था की सम्भावना को दृष्टि में रखकर ही उसने विदेशी सैनिकों की सेना को बुलाया था।

नागरिक सभा—इतना ही नहीं, पेरिस के नागरिक शासन को भी नये ढंग से संगठित किया गया। राजा और उसकी सरकार की सर्वथा उपेक्षा कर जनता ने स्वयं पेरिस की नगर सभा का निर्माण किया। राष्ट्रीय महासभा के एक सदस्य को ही इस नगर-सभा का अध्यक्ष नियत किया गया। फ्रांस के अन्य बड़े नगरों ने भी पेरिस का अनुसरण किया। सर्वत्र नवीन नगर-सभाओं की रचना की गई। राष्ट्रीय स्वयंसेवक सेनायें संगठित की गईं।

देहातों में भी अव्यवस्था फैल गई। किसानों ने जमींदारों के मकानों पर हमले शुरू कर दिये। टैक्स वसूल कर सकना असम्भव हो गया। वस्तीय्य के ध्वंस के साथ जिस लहर का प्रादुर्भाव हुआ था, वह पेरिस तक ही सीमित नहीं रही, उसने बड़ी शीघ्रता से सम्पूर्ण फ्रांस को व्याप्त कर लिया।

एक दिन राजा १६वाँ लुई दिन भर शिकार से थककर जब साँझ को अपने बिस्तर पर लेटने लगा, तो उसे यह समाचार दिये गये। समाचार सुनकर राजा ने चकित होकर पूछा—'हैं! क्या कोई दंगा हो गया है?' खबर लानेवाले ने जवाब दिया—'नहीं मालिक! दंगा नहीं क्रान्ति हो गई है।'

वस्तुतः, अब राज्यक्रान्ति का श्रीगणेश हो चुका था।

छठा अध्याय

राज्यक्रान्ति की प्रगति

राजा का रुख—फ्रांस में जिस प्रकार अव्यवस्था और अशांति फैल रही थी, उससे १६वाँ लुई वस्तुतः चिन्तित था। राजा अपने आप में बुरा नहीं था। उसका दोष यही था कि वह कमजोर था, इरादे का पक्का न था। उसके सलाहकार उसके लिये सबसे अधिक हानिकारक थे। यदि १६वाँ लुई इन सलाहकारों के प्रभाव से बच सकता, तो निस्सन्देह क्रांति की दिशा कुछ और ही होती। जब उसे बस्तीय्य के ध्वंस का समाचार मिला, तब अगले ही दिन वह राष्ट्रीय महासभा के अधिवेशन में उपस्थित हुआ। वहाँ उसने प्रतिज्ञा की कि विदेशी सैनिकों की सेनाओं को वापिस भेज दिया जायगा और नैकर को फिर प्रधान मन्त्री बनाया जायगा। इसके बाद वह २०० प्रतिनिधियों (राष्ट्रीय महासभा के सदस्यों) के साथ पेरिस गया, ताकि जनता को शान्त कर सके। पेरिस में जाकर राजा ने क्रान्तिकारियों के तिरंगे झण्डे को भी नमस्कार किया। फ्रांस में जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे, राजा ने उनके सम्मुख सिर झुका देने में ही अपना कल्याण समझा। निस्सन्देह, वह ठीक मार्ग पर चल रहा था। पर उसके सलाहकार ? उसके दरबारी ? वे उसे इन नई प्रवृत्तियों को कुचल देने के लिये उकसा रहे थे। आखिर, राजा ने रात दिन अपने आस पास रहनेवाले इन दरबारियों के कहने को मान लिया। १६वें

लुई की यही निर्बलता थी। मानवीय स्वभाव की यह प्राकृतिक नि लता है!

सामाजिक क्रान्ति—राज्यक्रान्ति की जो प्रक्रिया अब प्रारम्भ चुकी थी, वह अपना प्रभाव प्रदर्शित कर रही थी। गाँव गाँव में किस लोग सभायें करके पुराने जमाने को कबर में गाड़ देने के प्रस्ताव पा कर रहे थे। केवल प्रस्ताव ही पास नहीं हो रहे थे, काम भी हो र था। टैक्स वसूल करनेवाले पानी में डुबाये जा रहे थे। जमींदारों किले ध्वंस किये जा रहे थे, गोदामों को आग लगाई जा रही थी सर्वसाधारण जनता सामाजिक दृष्टि से अपनी हीन दशा के खिला विद्रोह कर रही थी। जिन कुलीन लोगों ने उन्हें सदियों से दलि बनाया हुआ था, उनसे पूरा पूरा बदला लिया जा रहा था। सामाजि भेदों पर कुठाराघात किया जा रहा था। राज्यक्रान्ति तो पेरिस हो रही थी, ये देहात के लोग तो सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति तरफ पग बढ़ा रहे थे। मध्यकाल की सामन्त पद्धति के जो अवशेष इ काल में विद्यमान थे, उन्हें चुन चुनकर नष्ट किया जा रहा था।

राष्ट्रीय महासभा की जो बैठक ४ अगस्त को हुई, वह बहुत महत्त्व पूर्ण है। पेश किया गया, कि सामन्त पद्धति को नष्ट कर दिया जावे। प्रस्ताव पास हो गया। प्रस्ताव किया गया, कि चर्च को दशांश वसूल करने का जो अधिकार है, वह नष्ट कर दिया जावे पास हो गया। प्रस्ताव किया गया, कि शिकार के कानून नष्ट कर दिये जावें। पास हो गया। कुलीन और पुरोहित श्रेणियों को जो विशेषाधिकार प्राप्त थे, उन्हें नष्ट करने का प्रस्ताव किया गया। पास हो गया। इसी तरह के अन्य भी बहुत से प्रस्ताव उपस्थित किये गये, जिनका उद्देश्य मध्यकाल के अन्यायों को नष्ट करना था, वे सब स्वीकृत हो गये। इस बैठक में मध्यकालीन संस्थाओं के बहुत से अवशेषों का अन्त कर दिया गया। यह बैठक बहुत ही महत्त्वपूर्ण थी।

इन चार महीनों में फ्रांस में दो महत्त्वपूर्ण क्रान्तियाँ हो गई थीं। राज्यक्रान्ति द्वारा फ्रांस की जनता ने राजा के एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन का अन्त कर राजा को जनता की इच्छा को स्वीकृत करने के लिये बाधित किया था। सामाजिक क्रांति द्वारा फ्रांस में सामन्त-पद्धति तथा उससे सम्बद्ध संस्थाओं को नष्ट कर जनता की विविध श्रेणियों में समानता स्थापित की गई थी।

कुलीन लोगों का फ्रांस से भागना—चार अगस्त की बैठक में राष्ट्रीय महासभा ने जो रुख अख्तियार किया था, उससे यह स्पष्ट हो गया था कि फ्रांस में पुराने जमाने का अन्त होना अवश्यम्भावी है। इसलिये बहुत से उच्च पुरोहित तथा कुलीन लोग इस समय में फ्रांस छोड़कर अन्य देशों में चले गये। बस्तीय्य की जेल के ध्वंस के बाद ही हजारों की संख्या में ये विशेषाधिकार-प्राप्त लोग फ्रांस छोड़कर विदेशों में जाने शुरू हो गये थे। अब इस प्रवृत्ति की गति और भी बढ़ गई। यूरोप के अन्य देशों में अभी क्रांति की भावना उदित नहीं हुई थी। उन्हें आशा थी, कि वहाँ उन्हें आश्रय मिलेगा और वे दूसरे देशों के कुलीन लोगों तथा राजशक्ति की सहायता से फ्रांस में क्रांति को कुचल सकेंगे।

पेरिस की भीड़ का राजप्रासाद पर हमला—पर अभी बहुत से कुलीन लोग फ्रांस में विद्यमान थे। राजा को उसके दरबारी पहले की ही तरह घेरे रहते थे। दरबार के इस गुट ने राजा को उकसाना शुरू किया कि ४ अगस्त को राष्ट्रीय महासभा ने जो प्रस्ताव स्वीकृत किये हैं, उन पर अपनी स्वीकृति न दे। राजा अपने दरबारियों के प्रभाव में आ गया। समय गुजरता गया, राजा ने उन प्रस्तावों पर हस्ताक्षर नहीं किये। तरह तरह की अफवाहें फैलने लगीं। लोग आपस में बातचीत करने लगे, कि राजा क्रांति को कुचलने के लिये तैयारियाँ कर रहा है। इसके लिये उसने बाहर से फौज मँगवाई है। पेरिस का वातावरण इसी

प्रकार की अफवाहों से गरम हो गया। ठीक वही हालत हो गई, जो कि वस्तीय्य के पतन से पहले दिन थी। इसी समय खबर आई कि फ्लान्डर्स से एक फौज वर्साय पहुँच गई है। राजा की अंगरक्षक सेना ने उसका बड़ी धूमधाम से स्वागत किया है। इस फौज को जब सह-भोज दिया जा रहा था, तो रानी भी वहीं उपस्थित थी! यह भी सुना गया है, कि सेना के अफसरों ने जोश में भरकर क्रान्ति में तिरंगे झण्डे को पैरों से कुचला है! इस प्रकार की अफवाहों से जनता में जोश लहरें मारने लगा। पेरिस में भूखों नङ्गों की क्या कमी थी। गुण्डे और बदमाश भी ऐसे मौकों की प्रतीक्षा में रहते हैं। भूखे, गुण्डे, बदमाश, देशभक्त, क्रान्तिकारी—सब तरह के लोग कामकाज छोड़कर बाजारों में निकल आये। गपशप उड़ने लगी। जरा सी देर में लोगों का एक जुलूस बन गया। हजारों औरतों और हजारों मर्द पेरिस की गलियों में जुलूस बनाकर फिरने लगे। जिधर भी ये गये, लोग साथ होते गये। पेरिस में चक्कर काट इस जुलूस ने वर्साय की तरफ—जहाँ राजा रहता था—प्रस्थान किया। लफायत अपनी राष्ट्रीय स्वयंसेवक सेना को लेकर जुलूस के पीछे पीछे हो लिया। उसे फिकर थी कि कहीं दङ्गा न हो जाय। स्थिति को काबू में रखने के लिये वह पेरिस की इस भीड़ के साथ साथ वर्साय गया था। यह घटना ५ अक्टूबर को हुई।

पेरिस की इस भीड़ ने राजप्रासाद को घेर लिया। जब तक जुलूस वर्साय पहुँचा, शाम हो गई थी। लोगों ने राजप्रासाद के आसपास खुले आसमान के नीचे रात व्यतीत की। सुबह होने पर लोग फिर हल्ला गुल्ला करने लगे। कुछ लोगों ने प्रासाद के सन्तरियों से छेड़छाड़ की। झगड़ा हो गया। अनेक सन्तरी मारे गये। कुछ लोग प्रासाद में घुस गये। ईंट और पत्थर फेंके जाने लगे। कुछ समझदार लोग राजा के पास पहुँचे और निवेदन किया कि महाराज, भीड़ तब तक शान्त न होगी, जब तक आप उसे दर्शन न दे देंगे। राजा ने स्वीकार कर

लिया। राजप्रासाद के झरोखे पर खड़े होकर राजा, रानी और राजकुमार ने जनता को दर्शन दिया। पर लोग इतने से भी संतुष्ट न हुए। वे आग्रह करने लगे कि राजा को उनके साथ पेरिस चलना पड़ेगा। उन्हें विश्वास था कि राजा ही सब सुख समृद्धि का मूल है। उसे पेरिस में अपने साथ रखकर वे समझते थे कि उनकी सब समस्याओं का हल हो जावेगा। फ्रांस की जनता अब तक भी हृदय से राजभक्त थी। रिपब्लिक की कल्पना अब तक भी उत्पन्न नहीं हुई थी।

पुराने जमाने का मातमी जुलूस—६ अक्टूबर को दिन के एक बजे जुलूस ने वर्साय से पेरिस के लिये प्रस्थान किया। पुराने जमाने का यह मातमी जुलूस था। मरे हुए सन्तरियों के कटे सिर बरछियों पर टाँग लिये गये थे और लोग उन्हें हाथ में लेकर आगे आगे चल रहे थे। राष्ट्रीय महासभा के सदस्यों को भी साथ ले लिया गया था। राजा रानी और राजकुमार बाधित होकर जुलूस के साथ साथ जा रहे थे। भूखी, नंगी जनता आनन्द के आवेश में चिल्लाती जाती थी—'रोटीवाला, रोटीवाली और रोटीवालों का लड़का'। ये लोग समझ रहे थे, कि राजा हमारे साथ है, उसके पास रोटियों का अक्षय भण्डार है, अब उन्हें रोटियों की कमी नहीं रहेगी।

राजा और राष्ट्रीय महासभा को वर्साय से पेरिस ले आया गया। यह घटना फ्रेञ्च राज्यक्रान्ति के इतिहास में बहुत महत्त्व रखती है। अब राज्यक्रान्ति की प्रगति पर पेरिस की जनता का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया। पेरिस के लोगों की इच्छा क्रान्ति के स्वरूप को परिवर्तित करने लगी। पेरिस के आम लोग सुसंगठित न थे। वहाँ भूखों, नङ्गों, गुण्डों और बदमाशों की प्रचुरता थी। इनके अतिरिक्त गैर जिम्मेवार, बढ़ बढ़-कर बात बनानेवाले लोग पेरिस में बड़ी संख्या में मौजूद थे। इन सब लोगों की सम्मतियाँ—सम्मतियाँ नहीं, क्षणिक मानसिक आवेश राष्ट्रीय महासभा के निर्णयों पर असर करने लगे। फ्रांस की राजक्रान्ति जनता

की इच्छा को सर्वोपरि करना चाहती थी। यह तो हो गया। पर जनता की इच्छा अनेक बार ऐसे विकृत रूप में प्रगट हुई, कि उसकी उपादेयता में ही लोगों को सन्देह होने लगा। राजा को टुइलरी के राजप्रासाद में रखा गया। वहाँ उस पर जनता का कड़ा निरीक्षण था। उसकी स्थिति कैदी से बहुत अच्छी नहीं रह गई थी।

मनुष्यों के आधारभूत अधिकार—जिस समय ये सब घटनायें हो रही थीं, राष्ट्रीय महासभा देश के लिये नवीन शासन-विधान का निर्माण करने में लगी थी। उसकी एक उपसमिति शासन-विधान का खाका तैयार कर रही थी। उसने अपना कार्य समाप्त कर दिया। जो नया शासन-विधान बनाया गया, उसमें सबसे पहले जनता के आधारभूत अधिकारों की उद्घोषणा की गई। इन अधिकारों में से मुख्य मुख्य निम्नलिखित थे —(१) सब मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होते हैं, और उनके अधिकार एकसमान हैं। सामाजिक भेद का आधार सार्वजनिक उपयोगिता के सिवा अन्य कुछ नहीं है। (२) राज्य की स्वामित्वशक्ति जनता में निहित है। (३) स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह है, कि प्रत्येक मनुष्य को वह सब कुछ करने का अधिकार है, जिससे कि किसी दूसरे को हानि पहुँचने की सम्भावना न हो। (४) सरकार का प्रयोजन मनुष्यों के आधारभूत अधिकारियों को सुरक्षित रखना है। (५) जनता की सार्वजनिक इच्छा ही कानून है। प्रत्येक नागरिक को अधिकार है, कि स्वयं या अपने प्रतिनिधि द्वारा कानून का निर्माण करने में हाथ बँटावे। (६) प्रत्येक मनुष्य के लिये कानून एक ही होना चाहिये। (७) प्रत्येक मनुष्य तब तक निरपराधी समझा जायगा, जब तक कि कानून के अनुसार बने हुए न्यायालय उसे अपराधी साबित नहीं कर देंगे। कानून के प्रतिकूल किसी मनुष्य को न कैद किया जा सकता है, न अपराधी कहा जा सकता है, और न सज़ा दी जा सकती है। (८) किसी भी मनुष्य को अपनी सम्मतियों के कारण—चाहे वे सम्मतियाँ

धार्मिक मामलों के सम्बन्ध में भी हों, सजा नहीं दी जावेगी, बशर्ते कि वे सम्मतियाँ सार्वजनिक व्यवस्था में बाधा डालनेवाली न हों। (९) अपने विचारों और सम्मतियों को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट कर सकना मनुष्यों के सबसे अधिक बहुमूल्य अधिकारों में से एक है। अतः प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार है, कि वह स्वतन्त्रता के साथ भाषण कर सके, लिख सके और मुद्रण कर सके। परन्तु यदि वह इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करेगा—दुरुपयोग किस प्रकार होता है, यह कानून स्पष्ट करेगा—तो जिम्मेवारी उसी की होगी। (१०) प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार है, कि वह स्वयं या अपने प्रतिनिधि द्वारा इस बात का निश्चय करने में हाथ बटावे कि सार्वजनिक कोष के लिये कितने धन की आवश्यकता है, इस धन का खर्च किस प्रकार किया जावे, और इस धन को प्राप्त करने के लिये कौन-कौन से टैक्स लगाये जावें, ये टैक्स किस प्रकार से वसूल किए जावें और कितने समय के लिये कायम रहें। (११) जनता को हक है, कि प्रत्येक राजकर्मचारी से उसके कार्य का ब्यौरा ले सके। (१२) सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार एक पवित्र तथा अनुलङ्घनीय अधिकार है।

इन आधारभूत अधिकारों को जनता के सम्मुख प्रकाशित करते हुए राष्ट्रीय महासभा ने निस्सन्देह यह ठीक दावा किया था, कि सदियों से मनुष्यों के इन अधिकारों का अपमान किया जाता रहा है। अब हम फिर इन अधिकारों की स्थापना करते हैं, और हमारी यह विज्ञप्ति अत्याचारियों के विरुद्ध एक शाश्वत युद्ध घोषणा का कार्य करती रहेगी।

शासन-विधान—आधारभूत अधिकारों की यह उद्घोषणा शासन-विधान की प्रस्तावना मात्र थी। शासन-विधान का निर्माण प्रधानतया दो सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर किया गया था—(१) राज्य में जनता ही है, जिसमें कि स्वामित्व-शक्ति निहित रहती है। (२) सरकार के शासन, कानून-निर्माण तथा न्याय—ये तीनों विभाग पृथक्-पृथक् रहने

चाहियें। इन सिद्धान्तों को आधार में रखकर जो शासन-विधान बना गया था, उसका ढाँचा निम्नलिखित है—

राजा को इस शासन-विधान में स्थान दिया गया था। पर उ स्थिति को एकतन्त्र स्वेच्छाचारी राजा से परिवर्तित कर वैध तथा शा विधान का अङ्गभूत बना दिया गया था। अब वह केवल परमे की कृपा से ही राज्य नहीं करता था, पर उसकी सत्ता जनता की इ पर भी आश्रित थी। राज्य के कानूनों के अन्दर और अधीन र उसके लिये आवश्यक था। वह मन्त्रियों को नियुक्त और बर्खास्त सकता था, पर यह मन्त्री व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी व्यवस्थापिका सभा में जो प्रस्ताव व विधान स्वीकृत होते थे, उ प्रयोग में आने से पूर्व राजा की स्वीकृति भी आवश्यक थी। पर राजा किसी प्रस्ताव को स्वीकृत न करे, और व्यवस्थापिका सभा तीर बार निरन्तर पास करती जावे, तो राजा की स्वीकृति के बिना वह लागू हो जाता था। इस प्रकार राजा किसी प्रस्ताव का निषेध कर सकता था, वह केवल स्थगित ही कर सकता था। पर राष्ट्रीय वि का संचालन उसी के हाथ में रखा गया था, सेना का प्रधान अध्यक्ष उसे ही बनाया गया था। पर वह न सन्धि के अधिकार रखता था औ न विग्रह के। वह जनता की इच्छा का दास था, पर जनता की इ इच्छा के निर्माण में उसका कोई हाथ न था। जनता राजा की इच्छा को सर्वथा उपेक्षा कर सकती थी, पर राजा जनता की इच्छा की कि भी दशा में उपेक्षा नहीं कर सकता था।

कानून निर्माण का कार्य एक व्यवस्थापिका सभा को दिया गया था। इस सभा के ७४५ सदस्य होते थे। इस सभा का निर्वाचन साल के लिये होता था। प्रत्येक पुरुष (स्त्री नहीं) नागरिक, अपनी तीन दिन की आमदनी के बराबर धनराशि राजा को कर के में दे, इस सभा के निर्वाचन के लिये वोट देने का अधिकार रख

था। इस व्यवस्थापिका सभा की शक्ति बहुत विस्तृत थी। कानून निर्माण करना इस सभा का ही कार्य था।

मध्य काल में सामन्त पद्धति के समय में फ्रांस जिन विभागों में विभक्त था—जिनका आधार मध्यकालीन सामन्तों के छोटे बड़े और अस्वाभाविक राज्य थे—उन्हें अब उड़ा दिया गया था और उनके स्थान पर कुल ८३ प्रान्त बनाये गये थे। इन प्रान्तों को जिलों, ताल्लुकों और परगनों में बाँटा गया था। इन विविध विभागों में स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था की गई थी और राज-कर्मचारियों की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा करने का तरीका जारी किया गया था।

चर्च में परिवर्तन—राष्ट्रीय महासभा ने चर्च के सम्बन्ध में भी बड़े महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये। इनसे चर्च के संगठन और स्वरूप में बड़ी भारी क्रान्ति हो गई। चर्च के पुराने दशांश कर को तो ४ अगस्त के दिन ही उड़ा दिया गया था और आधारभूत अधिकारों की घोषणा करते हुए धार्मिक स्वतंत्रता के सिद्धान्त को भी स्वीकृत कर लिया गया था। अब राष्ट्रीय महासभा ने और आगे कदम बढ़ाया। २ नवम्बर सन् १७८९ के अधिवेशन में चर्च की सारी जायदाद जब्त कर ली गई। जब्त की हुई चर्च की जागीरों को बेच दिया गया और उसकी कीमत को राष्ट्रीय आय में शामिल कर लिया गया। इससे पहले फ्रांस में ११७ मठ थे, अब ८३ मठ कर दिये गये। प्रत्येक प्रान्त में एक मठ रखा गया। इन मठों के पादरियों के बारे में यह तय किया गया, कि राजकर्मचारियों की तरह उनका भी निर्वाचन किया जावे। इस निर्वाचन में न केवल रोमन कैथोलिक लोग ही भाग लें, पर प्रोटेस्टेएट, ज्यू, और नास्तिकों तक को इसके निर्वाचन में वोट देने का अधिकार दिया गया। अपने पद पर नियत किये जाने से पूर्व प्रत्येक पादरी से यह शपथ ली जाती थी, कि वह राष्ट्रीय शासन-विधान का भक्त बना रहेगा। नाममात्र को रोमन पोप का चर्च पर स्वामित्व स्वीकृत किया गया, पर

वस्तुतः चर्च राज्य के अधीन हो गया। यह सर्वथा स्वाभाविक ही कि पोप, बिशप तथा अन्य पुरोहित श्रेणी के लोग इन सुधारों का वि करें। जिस समय राष्ट्रीय शासन-विधान के प्रति भक्ति की शपथ का प्रश्न उत्पन्न हुआ, तो दो तिहाई पादरियों ने यह शपथ लेने से इन्क कर दिया। जिन लोगों ने शपथ लेने से इन्कार किया, उन्हें सार्वज शान्ति और व्यवस्था का घातक समझा गया। उन्हें अपने पद पृथक् कर दिया गया। परिणाम यह हुआ, कि उच्च पुरोहित श्रेणी अधिकांश लोग असन्तुष्ट कुलीन जमींदारों के साथ मिल गये लोग भी क्रान्ति को कुचलने के लिये भरसक कोशिश करने ल केवल यही नहीं सर्वसाधारण जनता, जो कि क्रान्ति के अन्य सब को सहानुभूति की दृष्टि से देख रही थी, चर्च के प्रति इस व्यवहा बहुत असन्तुष्ट हो गई। सर्वसाधारण जनता में धर्म, चर्च तथा पुरो श्रेणी के प्रति श्रद्धा की भावना बहुत गहरी रही है। उसके प्रति व्यवहार को इन सर्वसाधारण लोगों ने सहानुभूति की दृष्टि से देखा।

पत्रमुद्रा—राज्य के पास धन की जो कमी थी उसे पूर्ण करने लिये राष्ट्रीय महासभा ने पत्रमुद्रा (Assignat) प्रकाशित करने निश्चय किया। महासभा को यह विश्वास था, कि चर्च की जागीरों राज्य को जो आमदनी होगी, वह इस पत्रमुद्रा के लिये अमानत काम करेगी और इसके मूल्य को गिरने न देगी। इसी आशा से ब बड़े परिमाण में पत्रमुद्रायें प्रकाशित की गईं, जो कि 'एसिन्जा' के से प्रसिद्ध हैं। पर शीघ्र ही इनका मूल्य गिरना शुरू हो गया। राज्यक्रा के आगामी वर्षों में इनकी कोई भी कीमत नहीं रह गई थी।

सातवाँ अध्याय

राजसत्ता का अन्त

क्रान्ति की विरोधी शक्तियाँ—राष्ट्रीय महासभा अपना कार्य समाप्त कर रही थी। फ्रांस के स्वरूप में बड़ा भारी परिवर्तन आ गया था। सामन्त-पद्धति का अन्त हो गया था, श्रेणिभेद नष्ट कर दिया गया था, चर्च के विशेषाधिकार उड़ा दिये गये थे। राजा की स्वेच्छाचारिता को हटाकर उसकी वैध सत्ता स्थापित कर दी गई थी। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति अपना कार्य कर चुकी थी। पर पुराने जमाने की शक्तियाँ इतनी आसानी से दब जानेवाली नहीं थीं। वे क्रान्ति को कुचलने के लिये चुपचाप कोशिश में लगी हुई थीं। जो कुलीन लोग क्रान्ति के प्रारम्भ होते ही फ्रांस छोड़कर विदेशों में भाग गये थे, वे शान्त नहीं बैठे थे। वहाँ जाकर वहाँ के एकतन्त्र स्वेच्छाचारी राजाओं तथा कुलीनों की सहायता प्राप्त करना तथा अपनी शक्ति को संगठित करना उनका एक-मात्र लक्ष्य था। उस जमाने में राष्ट्रीयता का तत्त्व विकसित नहीं हुआ था। फ्रांस का कुलीन जमींदार अपने देश के किसान व मजदूर से कोई भी समता व एकता अनुभव नहीं करता था। जर्मनी के कुलीन जमींदार के साथ उसे अधिक सादृश्य नजर आता था। फ्रांस के ये कुलीन लोग विदेशी राजाओं के दरबार में आश्रय पाकर बदला लेने की तैयारी में लगे हुए थे। इनकी आकांक्षा थी, कि फ्रांस की नई सरकार के विरुद्ध युद्ध

उद्घोषित कर दिया जावे। इस कार्य में यूरोप के अन्य राजाओं व कुलीनों की सहायता का इन्हें पूरा भरोसा था। केवल फ्रांस के बा ही नहीं, अपितु अन्दर भी ये कुलीन लोग अपने उद्देश्य को पूर्ण क के लिये कोशिश में लगे हुए थे। राजा को बहुत से कुलीन लोग समय घेरे रहते थे। राजा पूरी तरह उनके प्रभाव में था। ये लोग राजसत्ता को सहन करना तो दूर रहा, उसकी कल्पना भी नहीं सकते थे। इनकी समझ में ही नहीं आता था, कि राजा भी कानून अधीन रह सकता है! राजा की यह नवीन कल्पना इनके विचार कोसों दूर थी। ये लोग राजा को निरन्तर उकसाते रहते थे। फ्रांस बाहर भागे हुए कुलीन लोग भी उसे हमेशा सन्देश भेजते रहते थे एक पूरा षड्यन्त्र तैयार हो रहा था। इन लोगों ने साजिश की, राजा अपने परिवार के साथ चुपचाप पेरिस से भाग निकले। की उत्तर पूर्वीय सीमा पर एक सेना तैयार कर दी गई थी, जो राजा के वहाँ पहुँचते ही उसका स्वागत करे। इन कुलीनों का खयाल था कि यदि राजा किसी तरह क्रान्तिकारियों के प्रभाव व कब्जे से निकल कर बाहर चला आवे, तो यूरोप के अन्य राजाओं सहायता प्राप्त करना और भी अधिक सुगम हो जायेगा। विशेषतः १६वें लुई की रानी मेरी आंतोआंत के भाई लियोपोल्ड द्वितीय से, कि इस समय जर्मन सम्राट् था, उन्हें बहुत आशायें थीं। निश्चय किया गया था कि राजा के फ्रांस से चले आने पर एक शक्तिशा सेना फ्रांस पर आक्रमण करेगी और क्रान्ति को कुचलकर फिर यथा एकतन्त्र स्वेच्छाचारी राजसत्ता की स्थापना कर देगी।

राजा का भागने का प्रयत्न—साजिश पूर्णरूप से तैयार गई। १७६१ का साल था और जून का महीना। एक रात रा रानी, राजकुमार और उनके दो एक साथी चुपचाप टुलरी के राजमह से बाहर निकले। ग्यारह बज चुके थे। पेरिस की गलियों में शा

थी। सब तरफ अँधियारा छाया हुआ था। अपनी जिन्दगी में शायद पहली बार राजा और रानी चुपचाप पेरिस की गलियों में पैदल चलने लगे। उनके हृदय धड़क रहे थे। अपने ही राज्य में वे चोरों और खन्दग लगानेवालों की तरह डरते डरते चले जा रहे थे। एक अँधेरे मोड़ पर एक घोड़ागाड़ी तैयार खड़ी थी। बिना कुछ बोले वे उस पर बैठ गये। गाड़ी चल पड़ी। गाड़ी में बैठे हुए राजा और रानी के दिल में क्या खयाल आ रहे थे? बस कुछ दूर और। उस पहाड़ी के पार—सब ठीक है। वहाँ पहुँचने की देर है, सैनिक सलाम करेंगे। अफसर पैर चूमेंगे। राजभक्ति कितनी मधुर चीज है, कम से कम उस आदमी के लिये जो राजा हो, या अगर राजा न हो, तो कम से कम दरबारी तो हो। कुछ देर वहाँ खूब धूमधाम होगी। बहुत दिनों बाद पुराने नजारे देखने को मिलेंगे। और उसके बाद? इस राजभक्त फौज के साथ पेरिस की तरफ प्रस्थान होगा। थोड़ी बहुत गोलाबारी हो जायगी। कुछ लोग फाँसी पर चढ़ा दिये जावेंगे, कुछ गोली से उड़ा दिये जावेंगे। बस, सब शान्त हो जायगा। फिर कैलोन प्रधान मन्त्री बनेगा, रुपया जुटाने में उसकी अकल खूब चलती है। बाकी कुलीन लोग भी वापिस चले आवेंगे। वर्साय की वे बहारें, वे नाचरङ्ग—बस दो चार दिन की ही तो बात है।

सुबह हो चुकी थी। राजा और रानी उसी प्रकार सुमधुर कल्पनायें करते हुए चले जा रहे थे, कि वारेन नाम के नगर में पुल पर खड़े हुए कुछ सन्तरियों ने अकस्मात् पूछ लिया—"आपके पासपोर्ट?" सुखद कल्पनाओं का सारा महल मिट्टी में मिल गया। राजा पकड़ लिया गया। उसे दलबल-सहित पेरिस वापिस ले आया गया। लोगों ने चुपचाप बिना एक भी शब्द कहे, राजा और रानी को इस प्रकार वापिस आते हुए देखा। टुइलरी के महल पर कड़ा पहरा बिठा दिया गया। राजा पहले तो केवल नजरबन्द था, अब बिलकुल कैद ही हो गया।

रिपब्लिक के पक्षपातियों का अभ्युदय—राज्यक्रान्ति के इतिहास में इस घटना का बहुत महत्त्व है। इसने क्रान्ति के रुख को बिलकुल बदल दिया। अब तक फ्रांस के क्रान्तिकारी राजसत्ता का अन्त नहीं करना चाहते थे। कोई भी महत्त्वपूर्ण दल इस प्रकार का नहीं था, जो राजा को हटाकर रिपब्लिक की स्थापना करने को तैयार हो। पर इस घटना के बाद से लोगों की प्रवृत्ति बदलनी शुरू हुई। अनेक लोग साफ साफ यह कहने लगे कि राजा की क्या आवश्यकता है? रिपब्लिक क्यों न कायम की जाय? एक ऐसा दल उत्पन्न हो गया, जो कि राजसत्ता का विरोधी और रिपब्लिक का पक्षपाती था। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि अब भी इस दल की शक्ति बहुत कम थी। राष्ट्रीय महासभा ने राजा के भागने की बात को दबाने की कोशिश की। उसकी तरफ से यह प्रकाशित कर दिया गया कि राजा भागा नहीं था, पर कुछ लोग राजा को पेरिस से बाहर ले गये थे। राजा के भागने की घटना के कुछ ही दिन बाद जुलाई के महीने में ही पेरिस में एक सभा की जा रही थी, जिसमें कि राजा को च्युत कर देने के लिये प्रार्थना-पत्र पेश कर देने का विषय उपस्थित था। इस सभा को बर्खास्त होने का हुक्म दिया गया। गोली चलाई गई और बहुत से आदमी गोली खाकर गिर गये। अभी तक भी फ्रांस की जनता में रिपब्लिक का भाव प्रबल नहीं हुआ था। लोग राजसत्ता को ही कायम रखना चाहते थे। पर इसमें भी सन्देह नहीं, कि ऐसा दल निरन्तर शक्ति प्राप्त करता जा रहा था, जो राजसत्ता को नष्ट कर देने के पक्ष में था। इस दल के प्रबल होने का मुख्य श्रेय राजा, उसके दरबारी तथा बाहर भागे हुएकुलीन लोगों के कारनामों को ही प्राप्त है। इनके कृत्यों के कारण ही जनता की सहानुभूति रिपब्लिक के पक्षपातियों की तरफ बढ़ती गई। राजसत्ता को कायम रखनेवाला पक्ष निर्बल होता गया।

रिपब्लिकन दल के नेता—इस नये रिपब्लिकन दल के नेता कौन थे ? राजसत्ता के विरोधी दल का सर्वप्रधान नेता डा० मरट था। डा० मरट बहुत ही विद्वान् व्यक्ति था। इँगलिश, स्पेनिश, जर्मन और इटालियन भाषाओं का उसे अच्छा ज्ञान था। उसने अनेक वर्ष इँगलैंड में व्यतीत किये थे। इँगलैंड के एक शिक्षणालय ने उसके सम्मान के लिये उसे एम० डी० की उपाधि प्रदान की थी। उसने वैज्ञानिक विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे थे। विशेषतया, चिकित्सा-शास्त्र का वह बड़ा परिडत था। वैंजमिन फ्रैंकलिन तथा गैटे जैसे विद्वान् उसके भौतिकशास्त्र-विषयक ग्रन्थ को बड़े शौक से पढ़ते थे। डा० मरट ने अपने साहित्यिक और वैज्ञानिक जीवन का परित्याग कर राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश किया था। इन दिनों में वह "लोक-मित्र" नाम के एक समाचार-पत्र का सञ्चालन कर रहा था। इस समाचार-पत्र द्वारा वह कुलीनों तथा उच्च-मध्य श्रेणी के लोगों पर भयङ्कर रूप से आक्षेप कर रहा था और साधारण जनता का शासन स्थापित करने के लिये जोर दे रहा था।

रिपब्लिक के दल का दूसरा नेता केमिय देशमोलाँ था। यह भी एक समाचार-पत्र का सम्पादक था। इसी देशमोलाँ ने पेरिस की जनता को विदेशी सैनिकों से अपनी रक्षा करने के लिये तैयार होने को भड़-काया था, जिसके कारण लोग हथियारों की खोज में निकल पड़े थे और वस्तीय्य के ध्वंस की घटना हुई थी। एक अन्य नेता डेन्टन था, जो अपने जोशीले व्याख्यानों के कारण प्रसिद्ध था। यह वकालत का पेशा करता था और पेरिस की जनता का बहुत प्रिय था। ये तथा अन्य बहुत से नेता इस समय राजसत्ता के विरुद्ध आवाज उठा रहे थे। इनकी राय में राजसत्ता इतनी विकृत हो चुकी थी, कि उसके साथ किसी भी प्रकार का समझौता सम्भव न था। ये पूर्ण लोकतन्त्र रिपब्लिक के पक्षपाती थे।

वैध राजसत्ता का पक्षपती दल और उसके नेता—वैध राजसत्ता के पक्षपातियों के प्रधान नेता लफायत तथा मिराबो थे। लफायत स्वयं

कुलीन श्रेणी का था, पर उसमें स्वतन्त्रता की भावनायें विद्यमान थीं। अमेरिकन स्वाधीनता के युद्ध में वह स्वयंसेवक के रूप में सम्मिलित हुआ था। फ्रांस की राज्यक्रान्ति में उसका शुरू से ही प्रधान भाग था। राष्ट्रीय स्वयंसेवक सेना का संगठन उसी के द्वारा हुआ था। मिराबो भी कुलीन श्रेणी का था। राज्यक्रान्ति का वास्तविक नेता वही था। एस्टेट्स जनरल के तीनों विभागों की बैठक एक साथ होनी चाहिये और प्रत्येक विभाग का एक वोट न होकर सदस्यों के बहुमत से निर्णय किया जाना चाहिये—इस आन्दोलन का प्रधान नेता मिराबो ही था। जिस समय राजा ने तीनों विभागों को पृथक्-पृथक् बैठक करने का आदेश दिया, तब मिराबो ही था जिसने कि निर्भय होकर इसका विरोध किया था। मिराबो बहुत ऊँचे किस्म का राजनीतिज्ञ था। वह बहुत दूरदर्शी तथा गम्भीर दिमाग का आदमी था। राष्ट्रीय महासभा का सारा कार्य उसी के नेतृत्व में हुआ था। फ्रांस के लिये जो नया शासन-विधान बना था, वह बहुत अंशों में उसी की कृति थी। राजा तथा रानी पर भी उसका बहुत प्रभाव था। वे उसे बहुत मानते थे। खेद यही है, कि मिराबो देर तक न जी सका। राजा के फ्रांस से भागने के लिये प्रयत्न करने से पूर्व ही २ अप्रैल १७९१ के दिन उसकी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु वैध राजसत्ता के पक्षपातियों के लिये एक भारी क्षति थी। यदि वह जीवित रहता, तो शायद राजा को अनेक भयंकर भूलों से बचाये रखने में समर्थ होता। पर उसकी मृत्यु ने राजसत्ता के पक्ष को बहुत कमजोर कर दिया।

व्यवस्थापिका सभा—राष्ट्रीय महासभा ने ३० सितम्बर १७९१ को अपना कार्य समाप्त कर दिया। इसने कुल मिलाकर २५०० कानून पास किये। इसमें सन्देह नहीं कि राष्ट्रीय महासभा ने बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया था इसके नवीन विधानों ने फ्रांस के स्वरूप को सर्वथा परिवर्तित कर दिया था। फ्रांस का नवीन शासन-विधान तैयार हो चुका था।

अब उसके अनुसार कार्य प्रारम्भ हुआ। नये शासन-विधान में मुख्य शक्ति व्यवस्थापिका सभा को दी गई थी। इसका निर्वाचन हो गया था और अब इसकी प्रथम बैठक १ अगस्त १७९१ के दिन हुई। व्यवस्थापिका सभा के कुल सदस्यों की संख्या ७४५ थी। इनमें प्रधानतया दो दल थे। (१) वैध राजसत्तावादी—इसकी संख्या बहुत अधिक थी। बहुमत इन्हीं का था। इनका विचार था कि राज्यक्रान्ति का कार्य अब समाप्त हो चुका है। राजा की एकतन्त्र स्वेच्छाचारी सत्ता का अन्त हो गया है, और उसके स्थान पर जनता का अधिकार स्थापित हो गया है। यह पर्याप्त है। अब फ्रांस का भला इसी में है, कि १७९१ के शासन विधान के अनुसार कार्य हो और नवीन युग के सुख का उपभोग किया जाय। (२) रिपब्लिक के पक्षपाती—इनकी संख्या २४० थी। इस प्रकार व्यवस्थापिका सभा में ये अल्प संख्या में थे। इनका खयाल था कि राज्यक्रान्ति अभी पूर्ण नहीं हुई, अभी कुछ और आगे बढ़ने की जरूरत है। राजसत्ता का सर्वथा अन्त होना चाहिये। राजसत्ता को उड़ा कर रिपब्लिक की स्थापना इनका प्रधान लक्ष्य था।

जेकोबिन क्लब—यह रिपब्लिकन दल दो भागों में विभक्त था, जेकोबिन और जिरोंदिस्ट। इन दोनों विभागों में क्या भेद था और इनके मुख्य विचार क्या थे—इस बात पर प्रकाश डालने की आवश्यकता है। जिस समय राजा को वर्साय से पेरिस लाया गया, तब राष्ट्रीय-महासभा भी पेरिस ही चली आई थी। इसके अधिवेशन पेरिस में ही होने लगे थे। इस राष्ट्रीय महासभा के कुछ सदस्यों ने—जिनके विचार आपस में मिलते-जुलते थे, महासभा के मकान के नजदीक ही एक बड़ा मकान किराये पर लिया हुआ था। ये सदस्य इस मकान में अपनी सभा किया करते थे और आपस में विचार के अनन्तर यह निश्चय किया करते थे, कि राष्ट्रीय महासभा में उन्हें किस नीति का अनुसरण करना चाहिये। शुरू शुरू में इन सदस्यों की संख्या एक सौ थी, पर धीरे धीरे

और सदस्य इस सभा में शामिल होने लगे और इसे बहुत महत्त्वपू हो गया। किसी वक्त में यह मकान जेकाब का गिरजा था, अतः इ मकान में इन सदस्यों के क्लब को जेकोबिन क्लब कहने लगे। धी धीरे यह क्लब अधिक अधिक महत्त्व पकड़ता गया। पहले इसकी बैठ गुप्त होती थीं, जनता शामिल नहीं हो सकती थी। पर अक्टूबर स १७६१ में जनता को भी यह अवसर दिया गया, कि वह क्लब की बह में शामिल हो सके। परिणाम यह हुआ कि लोगों की दिलचस्पी इ क्लब में बहुत बढ़ गई। यह क्लब पेरिस के राजनीतिज्ञों का अखाड़ बन गई। इसमें खूब गरमागरम बहसें होने लगीं। जो लोग सबसे आगे बढ़े होते थे, जो कोई नई बात कहते थे, जो कोई नया परिवर्तन प्रस्ता वित करते थे, वे इस क्लब में ऊंचा स्थान प्राप्त करते थे। डा० मरा, डैन्टन और देसमोलाँ इसके प्रमुख सदस्य थे। जब अभी वैध राज सत्ता के विरुद्ध भावना उत्पन्न नहीं हुई थी, तब भी इस क्लब में रिपब्लिक की गूँज सुनाई दे जाती थी। पर जब कि वैध राजसत्ता का पक्ष कमजोर पड़ रहा था, तब तो यह क्लब बहुत ही आगे बढ़ गई थी। पुराने जमाने का सर्वनाश कर संसार का नये सिरे से निर्माण करना इसका आदर्श बन गया था। पेरिस के अतिरिक्त अन्य नगरों में भी इस क्लब की शाखायें खुली हुई थीं। जून १७६१ में इसकी शाखाओं की संख्या ४०६ तक पहुँच गई थी। व्यवस्थापिका सभा के निर्वाचन में जेकोबिन क्लब तथा उसकी शाखाओं ने बड़ा हिस्सा लिया। इनके प्रयत्नों का ही परिणाम था, कि २०० के लगभग प्रतिनिधि इस दल के निर्वाचित हो गए।

जिरोंदिस्ट दल—जिरोंद एक प्रदेश का नाम है, जो कि फ्रांस के दक्षिण पूर्वीय भाग में स्थित है। इसके प्रधान नगर का नाम है, बोर्डियो। यहाँ से जो प्रतिनिधि व्यवस्थापिका सभा में निर्वाचित हुए थे, वे भी राजसत्ता का अन्त कर रिपब्लिक की स्थापना करना चाहते थे। इनके प्रधान नेता का नाम बर्जनियो था। यह एक होशियार वकील

था और इसके बहुत से साथी भी वकालत का पेशा करनेवाले थे। ये लोग भी पेरिस में एक साथ मिलते रहते थे और अपनी क्लब रखते थे। जिरोंद के अतिरिक्त फ्रांस के देहातों के अनेक अन्य सदस्य भी इस क्लब में सम्मिलित हुआ करते थे। रिपब्लिक के पक्षपाती होते हुए भी ये लोग बहुत गरम नहीं थे। ये जेकोबिन दल की जल्दबाजी तथा गरम मनोवृत्ति को नापसन्द करते थे और राजसत्ता को नष्ट करने के तरीकों के सम्बन्ध में मतभेद रखते थे। जैकोबिन क्लब पेरिस की मनोवृत्ति का प्रतिनिधि था और जिरोंदिस्ट दल देहातों का।

व्यवस्थापिका सभा के सम्मुख विद्यमान समस्यायें—व्यवस्थापिका सभा ने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया। उसका कार्य सुगम न था। फ्रांस के विशद आकाश में विपत्ति के डरावने बादल मँडरा रहे थे। भागे हुए कुलीन लोग अपना कार्य जोर शोर से कर रहे थे। फ्रांस के अन्दर भी समस्यायें कम न थीं। पादरी लोगों की बहुसंख्या चर्च की नई व्यवस्था को मानने के लिये तैयार नहीं थी, वे लोग अपने सम्पूर्ण प्रभाव को – और उस समय में फ्रांसीसी लोगों पर धर्म का आतङ्क कम नहीं था, क्रान्ति के विरुद्ध प्रयुक्त कर रहे थे। राजा और उसके दरबारी चुपचाप गुप्त तरीके से विदेशी राजाओं से पत्र-व्यवहार कर रहे थे। इस विकट परिस्थिति का व्यवस्थापिका सभा को सामना करना था। फ्रांस में राज्य-क्रान्ति का समाचार सुनते ही यूरोप के अन्य राजाओं को खतरा लग गया था। उन्हें भय था। कि कहीं उनकी प्रजा भी फ्रांस का अनुसरण न करे। इसलिये वे अपना भला इसी में समझते थे, कि फ्रांस में क्रान्ति को कुचल दिया जावे। क्रान्ति भी छूत का रोग है। इसे फैलते हुए देर नहीं लगती। जब जर्मन सम्राट् लिओपोल्ड द्वितीय ने सुना कि फ्रांस का राजा १६वाँ लुई अपनी रानी सहित वारेन के नगर में पकड़ लिया गया, तो उसके क्रोध की कोई सीमा न रही। उसने कहा कि सम्पूर्ण राजाओं का सम्मान और सारी सरकारों की सुरक्षितता

खतरे में पड़ गई है। उसने यूरोप के अन्य राजाओं से अपील की कि इस क्रांति की भावना को समूल नष्ट कर देना और फ्रांस के अत्यन्त पवित्र धर्मप्राण राजा और उसके परिवार को क्रान्तिकारियों के चंगुल से बचाकर फिर अपनी पूर्व स्थिति में स्थापित कर देना सब राजाओं का परम कर्तव्य है। इसी अपील का परिणाम हुआ, कि २७ अगस्त के दिन पिलनिट्ष की प्रसिद्ध उद्घोषणा प्रकाशित की गई। यह उद्घोषणा जर्मन सम्राट् लिओपोल्ड द्वितीय तथा प्रशिया के राजा द्वारा प्रकाशित की गई थी।

पिलनिट्ष की उद्घोषणा—इसमें कहा गया था, कि फ्रांस के राजा के बन्धु-बान्धवों (भागे हुए कुलीन लोगों) की इच्छानुसार वे इस बात के लिये तैयार हैं, कि यूरोप के अन्य राजाओं के साथ मिलकर १६वें लुई को अपनी पूर्व स्थिति में स्थापित किया जाय। फ्रांस में एक ऐसा शासन कायम होना चाहिये, जो कि राजाओं के पवित्र अधिकारों के अनुसार हो। उन्होंने केवल उद्घोषणा ही नहीं की, अपितु उसके अनुसार तैयारी भी प्रारम्भ कर दी। सेनायें संगठित की जाने लगीं और क्रान्ति की विरोधी सेनायें फ्रांस की तरफ बढ़ने लगीं।

इस उद्घोषणा का परिणाम—पिलनिट्ष की इस उद्घोषणा से फ्रेञ्च लोगों में बड़ी सनसनी फैल गई। वे लोग इस बात को सहन न कर सके, कि फ्रांस के आन्तरिक मामलों में विदेशी लोग इस तरह हस्तक्षेप करें। यूरोप के दो शक्तिशाली राजा फ्रांस में क्रान्ति की भावनाओं को कुचलने तथा फिर से पुराने जमाने को स्थापित करने के लिये हमला करने को तैयार हैं, तथा अन्य राजाओं से इसके लिये अपील कर रहे हैं, यह बात जनता से नहीं सही गई। फ्रांस के भागे हुए कुलीन लोग अपनी साजिशों में इस प्रकार सफल हो रहे हैं, यह जानकर जनता के रोष की कोई सीमा न रही। इस बीच में १६वें लुई के भाई आर्तोआ के काउण्ट ने, जो कि स्वयं फ्रांस से भागा हुआ था, उद्घोषित

किया; कि क्योंकि फ्रांस का असली राजा १६वाँ लुई जनता द्वारा कैद कर लिया गया है, अतः वह स्थानापन्न राजा के तौर पर कार्य करेगा। क्रान्ति के विरुद्ध प्रवृत्तियाँ वस्तुतः चाहे बहुत बलवती न हों, पर इन समाचारों से लोग सावधान हो गये। समाचार-पत्रों में जोश से भरे हुए भड़कीले लेख निकलने लगे। १७८६ के बाद फ्रांस में बाकायदा अखबार निकलने लगे थे। अनेक क्रांतिकारी अखबार इन समाचारों का पूरा फायदा उठाकर लोगों को राजसत्ता के विरुद्ध भड़का रहे थे। जेकोबिन क्लब में इसकी बड़ी चर्चा रहती थी। महीनों तक यही हालत रही। जनता में भयङ्कर उत्तेजना फैली हुई थी। लोग स्वतन्त्रता की लाल टोपियाँ पहनने में शान समझते थे। मजदूरों के से लम्बे पाजामें पहनने का लोगों को शौक हो गया था, समझा जाता था कि यह स्वतन्त्रता और भ्रातृभाव की निशानी है।

आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की उद्घोषणा—यह परिस्थिति थी, जब कि २० एप्रिल १७६२ के दिन व्यवस्थापिका सभा में आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध उद्घोषित कर देने का प्रस्ताव उपस्थित किया गया। सदस्यों में युद्ध के लिये बड़ा उत्साह था। कुल सात आदमी थे, जिन्होंने युद्ध के खिलाफ वोट दिया। जिन लोगों ने युद्ध के खिलाफ आवाज उठाई थी, उनमें रोबस्पियर प्रमुख था। रोबस्पियर कट्टर रिपब्लिकन था, वह जेकोबिन क्लब का प्रमुख सदस्य था, पर इस युद्ध के विषय में उसका खयाल था, कि इससे गरीबों को सरासर नुकसान होगा। इससे फायदा पहुँचेगा, तो केवल अमीर लोगों को। जो लोग शांति के पक्ष में थे, उन्हें कहा गया कि यह युद्ध आत्मरक्षा के लिये है, विजय करने के लिये नहीं। यह युद्ध अत्याचारी एकतन्त्र राजाओं के खिलाफ है, जनता के खिलाफ नहीं। यह युद्ध एक स्वतन्त्र राष्ट्र के अधिकारों की रक्षा के लिये है। निस्सन्देह यह युद्ध फ्रांस के नये युग और यूरोप के पुराने जमाने के बीच में था। इसमें स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृ-

भाव की प्रवृत्तियाँ स्वेच्छाचारी शासन, विशेषाधिकार और अन्याय-युक्त विषमता के साथ संघर्ष कर रही थीं। इसी युद्ध का परिणाम यह हुआ, कि फ्रांस के क्रांतिकारी विचार यूरोप के अन्य देशों में भी फैल गये। क्रांति केवल फ्रांस तक ही सीमित नहीं रही, वह यूरोप भर में फैल गई।

राजा व्यवस्थापिका सभा के इस निश्चय को स्वीकृत करने के लिये तैयार न था, पर उसे बाधित होकर इस पर हस्ताक्षर करने पड़े। परन्तु फ्रांस की सेना युद्ध के लिये सुसज्जित न थी। सेना के सब अफसर पहले कुलीन लोग हुआ करते थे, उन्हें ही सैन्य सञ्चालन का अनुभव था। पर प्रायः सभी कुलीन सैनिक अफसर इस समय फ्रांस छोड़ कर विदेशों में भाग चुके थे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक सेना आन्तरिक अव्यवस्था को दबाने में तो काम आ सकती थी, पर विदेशों की अनुभवी तथा सुसज्जित सेनाओं का मुकाबिला करने का सामर्थ्य उसमें नहीं था। यही कारण है, कि जब आस्ट्रिया की सेना का मुकाबिला करने के लिये पहले पहल फ्रेंच सेना भेजी गई, तब वह सामना नहीं कर सकी।

व्यवस्थापिका सभा के प्रस्ताव और राजा द्वारा उन्हें वीटो किया जाना—जिस समय में फ्रांस की सेनायें विदेशी शत्रुओं का मुकाबला करने के लिये सीमा की तरफ प्रस्थान कर रही थीं, उसी समय व्यवस्थापिका सभा देश में व्यवस्था कायम रखने तथा युद्ध के लिये साधन जुटाने की फिकर में लगी थी, इसीलिये उसने यह कानून पास किया, कि जो पादरी लोग चर्च की नई व्यवस्था मानने को तैयार न हों, वे एक महीने के अन्दर अन्दर फ्रांस छोड़कर चले जावें। जब यह कानून राजा के पास स्वीकृति के लिये भेजा गया, तो उसने इस पर अपनी सहमति देने से इन्कार कर दिया। इसी प्रकार व्यवस्थापिका सभा में एक प्रस्ताव पास किया गया, कि राजधानी की रक्षा करने के लिये २० हजार स्वयंसेवकों की एक छावनी पेरिस के समीप ही डाली जावे। राजा ने इस प्रस्ताव को भी वीटो कर दिया।

राजप्रासाद पर आक्रमण—राजा की इस कार्रवाई का यह परिणाम हुआ, कि उसके विरुद्ध भावनायें और भी अधिक प्रबल हो गईं। लोगों में राजा और रानी की बहुत बदनामी होने लगी। रानी को घृणा के साथ 'आस्ट्रियन औरत' और 'श्रीमती वीटो' कहा जाने लगा। लोगों का खयाल था, कि रानी फ्रांस के दुश्मनों से मिली हुई है और उसने आस्ट्रिया के पास फ्रांस पर आक्रमण करने की एक योजना तैयार करके भेजी है। इन अफवाहों को सुनकर जनता के जोश की कोई सीमा नहीं रही। लोगों की भीड़ इकट्ठी हो गई, जुलूस तैयार हो गया। पेरिस की गलियों में चक्कर लगाकर इस जुलूस ने टुईलरी के राजप्रासाद की तरफ प्रस्थान किया। अनेक 'देशभक्त' राजप्रासाद में घुस गये। ईंट और पत्थर फेंके जाने लगे। भीड़ काबू से बाहर हो गई। ऐसे समय में राजा ने बड़ी बुद्धिमत्ता प्रदर्शित की। उसने क्रांतिकारियों की लाल टोपी को सिर पर पहन तथा छोटे से तिरंगे झण्डे को छाती पर लगाकर एक झरोखे से जनता को दर्शन दिये। राजा को इस प्रकार क्रान्ति के चिह्नों से युक्त देखकर लोगों का जोश कुछ ठण्डा पड़ गया। राजप्रासाद के इस आक्रमण का कोई विशेष असर नहीं हुआ।

ब्रुन्स्विक के ड्यूक की उद्घोषणा—पर जिस समय इस घटना का समाचार यूरोप के अन्य राजाओं ने सुना, तो उन्हें इस बात में जरा भी सन्देह नहीं रहा, कि फ्रांस के क्रान्तिकारी अराजकता चाहते हैं। प्रशिया के राजा फ्रेडरिक ने उद्घोषित किया, कि वह भी फ्रांस के विरुद्ध लड़ाई में आस्ट्रिया का साथ देगा। प्रशिया की सधी हुई और शक्तिशाली सेना ने ब्रुन्स्विक के ड्यूक के सेनापतित्व में फ्रांस की तरफ प्रस्थान किया। फ्रांस की सीमा पर पहुँचकर ब्रुन्स्विक के ड्यूक ने एक उद्घोषणा प्रकाशित की। इसमें कहा गया कि आस्ट्रिया और प्रशिया फ्रांस पर इसलिये हमला कर रहे हैं, ताकि वहाँ पर अराजकता का अन्त कर फिर से राजा के न्याय्य अधिकारों की स्थापना की जावे।

फ्रांस के जो कोई आदमी आस्ट्रिया और प्रशिया की सेनाओं का सामना करने का प्रत्यन करेंगे, उन्हें युद्ध के कठोरतम नियमों द्वारा भयंकर से भयंकर सजा दी जावेगी और उनके घरों को अग्नि से भस्म कर दिया जावेगा। यदि पेरिस के लोगों ने राजा व रानी का जरा भी अपमान किया और फिर टुइलरी के राजप्रासाद पर हमला किया, तो सारे पेरिस नगर को पूर्णतया तबाह कर दिया जावेगा।

इस उद्घोषणा का परिणाम—इस उद्घोषणा से लोगों में उत्तेजना और भी अधिक बढ़ गई। यह विश्वास बढ़ गया कि राजा और रानी फ्रांस के दुश्मनों से हार्दिक सहानुभूति रखते हैं। रिपब्लिक के पक्षपातियों ने राजसत्ता का अन्त करने का निश्चय कर लिया। पेरिस की एक भीड़ ने फिर टुइलरी के राजप्रासाद पर हमला किया। यह हमला १० अगस्त १७९२ को हुआ था। राजा, रानी और राजकुमार बड़ी कठिनता से जान बचाकर निकल सके। उन्होंने व्यवस्थापिका सभा के भवन में आश्रय लिया। संवाददाताओं की गेलरी में उन्हें स्थान दिया गया। आज राजा को अपनी रक्षा के लिये व्यवस्थापिका सभा का आश्रय लेने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा न था।

राजा की पदच्युति—अगले ही दिन व्यवस्थापिका सभा में प्रस्ताव पेश किया गया कि राजा को राज्यच्युत कर फ्रांस में रिपब्लिक की स्थापना की जावे। यह प्रस्ताव पास हो गया। १६वाँ लुई अब फ्रांस का राजा नहीं रहा। परन्तु अब देश का शासन किस प्रकार हो? अब तक जो शासन-विधान विद्यमान था, वह वैध राजसत्ता के सिद्धान्त पर आश्रित था। अतः निश्चय किया कि नया शासन-विधान तैयार करने के लिये एक कान्वेन्शन किया जावे। कान्वेन्शन के लिये व्यवस्था कर व्यवस्थापिका सभा की समाप्ति कर दी गई। देश का शासन करने के लिये सामयिक रूप से जिस सरकार का निर्माण किया गया, उसका मुखिया डेन्टन बना।

आठवाँ अध्याय

क्रान्ति के विरुद्ध जिहाद

पेरिस की नागरिक सभा—सोलहवें लुई के शासन-च्युत किये जाने के अनंतर फ्रांस का शासन करने के लिये कोई व्यवस्थित सरकार नहीं थी। राजा के बिना शासन-विधान का स्वरूप तैयार करने के लिये जो कान्वेन्शन बुलाया गया था, उसने अभी अपना कार्य प्रारम्भ ही किया था। इसमें सन्देह नहीं कि एक सामयिक सरकार का संगठन कर दिया गया था, जिसका मुखिया डैन्टन था, परन्तु शासन की वास्तविक शक्ति पेरिस की नागरिक सभा के हाथ में आ गई थी। यह नागरिक सभा बहुत व्यवस्थित तथा संगठित थी और स्वाभाविक रूप से इसका प्रभाव बहुत अधिक था। पेरिस का शासन इसके हाथ में था और क्योंकि राज्यक्रन्ति का नेतृत्व पेरिस द्वारा हो रहा था, अतः पेरिस की नागरिक सभा ही सम्पूर्ण देश में राज्यक्रान्ति का संचालन कर रही थी।

कान्वेन्शन का अधिवेशन—२१ सितम्बर सन् १७९२ के दिन कान्वेन्शन का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। कुल सदस्यों की संख्या ७८२ थी। कान्वेन्शन में अधिक संख्या उन लोगों की थी, जो राजसत्ता के विरोधी और रिपब्लिक के पक्षपाती थे। जिरोंदिस्ट दल के सदस्य सबसे अधिक थे। इस दल का विचार था कि क्रान्ति का संचालन कानून और व्यवस्था के अनुसार करना चाहिये। यह दल खून-खराबी के

खिलाफ था और शान्तिपूर्वक राज्य-परिवर्तन चाहता था। जिरोंदिस्ट दल के शक्तिशाली होते हुए भी उसमें कोई प्रभावशाली नेता नहीं था। इसके विपरीत जेकोबिन दल में डेन्टन, मरट और राबस्पियर जैसे प्रसिद्ध और प्रभावशाली नेता थे, इनके कारण इस दल का प्रभाव बहुत बढ़ा हुआ था। जेकोबिन दल क्रान्ति के सञ्चालन में व्यवस्था और कानून का आँख मींचकर अनुसरण करने के पक्ष में नहीं था। मौके के अनुसार सब प्रकार के उपायों से सफलता प्राप्त करना ही उसका मूलमन्त्र था। कान्वेन्शन में पहले जिरोंदिस्ट दल का प्राधान्य था, परन्तु कुछ समय बाद ही जेकोबिन दल प्रबल हो गया और सम्पूर्ण शक्ति उसके प्रभावशाली नेताओं के हाथ में चली गई।

अपनी पहली ही बैठक में कान्वेन्शन ने यह प्रस्ताव पास किया कि फ्रांस से राजसत्ता का अन्त किया जाता है, और रिपब्लिक की स्थापना की जाती है। यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ था। तीन साल पहले फ्रांस में एकतन्त्र स्वेच्छाचारी राजसत्ता विद्यमान थी, परन्तु अब इतने थोड़े से समय में वहाँ एक शक्तिशाली रिपब्लिक की स्थापना कर दी गई थी। फ्रांस की जनता ने रिपब्लिक की उद्घोषणा का बड़े उत्साह से स्वागत किया। लोगों का खयाल था कि अब एक नवीन युग का प्रारम्भ हो रहा है। स्वेच्छाचारिता का जमाना समाप्त हो गया है, और उसके स्थान पर स्वतन्त्रता का युग शुरू हुआ है। १७९२ के सितम्बर मास के २२ वें दिन से एक नवीन संवत् का प्रारम्भ किया गया।

नवीन संवत्—यह फ्रेञ्च स्वतन्त्रता के संवत् का प्रथम वर्ष था। कान्वेन्शन की एक उपसमिति पञ्चाङ्ग का सुधार करने के लिये बनाई गई। इसने प्रस्ताव किया कि प्रत्येक मास में ३० दिन रखे जावें और प्रत्येक मास को दस दस दिन के तीन 'दशाहों' में विभक्त किया जावे। साल में ३६५ दिन होते हैं, तीस-तीस दिन के १२ महीने होने से साल में ५ दिन शेष रह जावेंगे। ये ५ दिन छुट्टी मनाने के लिये रखे

जावें। दिनों के नाम नक्षत्रों और पुराने सन्तों के नामों पर रखने के बजाय पालतू पशुओं, वनस्पतियों और कृषि के उपकरणों के नामों पर रखने का प्रस्ताव किया गया। यह क्रान्ति की भावना थी, जो सब क्षेत्रों में अपने को प्रगट कर रही थी।

क्रान्ति के विरुद्ध जिहाद—इधर जिस समय कान्वेन्शन देश के लिये नवीन शासन-विधान तैयार करने के कार्य पर लगा था, उधर यूरोप के विविध राजा क्रान्ति के विरुद्ध जिहाद कर रहे थे। अगस्त के समाप्त होने से पूर्व ही प्रशियन सेना फ्रांस में प्रवेश कर चुकी थी। २ सितम्बर को वेर्डून का किला जीत लिया गया था। ऐसा प्रतीत होता था, कि शीघ्र ही पेरिस को घेर लिया जायगा। ऐसे विकट समय में फ्रेञ्च सेनापति डूमरे ने वाल्मी नामक स्थान पर प्रशियन सेना से मोरचा लिया। यहाँ पर फ्रांस की सेना को बहुत सफलता हुई। प्रशियन सेना का आक्रमण रुक गया, और सेनापति डूमरे इन आक्रान्ताओं को फ्रांस से बाहर खदेड़ने में समर्थ हुआ। इतना ही नहीं, फ्रेञ्च सेनाओं ने जर्मनी के प्रदेश पर आक्रमण किया और र्हाइन नदी के प्रदेश के अनेक दुर्गों को जीतकर अपने आधीन कर लिया। डूमरे के सैनिक नंगे पैर थे, उनके पास सैनिक वर्दियाँ और शानदार हथियार नहीं थे। वे नये भर्ती किये हुए रँगरूट थे, पर उनमें क्राति की भावना थी, वे किसी उद्देश्य से—किसी भावना से युद्ध कर रहे थे। लड़ना उनका पेशा नहीं था। इन सैनिकों ने नीदरलैण्ड पर आक्रमण किया। यह प्रदेश उस समय में आस्ट्रिया के आधीन था। आस्ट्रिया की सेनायें परास्त हो गईं और नीदरलैण्ड पर फ्रांस का कब्जा हो गया। यह सैन्य-सञ्चालन व समरनीति की विजय नहीं थी, यह क्रान्ति की भावना की विजय थी।

२, ३ सितम्बर के वीभत्स कत्ल—इन युद्धों के प्रारम्भ होने के समय पेरिस की क्रान्तिकारी सरकार ने बहुत से लोगों को सन्देह में

गिरफ्तार कर लिया था। इसमें सन्देह नहीं, कि उस समय फ्रांस में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो क्रान्ति के विरोधी थे और जो अपनी सम्पूर्ण शक्ति क्रान्ति को कुचलने के लिये लगा रहे थे। क्रान्तिकारियों ने बहुत से आदमियों को इस सन्देह में कैद किया हुआ था। इनकी संख्या तीन हजार के लगभग थी। युद्ध के शुरू होने पर २ और ३ सितम्बर को इन सब कैदियों को कत्ल कर दिया गया। इसके लिये जो कारण पेश किया गया था, वह यह था कि हम लोग बेफिकर होकर शत्रुओं का मुकाबला करने के लिये कैसे प्रस्थान कर सकते हैं, जब कि तीन हजार शत्रु हमारी अपनी जेलों में बन्द हैं, और जो किसी भी क्षण जेल तोड़कर बाहर निकल सकते हैं, और हमारी स्त्रियों और बच्चों का संहार कर सकते हैं। निस्सन्देह, यह एक बड़ा ही बीभत्स और क्रूर कत्ल था। एक साथ तीन हजार आदमियों का कत्ल—वह भी सन्देह के कारण न्याय का उपहास करके—कितनी बीभत्स घटना है! स्वतन्त्रता और न्याय के नाम पर पुरानी राजसत्ता का अन्त किया गया था। परन्तु नये युग का यह श्रीगणेश कितना अन्यायपूर्ण, अत्याचारमय और बीभत्स था! रिपब्लिक और क्रान्ति की रक्षा के नाम पर, स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृभाव की स्थापना के लिये इन तीन हजार आदमियों की बलि दी गई थी।

कान्वेन्शन की क्रान्तिकारी उद्घोषणा—फ्रांस ने आक्रान्ताओं को परास्त कर जर्मनी और आस्ट्रिया के अनेक प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। अब कान्वेन्शन ने निश्चय किया कि सम्पूर्ण यूरोप में क्रान्ति की भावनाओं का प्रसार किया जावे। फ्रांस के क्रान्तिकारी नेता इस बात को खूब अच्छी तरह समझते थे कि उनके अपने देश में क्रान्ति तब तक सफल नहीं हो सकती, जब तक कि उनके चारों ओर सम्पूर्ण यूरोप में एकतन्त्र स्वेच्छाचारी सरकारें कायम हैं। अतः वे सर्वत्र क्रान्ति का प्रसार करने के लिये उत्सुक थे। कान्वेन्शन ने

२५ सितम्बर १७६२ के दिन उन प्रदेशों की जनता के नाम, जिन पर कि फ्रांस ने कब्जा कर लिया था, एक उद्घोषणा प्रकाशित की। इसमें कहा गया था कि "हमने तुम्हारे अत्याचारी शासकों को खदेड़ दिया है। तुम अपने को स्वतन्त्र मनुष्य प्रदर्शित करो और हम तुम्हारी उन अत्याचारियों के बदले से रक्षा करेंगे।" इस उद्घोषणा में यह भी कहा गया था, कि फ्रांस का उद्देश्य सर्वत्र समानता और स्वाधीनता की स्थापना करना है, जो लोग इसका विरोध करेंगे, उन्हें अपना शत्रु समझा जायेगा और उनके साथ शत्रु के समान ही व्यवहार किया जायेगा।

राजा को प्राणदण्ड—इस बीच में कान्वेन्शन के सम्मुख यह प्रश्न भी विद्यमान था, कि पदच्युत राजा का क्या किया जावे ? बहुत से लोगों का खयाल था कि उसने देश के विरुद्ध विद्रोह किया है। इस लिये उसके खिलाफ मुकदमा चलाया गया। डेन्टन ने अपने भाषण में बड़ी जोर से गरजकर कहा – यूरोप के राजाओं ने हमको चैलेञ्ज दिया है। हम उसके जवाब में राजा का सिर उनके पैरों में फेंक देंगे। मुकदमे के सिलसिले में कान्वेन्शन के सम्मुख एक सन्दूकची पेश की गई, जिसमें कि वह गुप्त पत्र-व्यवहार बन्द था, जो कि राजा और उसके परिवार ने विदेशी राजाओं तथा फ्रांस से भागे हुए कुलीन लोगों से किया था। राजा को प्राणदण्ड दिया जाय या नहीं, इस विषय पर जब वोट लिये गये, तो ७२१ वोटों में से ३८७ वोट प्राणदण्ड के पक्ष में आये। राजा का फैसला हो गया। उसे प्राणदण्ड मिलना निश्चित हुआ। २१ जनवरी सन् १७६३ के दिन राजा का सिर धड़ से अलग कर दिया गया। मरने से पूर्व राजा के अन्तिम वाक्य ये थे—'मेरा खून फ्रांस की समृद्धि का कारण बने !' इस प्रकार १६वें लुई का अन्त हुआ। फ्रांस की जनता लुई की दुश्मन नहीं थी। क्रान्तकारियों का उद्देश्य राजसत्ता का अन्त करना नहीं था। वे एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन का अन्त कर वैध राजसत्ता की स्थापना करना चाहते थे। यदि

१६वाँ लुई चाहता, तो क्रान्ति के बाद भी इङ्गलैण्ड के राजाओं की तरह अपनी शानदार और सम्मानास्पद स्थिति रख सकता। पर १६वाँ लुई बहुत कमजोर व्यक्ति था। वह अपने अदूरदर्शी दरबारियों के प्रभाव से कभी ऊपर नहीं उठ सका। उसका अन्त इस प्रकार दुरवस्था के साथ हुआ, इसमें उसकी अपनी गलतियाँ प्रधान हेतु हैं।

राजा के कत्ल का प्रभाव—१६वें लुई का कत्ल यूरोप के स्वेच्छाचारी राजाओं को खुला चैलेञ्ज था। इन्होंने इस चैलेञ्ज को स्वीकार करने में जरा भी देर नहीं की। इङ्गलैण्ड के राजा ज्यार्ज तृतीय ने फ्रांस के राजदूत को अपने देश से निकल जाने का हुक्म दिया। प्रधान मन्त्री पिट ने पार्लमैण्ट में भाषण देते हुए कहा, कि सम्पूर्ण मानवीय इतिहास में १६वें लुई के कत्ल समान वीभत्स और अमानुषिक कार्य अन्य कोई नहीं हुआ है। शायद, पिट इङ्गलिश राज्यक्रान्ति में चार्ल्स के कत्ल को भूल गया था। फ्रांस और इङ्गलैण्ड में सामुद्रिक प्रतिस्पर्धा विद्यमान थी ही, इङ्गलैण्ड ने समझा कि अपने प्रतिस्पर्धी को कुचलने का यह सुवर्णीय अवसर उपलब्ध हुआ है, इसको हाथ से न जाने देना चाहिये। पिट ने पार्लमैण्ट में प्रस्ताव किया, कि इङ्गलैण्ड को भी फ्रांस के खिलाफ आस्ट्रिया और प्रशिया की सहायता करनी चाहिये।

फ्रांस के विरुद्ध जिहाद—उधर फ्रांस में कान्वेन्शन के सम्मुख भी यह विषय पेश हुआ। इङ्गलैण्ड का राज्यक्रान्ति के प्रति जो रुख था, उसे दृष्टि में रखते हुए कान्वेन्शन ने उचित समझा कि इङ्गलैण्ड के विरुद्ध युद्ध उद्घोषित कर दिया जावे। एक फरवरी सन् १७९३ के दिन इङ्गलैण्ड और फ्रांस में लड़ाई घोषित कर दी गई।

आस्ट्रियन नीदरलैण्ड की विजय के बाद फांस की सीमा हालैण्ड से जा लगी थी। हालैण्ड फ्रांस की इस समृद्धि तथा सफलता को नहीं सह सकता था। इतने शक्तिशाली राज्य का अपनी सीमा तक आ

पहुँचना उसे सह्य नहीं था। परिणाम यह हुआ कि हालैण्ड ने भी फ्रांस के विरोधियों का साथ दिया।

फ्रेञ्च राज्यक्रान्ति के शत्रुओं की संख्या निरन्तर बढ़ रही थी। आस्ट्रिया, प्रशिया, इङ्गलैण्ड और हालैण्ड उसके विरुद्ध युद्ध उद्घोषित कर चुके थे। अब मार्च १७६३ में स्पेन और पवित्र रोमन साम्राज्य भी फ्रांस के विरुद्ध लड़ने को तैयार हो गये। फ्रांस अपने सारे पड़ोसियों से अकेला लड़ाई लड़ रहा था। उसे विकट परिस्थिति का सामना करना था। यूरोपियन राज्यों की सदियों की सधी हुई सेनायें उसके विरोध में थीं। उसके अपने कुलीन तथा उच्च पुरोहित श्रेणियों के लोग उसके विरुद्ध सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार थे। फ्रांस की क्रान्तिकारी सेनायें युद्ध-नीति में निष्णात नहीं थीं। यही कारण है, कि १८ मार्च के दिन नीर विन्डन नामक स्थान पर आस्ट्रियन सेना ने फ्रेञ्च सेनापति डूमरे को बुरी तरह परास्त किया और नीदरलैण्ड फ्रांस के हाथ से निकल गया। इस पराजय के बाद सेनापति डूमरे फांस का पक्ष छोड़कर शत्रुओं से जा मिला। लफायत इससे कुछ दिन पहले ही शत्रुओं से मिल गया था। ये दोनों महानुभाव राज्यक्रान्ति के प्रमुख नेता थे। एकतन्त्र स्वेच्छाचारी राजसत्ता को नष्ट करने में इनका कर्तृत्व बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। पर राजा को प्राणदण्ड मिलना इनकी दृष्टि में अक्षम्य अपराध था। ये क्रान्ति के पथ पर इतनी दूर नहीं जाना चाहते थे। क्रान्ति को अपने काबू से बाहर जाते देख इन्होंने यही उचित समझा, कि शत्रुओं से मिलकर क्रान्ति को कुचला जाय। राष्ट्रीयता की भावना उस समय तक उत्पन्न नहीं हुई थी। राष्ट्रीयता के इस युग में इन्हें देशद्रोही कहा जावेगा, पर उस जमाने में देश या राष्ट्र ने मनुष्यों के विचारों में वह स्थान प्राप्त नहीं किया था, जो अब कर लिया है। राष्ट्रीयता की भावना भी, इसी प्रकार की अन्य अनेक भावनाओं की तरह, इतिहास की उपज है!

शत्रुओं का सुख-स्वप्न—नीदरलैण्ड फ्रांस के कब्जे से निकल गया, इस बात से क्रान्ति के विरोधियों की हिम्मत बहुत बढ़ गई। उन्होंने आपस में सलाह करनी शुरू की, कि फ्रांस को जीत कर परस्पर बाँट लिया जावे। अब से कुछ दिन पहले सन् १७९३ में ही पोलैण्ड को जीत कर रशिया, आस्ट्रिया और प्रशिया ने आपस में विभक्त कर लिया था। अब फ्रांस को भी इसी प्रकार बाँट खाने का स्वप्न लिया जाने लगा। आस्ट्रिया की आँख फ्रांस के उत्तरीय प्रदेशों पर थी। इङ्गलैण्ड उपनिवेशों को हड़पने की सोच रहा था। स्पेन पिरेनीज की पर्वतमाला को पार कर दक्षिणीय फ्रास में अपना हिस्सा लेने की फिक्र में था। इस प्रकार राज्यक्रान्ति के सब विरोधी फ्रांस को लूट खाने का सुख-स्वप्न ले रहे थे। निस्सन्देह, फ्रांस के लिये यह विकट परिस्थिति थी। उसने जिस हिम्मत और बहादुरी से इसका मुकाबला किया, वह इतिहास में वस्तुतः अद्वितीय है।

नवाँ अध्याय

आतङ्क का राज्य

शक्तिशाली सरकार का संगठन—फ्रांस के लिये नवीन शासन-विधान बनाने का कार्य कान्वेन्शन कर रहा था। पर इस समय देश की मुख्य आवश्यकता शासन-विधान का निर्माण नहीं थी। इस समय बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं से रक्षा करना ही प्रधान कार्य था। इसी बात को दृष्टि में रखकर ४ जनवरी १७९३ के दिन कान्वेन्शन ने एक 'सामान्य रक्षा-समिति' का निर्माण किया था। इस समिति का कार्य फ्रांस में शान्ति और व्यवस्था कायम रखना था। पर इस समय स्थिति इतनी गम्भीर और विकट होती जाती थी, कि एक अत्यन्त मजबूत और शक्तिशाली सरकार की जरूरत थी। युद्ध या विद्रोह के समय लोकतन्त्र शासन के सिद्धान्तों को क्रिया में परिणत कर सकना सम्भव नहीं रहता। उस समय आवश्यकता होती है, कि किसी व्यक्ति व व्यक्ति-समूह को सारे अधिकार दे दिये जावें। फ्रांस में विद्रोह भी हो रहे थे और युद्ध भी जारी थे। इस दशा में कान्वेन्शन के लिए यह सम्भव नहीं था, कि वह एक लोकतन्त्र रिपब्लिक को स्थापित कर सके। कान्वेन्शन शासन-विधान निर्माण करने का अपना मुख्य कार्य करता गया, पर उसने सामयिक रूप से शासन करने के लिये एक ऐसी समिति का निर्माण कर दिया, जिसे कि शासन और व्यवस्थापन सम्बन्धी सब अधिकार प्राप्त थे। इस समिति का नाम 'सार्वजनिक व्यवस्था समिति'

था, और इसका निर्माण ६ एप्रिल के दिन हुआ था। एक क्रान्तिकारी के अनुसार "राजाओं के स्वेच्छाचारी शासन का अन्त करने के लिये स्वतन्त्रता का स्वेच्छाचारी शासन स्थापित करना आवश्यक है", और इसीलिये इस समिति का निर्माण किया गया था। इसके अतिरिक्त एक 'क्रान्तिकारी न्यायालय' की भी स्थापना की गई थी। क्रान्ति के विरोधियों को इस न्यायालय के सम्मुख पेश किया जाता था, और वहाँ उन्हें कठोर दण्ड दिये जाते थे। यह शक्तिशाली और सब राजकीय अधिकारों से युक्त सरकार अपने शासन में जनता के वोटों की परवाह नहीं करती थी। उस समय यह सम्भव भी नहीं था। इस सरकार ने विदेशी आक्रमणों से फ्रांस की रक्षा करने के लिये भारी कोशिश की। सब लोगों के लिये सैनिक सेवा करना आवश्यक कर दिया गया। लाखों की संख्या में सिपाही भर्ती किये गए। यूरोप और अमेरिका के विविध देशों से सहायता प्राप्त करने की कोशिश की गई, पर इसमें कोई सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। उस समय के लोग फ्रांस की राज्यक्रान्ति को बड़े आतङ्क और घृणा की दृष्टि से देख रहे थे। उनकी सम्मति में फ्रांस में ऐसी घटनायें हो रही थीं, जो न्याय और औचित्य से सर्वथा शून्य थीं। किसी भी नई लहर को लोग पहले पहल इसी दृष्टि से देखते हैं। फ्रांस को कहीं से भी सहायता प्राप्त नहीं हुई। परन्तु अकेले फ्रांस ने इन विकट परिस्थितियों में जो कार्य कर दिखाया, वह वस्तुतः आश्चर्यजनक था। इसका प्रधान कारण फ्रांस के लोगों में क्रान्ति की भावना थी। उन्हें अपने सिद्धान्तों पर अटल विश्वास था। उनमें वह जोश था, जो कि किसी नये धर्म के प्रचारकों में होता है। वे क्रान्ति के लिये मर मिटने को तैयार थे।

जिरोंदिस्ट दल का पतन—कान्वेन्शन में पहले जिरोंदिस्ट दल का बहुमत था। यह दल रिपब्लिक तथा क्रान्ति का प्रबल पक्षपाती होते हुए भी इस समय की विकट परिस्थिति का सामना करने के लिये

उपयुक्त न था। इस दल के लोग कानून और व्यवस्था को बहुत महत्त्व देते थे। पर शायद इस समय फ्रांस में कानून और व्यवस्था की अपेक्षा ताकत और प्रत्युत्पन्नमतिता की अधिक आवश्यकता थी। फ्रांस एक अत्यन्त भयङ्कर परिस्थिति में फँसा हुआ था और इसका मुकाबला करने के लिये जिस हिम्मत और अदीर्घसूत्रता की आवश्यकता थी, वह जिरोंदिस्ट लोगों में मौजूद न थी। परिणाम यह हुआ, कि उनका विरोध बढ़ता गया। जेकोबिन दल प्रबल होता गया। जेकोबिन दल का क्या स्वरूप था, और उसमें किस प्रकार क्रान्ति के अत्यन्त गरम नेता सम्मिलित थे, इस पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। पेरिस की नगर सभा—जो फ्रांस के शासन-सूत्र का अनेक अंशों में सञ्चालन कर रही थी, जेकोबिन क्लब के साथ थी। जिरोंदिस्ट दल पेरिस की नगर-सभा के सख्त खिलाफ था। वह समझता था, कि इस नगर-सभा ने फ्रांस के शासन में अनुचित रूप से बहुत अधिक स्थान प्राप्त किया हुआ है। इसलिये उनकी तरफ से कान्वेन्शन में प्रस्ताव उपस्थित किया गया, कि पेरिस की नगर सभा को तोड़ दिया जावे और कान्वेन्शन के अधिवेशन पेरिस के स्थान पर किसी अन्य नगर में किये जावें, ताकि पेरिस की जनता का अनुचित प्रभाव कान्वेन्शन पर न रहे। जेकोबिन दल ने इन प्रस्तावों का घोर विरोध किया। उनका कहना था, कि पेरिस का प्रभुत्व निर्विवाद है, अन्य प्रदेशों को राजधानी का अनुसरण करना ही चाहिये। इस समय फ्रांस और विशेषतया पेरिस की जो मनोवृत्ति थी, उसमें कानून और कायदों का बाकायदा अनुसरण करना सम्भव नहीं था। चाहिये तो यह था, कि इन प्रस्तावों पर बाकायदा वोट लिये जाते और बहुमत से जो फैसला होता, उसे क्रिया में परिणत किया जाता। पर कानून-कायदों को तोड़ कर अपनी ताकत से काम करने की प्रवृत्ति जब एक बार उत्पन्न हो जाती है, तो उसका प्रयोग वहीं तक सीमित रहे, यह नहीं होता। पेरिस के

लोग जिरोंदिस्ट दल के खिलाफ उठ खड़े हुए। २ जून १७९३ के दिन कान्वेन्शन को घेर लिया गया। जिरोंदिस्ट दल के सब नेता क़ैद कर लिये गये। यह सब कार्य पेरिस की सर्वशक्तिमान नगर-सभा के आदेश से हुआ था।

अब कान्वेन्शन में जेकोबिन दल का प्रभुत्व निर्विवाद हो गया। जेकोबिन दल पेरिस के लोगों पर आश्रित था। अतः यूँ कहना चाहिये कि पेरिस के लोग ही अब कठपुतली की तरह कान्वेन्शन को नचाने लगे। पेरिस की नगर-सभा जो चाहती, वही करा लेती। उसका विरोध करनेवाला अब कोई नहीं रहा था।

विद्रोह की अग्नि भड़क उठी—जिरोंदिस्ट दल को कान्वेन्शन से बहिष्कृत कर दिया गया, इस बात का परिणाम अच्छा नहीं हुआ। इस दल में फ्रांस के दक्षिणीय प्रदेशों के बहुत से प्रतिनिधि सम्मिलित थे। इन्होंने विद्रोह करने का निश्चय किया। सबसे पूर्व जिरोंद—जहाँ के प्रतिनिधियों के कारण ही इस दल का नाम जिरोंदिस्ट पड़ा था—के प्रमुख नगर बोर्डियो में विद्रोह हुआ। बोर्डियो का अनुसरण मार्सेल्य ने किया और धीरे धीरे यह विद्रोहाग्नि दक्षिणीय फ्रांस के बहुत से प्रदेशों में व्याप्त हो गई। लायन्स नामक नगर रेशम तथा इसी प्रकार की अनेक विध भोगविलास की वस्तुएँ बनाने का बड़ा भारी केन्द्र था। इनकी वस्तुओं की खपत सर्वसाधारण जनता में नहीं हो सकती थी। इनके खरीदार कुलीन वा उच्च श्रेणी के लोग ही होते थे। पर अब राज्यक्रान्ति के कारण फ्रांस के वे उच्च श्रेणी के लोग विदेशों में भाग गये थे और लायन्स के सारे व्यवसाय और व्यापार तबाह हो गये थे। यहाँ के लोगों को क्रान्ति से बड़ी घृणा थी। इन्होंने भी विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। इसी प्रकार ब्रिटेनी के निवासी क्रान्ति के विरुद्ध इस विद्रोह में सम्मिलित हुए। यहाँ के निवासी और विशेषतया किसान लोग राजसत्ता के कट्टर पक्षपाती थे। देहात के

लोगों में परिवर्तन बहुत धीरे धीरे आता है, वे जमाने से बहुत पीछे पड़ जाते हैं। ब्रिटेनी के निवासी अभी तक क्रान्ति की भावना से प्रायः अपरिचित थे। वे अब तक भी राजसत्ता को पसन्द करते थे, पुरोहितों को पूजते थे और कुलीन जमींदारों का रोब मानते थे। जिरोन्द, ब्रिटेनी, लायन्स और मार्सेय्य के इन विद्रोहों ने फ्रांस की सामयिक सरकार का कार्य बहुत कठिन बना दिया। उसे केवल विदेशी आक्रान्ताओं का ही मुकाबला नहीं करना था, अपितु इन आन्तरिक विद्रोहों की भी व्यवस्था करनी थी। क्रान्ति के लिये यह अग्निपरीक्षा का अवसर था।

शत्रुओं के आक्रमण—विदेशी आक्रान्ता अपने आक्रमणों में निरन्तर सफलता प्राप्त कर रहे थे। आस्ट्रियन और इङ्गलिश सेनायें फ्रांस की भूमि पर पदार्पण कर चुकी थीं, और एक के बाद एक दुर्ग को जीतती जाती थीं। शत्रुओं की सेना पेरिस से कुल १०० मील दूर रह गई थी। साफ दिखाई दे रहा था, कि शीघ्र ही पेरिस पर हमला कर दिया जायगा और ब्रुन्स्विक के ड्यूक की उद्घोषणा क्रिया में परिणत हो जावेगी।

नवीन सरकार—ऐसी विकट परिस्थिति में स्थिति को सँभालने का एकही उपाय था। वह यह कि सरकार को और भी मजबूत किया जाय। लोकतन्त्र रिपब्लिक के उदात्त सिद्धान्तों को कुछ समय के लिये ताक में रखकर, स्वेच्छाचारी मजबूत सरकार की स्थापना की जाय। नेशनल कान्वेन्शन ने रिपब्लिक के सिद्धान्त का अनुसरण कर जो नया शासन-विधान बनाया था, वह यूँ ही रखा रह गया। १७९३ में फ्रांस के लिये जो शासन-विधान तैयार किया गया था, वह क्रिया में नहीं आ सका। उस समय की परिस्थिति उसके लायक नहीं थी। उस समय शक्तिशाली सरकार की आवश्यकता थी, और सामयिक आवश्यकता ने उसे धीरे-धीरे स्वयं उत्पन्न कर दिया था। इस सरकार का स्वरूप क्या था? यह शासन के लिये स्वेच्छाचारिता और आतङ्क का प्रयोग करती

थी। इसके तरीके वही थे, जो पुराने स्वेच्छाचारी एकतन्त्र राजाओं के होते थे। तरीके पुराने थे, पर उद्देश्य नवीन था। इस नई सरकार के स्वरूप को संक्षेप से इस बात को इस प्रकार प्रगट किया जा सकता है-

(१) **सार्वजनिक व्यवस्था समिति**—सार्वजनिक व्यवस्था समिति के कुल १२ सदस्य होते थे। इन्हें राज्य के सब शासन और व्यवस्थापन-सम्बन्धी अधिकार प्राप्त थे। इस समिति का निवासस्थान राजा का पुराना प्रासाद था। राज्यक्रान्ति का वास्तविक सञ्चालन इसी के हाथ में था। आतङ्क के विविध साधनों का उपयोग भी मुख्य तया इसी के द्वारा होता था। यही समिति राजकीय आज्ञायें प्रकाशित किया करती थी। इसी के हुक्म से हजारों आदमियों को प्राणदण्ड दिया जाता था। जनता में क्रान्ति की भावना को निरन्तर ताजा तथा गरम बनाये रखना इसी समिति का काम था। यह समिति स्वतन्त्रता के नाम पर काम करती थी, पर इसके हथियार जुल्म, अन्याय, अत्याचार और आतङ्क के बने हुए थे।

(२) **सामान्य रक्षा समिति**—सामान्य रक्षा समिति का प्रमुख कार्य फ्रांस में शान्ति और व्यवस्था कायम रखना था। इसके सदस्यों की संख्या २१ थी। यह शान्ति और व्यवस्था के नाम पर जिस आदमी को चाहती गिरफ्तार करती, जेल में डालती या न्यायालय के सम्मुख पेश कर सकती थी।

(३) **क्रान्तिकारी न्यायालय**—क्रान्तिकारी न्यायालय का निर्माण देशद्रोहियों तथा क्रान्ति के खिलाफ साजिश करने वालों के मामलों का फैसला करने के लिये हुआ था। इसके न्यायाधीशों की नियुक्ति सार्वजनिक व्यवस्था समिति की तरफ से होती थी। इसके पास कार्य की बहुत अधिकता थी। क्रान्ति के दुश्मनों के सब अभियोग इसी के सम्मुख पेश होते थे और इसके निर्णयों के खिलाफ अपील नहीं की जा सकती थी। कार्य की अधिकता के कारण इस न्यायालय को चार भागों में बाँट दिया

गया था। फिर भी कार्य का बोझ कम नहीं हुआ और यही कारण है कि इसके फैसले बहुत जल्दबाजी के साथ किये जाते रहे।

(४) विशेष प्रतिनिधि—इस समय फ्रांस में जो विकट परिस्थिति थी, उसमें यह जरूरी था, कि विशेष विशेष कार्यों के लिये ऐसे कर्मचारी नियत किये जावें, जिन्हें अपनी सम्मति के अनुसार कार्य करने के पूरे अधिकार प्राप्त हों। इनकी नियुक्ति सार्वजनिक व्यवस्था समिति द्वारा की जाती थी, और नेशनल कान्वेन्शन के सदस्यों को ही इस महत्त्वपूर्ण पद पर नियुक्त किया जाता था। ये लोग कानून की परवाह बहुत कम करते थे। ये एक प्रकार के स्वेच्छाचारी राजा होते थे, जोकि अपनी शक्ति का निरंकुश रूप से प्रयोग करने में जरा भी संकोच नहीं करते थे।

(५) जेकोबिन क्लब—जेकोबिन क्लब की शाखायें फ्रांस भर में व्याप्त थीं। इनका संगठन बहुत विस्तृत तथा व्यापक था। उस अव्यवस्थित तथा अनिश्चित दशा के समय में इस देशव्यापी संगठन का प्रयोग बहुत उत्तम रीति से किया जा सकता था। सार्वजनिक व्यवस्था समिति ने इन जेकोबिन क्लबों का पूर्ण रीति से उपयोग किया और इनसे वे बहुत से काम लिये, जो किसी सरकारी महकमे से लिये जाने चाहिये थे।

विद्रोहों का दमन—इस शक्तिशाली सरकार ने बड़ी योग्यता और क्षमता से क्रान्ति के बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के शत्रुओं का मुकाबला किया। आन्तरिक विद्रोहों को बुरी तरह कुचला गया। लायन्स के विद्रोह को शान्त करने के लिये बाकायदा फौज भेजी गई। शहर का घेरा डाल दिया गया। गोलाबारी की गई, और लायन्स को आत्मसमर्पण करने के लिये विवश किया गया। लायन्स के लोगों के साथ बड़ा भयंकर बर्ताव हुआ। दो हजार के लगभग आदमी कत्ल किये गये। सार्वजनिक व्यवस्था समिति का यह खयाल था, कि इस

नगर को पूर्णतया भस्मसात् कर दिया जाय, पर सौभाग्यवश यह निश्चय क्रिया में परिणत नहीं हो सका। पर इसमें सन्देह नहीं कि लायन्स की इस पराजय ने फ्रांस की जनता के सम्मुख यह भली भाँति स्पष्ट कर दिया कि क्रान्ति के विरुद्ध विद्रोह करना हँसी-मजाक नहीं है। क्रान्तिकारी विद्रोहियों से भयंकर बदला लेते हैं। बोर्डियो और मार्सेय्य के विद्रोही लायन्स की दुर्दशा देखकर घबरा गये। उन्हें विश्वास हो गया, कि वे क्रान्ति का मुकाबला सफलतापूर्वक नहीं कर सकेंगे। इसलिये उन्हें परास्त करने में विशेष कठिनता नहीं हुई। दोनों नगरों में चार चार सौ के लगभग विद्रोहियों को कत्ल किया गया और दक्षिणीय फ्रांस का विद्रोह सुगमता के साथ शान्त हो गया।

ब्रिटेनी प्रदेश में विद्रोह ने बहुत व्यापक और प्रचण्ड रूप धारण किया हुआ था। विशेषतया वेन्डी के लोग क्रान्ति का सर्वनाश करने के लिये तुले हुए थे। विदेशी लोग भी इन्हें गुप्त रूप से सहायता पहुँचा रहे थे। क्रान्ति की सेनाओं को इनके साथ बाकायदा युद्ध लड़ने पड़े। सार्वजनिक व्यवस्था समिति ने इस विद्रोह को शान्त करने के लिये जो विशेष प्रतिनिधि नियत किया था, उसने अपना कार्य बड़ी निर्दयता से किया। यहाँ पर भी दो हजार के लगभग विद्रोहियों का क्रूरतापूर्वक घात किया गया।

विद्रोहों को कुचलने में सार्वजनिक व्यवस्था समिति को पूर्ण सफलता हुई। पर विद्रोह की भावना अभी नष्ट नहीं हुई थी। क्रान्तिकारी नेताओं को हमेशा भय बना रहता था, कि क्रान्ति के विरोधी लोग कहीं विद्रोह न कर बैठें। फ्रांस में क्रान्ति के विरोधियों की कमी नहीं थी। बहुत से लोग क्रान्ति के खुल्लमखुल्ला विरोधी थे, पर अधिक संख्या उन लोगों की थी, जो क्रान्ति की प्रगति को पसन्द नहीं करते थे। क्रान्ति के विरोध में जो कुछ भी सम्भव हो, उसे ये गुप्त रूप से करने को तैयार रहते थे। जनता की सहानुभूति या लोकमत भी एक महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ

हैं। यदि लोगों की सम्मति किसी बात के खिलाफ हो, यदि लोगों की सहानुभूति किसी बात के विरोध में हो—तो वह स्वयं एक महत्त्वपूर्ण ताकत होती है। फ्रांस के क्रान्तिकारी नेता इस बात को खूब समझते थे। इसीलिये वे क्रान्ति की विरोधी भावनाओं को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिये तुले हुए थे। उनका खयाल था, कि क्रान्ति की सफलता के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है, कि जिन पर क्रान्ति का विरोधी होने का सन्देह हो, उन्हें भी क्षमा नहीं करना चाहिये। कोई आदमी क्रान्ति का पक्षपाती है, या कम से कम विरोधी नहीं है, यह जानने के लिये इतनी बात काफी नहीं है, कि उसने क्रान्ति के विरोध में कोई काम नहीं किया है। इसके लिये यह भी जरूरी है, कि उसने क्रान्ति के पक्ष में कोई कोशिश की है। यदि कोई आदमी आज उदासीन है, क्रान्ति का जोरदार तरीके से पक्षपाती नहीं है, तो क्या भरोसा है, कि कल वह विरोधी न बन जायगा? जब क्रान्ति के नेता ही शत्रुओं से मिल जाते हैं, तो उदासीनों का तो भरोसा ही क्या? इन सब दृष्टियों से कान्वेन्शन ने निश्चय किया, कि विरोधियों के हृदयों पर आतङ्क जमा दिया जाय, क्रान्ति का सिक्का बैठा दिया जाय, ताकि कोई आदमी क्रान्ति का विरोध करने की हिम्मत न कर सके। इसी नीति का परिणाम हुआ, कि फ्रेंच राज्यक्रान्ति के इतिहास में वह काल प्रारम्भ हुआ, जिसे 'आतङ्क का राज्य' कहा जाता है। यह काल कब से कब तक रहा, यह निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता। पर मोटे तौर पर हम कह सकते हैं, कि सितम्बर १७९३ से जुलाई १७९४ तक—दस मास के लगभग फ्रांस में 'आतङ्क का राज्य' रहा।

आतङ्क का राज्य—क्रान्ति के विरोधियों को प्राणदण्ड या अन्य भयंकर दण्ड देने के लिये व्यवस्था पहले भी विद्यमान थी, 'क्रान्तिकारी न्यायालय' पहले भी कार्य कर रहा था। पर १७ सितम्बर १७९३ के दिन एक भयङ्कर कानून पास किया गया। इस क़ानून द्वारा यह व्यवस्था

की गई, कि जो लोग अपने व्यवहार व क्रिया द्वारा, अपनी सम्मति व विचारों के प्रगट करने से अथवा अन्य किसी प्रकार से क्रान्ति का विरोध करें, उन सबको प्राणदण्ड दिया जाय। यह कानून अत्यन्त व्यापक था। क्रान्ति के विरुद्ध या क्रान्ति के किसी भी कार्य के विरुद्ध सम्मति प्रकाशित करना भी अपराध था और उसके लिये प्राणदण्ड की व्यवस्था की गई थी। प्राणदण्ड के लिये इस काल में एक नवीन उपकरण का आविष्कार किया गया था, जिसे गुलेटिन कहते हैं। इसका आविष्कारक डा० गुलेटिन नाम का आदमी था और उसी के नाम के कारण इसे गुलेटिन कहते हैं। इस उपकरण में दो स्तम्भों के बीच में एक बहुत बड़ा फलका लटक रहा होता था, जिसे रस्सी द्वारा ऊपर वा नीचे ले जाया जा सकता था। अपराधी को इन दो स्तम्भों के बीच में लेटा कर फलके की रस्सी ढीली कर दी जाती थी और वह भारी फलका बड़े वेग और शब्द के साथ नीचे गिरकर अपराधी के सिर को धड़ से अलग कर देता था। इस उपकरण को दो पहियेवाली गाड़ी पर रखकर जहाँ चाहें, ले जा सकते थे। इस काल में पेरिस की गलियों में ये गुलेटिन सर्वत्र नजर आते थे। प्रातःकाल उठने पर इनका शब्द सुनाई पड़ता था। एक बड़े पैमाने पर क्रान्ति के विरोधियों का घात किया जा रहा था। इस वीभत्स और भयङ्कर कतल के कारण ही इस काल का नाम 'आतङ्क राज्य' रखा गया है।

रानी मेरी का कतल—अक्टूबर १७९३ में १६वें लुई की रानी मेरी आंतोआन्त पर मुकदमा चलाया गया। उसे क्रान्ति का विरोधी पाया गया। गुलेटिन ने रानी का—जिसका सारा जीवन भोग-विलास और आमोद प्रमोद में व्यतीत हुआ था, सिर धड़ से अलग कर दिया। गुलेटिन की दृष्टि में राजा व रंक सब बराबर थे। फ्रांस के क्रान्तिकारियों ने अपने कतल की प्रक्रिया में कुल या जाति किसी बात की परवाह नहीं की थी। रानी के साथ ही बहुत से कुलीन तथा उच्च पुरोहित श्रेणी

के लोग कतल किये गये। जिरोंदिस्ट दल के बहुत से नेता जिन्हें पेरिस की नगर-सभा ने कान्वेन्शन की बैठक में गिरफ्तार कर लिया था—अब तक जेलों में पड़े थे। उन सब को भी कतल कर दिया गया। मैडम रोलां नाम की एक कुलीन महिला को जिस समय गुलेटिन पर कतल के लिये ले जाया गया, तो उसने चिल्लाकर कहा—'स्वाधीनते, तेरे नाम पर क्या क्या अनर्थ किये जा रहे हैं!' रोलां का यह कहना सर्वथा ठीक था। मनुष्य धर्म, राष्ट्रीयता, स्वाधीनता और देशभक्ति आदि उच्च भावों के आवरण से कैसे कैसे वीभत्स कार्य करता है, फ्रांस के क्रान्तिकारी निस्सन्देह एक विकट परिस्थिति का सामना कर रहे थे, उन्हें बाह्य और आभ्यन्तर—दोनों प्रकार के अनगिनत शत्रुओं का मुकाबला करना पड़ रहा था। इसलिये कुछ हद तक सख्ती की जरूरत थी। पर इसमें सन्देह नहीं, कि क्रान्तिकारी लोग औचित्य, न्याय और आवश्यकता की सीमा का उल्लंघन कर रहे थे।

जैकोबिन दल में विरोध—शीघ्र ही जैकोबिन दल में भी मतभेद शुरू हो गये। डैन्टन का खयाल था, कि अधिक खूनखराबी नहीं होनी चाहिये। वह कतलों और गुलेटिन से थक गया था। दूसरी तरफ पेरिस की नागरिक सभा के नेता हेबर्ट की राय थी, कि क्रान्ति को शीघ्र ही पूर्ण करना चाहिये और क्रान्ति को पूर्ण करने के एकमात्र उपाय आतङ्क और कतल हैं। हैबट ने यह भी प्रस्ताव किया, कि हमें ईश्वर को उड़ा देना चाहिये। ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है। ईश्वर के स्थान पर 'बुद्धि' की उपासना प्रारम्भ होनी चाहिये। एक सुन्दर नटी के रूप में 'बुद्धि' की प्रतिमा भी बनाई गई और उसको मन्दिर में प्रतिष्ठापित भी किया गया। रोबस्पियर और सेन्टजस्ट न डैन्टन से सहमत थे और न हैबर्ट से। ये दोनों नेता रूसो के कट्टर अनुयायी थे। क्रान्ति के सम्बन्ध में इनके निश्चित विचार थे। ये एक ऐसी रिपब्लिक की कल्पना करते थे, जिसमें न कोई अमीर हो, न कोई गरीब हो। बच्चों की पाँच साल

की उमर में राज्य के सुपुर्द कर दिया जावे और स्पार्टन तरीके से उनका शिक्षण किया जावे। रोबस्पियर परमेश्वर को मानता था, वह बुद्धि की उपासना के खिलाफ था। उसका सिद्धान्त था – 'यदि परमेश्वर की कोई सत्ता नहीं है, तो हमें उसका आविष्कार करना चाहिये। जैकोबिन दल के विविध नेताओं में रोबस्पियर का प्रभुत्व था। डन्टन तथा उसके अनुयायियों को इसलिये कतल किया गया, क्योंकि वे खून-खराबी से थक गये थे। हैबर्ट को इसलिये कतल किया गया क्योंकि वह परमेश्वर को नहीं मानता था। इस काल में फ्रांस के क्रान्तिकारियों के पास एक ही उपाय था, अपने विरोधी के साथ व्यवहार करने का एक ही तरीका उन्हें मालूम था - कतल। जो हमसे मतभेद रखता है, वह क्रान्ति का दुश्मन है। उसको एक ही सजा है—गुलेटिन। इसी मनोवृत्ति से फ्रांस के क्रान्तिकारी नेता अपने पुराने सहयोगियों को बेधड़क होकर कतल करते रहे। डेन्टन और हैबर्ट की कतल के बाद रोबस्पियर का कुछ समय के लिये एकाधिपत्य हो गया।

नवीन युग की सृष्टि—यह ध्यान रखना चाहिये, कि रोबस्पियर पूरी तरह ईमानदार था। वह वस्तुतः समझ रहा था कि वह जो कुछ कर रहा है, क्रान्ति के, फ्रांस के कल्याण के लिये कर रहा है। रोबस्पियर के नेतृत्व में 'सार्वजनिक व्यवस्था समिति' ने जो कार्य किया, वह वस्तुतः अद्भुत है। जिन समस्याओं को हल करना आज भी मनुष्य जाति को बहुत कठिन प्रतीत हो रहा है, जिनको हल करने के लिये बड़े बड़े विद्वान आज तक परेशान हो रहे हैं, उनके लिये इस सार्वजनिक-व्यवस्था-समिति के पास अत्यन्त सुगम हल विद्यमान थे। क्रान्ति के जोश में, नये युग की सृष्टि करने के आवेश में क्रान्तिकारियों ने फ्रांस में बड़े बड़े परिवर्तन किये। सम्पत्ति को एक बराबर करने की कोशिश की गई। अमीरों की सम्पत्ति पर भारी टैक्स लगाये गये। बहुत से सम्पत्तिशाली लोगों की जायदादें इसलिये जब्त कर ली गईं, ताकि

गरीबों को उनसे फायदा पहुँच सके। यह व्यवस्था की गई, कि प्रत्येक आदमी अपनी स्त्री और बच्चों के साथ आराम से अपने घर में रह सके। मुनाफे को उड़ाने की कोशिश की गई। अर्थशास्त्रियों के लिये मुनाफा एक जटिल पहेली है। व्यापार और व्यवसाय के लिये मेहनत करने का उत्साह इससे उत्पन्न होता है। पर साथ ही इससे बहुत से लोगों को दूसरों का हिस्सा छीनकर अपने को अनुचित रूप से समृद्ध बनाने का भी अवसर मिलता है। १७६३ के फ्रांस में मुनाफे को मर्यादित करने के लिये कानून बनाये गए। सामाजिक-क्षेत्र में भी बड़े परिवर्तन किये गये। तलाक को उतना ही आसान कर दिया गया, जितना कि विवाह। जायज और नाजायज बच्चों का भेद सर्वथा नष्ट कर दिया गया। एक नये पञ्चाङ्ग का निर्माण किया गया। साल को तीस तीस दिन के १२ महीनों में बाँटा गया। महीनों के नाम कुहरा, वर्षा, बर्फ, ग्रीष्म, फूल, गर्म, फल आदि रक्खे गये। महीनों में चार के स्थान पर तीन सप्ताह (या दशाह) रक्खे गए। दिन को २४ घण्टों के स्थान पर दस घण्टों में विभक्त किया गया। मुद्रापद्धति का नवीन प्रकार से निर्माण किया गया। चर्च के घण्टे घण्टियों को पिघला कर मुद्रा बनाने के काम में लाया गया। धार्मिक सहिष्णुता की स्थापना की गई। कुछ लोगों की कोशिश थी, कि क्रिश्चियन धर्म को ही उड़ा दिया जावे। परमेश्वर को नष्ट कर देने का प्रस्ताव तो क्रिया में भी आ चुका था, पर रोबस्पियर के विरोध से यह बात देर तक नहीं हो सकी। तोल और भार मापने के लिये नये माप चलाये गये। दशमलव की पद्धति पर तोल और भार के जिन परिमाणों को आज सारा संसार स्वीकृत करता जा रहा है, उनका आविष्कार इस 'आतङ्क के राज्य' के समय में ही हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा का प्रसार करने के लिए एक उत्तम योजना तैयार की गई। ये सब महत्त्वपूर्ण कार्य उस समय में किये गये, जब कि फ्रांस की राष्ट्रीय स्वयंसेवक सेना विदेशी आक्रान्ताओं से घनघोर युद्ध कर रही थी

और क्रान्तिकारी नेता क्रान्ति के विरोधियों का सर्वनाश करने के लिये गुलेटिन का बड़े पैमाने पर प्रयोग कर रहे थे। निस्सन्देह, फ्रांस के लोगों की क्षमता और कार्यशक्ति इस समय में असाधारण रूप से बढ़ गई थी। वे लोग न केवल नाश के कार्य में लगे थे, पर बड़ी गम्भीर तथा ईमानदारी से नये युग की सृष्टि में भी दत्तचित्त थे।

रोबस्पियर का पतन—रोबस्पियर का यह एकाधिपत्य देर तक कायम नहीं रहा। जिस प्रकार उसने डेन्टन तथा हैबर्ट को कतल किया था, उसी प्रकार वह भी कतल किया गया। उसके खिलाफ एक साजिश तैयार की गई। २७ जुलाई १७९४ के दिन जब वह कान्वेन्शन में भाषण करने के लिये खड़ा हुआ, तब इन षड्यन्त्रकारियों ने चिल्लाना शुरू किया—'अत्याचारी हाय हाय !' रोबस्पियर हैरान रह गया। हैरानी और डर के मारे उसके मुख से आवाज नहीं निकली। एक आदमी ने चिल्ला कर कहा—'डैन्टन का खून इसका गला घूट रहा है।' रोबस्पियर समझ गया, उसका अन्त भी समीप था। उस पर मुकदमा चलाया गया, उसे दोषी पाया गया। विरोधियों ने उस पर हमला किया, और गिरफ्तार कर लिया। पेरिस की नगर-सभा तथा जैकोबिन क्लब अब भी उसकी पक्षपोषिका थी। जैकोलिन क्लब ने कान्वेन्शन के खिलाफ विद्रोह किया। दोनों पक्षों में खुल्लमखुल्ला लड़ाई होने लगी। अ खिर जैकोबिन क्लब ने रोबस्पियर को छुड़वा लिया। रोबस्पियर ने अपनी क्लब के सुरक्षित विशाल भवन में आश्रय लिया। सारे शहर में सनसनी फैल गई। सब तरह के जुलूस निकलने लगे। सुबह ३ बजे कान्वेन्शन की सेनाओं ने जैकोबिन क्लब पर हमला किया। खुल्लमखुल्ला लड़ाई होने लगी। पर जैकोबिन सेनापति हेन्रियट शराब पीकर मरा सा पड़ा था पेरिस की नगर सभा के सिपाही कान्वेन्शन से मिल गये। जैकोविन क्लब अकेला रह गया। लड़ाई में रोबस्पियर के जबाड़ पर गोली लगी। वह बुरी तरह घायल होकर गिर पड़ा। रोबस्पियर के अगले १७ घंटे बड़ी तकलीफ से गुजरे। इन

बीच में वह एक शब्द भी न बोल सका। उसका फटा हुआ जबाड़ा एक मैले कपड़े से बाँध दिया गया था। आखिर, रोबस्पियर को गुलेटिन के नीचे कतल करने के लिये ले जाया गया। कतल करने से पहले उसकी पट्टी उतार दी गई थी। गुलेटिन का फलका आया और उसके सब कष्टों का अन्त कर गया।

विवेचना—अनेक ऐतिहासिकों ने इस आतङ्क के राज्य का बड़े वीभत्स रूप से वर्णन किया है। फ्रेञ्च राज्य क्रांति को बदनाम करने के लिये इस काल को इस रूप में पेश किया गया है, मानों इससे अधिक भयङ्कर और वीभत्स काल इतिहास में पहले कभी हुआ ही नहीं। राजसत्ता के पक्षपातियों ने इस काल का वर्णन करके यह परिणाम निकाला है, कि मानवीय प्रवृत्तियों में जो सबसे अधिक घृणास्पद तथा रौद्र प्रवृत्तियाँ हैं, राज्यक्रांति में उनका प्रकाशन हो रहा था। पर वास्तविकता क्या है, यह हमें अपनी दृष्टि में रखना चाहिये। सम्पूर्ण आतङ्क के राज्य में कुल मिलाकर ४ हजार के लगभग आदमी कतल किये गये थे। यदि हम इसकी तुलना पुराने राजसत्ता के जमाने के कारनामों से करें, तो इसकी भयङ्करता बहुत कुछ कम हो जायेगी। चार्ल्स ५वें के शासन-काल में नीदरलैण्ड जैसे छोटे से देश में ५० हजार के लगभग आदमियों को जीते जी आग में जला दिया गया था। सेण्टबार्थोलोमियो के दिन साल में दो हजार से अधिक निरपराध लोगों को तलवार के घाट उतार दिया गया था। राज्यसत्ता के जमाने में राजा तथा उसके अमीर उमरा मानवीय जीवन को जिस प्रकार तुच्छ और अगण्य समझकर अपनी स्वेच्छा से नष्ट करते थे—यह कौन नहीं जानता। इस आतङ्क के राज्य में तो एक विशेष सिद्धांत को दृष्टि में रखकर कुछ खास विकट परिस्थितियों में थे कतल हुए थे, पर इसी काल में इङ्गलैण्ड तथा अन्य देशों के मनुष्य समाज और मानवीय जीवन की क्या दशा थी। इङ्गलैण्ड तथा अमेरिका में इसी काल में

तुच्छ तुच्छ अपराधों पर जितने आदमी कतल किये जा रहे थे, जन्म भर के लिये जेलों में सड़ाये जा रहे थे। उतने फ्रांस में देश के अपराध में कतल नहीं किये गये। फर्क इतना ही है कि फ्रांस में जि लोगों को मारा गया, वे राजघराने के थे, कुलीन और उच्च श्रेणि के थे। पर अन्य देशों में जो आदमी कुत्ते की मौत मर रहे थे वे ग थे, नीची श्रेणियों के थे। उनका रोना रोने के उस जमाने में कोई न पर एक कुलीन को गुलेटिन से मारने पर सारा यूरोप काँप उठता था यही कारण है, जिससे फ्रांस के इस आतङ्क के राज्य को इतना बदना किया गया है, परन्तु यह ध्रुव सत्य है, कि कतलों के इस काल में फ्रांस की सर्वसाधारण जनता का जीवन अधिक सुरक्षित, अधि सम्मानास्पद तथा अधिक सुखी था—उस समय के मुकाबले में ज कि बोर्बों राज्यवंश के स्वेच्छाचारी राजा अपने कृपापात्रों के सा वर्साय के राजप्रासादों में भोग-विलास में मस्त रहते थे।

दसवाँ अध्याय

डाइरेक्टरी का शासन

आतङ्क के राज्य का अन्त—रोबस्पियर की मृत्यु के बाद 'आतङ्क का राज्य' समाप्त हो गया। लोगों पर अत्याचार करने के लिये, निधड़क होकर अपने स्वेच्छाचारी कृत्यों से भयानक किसम का आतंक फैलाने के लिये भी असाधारण हिम्मत, प्रभाव और व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है। रोबस्पियर की मृत्यु के बाद क्रान्तिकारी नेताओं में कोई ऐसा नहीं था, जो उसके समान साहसी और प्रभावशाली हो। इसके अतिरिक्त जनता खूनखराबी से थक चुकी थी। आतंकमय शासन को न्याय और समुचित समझ सकने के जो भी कारण पहले विद्यमान थे, वे भी अब धीरे धीरे हटते जा रहे थे। आन्तरिक विद्रोह बहुत कुछ शान्त किये जा चुके थे। विदेशी आक्रान्ताओं को पराजय किया जा चुका था। १६वें लुई के कतल के बाद विदेशी राजाओं ने भयंकरता के साथ फ्रांस पर हमला किया था, पर अब इन आक्रमणों का जोर घट चुका था। कार्नो नाम के क्रान्तिकारी सेनापति ने शत्रुओं का मुकाबला करने के लिये बड़ी भारी सेना का संगठन किया था। इसमें साढ़े सात लाख सैनिक थे। इन्हें १३ भागों में विभक्त कर विविध रणक्षेत्रों में शत्रुओं को परास्त कर फ्रांस से बाहर खदेड़ देने के लिये भेज दिया गया था। प्रत्येक सेना के सेनापति के साथ दो दो 'विशेष प्रतिनिधि'

रहते थे। इसका उद्देश्य यह था, कि कहीं सेनापति विद्रोह करके शत्रुओं से न मिल जावें। डूमरे और लफायत के उदाहरण ने फ्रांस के क्रान्तिकारियों में सन्देह और अविश्वास की भावनाओं को बहुत प्रबल कर दिया था। जैकोबिन दल के ये 'विशेष प्रतिनिधि' न केवल सेनापतियों को विश्वासघात से रोकते थे, पर साथ ही सैनिकों में क्रान्ति के लिये असाधारण उत्साह और जोश को भी जागृत करते रहते थे। इन सैनिक प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ था, कि फ्रांस के आक्रान्ता परास्त हो गये थे और क्रान्तिकारी सेनायें फ्रांस की सीमाओं से आगे बढ़ कर जर्मनी और आस्ट्रिया पर आक्रमण कर रही थीं। इस स्थिति में न आन्तरिक विद्रोह और न विदेशी आक्रमण इस आतंक के राज्य को—जो कि विशेष परिस्थितियों में आवश्यक हो गया था, न्याय और समुचित बना सकते थे। परिणाम यह हुआ, कि रोबस्पियर की मृत्यु के साथ ही अपने आप इसकी समाप्ति हो गई और फ्रांस में लोकतन्त्र सिद्धान्तों के अनुसार रिपब्लिक स्थापित की गई।

नवीन शासन-विधान—यह नवीन शासन-विधान नेशनल कान्वेन्शन ने तैयार किया था, यद्यपि कान्वेन्शन ने विशेष परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर देश के शासन कार्य सार्वजनिक-व्यवस्था—समिति के सुपुर्द कर दिया था, पर स्थिर शासन-विधान बनाने का विचार छोड़ नहीं दिया गया था। १७९५ में यह नवीन शासन-विधान तैयार हो गया। इसमें भी सबसे पूर्व नागरिकों के अधिकारों और कर्तव्यों की उद्घोषणा की गई। व्यवस्थापन विभाग दो सभाओं द्वारा बनाया गया—पाँच सौ की सभा और बड़ों की परिषद्। बड़ों की परषिद् का सदस्य होने के लिये आवश्यक था, कि उमर ४० साल से बड़ी हो। इस परिषद् के सदस्य के लिये विवाहित व विधुर होना भी आवश्यक था। कोई अविवाहित आदमी इसका सदस्य नहीं बन सकता था। दोनों सभाओं के लिये सदस्य चुनने का अधिकार सम्पूर्ण नागरिकों को नहीं दिया गया

था। पहली बार जो शासन-विधान बना था, उसमें वोट का अधिकार सब लोगों को दे दिया गया था, पर इस बार इसके लिये टैक्स देने की शर्त लगाई गई थी। जो लोग राज्य को किसी किसम का टैक्स नहीं देते थे, उन्हें वोट देने का अधिकार भी नहीं दिया गया था। शासन का कार्य एक समिति को दिया गया, जिसके सदस्यों की संख्या पाँच नियत की गई। इनका निर्वाचन व्यवस्थापन-विभाग द्वारा किया जाता था। इस समिति को 'डाइरेक्टरी, कहते थे। पाँचों सदस्य क्रमशः तीन तीन महीने के लिये 'डाइरेक्टरी' के अध्यक्ष होते थे। जिस की अध्यक्ष होने की बारी होती थी, वही तीन महीने के लिये फ्रांस का राष्ट्रपति समझा जाता था। इस नये शासन-विधान से सब लोग सन्तुष्ट नहीं थे। विशेषतया, राजसत्ता के पक्षपाती और पूर्णतया लोकतन्त्र की स्थापना चाहनेवाले क्रान्तिकारी लोग इसे नापसन्द कर रहे थे। राजसत्ता के पक्षपाती तो इससे सन्तुष्ट ही कब हो सकते थे? लोकतन्त्र दल भी इसे अपूर्ण तथा असन्तोषजनक समझता था। कान्वेन्शन को भय था, कि नये चुने हुए सदस्य कहीं इस शासन-विधान को अस्वीकृत न कर दें, अतः उन्होंने व्यवस्था की, कि व्यवस्थापन-विभाग की दोनों सभाओं के दो तिहाई सदस्य अवश्य ही कान्वेन्शन के सदस्यों में से चुने जावें। परिणाम यह हुआ, कि कान्वेन्शन के इस हुकुम के बर्खिलाफ, नये शासन-विधान से असन्तुष्ट लोगों ने विद्रोह किया। इस विद्रोह को शान्त करने का कार्य एक पतले सुकड़े नौजवान सिपाही के सुपुर्द किया गया था इसने बड़ी योग्यता और चातुर्य से इस विद्रोह को शान्त किया। इस सिपाही का नाम नैपोलियन बोनापार्ट था। २६ अक्टूबर १७९५ के दिन कान्वेन्शन बर्खास्त हो गया और फ्रांस का शासनसूत्र डाइरेक्टरी के हाथ में चला गया।

डाइरेक्टरी की नई सरकार के सम्मुख सबसे बड़ा प्रश्न विदेशी युद्धों का था। विदेशी आक्रान्ताओं के हमले का पहला जोर तो अब

घट चुका था। १७९५ के शुरू में प्रशिया, स्पेन और हालैण्ड ने फ्रांस से सन्धि कर ली थी। परन्तु इङ्गलैंड, आस्ट्रिया, पीडमौण्ट और विविध जर्मन राज्य अब तक भी फ्रांस के साथ युद्ध में जुटे हुए थे। सेना और युद्ध की दृष्टि से फ्रांस इस समय बहुत अच्छी दशा में था। वे स्वयंसेवक लोग, जो नंगे पैर और फटे कपड़े पहने हुए फ्रांस के क्रान्तिकारी सिद्धान्तों को सारी दुनिया में फैला देने के लिये सेना में भर्ती हुए थे, अब अच्छे कुशल सैनिक बन चुके थे। उनमें केवल सैनिक क्षमता ही नहीं थी, साथ ही असाधारण उत्साह और जोश भी था। इन सेनाओं के सेनापति भी पुराने कुलीन लोग नहीं थे। कोई भी आदमी सेनापति बन सकता था, बशर्ते कि वह अपनी क्षमता साबित कर सके। इतिहास में यह एक नई बात थी। पुराने जमाने में राजा और राजकर्मचारियों की तरह सेनापति पद भी ऊँचे कुलीन लोगों के लिये ही सुरक्षित रहते थे। पर फ्रांस के सभी क्रान्तकारी सेनापति बहुत साधारण स्थिति के आदमी थे। मूरो एक वकील था। जोर्डन कपड़े बेचने का काम करता था। मुरट अर्दली रह चुका था। नैपोलियन बोनापार्ट एक गरीब वकील का लड़का था। यह राज्य की तरह सेना भी सर्वसाधारण जनता की चीज बन चुकी थी। यह क्रान्ति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिणाम था।

नये आक्रमणों की योजना—नई भावनाओं और उमङ्गों से भरी हुई यह जन-साधारण की सेना विदेशी युद्धों में असाधारण सफलता प्राप्त कर रही थी। डाइरेक्टरी का शासन शुरू होने से पहले ही आस्ट्रियन नीदरलैण्ड (बेल्जियम) को जीता जा चुका था। र्‌हाइन नदी के पश्चिमीय तट तक जर्मनी में विजय प्राप्त की जा चुकी थी। नीस और सेवाय पर फ्रांस का कब्जा था। ऐसी स्थिति में डाइरेक्टरी के सम्मुख प्रधान कार्य यही था, कि अन्य शत्रुओं को भी परास्त कर क्रान्ति के सिद्धान्तों की विजय निरपवाद रूप से स्थापित कर दी जाय। क्रान्ति का सबसे बड़ा दुश्मन आस्ट्रिया था। इसलिये डाइरेक्टरी ने

योजना की कि आस्ट्रिया पर दो मार्गों से आक्रमण किया जाय। एक सेना जोर्डन और मूरो के सेनापतित्व में दक्षिणीय जर्मनी के मार्ग से आस्ट्रिया पर हमला करे और दूसरी सेना नैपोलियन बोनापार्ट की अध्यक्षता में उत्तरीय इटली को जीतती हुई दक्षिण की तरफ से आस्ट्रिया पर आक्रमण करे।

नैपोलियन का सैनिक गौरव वास्तविक रूप से इसी आक्रमण से प्रारम्भ हुआ। इन आक्रमणों में नैपोलियन ने जिस असाधारण वीरता और युद्ध की क्षमता का परिचय दिया, उससे सम्पूर्ण यूरोप आश्चर्य-चकित रह गया। इन्हीं शानदार विजयों का परिणाम था, कि नैपोलियन फ्रांस का न केवल सबसे बड़ा सेनापति तथा राज्याधिकारी बन गया, पर कुछ ही समय में सम्राट पद तक पहुँच गया।

नैपोलियन के आक्रमण—उत्तरीय इटली के मार्ग से आस्ट्रिया पर आक्रमण करते हुए नैपोलियन ने सबसे पूर्व पीडमौन्ट के राजा पर हमला किया। पीडमौन्ट सुगमता से परास्त हो गया। नीस और सेवाय पर फ्रांस के अधिकार स्वीकृत करने के लिये पीडमौन्ट के राजा को बाधित किया गया। पीडमौन्ट के राजा ने इन दोनों प्रदेशों पर अपना अधिकार छोड़ना स्वीकृत कर सन्धि कर ली। इसके बाद नैपोलियन ने उत्तरीय इटली के दो राज्य—लोम्बार्डी और मिलन पर हमला किया। दोनों प्रदेश फ्रांस के आधीन हो गये। १५ मई १७९६ को नैपोलियन ने बड़ी धूमधाम के साथ मिलन की वैभवशाली नगरी में प्रवेश किया।

कैम्पोफोर्मियो की सन्धि—अब आस्ट्रिया पर आक्रमण करने का द्वार खुल गया था। मेन्टुआ और आर्कोल के रणक्षेत्रों में आस्ट्रियन और फ्रेञ्च सेनाओं में लड़ाइयाँ लड़ी गईं। आस्ट्रिया की पराजय हुई। अक्टूबर १७९७ में कैम्पोफोर्मियो नाम के स्थान पर दोनों देशों में सन्धि हो गई, जो कि 'कैम्पोफोर्मियो की सन्धि' के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। इस सन्धि के अनुसार आस्ट्रियन नीदरलैण्ड (बैल्जियम)

पर फ्रांस के अधिकार को स्वीकृत किया गया। उत्तरीय इटली के जिन प्रदेशों पर नैपोलियन ने विजय प्राप्त की थी, उन्हें संगठित कर एक रिपब्लिक के रूप में परिवर्तित किया गया। इस नई रिपब्लिक का नाम सिसल्पाइन रिपब्लिक (आल्प्स पर्वतमाला की दक्षिणवर्त्ती रिपब्लिक) रखा गया। यह नई रिपब्लिक फ्रांस की संरक्षा में उसी के नमूने पर बनाई गई थी। आस्ट्रिया ने इस रिपब्लिक को भी स्वीकृत किया। इसके अतिरिक्त, र्‌हाइन नदी के पश्चिमीय तट पर फ्रांस के अधिकार में किसी किसम की बाधा न डालने का वचन आस्ट्रिया की तरफ से दिया गया। इन सब बातों के बदले में वेनिस की प्राचीन रिपब्लिक आस्ट्रिया के सुपुर्द कर दी गई। वेनिस की रिपब्लिक को भी नैपोलियन ने जीत कर अपने आधीन कर लिया था। कैम्पोफोर्मियो की यह सन्धि मध्य-कालीन राजनीतिक सन्धियों का एक अच्छा नमूना है। जनता और देश की जरा भी परवाह किये बिना बिक्री के मामूली माल की तरह राज्यों का भी उस जमाने में सौदा होता था। कैम्पोफोर्मियो में भी नैपोलियन ने आस्ट्रिया के साथ इसी ढंग का सौदा किया गया था।

इधर तो नैपोलियन को यह शानदार विजय प्राप्त हुई थी, उधर जोर्डन और मूरो—जिन्होंने कि दक्षिणीय जर्मनी होकर आस्ट्रिया पर हमला करना था, र्‌हाइन नदी के तट पर परास्त होकर वापिस लौट गये थे। एक साल के अन्दर-अन्दर ही नैपोलियन ने १८ बड़े और ५० छोटे युद्ध लड़े। इन युद्धों के परिणामस्वरूप उसने पीडमौन्ट और आस्ट्रिया को परास्त कर फ्रांस से सन्धि करने के लिये बाधित किया। इन लड़ाइयों का सारा खर्च नैपोलियन ने पराजित प्रदेशों से वसूल किया। इतना ही नहीं, अपना सारा खर्च निकाल कर नैपोलियन ने १ करोड़ ८० लाख रुपया फ्रांस को भी भेजा। पेरिस के अद्भुतालय (म्यूजियम) को विभूषित करने के लिये वह बहुत कृतियाँ इटली से ले गया। जब वह फ्रांस लौटा, तो लोगों ने एक भारी विजेता के रूप

में उसका स्वागत किया। निस्सन्देह, इन विजयों के कारण फ्रांस की जनता उसे महान् वीर के रूप में पूजने लग गई।

पेरिस लौटकर नैपोलियन ने कोशिश की, कि वह डाइरेक्टरी का सदस्य चुन लिया जावे। अपनी गत विजयों से उसे भरोसा हो गया था, कि वह इस महत्त्वपूर्ण पद को सुगमता से प्राप्त कर सकेगा। पर उसे निराशा हुई। उसने अनुभव किया कि अभी समय नहीं आया है। अपनी महत्त्वाकांक्षा को पूर्ण करने के लिये अभी और अधिक आश्चर्यजनक कृत्यों की आवश्यकता है। अभी मैदान भली भाँति तैयार नहीं हुआ है। इसलिये उसने एक अन्य विजय की योजना तैयार की।

विजय की नई योजना—पीडमौन्ट और आस्ट्रिया के साथ सन्धि हो जाने के कारण अब फ्रांस की लड़ाई केवल इङ्गलैण्ड से जारी थी। इङ्गलैण्ड और फ्रांस में लड़ाई का कारण केवल क्रान्ति के सिद्धान्त ही नहीं थे। इन दोनों देशों में सामुद्रिक प्रतिस्पर्धा सत्रहवीं सदी से प्रारम्भ हो चुकी थी। इङ्गलैण्ड और फ्रांस—दोनों ही अपना-अपना सामुद्रिक साम्राज्य स्थापित करने के प्रयत्न में थे। अतः इनमें संघर्ष का होना स्वाभाविक था। नैपोलियन का विचार था कि यदि ईजिप्ट को अपने आधीन कर लिया जावे, तो इङ्गलैण्ड के पूर्वीय देशों में निरन्तर बढ़ते हुए सामुद्रिक व्यापार तथा राजनीतिक शक्ति को सुगमता से नष्ट किया जा सकता है। यूरोप और एशिया के पारस्परिक सम्बन्ध का मार्ग ईजिप्ट से उत्तर होकर जाता है। ईजिप्ट पर जिसका अधिकार होगा, वह सुगमता से इस मार्ग का नियन्त्रण करेगा। नैपोलियन स्वप्न ले रहा था कि ईजिप्ट को जीतकर मैं भारतवर्ष पर आक्रमण करूँगा। जिस प्रकार बहुत पुराने जमाने में सिकन्दर ने भारत पर हमला किया था, उसी प्रकार मैं भी एक हाथी की पीठ पर बैठकर सारे भारत को जीत लूँगा। उन दिनों भारत में फ्रांसीसी और अङ्गरेज लोग विविध राजाओं का पक्ष लेकर, या विविध राजाओं को अपने हाथ की कठपुतली बनाकर आपस

में शक्ति के लिये संघर्ष कर रहे थे। नैपोलियन ने टीपू सुलतान से भी पत्र व्यवहार किया था। भारतवर्ष की विजय कर वह पूर्वी संसार का स्वामी बनना चाहता था। वह उस चामत्कारिक तथा रहस्यमय कीर्ति को प्राप्त करना चाहता था, जिसे सिकन्दर के बाद किसी अन्य पाश्चात्य विजेता ने प्राप्त नहीं किया था। उसका खयाल था, कि यदि इन विजयों के सिलसिले में ही फ्रांस के विरुद्ध यूरोपीय राज्यों का कोई नया गुट बना, तो उसका मुकाबला करने की सामर्थ्य मेरे सिवा और किसी में न होगी। स्वाभाविक रूप से डाइरेक्टरी मुझे फ्रांस की रक्षा करने के लिये निमन्त्रित करेगी और तब अपनी महत्त्वाकांक्षा को पूर्ण करने के लिये उपयुक्त अवसर आवेगा। तब फ्रांस के रक्षक के रूप में वापिस आना होगा और अपना मनोरथ सुगमता से पूर्ण हो जायगा।

ईजिप्ट पर आक्रमण—डाइरेक्टरी ने नैपोलियन की योजना को स्वीकृत कर लिया। इङ्गलैण्ड को परास्त करने का निस्सन्देह, यह उत्तम उपाय था ४० हजार सैनिकों और एक शक्तिशाली जहाजी बेड़े को लेकर नैपोलियन ने ईजिप्ट के लिये प्रस्थान किया। नेल्सन के नेतृत्व में इङ्गलिश जल सेना ने फ्रांस के बेड़े को परास्त करना चाहा। पर नैपोलियन बच गया, और ८ जुलाई १७९८ के दिन ईजिप्ट के प्रसिद्ध बन्दरगाह एलेग्जेन्ड्रिया पहुँच गया। पहली अगस्त को नील नदी के तट पर लड़ाई लड़ी गई। ईजिप्ट परास्त हो गया। ईजिप्ट को जीतने की योजना का परिज्ञान जब टर्की की सरकार को हुआ, तो उसने फ्रांस के खिलाफ युद्ध उद्घोषित कर दिया। इसीलिये ईजिप्ट को विजय कर लेने के अनन्तर नैपोलियन ने टर्की के साम्राज्य पर आक्रमण किया। इस बीच में इङ्गलिश नौ सेनापति नेल्सन फ्रेञ्च जहाजी बेड़े को नष्ट करने में व्यग्र था। उसे अपने प्रयत्न में सफलता हुई। फ्रेञ्च बेड़ा पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया गया। नैपोलियन अपनी सेना के साथ ईजिप्ट में घिर गया। अब वह सामुद्रिक मार्ग से फ्रांस वापिस नहीं जा सकता था।

उसका फ्रांस से सम्बन्ध टूट गया था। अब उसके सम्मुख एक ही मार्ग था। वह सीरिया और टर्की को जीतता हुआ एशिया माइनर के रास्ते फ्रांस वापिस लौट सकता था। यह मार्ग कितना कठिन था, और इसमें उसे कितने राज्यों और शत्रुओं के साथ मुकाबला करना पड़ता था, इसकी कल्पना सुगमता के साथ की जा सकती है। पर विवश होकर उसे इसी मार्ग का आश्रय लेना पड़ा। टर्की फ्रांस के खिलाफ युद्ध उद्घोषित कर चुका था, इसलिये भी आवश्यक था कि वह उसके साथ लड़ाई लड़े।

सीरिया में पराजय—नैपोलियन ने पहले सीरिया पर आक्रमण किया। सीरिया उस समय तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत था। एकर नामक स्थान पर तुर्की सेनाओं के साथ नैपोलियन की बड़ी भारी लड़ाई हुई। इटालियन लोग टर्की की सहायता कर रहे थे। नैपोलियन परास्त हुआ। उसे वापिस लौटने के लिये बाधित होना पड़ा। फ्रेञ्च सेना ने भारी मुसीबत का सामना किया। तुर्की गिरोह उस पर एक तरफ से हमला करते थे, उधर सेना में महामारी फैल रही थी। आखिर नैपोलियन ईजिप्ट वापिस आया। यहाँ उसे समाचार मिला, कि फ्रांस के खिलाफ यूरोपियन राज्यों का एक नया गुट तैयार हुआ है, फ्रांस पर भयङ्कर आक्रमण की तैयारी हो रही है। नैपोलियन इसी समाचार की इतने दिनों से प्रतीक्षा कर रहा था। इसे जानकर उसकी प्रसन्नता की कोई सीमा नहीं रही। उसने अपनी सेना की कोई भी परवाह नहीं की और अपने अच्छे अच्छे सैनिक कर्मचारियों के साथ गुप्त रूप से फ्रांस के लिये प्रस्थान कर दिया। ९ अक्टूबर १७९९ के दिन वह फ्रांस पहुँचा नैपोलियन के फ्रांस वापिस होते ही जनता में नवीन उत्साह का संचार हो गया। लोगों को आशा बँध गई। वे इटली और आस्ट्रिया के विजेता, ईजिप्ट में रहस्यपूर्ण कारनामे सम्पादित करनेवाले, अजेय सेनापति को फिर से अपने बीच में पाकर हर्ष से फूल उठे। अब समय आ गया था,

मैदान तैयार हो चुका था नैपोलियन अपनी महत्त्वाकांक्षा अब सुगमता से पूर्ण कर सकता था। राज्य क्रान्ति की जो लहर बस्तील्य के ध्वंस के साथ शुरू हुई थी, उसने अब एक नया रुख स्वीकृत किया था। क्रान्ति का युग अब समाप्त होने लगा था—उसका स्थान ले रहा था नैपोलियन-वह नैपोलियन जो कि अपनी सेना को ईजिप्ट में निराश्रित रूप में छोड़ कर अपनी वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा को पूर्ण करने के लिये फ्रांस वापिस आया था।

ग्यारहवाँ अध्याय

नैपोलियन का अभ्युदय

नैपोलियन का कुल—नैपोलियन बोनापार्ट का जन्म १५ अगस्त १७६९ को कोर्सीका द्वीप में हुआ था। यह द्वीप १७६८ तक जिनोआ की रिपब्लिक के अधीन था। नैपोलियन के जन्म से केवल एक वर्ष पूर्व ही इस पर फ्रांस का आधिपत्य स्थापित हुआ था। नैपोलियन के माता पिता इटालियन जाति के थे। उसके पुरखा सोलहवीं सदी में इटली से कोर्सिका में आ बसे थे। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि नैपोलियन जाति और देश—दोनों दृष्टियों से फ्रेञ्च नहीं था। उसकी जन्मभूमि फ्रांस के अधीन थी और स्वाधीनता प्राप्त करने के लिये कोशिश कर रही थी। नैपोलियन के पिता का नाम कार्लो बोनापार्ट था। कहने को तो यह परिवार कुलीन श्रेणी का था, पर वस्तुतः इसके पास ज़मीन जायदाद का सर्वथा अभाव था। अन्य बहुत से कुलीन लोगों की तरह कार्लो बोनापार्ट का परिवार भी अब गरीब हो चुका था—कुलीनता तथा उच्चता की स्मृति ही शेष रह गई थी। कार्लो बोनापार्ट वकालत का पेशा करता था। वकालत से उसे इतनी आमदनी नहीं थी, कि अपने विशाल परिवार का खर्च सुगमता से चला सके। उसकी आठ सन्तानें थी। इतने बड़े परिवार को पाल सकना उसके लिये बहुत कठिन बात थी। इसलिये उसने दो

बड़े लड़कों—जोसफ और नैपोलियन को फ्रांस में शिक्षा दिलाने का निश्चय किया। जोसफ को पुरोहिताई का पेशा सिखाया गया और नैपोलियन को ब्रीन के सैनिक शिक्षणालय में भर्ती करा दिया गया। सैनिक शिक्षा प्रारम्भ करने के समय नैपोलियन की आयु केवल १० वर्ष की थी। फ्रेंच भाषा का प्रारम्भिक ज्ञान उसने फ्रांस आकर ही प्राप्त किया था। उसकी मातृ-भाषा इटालियन थी।

सैनिक शिक्षा—ब्रीन के सैनिक शिक्षणालय में नैपोलियन का जीवन बड़ी मुसीबत में गुजरा। वहाँ के सभी विद्यार्थी उच्च कुलीन श्रेणी के तथा अमीर थे। वे नैपोलियन को बहुत तंग करते थे, उसकी गरीबी पर मजाक उड़ाया करते थे। एक बार नैपोलियन ने अपने पिता को पत्र में लिखा था—'ये बेशर्म लड़के मेरी गरीबी पर जिस ढंग से मजाक उड़ाते हैं, उससे मैं थक गया हूँ। ये लोग केवल सम्पत्ति में ही मुझसे ज्यादा हैं। वास्तविक योग्यता में ये लोग मेरा मुकाबला नहीं कर सकते।' इस शिक्षणालय में फ्रेञ्च विद्यार्थियों के साथ पढ़ते हुए नैपोलियन में अपनी मातृ-भूमि को स्वतन्त्र कराने की भावना निरन्तर प्रबल होती गई।

सैनिक शिक्षा समाप्त कर लेने पर नैपोलियन को सेना में लेफ्टिनैन्ट के पद पर नियत किया गया। उसे विशेष उन्नति की कोई आशा नहीं थी। अभी तक फ्रांस में १६वें लुई का एकतंत्र राज्य कायम था, सब जगह कुलीनों और अमीरों की पूछ थी। नैपोलियन गरीब तथा साधारण स्थिति का आदमी था। उसकी सिफारिश करनेवाला कोई प्रभावशाली आदमी न था। फिर वह उन्नति किस प्रकार कर सकता? इसी बीच में उसके पिता की मृत्यु हो गई। वह गरीब परिवार—जिसके प्रत्येक व्यक्ति को एक दिन राजा व रानी के पद तक पहुँचना था, जिसके समान सौभाग्यशाली परिवार सम्भवतः इतिहास में अन्य कोई नहीं हुआ, कार्लो बोनापार्ट की मृत्यु से अब सर्वथा आश्रयहीन

हो गया था। इस अवस्था में नैपोलियन के लिये आवश्यक था, कि वह कोर्सिका वापिस जाकर अपने परिवार की देखभाल करे। वह कोर्सिका लौट गया। वहाँ फ्रांस के शासन के विरुद्ध अनेक षड्यन्त्र जारी थे। नैपोलियन में भी अपने देश को स्वाधीन कराने की भावना प्रबल रूप में विद्यमान थी। वह उन षड्यन्त्रकारियों में शामिल हो गया।

राज्यक्रान्ति और नैपोलियन--जब फ्रांस में राज्यक्रान्ति हुई, तो नैपोलियन को अपनी उन्नति के लिये अच्छा मौका मिला। वह अपने परिवार सहित फ्रांस वापिस लौट आया और वहाँ क्रान्तिकारी सेना में सम्मिलित हो गया। उसने उच्च सैनिक शिक्षा प्राप्त की थी। फ्रांस की सेना के पुराने कुलीन अफसर विदेशी शत्रुओं से जा मिले थे। कोई भी योग्य व्यक्ति इस स्थिति का उपयोग कर अच्छी उन्नति कर सकता था। नैपोलियन ने इस स्थिति से पूरा पूरा लाभ उठाया। वह जैकोबिन दल में सम्मिलित हो गया। जैकोबिन दल की महत्ता के बढ़ने के साथ साथ नैपोलियन 'की सैनिक क्षमता भी क्रान्तिकारियों के सम्मुख आने लगी। उसे जो भी कार्य सौंपा गया, सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। 'आतंक के राज्य' के समय उसने अनेक विद्रोहों को शान्त करने में भाग लिया। पर नैपोलियन को विशेष उन्नति का अवसर तब मिला, जब डाइरेक्टरी की सरकार स्थापित हुई। डाइरेक्टरी का एक सदस्य डा॰ बैर्रा उस पर मेहर्बान था। इसकी सहायता से उसने क्रान्ति के प्रमुख नेताओं से परिचय प्राप्त किया। पेरिस के बड़े लोगों में उसका आना जाना होने लगा। इसी समय नैपोलियन ने सेनापति बोहार्निस की विधवा श्रीमती बोहार्निस से विवाह किया। सेनापति बोहार्निस को 'आतंक के राज्य' में कतल किया गया था। उसकी विधवा अनुपम सुन्दरी तथा प्रभावशाली महिला थी। उसके साथ विवाह कर लेने से नैपोलियन का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया। वह भी फ्रांस के महत्त्वपूर्ण और बड़े आदमियों में गिना जाने लगा। डाइरेक्टरी की सरकार

ने जब आस्ट्रिया पर विजय करने के लिये आक्रमण की योजना की तो डा० वैर्रा के प्रयत्न तथा श्रीमती बोहार्निस के प्रभाव से उसे उत्तरीय इटली होकर आस्ट्रिया पर आक्रमण करनेवाली सेना का प्रधान सेनापति नियत किया गया। इस इटालियन आक्रमण के समय नैपोलियन की आयु केवल २६ वर्ष की थी। वह ५ फीट २ इञ्च ऊँचा था। उसका शरीर पीला पतला सुकड़ा तथा देखने में बहुत कमज़ोर मालूम होता था। इस पतले सुकड़े नौजवान को जिस सेना का सेनापतित्व दिया गया था, उसके अन्य बहुत से अफसर उसकी अपेक्षा बहुत अधिक आयु के तथा अनुभवी थे। पर नैपोलियन ने इस आक्रमण में जिस वीरता तथा प्रतिभा का परिचय दिया, उससे वह अपनी सेना का हृदयेश्वर बन गया। इतना ही नहीं, सारा फ्रांस और सारा यूरोप इस नौजवान की प्रतिभा से आश्चर्य चकित हो रह गया।

इटालियन आक्रमण—नैपोलियन ने जिस प्रकार इटालियन आक्रमण में सफलता प्राप्त की, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। उसके हृदय में अभी से वे महत्त्वाकांक्षायें विद्यमान थीं, जिन्होंने आगे चलकर उसे सम्राट् पद तक पहुँचा दिया। वह डाइरेक्टरी के आधीन सेनापतिमात्र बने रहने से सन्तुष्ट नहीं रह सकता था। वह सम्राट् बनना चाहता था। यही कारण है, कि जब मिलन की विजय की गई, तो नैपोलियन ने बाकायदा दरबार लगाया, मिलन के समीप एक सुन्दर स्थान पर नैपोलियन का शानदार दरबार लगा। फ्रेंच सेना के सब सेनापति तथा नायक निश्चित वर्दी पहनकर दरबारी तरीके से एकत्रित हुए। बीच में ऊँचे सिंहासन पर नैपोलियन विराजमान हुआ। इटली के बहुत से बड़े बड़े वैभवशाली अमीर आदमी इस नौजवान विजेता के दर्शनों के लिये पधारे। नैपोलियन का एक दृष्टिपात उनके लिये अहोभाग्य की बात थी।

इस दरबार के सिलसिले में नैपोलियन ने एक बातचीत में कहा था—अब तक जो कुछ मैंने किया है, वह तो कुछ भी नहीं है। यह तो एक शानदार सफलताओं का प्रारम्भमात्र है। क्या तुम समझते हो, कि इटली में जो विजय मैंने प्राप्त की है, वे डाइरेक्टरी के वकीलों के लिये हैं ? क्या तुम समझते हो, कि मेरा उद्देश्य वस्तुतः रिपब्लिक की स्थापना है ? कैसा फिजूल खयाल है ? डाइरेक्टरी मुझसे सेना-पतित्व लेकर तो देखे, मालूम पड़ जायगा असली मालिक कौन है ? राष्ट्र को एक स्वामी की आवश्यकता है, पर वह स्वामी राज्य शास्त्र के सिद्धांतों पर बहस करनेवाला नहीं होना चाहिये, अपितु शानदार कृत्यों से उसकी कीर्ति उज्ज्वल हुई होना चाहिये।

निस्सन्देह, नैपोलियन का यही राजनीतिक सिद्धांत था। जिस समय वह राज्यक्रांति की विजयपताका आल्प्स की पर्वतमाला पर फहरा रहा था, उस समय भी वह १६ वें लुई की तरह दरबार लगाने की फिकर में था, उस समय भी वह रिपब्लिक का अंत कर स्वयं सम्राट् बनने का स्वप्न ले रहा था। कोर्सिका के एक गरीब वकील का लड़का इस छोटी सी उमर में न केवल फ्रांस अपितु सम्पूर्ण यूरोप का बादशाह बनने की धुन में था। उसकी यह आकांक्षा कितनी महान् थी, पर उसमें उसे सफलता भी कितने शानदार रूप में प्राप्त हुई।

उत्तरीय इटली की विजय और आस्ट्रिया के साथ सन्धि कर चुकने के अनन्तर नैपोलियन फ्रांस वापिस आया। पर अभी उपयुक्त समय नहीं आया था। वह ईजिप्ट चला गया। वहाँ बहुत सफलता प्राप्त नहीं हुई। एकर के मैदान में तुर्की सेनाओं ने उसे परास्त किया। पर दूर बैठे हुए फ्रेंच लोगों के लिये ईजिप्ट में वह असाधारण रूप से उज्ज्वल कारनामे कर रहा था। जब फ्रांस के विरुद्ध यूरोपियन राज्यों का नया गुट तैयार हुआ, तो नैपोलियन अपनी सेना को इकला छोड़-

कर स्वयं वापिस चला आया। जिस अवसर की वह प्रतीक्षा कर रहा था वह अब उपस्थित हो गया था।

डाइरेक्टरी का अन्त—यूरोपियन राज्यों का मुकाबला करने के लिये फ्रांस को एक योग्य सेनापति की आवश्यकता थी। डाइरेक्टरी के वकील और भद्रपुरुष इस विकट परिस्थिति में फ्रांस की रक्षा नहीं कर सकते थे। डाइरेक्टरी का शासन भी सर्वथा असन्तोषजनक था। परिणाम यह हुआ, कि नैपोलियन के नेतृत्व में डाइरेक्टरी का अन्त करने के लिये एक षड्यन्त्र तैयार किया गया। व्यवस्थापन विभाग की दोनों सभाओं में अनेक सदस्य इन षड्यन्त्रकारियों के साथी तथा सहायक थे। यह निश्चय किया गया, कि नैपोलियन अपने विश्वासपात्र सिपाहियों के साथ 'पाँच सौ की सभा' पर हमला करे, और वहाँ जाकर अपने विरोधियों को बाहर निकाल दे। ऐसा ही किया गया। ९ नवम्बर १७९९ के दिन जब 'पाँच सौ की सभा' का अधिवेशन हो रहा था, नैपोलियन ने अपने सिपाहियों के साथ सभा भवन को घेर लिया। विरोधियों को एक एक करके बाहर कर दिया गया। केवल वे ही लोग बच गये, जो नैपोलियन के साथी वा पक्षपाती थे। लूसियन बोनापार्ट के—यह नैपोलियन का भाई था और पाँच सौ की सभा का अन्यतम सदस्य था—सभापतित्व में 'पाँच सौ की सभा' का या उसके खण्डहर का अधिवेशन किया गया और निश्चय हुआ कि डाइरेक्टरी की सरकार का अन्त कर शासनशक्ति तीन 'कौन्सलों' के हाथ में दे दी जाय, प्रधान कान्सल नैपोलियन बोनापार्ट को बनाया जाय और ये तीनों कान्सल देश के लिये एक नवीन शासन-विधान को तैयार करें। डाइरेक्टरी का अन्त हो गया, और नैपोलियन के लिये अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने का द्वार खुल गया।

नवीन शासन-विधान—नवीन शासन-विधान का निर्माण करने में बहुत देर नहीं लगी। यह नया विधान मुख्यतया नैपोलियन की कृति

था। इसमें चार सभाओं की रचना की गई। एक सभा का कार्य कानून प्रस्तावित करना था, दूसरी सभा उस पर बहस करती थी। तीसरी सभा उस पर वोट देने के लिये थी और चौथी सभा यह निर्णय करती थी कि कानून शासन-विधान के अनुकूल है या प्रतिकूल। इन सभाओं में सबसे प्रधान स्थान पहली सभा को था, जिसे राज्य-परिषद् कहते थे। यह केवल कानून प्रस्तावित ही नहीं करती थी, साथ ही कानूनों का प्रयोग करना, शासन करना, विदेशी मामलों तथा सेना का प्रबन्ध करना भी इसी का कार्य था। नैपोलियन बोनापार्ट स्वयं इसका सभापति बना और इसमें सब दलों के बुद्धिमान् लोगों को रखा गया। 'कौंसलों' की व्यवस्था पहले के समान ही रखी गई और नैपोलियन को ही प्रधान कौंसल बनाया गया।

केन्द्रीय सरकार में इन परिवर्त्तनों के अतिरिक्त प्रान्तीय तथा स्थानीय सरकारों के स्वरूप में भी बहुत से परिवर्त्तन किये गये। नैपोलियन राजशक्ति को एक केन्द्र में केन्द्रित करना चाहता था। वह सारे देश का शासन पेरिस से ही सञ्चालित करना चाहता था। इसीलिये उसने प्रत्येक प्रान्त में केन्द्रीय सरकार की तरफ से एक एक सूबेदार को नियत करने की व्यवस्था की। इसी प्रकार प्रत्येक प्रान्त के अन्य छोटे विभागों में नायब सूबेदार नियत किये गये। नगरों के मेयर यथा पुलिस के प्रधान कर्मचारी तक केन्द्रीय सरकार द्वारा नियत किये जाने लगे। और क्योंकि केन्द्रीय सरकार में वास्तविक शक्ति प्रधान कौंसल अथवा नैपोलियन के पास थी, अतः इन सब अफसरों की नियुक्ति उसी के हाथों में आ गई। देश के वास्तविक शासन में लोकसत्तावाद के तत्त्व नष्ट हो गये, फिर से पुराने राजसत्ता के युग की स्थापना का सूत्रपात हुआ। राज्यक्रान्ति का प्रमुख तत्त्व यही था कि राज्यशक्ति को लोगों के हाथों में दिया जाय, उनका शासन कौन करे और किस प्रकार करे— इसका निर्णय वे स्वयं करें। पर १७९९ के इस नये शासन-विधान ने

इस सब पर पानी फेर दिया। प्रान्तीय और स्थानीय सभाओं का महत्त्व लुप्त हो गया। वास्तविक शक्ति इन सूबेदारों और नायक सूबेदारों के हाथ में आ गई, जो प्रधान कौंसल के जिम्मेवार थे, जनता के प्रति नहीं।

जनता द्वारा स्वीकृति—नैपोलियन शासन के मामलों में जनता की इच्छा को कोई महत्त्व न देता था। वह कहता था, मामूली लोग राज-काज के मामलों में जानते ही क्या हैं? यहाँ तक उसमें और १६वें लुई में कोई भेद न था। पर उसका यह भी खयाल था कि शासन का प्रकार क्या हो—इस विषय में सर्वसाधारण को अपनी राय प्रगट करने का अधिकार है। यहाँ पर वह १६वें लुई से मतभेद रखता था। अपने विचारों के अनुसार उसने आवश्यक समझा, कि नये शासन विधान को जनता द्वारा स्वीकृत करा लिया जावे। जनता की सम्मति ली गई। तीस लाख से अधिक लोगों ने नये शासन-विधान के पक्ष में वोट दिया। विरोध में सम्मति देनेवालों की संख्या १५६२ थी। यह नहीं समझना चाहिये, कि अधिकांश जनता इस शासन-विधान से संतुष्ट थी। बहुत से लोग इसमें परिवर्तन चाहते थे, पर उन्हें तो केवल पक्ष में या विपक्ष में वोट देना था। इसे सर्वथा अस्वीकृत कर देने की अपेक्षा वे पक्ष में वोट देना अधिक अच्छा समझते थे। बहुत से प्रश्न ऐसे होते हैं, जिन पर 'हाँ' या 'नहीं' में सम्मति नहीं दी जा सकती। शासन-विधान तो मुख्यतया इसी तरह का विषय है। नैपोलियन की इस सफलता का प्रधान कारण यह है, कि लोग एक स्थिर सरकार चाहते थे। अव्यवस्था और अस्थिरता से वे ऊब चुके थे। उन्हें आशा थी कि नैपोलियन जैसा बहादुर आदमी जहाँ विदेशी शत्रुओं को परास्त करने में सफल होगा, वहाँ देश में भी व्यवस्था कायम रख सकेगा।

नैपोलियन प्रधान कौंसल बन गया। वह वस्तुतः देश का राजा था, पर नाम में नहीं। नैपोलियन इससे संतुष्ट नहीं रह सकता था। उसकी हार्दिक महत्त्वाकांक्षा के पूर्ण होने में अभी कुछ कसर थी।

बारहवाँ अध्याय

प्रधान कान्सल के रूप में नैपोलियन का शासन

यूरोपियन राज्यों का नया गुट—फ्रांस के खिलाफ यूरोपियन राज्यों का जो नया गुट बना था, जिसके कारण नैपोलियन को अपने अभ्युदय का यह सुवर्णावसर मिला था; उसमें इङ्गलैण्ड, रशिया, आस्ट्रिया और टर्की ये चार राज्य शामिल थे। यह नया गुट क्यों बना था, इस बात की व्याख्या की जरूरत है। इसे भली भाँति समझने के लिये डाइरेक्टरी के शासन की कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख करने की आवश्यकता होगी।

नये रिपब्लिकन राज्यों की स्थापना—कैम्पो फोर्मियो की सन्धि के बाद (अक्टूबर १७६७) फ्रांस यूरोप के किसी भी देश के साथ युद्ध में व्यापृत न रहा था। उस समय में भी अगर कोई शक्ति फ्रांस से संघर्ष कर रही थी, तो वह थी इङ्गलैण्ड। पर इङ्गलैण्ड के युद्धों का यूरोप से कोई सम्बन्ध न था। इस प्रकार यूरोपियन राज्यों की फ्रांस से पूर्ण सन्धि थी। पर इस बीच में भी—इस सन्धि और शान्ति के काल में भी—फ्रांस के क्रान्तिकारी सिद्धान्त समीप के अन्य देशों में क्रान्ति की भावना फैला रहे थे। फ्रेंच रिपब्लिक के नमूने पर समीप के राज्यों में नवीन शासन-विधानों की स्थापना हो रही थी। उत्तरीय इटली में किसल्पाइन रिपब्लिक की

स्थापना कर दी गई थी। नीदरलैण्ड से राजतन्त्र नष्ट कर रिपब्लिक बना दी गई थी। इस नई रिपब्लिक का नाम बैटेवियन रिपब्लिक रखा गया। फ्रांस के क्रान्तिकारियों ने उत्तरी इटली के एक अन्य प्राचीन राज्य जिनोआ में क्रान्ति कराके वहाँ भी लिगूरियन रिपब्लिक के नाम से एक नये लोकतन्त्र राज्य की स्थापना की थी। नई रिपब्लिकों का सिलसिला यहीं पर खतम नहीं हुआ। नैपोलियन का भाई जोसफ बोनापार्ट रोम में फ्रांस का राजदूत था। उसके उकसाने पर रोम में विद्रोह हुआ। वहाँ के क्रान्तिकारी लोग पोप के शासन के खिलाफ उठ खड़े हुए। खुल्लम-खुल्ला गदर हो गया। इस गदर में एक फ्रेंच सेनापति मारा गया। फ्रेंच सेनापति का मारा जाना डाइरेक्टरी के लिये काफी अच्छा बहाना था। उन्होंने एक सेना रोम में पोप के शासन का अन्त कर रिपब्लिक स्थापित करने के लिये रवाना कर दी। इस सेना की मदद से रोम में रिपब्लिक की स्थापना की गई। पोप का अपमान किया गया। धार्मिक तथा राजकीय चिन्हों को छीन कर उसे रोम से बाहर निकाल दिया गया। इस प्रकार रोमन रिपब्लिक स्थापित हो गई। स्विट्जरलैंड में भी इसी ढङ्ग से फ्रेञ्च नमूने पर हेल्वटिक रिपब्लिक कायम की गई। इस देश में पहले भी राजतन्त्र शासन विद्यमान न था। स्विट्जरलैंड अनेक छोटे छोटे प्रदेशों में, जिन्हें कैण्टन कहा जाता है, विभक्त था। प्रत्येक कैण्टन की एक अलग अलग सरकार थी और कुछ कैण्टन अन्य अधिक शक्तिशाली कैण्टनों के अधीन थे। इस प्रकार इन विविध कैण्टनों में एक विशेष प्रकार का संगठन भी बना हुआ था। शासन कुलीन श्रेणियों के हाथ में था। कुछ आन्तरिक झगड़ों से लाभ उठाकर फ्रेञ्च सेना ने स्विट्जरलैंड पर आक्रमण किया और वहाँ के शासन का अन्त कर हेल्वटिक रिपब्लिक की स्थापना कर दी। नेपल्स में भी यही हुआ। पोप के राज्य में रिपब्लिक की स्थापना से नेपल्स का राजा बहुत भयभीत हो गया था। उसका खयाल था, कि यदि अपनी राजगद्दी को

कायम रखना है, तो रोम में फिर से पोप के आधिपत्य को स्थापित कराना चाहिये। इसलिये उसने इङ्गलैंड के साथ मिल कर फ्रांस के विरुद्ध युद्ध उद्घोषित कर दिया। फ्रांस की एक सेना ने नेपल्स पर आक्रमण किया। बात की बात में नेपल्स परास्त हो गया। वहाँ भी पुराने राजतन्त्र राज्य का अन्त कर एक नवीन रिपब्लिक की स्थापना की गई और उसका नाम पर्थेनोपियन रिपब्लिक रखा गया। इसके कुछ ही दिनों बाद फ्रांस की सेनाओं ने पीडमौन्ट पर आक्रमण किया। पीडमौन्ट परास्त हो गया। वहाँ का राजा भाग कर सार्डिनिया के द्वीप में चला गया। पीडमौन्ट पर भी फ्रांस का आधिपत्य कायम हो गया।

ये सब घटनायें डाइरेक्टरी के शासन काल में हुई थीं। इनका परिणाम यह हुआ, कि फ्रांस की शक्ति बहुत अधिक बढ़ गई। हालैंड, स्विट्जरलैंड और सम्पूर्ण इटली पर फ्रांस का आधिपत्य हो गया। ये जो नई रिपब्लिक बनी थीं, वे पूर्णतया फ्रांस के प्रभाव में थीं। फ्रांस सर्वत्र विजयी हो रहा था।

नये गुट का निर्माण—फ्रांस की यह असाधारण सफलता अन्य यूरोपीय राज्यों को सहन न हुई। इसके अतिरिक्त, क्रान्तिकारी सिद्धान्तों का इस प्रकार विस्तार एकतन्त्र राजाओं के लिये भयंकर खतरा था। यही कारण है कि इङ्गलैंड अन्य अनेक राज्यों को फ्रांस के खिलाफ लड़ने के लिये सुगमता से तैयार कर सका। रशिया का जार पाल (राज्यारोहण काल १७९६ ई०) क्रान्ति का कट्टर दुश्मन था। इङ्गलैंड के चतुर प्रधान-मन्त्री पिट ने इस शक्तिशाली सम्राट को फ्रांस के खिलाफ लड़ने के लिये तैयार कर लिया। निश्चय हुआ, कि जार अपनी सेनायें फ्रांस से युद्ध करने के लिये भेजेगा और उनका खर्च इङ्गलैंड देगा। फ्रांस को कुचलने के इस भगीरथ प्रयत्न में सहायता देने में आस्ट्रिया को हार्दिक खुशी थी। वह भी इङ्गलैंड और रशिया के साथ सम्मिलित हो गया। नैपोलियन

के इजिप्शियन युद्धों के कारण टर्की के सुलतान ने फ्रांस के खिलाफ युद्ध उद्घोषित कर दिया था—इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस प्रकार डाइरेक्टरी के शासनकाल में ही इन चार राज्यों का नया गुट फ्रांस के विरुद्ध बन गया था। इसी गुट का मुकाबला करने में डाइरेक्टरी की असमर्थता पाकर नैपोलियन ने षड्यन्त्र किया था और अब प्रधान कौन्सल के पद पर अधिष्ठित होकर नैपोलियन को सबसे पहले इसी का मुकाबला करना था।

युद्ध का प्रारम्भ—यूरोपियन राज्यों का यह नया गुट फ्रांस के लिये बहुत हानिकारक सिद्ध हुआ। एक दम परिस्थिति ने पलटा खाया। जो फ्रांस पहले सर्वत्र विजयी और सफल हो रहा था, वह अब सब तरफ से आक्रान्त हो गया। आस्ट्रियन सेनाओं ने फ्रांस को दक्षिणीय जर्मनी में परास्त किया। रशियन सेनापति सुवेराफ ने आस्ट्रिया की सहायता से उत्तरीय इटली से फ्रेंच सेनाओं को निकाल बाहर कर दिया। इटली से फ्रांस का कब्जा उठ गया। इसके बाद सुवेराफ ने स्विट्जरलैंड पर हमला किया। उसे आशा थी, कि एक अन्य रशियन सेना जो उत्तर की तरफ से स्विट्जरलैंड को फ्रेंच अधीनता से मुक्त करने के लिये आक्रमण कर रही थी उसकी सहायता उसे प्राप्त हो जावेगी और ये दोनों रशियन सेनायें मिलकर स्विट्जरलैंड को स्वतन्त्र करा देंगी। पर उसे निराश होना पड़ा। जिस रशियन सेना ने उत्तर की तरफ से हमला किया था, वह फ्रेंच लोगों द्वारा परास्त की जा चुकी थी। सुवेराफ बहुत भयंकर कठिनाइयों का मुकाबला कर स्विट्जरलैंड पहुँचा था। उसे आल्प्स पर्वतमाला के विकट दर्रों को लाँघना पड़ा था। इतनी कठिनाइयों का मुकाबला कर जब उसे निराश होना पड़ा, तो रशिया का जार घबरा गया। उसने समझा कि आस्ट्रिया की बेईमानी और साजिशें रशियन सेना की असफलता की हेतु हैं। उसने आस्ट्रिया से सब सम्बन्ध विच्छिन्न कर दिया और सुवेराफ को वापिस बुला लिया।

नैपोलियन द्वारा सन्धि का प्रयत्न—इसी बीच में फ्रांस में डाइरेक्टरी का पतन हुआ और नैपोलियन के एकाधिकार का सूत्रपात हुआ। प्रधान कौन्सल नैपोलियन ने इङ्गलैंड के राजा ज्यार्ज तृतीय और आस्ट्रियन सम्राट फ्रांसिस द्वितीय को वैयक्तिक व पत्र भेजे। उसने लिखा—युद्ध करने से क्या लाभ है। यूरोप के पवित्र और धार्मिक सम्राट् आपस में क्यों लड़ें ? व्यापार, व्यवसाय, सुख समृद्धि और शान्ति के महान् लाभों को खोखले बड़प्पन के लिये क्यों कुर्बान किया जाय ? नैपोलियन के इस सन्देश पर इङ्गलैण्ड ने कोई ध्यान नहीं दिया। प्रधान मन्त्री पिट ने उत्तर में लिखा, कि युद्ध की वास्तविक उत्तरदायिता फ्रांस पर है। यदि फ्रांस को सचमुच शान्ति की इच्छा है, तो उसका एकमात्र उपाय यह है कि फिर से बोर्बो राजवंश का एकच्छत्र शासन स्थापित किया जाय। आस्ट्रिया का उत्तर भी इसी प्रकार निराशाजनक था। नैपोलियन ने शान्ति के लिये जो हाथ बढ़ाया था, इन दोनों राज्यों ने उसे घृणापूर्वक ठुकरा दिया। परिणाम यह हुआ, कि नैपोलियन ने युद्ध के लिये बड़े जोर से तैयारी शुरू कर दी।

आस्ट्रिया की पराजय—आस्ट्रिया पर दो तरफ से आक्रमण करने की योजना की गई। सेनापति मूरो को र्हाइन की तरफ से आक्रमण के लिये भेजा गया। नैपोलियन ने स्वयं आल्पस की विकट और दुर्गम पर्वतमाला को पार कर सीधा आस्ट्रिया पर हमला करने का निश्चय किया। आस्ट्रिया पर हमला करने का यह बहुत ही विकट मार्ग था। सम्भवतः, प्रसिद्ध कार्थेजियन सेनापति हैनीबाल के बाद किसी अन्य सेनापति ने इस मार्ग का अवलम्बन करने का साहस नहीं किया था। उस समय में आल्पस की पर्वतमाला पर कोई सड़क विद्यमान नहीं थी। इसलिये मोटे मोटे वृक्षों के तनों को खोखला कर उनमें तोपों को बन्द किया गया, और इस प्रकार वृक्षों के तनों को लुढ़खा लुढ़खा कर आल्पस को पार किया गया। आस्ट्रियन लोगों को स्वप्न में भी सम्भावना नहीं थी,

कि आल्पस की दुर्गम पर्वतमाला को पार कर कोई सेना उन पर आक्रमण कर सकती है। जब नैपोलियन आस्ट्रिया के मैदान में अपनी सेना सहित प्रवेश कर गया, तो उनके आश्चर्य की कोई सीमा न रही। मनो नामक रणक्षेत्र में १४ जुलाई सन् १८०० के दिन भयङ्कर लड़ाई हुई। नैपोलियन की विजय हुई। आस्ट्रियन सेना बुरी तरह परास्त हो गई। दूसरी तरफ सेनापति मूरो भी निरन्तर आगे बढ़ रहा था। होहनलिएडन नामक स्थान पर उसने आष्ट्रियन सेना को परास्त किया। इन दो पराजयों का परिणाम था, कि आस्ट्रिया को सन्धि के लिये प्रार्थना करने को बाधित होना पड़ा। आखिर ६ फरवरी १८०१ को फ्रांस और आस्ट्रिया में सन्धि हो गई। यह सन्धि लूनविल की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें प्रधानतया कैम्पोफौर्मियो की सन्धि की शर्तों को ही फिर से दुहराया गया। आस्ट्रियन नीदरलैएड पर फ्रांस का अधिकार स्वीकृत किया गया। बैटेवियन, हैल्वटिक, लिगूरियन, और किसल्पाइन रिपब्लिकों को पुनः संगठित किया गया और इनकी फ्रांस के अधीन सत्ता को आस्ट्रिया ने स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त, र्हाइन नदी के बायें तट पर भी फ्रांस के अधिकार को स्वीकृत किया गया। लूनविल की इस सन्धि से फ्रांस की स्थिति बहुत ऊँची हो गई। यूरोपियन राज्यों के दूसरे गुट ने उस को कुछ नुकसान पहुँचाया था, वह सब दूर हो गया।

आमीन की सन्धि—आस्ट्रिया के साथ सन्धि हो जाने पर अन्य राज्यों से सन्धि का मार्ग साफ हो गया। रशिया तो पहले ही आस्ट्रिया से नाराज होकर युद्ध से पृथक् हो गया था। इङ्गलैंड की शक्ति विशेष रूप से समुद्र में थी। ईजिप्ट में विद्यमान फ्रेञ्च सेना को (वह सेना जिसे लेकर नैपोलियन ईजिप्ट की विजय के लिये गया था, और जिसे निराश्रय छोड़कर वह स्वयं डाइरेक्टरी का अन्त करने के लिये फ्रांस चला आया था) इङ्गलिश जहाजी बेड़ा परास्त कर चुका था। अब और अधिक युद्ध जारी रखना निरर्थक था। फ्रांस और इङ्गलैंड में भी

आखिरकार सन्धि हो गई, जो कि आमीन की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। फ्रांस और इङ्गलैण्ड में आठ साल से निरन्तर युद्ध जारी था। दोनों राज्य अपनी सामुद्रिक प्रभुता तथा साम्राज्य विस्तार के लिये संघर्ष कर रहे थे। पिट फ्रांस का कट्टर शत्रु था। वह फ्रांस के पतन में ही इङ्गलैण्ड का अभ्युदय देखता था। १८०२ में पिट प्रधानमंत्री न रहा। उसके पतन के अनन्तर ही फ्रांस के साथ सन्धि सम्भव हो सकी। आमीन की इस सन्धि के अनुसार इङ्गलैण्ड ने फ्रांस की नवीन सरकार की सत्ता को स्वीकार किया। सीलोन और ट्रिनिडाड के अतिरिक्त अन्य सब फ्रेञ्च उपनिवेश जो कि पिछले युद्धों में इङ्गलैंड ने फ्रांस से जीत कर अपने आधीन कर लिये थे—फ्रांस को वापिस दे दिये गए। लूनविल की सन्धि की सब शर्तों को इङ्गलैंड ने स्वीकार किया। फ्रांस की राज्यक्रांति के बाद अब पहला अवसर था, जब कि यूरोप में लड़ाई बन्द होकर शान्ति की स्थापना हुई थी।

नैपोलियन का विधायक कार्य—यूरोपियन राज्यों से युद्ध की समाप्ति के पश्चात नैपोलियन ने अपनी शक्ति का उपयोग फ्रांस में व्यवस्था और शान्ति को स्थापित करने के लिये किया। नैपोलियन केवल अनुपम योद्धा और विजेता ही नहीं था, विधायक कार्यों में भी उसकी असाधारण शक्ति और क्षमता प्रगट हुई थी। क्रांति के कारण फ्रांस में पुराने जमाने का तो अन्त हो गया था, पुरानी संस्थायें नष्ट भ्रष्ट हो गई थी, पर नवीन रचना और नवयुग की स्थापना का कार्य अभी तक नहीं किया जा सका था। रिपब्लिक के समय में भी इसके लिये प्रयत्न किया गया। पर आन्तरिक और बाह्य युद्धों के कारण क्रांतिकारियों को इसके लिये उपयुक्त अवसर नहीं प्राप्त हो सका। अब इतने समय बाद इन युद्धों का अन्त हुआ था। अब इस बात का अवसर आया था, ।कि नये युग की स्थापना की जाय। इसमें सन्देह नहीं, कि नैपोलियन ने यह कार्य पर्याप्त सफलता के साथ सम्पन्न किया। नैपोलियन

बाहर से यही प्रदर्शित करता था, कि वह राज्य क्रांति के सिद्धांतों को ही क्रिया में परिणित कर रहा है। स्वाधीनता, समानता, और भ्रातृभाव—के उदात्त सिद्धान्तों का ही उससे अनुसरण करना है। क्रान्ति की नई कृतियों—रिपब्लिक, मनुष्यमात्र को मताधिकार, सामजिक समता आदि को उससे अक्षुण्ण रखना है। पर मुँह से यह कहते हुए भी वस्तुतः नैपोलियन राजनीतिक स्वाधीनता की जड़ पर कुठाराघात कर रहा था। वह शासन और व्यवस्थापन की सम्पूर्ण शक्ति को अपने ही हाथों में रखना चाहता था। और तो और रहा, न्यायालय भी वस्तुतः उसी के कब्जे में थे। पुलिस भी उसके इशारों पर नाचती थी। कानूनों का इस ढङ्ग से प्रयोग किया जा रहा था, मानों फ्रांस में फौजी कानून जारी हो। परन्तु बाहर से लोकतन्त्र शासन के सम्पूर्ण ढाँचे को कायम रखा गया था। बाहरी शरीर लोकतन्त्र और रिपब्लिक का था। पर असली शासन एक व्यक्ति की इच्छा पर आश्रित बन गया था। नैपोलियन का विश्वास था, कि फ्रांस को एक शक्तिशाली और मजबूत शासन की जरूरत है, जो कि देश में व्यवस्था और शान्ति स्थापित कर सके। निस्सन्देह, नैपोलियन का यह विचार ठीक था। पुराने मदभेद, पार्टीबन्दी और झगड़ों का अन्त करने के लिये उसने सब दलों के लोगों को एक समान रूप से राजनीतिक पद दिये। देश से बहिष्कृत कुलीन श्रेणी के तथा उच्च पुरोहित श्रेणी के लोगों को फिर से वापिस आने की अनुमति दी। एप्रिल १०८२ में क्रान्ति के विरुद्ध अपराध करनेवालों को एक सार्वजनिक उद्घोषणा द्वारा क्षमा प्रदान की गई, और इसके परिणामस्वरूप ४० हजार से अधिक परिवार फ्रांस वापिस लौट आये। क्रांति के समय की बहुत सी बातों को हटा दिया गया। अब प्रत्येक आदमी के लिये यह आवश्यक नहीं रह गया, कि वह दूसरे को 'नागरिक'—इस शब्द से ही सम्बोधन करे। अब कुल और स्थिति के अनुसार 'श्रीमान्' 'हजूर' आदि शब्दों का पुनः प्रयोग होने लगा। नैपोलियन के

रहन सहन में भी अन्तर आने लगा। टुइलरी के राजप्रासाद में फिर रौनक, शानशौकत और धूमधाम नजर आने लगी। बोर्बो वंश के राजाओं का स्थान कोर्सिका के गरीब वकील के लड़के ने ले लिया। कलेवर दूसरा था, पर आत्मा वही थी। नये रूप में फिर से बोर्बो ढंग का एकतन्त्र राज्य फ्रांस में स्थापित हो गया। फ्रांस ने क्रांति की ओर जो पग बढ़ाया था, वह मार्ग में ही रुक गया। निस्सन्देह, फ्रांस जहाँ पहले विद्यमान था, वहाँ से आगे बढ़ गया था। पर उसने जो ऊँची उड़ान उड़नी चाही थी, उसमें वह असफल रहा था। वह तेजी से आगे बढ़ा था—पर अपने उद्देश्य तक न पहुँच कर रास्ते में ही रह गया था। मानवीय उन्नति का यही ढंग है। मनुष्य जाति छलांग मार-कर उन्नति नहीं करती है, वह धीरे धीरे कदम बढ़ाकर आगे बढ़ती है। 'आतङ्क के राज्य' में रोबस्पियर और हैबर्ट फ्रांस को जहाँ तक खींच ले गये थे, वहाँ वह टिक नहीं सका। वह पीछे लौट आया—पर इसमें सन्देह नहीं, कि वह लौटकर उस जगह तक नहीं गया; जहाँ कि लुई १६वें के समय में विद्यमान था। नया समुत्तुलन स्थापित हो गया—पर पुराने और नये के बीच में, बोर्बो शासन और रिपब्लिक के मध्यवर्त्ती स्थान पर।

नैपोलियन विधान—नैपोलियन के विधायक कार्यों में सबसे मुख्य स्थान उसके 'विधान' का है। यह नैपोलियन-विधान के नाम से प्रसिद्ध है। क्रांति से पूर्व फ्रांस में बहुत प्रकार के विधान प्रचलित थे। क्रांति ने इस सबको नष्ट कर सम्पूर्ण फ्रांस में एक ही कानून को प्रच-लित करने का प्रयत्न किया था। इसी उद्देश्य से क्रांतिकारी सरकारों ने अनेक नये कानूनों का निर्माण किया था। परन्तु ये सब कानून किसी एक विधान में संगठित नहीं थे। इसलिये नैपोलियन ने एक कमीशन नियत किया, जिसको कि इन सम्पूर्ण कानूनों को संगृहीत कर एक व्यव-स्थित विधान तैयार करने का कार्य सुपुर्द किया गया। नवीन विधान के

मसविदे को राज्यपरिषद् के सम्मुख पेश किया गया। कुछ परिवर्तनों के साथ यह स्वीकृत हो गया। फ्रांस के वर्तमान कानून का मुख्य आधार यह नैपोलियन-विधान ही है। केवल फ्रांस में ही नहीं, परन्तु होलैण्ड, बेल्जियम, पश्चिमी और दक्षिणी जर्मनी, इटली और लुईसियेना के राज्यों में भी प्रचलित कानून इसी विधान पर मुख्यतया आश्रित हैं। इसका कारण यह है, कि उस समय में इन देशों पर भी फ्रांस का आधिपत्य था और इनमें भी यही विधान प्रचलित किया गया था। यूरोप के अन्य देशों पर भी इस विधान का प्रभाव स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होता है।

धार्मिक नीति—नैपोलियन का अपना धर्म कोई न था। वह ईजिप्ट में मुसलमान था, और फ्रांस में रोमन कैथोलिक। वह जानता था, कि फ्रांस की अधिकांश जनता कैथोलिक धर्म को माननेवाली है। इसलिये बुद्धिमत्ता इसी में है कि स्वयं भी कैथोलिक धर्म का अनुसरण किया जावे। क्रान्ति के समय में चर्च में पूर्णतया अव्यवस्था मच गई थी। नैपोलियन समझता था कि जनता की सहानुभूति को प्राप्त करने के लिये उसके धार्मिक विश्वासों का सम्मान करना आवश्यक है। इसीलिये उसने कैद में पड़े हुए पादरियों को स्वतन्त्र कर दिया। जिन्हें देश निकाला दिया गया था, उन्हें फिर से फ्रांस लौट आने की अनुमति दी। रविवार को फिर से महत्त्व दिया गया। क्रान्ति के समय में जो नई छुट्टियाँ चली थीं, उन सबको हटा दिया गया। केवल १४ जुलाई, जो कि बस्तीय्य के जेल के ध्वंस का दिन था, तथा २२ सितम्बर को—जोकि रिपब्लिक की स्थापना का दिन था, सार्वजनिक छुट्टी के तौर पर कायम रखा गया। क्रान्ति के समय की शेष सब छुट्टियों को हटाकर फिर से पुरानी धर्म पर आश्रित छुट्टियों को जारी किया गया। यह सब जनता की सहानुभूति को प्राप्त करने के लिये था।

कान्कार्डेट—रोमन कैथोलिक चर्च की पुनः स्थापना करने के लिये

सितम्बर १८०१ में पोप से बाकायदा सन्धि की गई। यह सन्धि कान्कार्डेट' के नाम से प्रसिद्ध है। इस कान्कार्डेट में उद्घोषित किया गया कि फ्रांस की अधिकांश जनता रोमन कैथोलिक धर्म को माननेवाली है। अतः फ्रांस में इसी धर्म को राजकीय धर्म स्वीकृत किया जाना चाहिये। बिशप तथा चर्च के अन्य पदाधिकारियों की नियुक्ति प्रधान कान्सल द्वारा की जायेगी, पर उसके लिये पोप से स्वीकृति लेनी आवश्यक होगी। बिशप तथा अन्य पुरोहितों को राज्य की तरफ से वृत्ति दी जायेगी। सब पुरोहितों के लिये आवश्यक होगा कि वे रिपब्लिक के शासन विधान के प्रति भक्ति की शपथ लें। चर्च की सम्पूर्ण सम्पत्ति क्रान्ति के समय में राज्य ने छीन ली थी। निश्चय हुआ कि जो सम्पत्ति अभी बेची नहीं गई है, वह चर्च के सुपुर्द कर दी जाय। पर जो सम्पत्ति किसी व्यक्ति को बेच दी गई है, उसको न छेड़ा जाय। इस सन्धि के अनुसार राज्य और चर्च को पृथक् नहीं रहने दिया गया। चर्च भी एक प्रकार से राज्य के ही नीचे आ गया। यद्यपि नाममात्र को पोप का आधिपत्य कायम रखा गया था, और बिशप आदि की नियुक्ति के लिये भी पोप की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक था—पर ये सब बातें नाम को ही थीं। वस्तुतः चर्च पर प्रधान कान्सल का—राज्य का ही अधिकार कायम हो गया था। इस प्रकार यद्यपि ऊपर से रोमन कैथोलिक चर्च का ढंग क्रान्ति से पहले जमाने का सा ही था—पर असल में उसमें भारी परिवर्तन आ गया था। अब न चर्च के न्यायालय रहे थे, न चर्च के पृथक् टैक्स। अब चर्च राज्य का प्रतिद्वन्द्वी न था, अब वह राज्य के अधीन एक संस्थामात्र था। सम्भवतः, नैपोलियन चर्च के इस पुनरुद्धार का भी पक्षपाती नहीं था। पर जनता की सहानुभूति प्राप्त करने के लिये इसकी आवश्यकता थी और इसीलिये उसने निस्सङ्कोच भाव से इसे पुनः स्थापित किया।

शिक्षा प्रसार—शिक्षा के प्रसार के लिये भी नैपोलियन ने विशेष

रूप से प्रयत्न किया। प्रत्येक नगर में शिक्षणालयों की स्थापना की गई, शिक्षकों को राज्य की ओर से वेतन दिया जाने लगा। शिल्प और व्यवसाय के लिये विद्यालय खोले गये। पेरिस के विश्वविद्यालय का पुनः संगठन किया गया। सब शिक्षणालयों में राजभक्ति की शिक्षा देने के लिये विशेषरूप से जोर दिया गया। विद्या और शिक्षा के प्रसार के लिये भरसक कोशिश की गई।

इस प्रकार नैपोलियन निरन्तर फ्रांस को संगठित तथा व्यवस्थित करने में प्रयत्नशील रहा। परन्तु उसका वास्तविक ध्यान अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने में था। वह एक रिपब्लिक के प्रधान कान्सल के पद से संतुष्ट नहीं हो सकता था। वह सम्राट् होना चाहता था और अपनी इस आकांक्षा को पूर्ण करने में उसे देर नहीं लगी।

तेरहवाँ अध्याय

सम्राट् नैपोलियन का शासन

नैपोलियन का सम्राट् बनना—नैपोलियन सम्राट् बनना चाहता था। वस्तुतः प्रधान कान्सल के रूप में भी नैपोलियन की शक्ति, अधिकार, और शानशौकत सम्राटों से कम नहीं थी, पर उसे रिपब्लिक का ढाँचा भी सह्य न था। इसीलिये उसके आदेश से शासन विधान में इस प्रकार के परिवर्तन किये गये, जिनसे वह पूर्णरूप से सम्राट् पद पर अधिष्ठित हो गया। पहले नैपोलियन को दस वर्ष के लिये कान्सल बनाया गया था। १८०२ में उसे जन्म भर के लिये कान्सल बना दिया गया। इसके बाद उसे यह भी अधिकार दिया गया, कि वह अपना उत्तराधिकारी भी स्वयं चुन सके। १८०४ में यह प्रस्ताव पेश किया, कि नैपोलियन को फ्रेञ्च जनता का सम्राट् बना दिया जावे। प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। यह प्रस्ताव नैपोलियन की प्रेरणा से ही पेश किया गया था और उसी की कोशिश से पास हुआ था।

राज्याभिषेक—२ दिसम्बर १८०४ के दिन नैपोलियन का राज्याभिषेक बड़ी धूमधाम के साथ हुआ। उसका अभिषेक-समारोह पुराने बोर्बो राजाओं के राज्याभिषेक को भी मात करता था। इस महत्त्वपूर्ण अवसर पर पोप भी उपस्थित था। परन्तु अभिमानी नैपोलियन यह नहीं सह सका, कि पोप उसके सिर पर राज्यमुकुट रखे। इससे पहले कि

पोप राज्यमुकुट को उठाये, उसने स्वयं उसे उठाकर अपने सिर पर रख लिया। नैपोलियन कहा करता था—'मैंने फ्रांस के राजमुकुट को धूल में पड़ा पाया, और तलवार की नोंक से उठाकर अपने सिर पर रख लिया।' निस्सन्देह, नैपोलियन का यह दावा ठीक था। वह इसलिये सम्राट् नहीं बना था, क्योंकि वह किसी सम्राट् का लड़का था। वह अपनी तलवार के जोर पर इस गौरवमय पद पर अधिष्ठित हुआ था।

पुरानी रजसत्ता का प्रारम्भ—सम्राट् बनकर नैपोलियन ने राज दरबार, अंग-रक्षक, अनुचर, पार्श्वचर आदि का फिर से संगठन किया। नये दरबारियों को दरबार के ढंग और कायदों को सिखाने के लिये सेजूर—जो कि एक भागा हुआ कुलीन श्रेणी का आदमी था, और मदाम डि सांपेन को, जो कि पहले मेरी आंतोआंत की पार्श्वचर थी, नियत किया गया। नैपोलियन के परिवार के आदमियों को सबसे ऊँचे पद दिये गये। एक विशाल अङ्गरक्षक सेना का संगठन किया गया। नये सिरे से लोगों को खिताब दिये जाने लगे। इस प्रकार एक नवीन कुलीन श्रेणी का निर्माण किया गया। यह नवीन कुलीन श्रेणी नैपोलियन की कृति थी। इसकी सत्ता एक आदमी की इच्छा पर आश्रित थी।

सम्राट् बनकर नैपोलियन निरन्तर अधिक अधिक स्वेच्छाचारी तथा क्रूर होता गया। अब वह सार्वजनिक समालोचना को नहीं सह सकता था। प्रधान कान्सल बनते ही उसने समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता में बाधा डालनी प्रारम्भ कर दी थी। अनेक राजनीतिक पत्र बन्द कर दिये गये थे। नये पत्रों का प्रकाशन सर्वथा रोक दिया था। पर सम्राट् बनने पर नैपोलियन ने समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता का अपहरण करने में कमाल ही कर दिया। यह व्यवस्था की गई, कि सब समाचार सरकार की तरफ से पहुँचाये जावें। समाचार भेजने का कार्य पुलिस के सुपुर्द किया गया। पुलिस उन सब समाचारों को रोक देती थी, जो सरकार

के खिलाफ जाते थे। नैपोलियन की अपनी इच्छा तो यह थी, कि सब समाचार-पत्रों को बन्द कर दिया जावे। केवल एक ही पत्र सरकार की तरफ से प्रकाशित हो। जनता को समाचार ही तो चाहिये, और ये समाचार एक पत्र द्वारा भी सुगमता के साथ दिये जा सकते हैं।

नवीन युद्धों का प्रादुर्भाव—यूरोप के विविध राजाओं ने नैपोलियन के इस उत्कर्ष को बहुत आतङ्क तथा आशङ्का की दृष्टि से देखा। निस्सन्देह, नैपोलियन सम्राट् था, पर साथ ही, वह क्रान्ति की कृति था। यूरोप के राजा अच्छी तरह समझते थे, वह उनके ढंग का सम्राट् नहीं है। वह एक प्राचीन राजवंश के खण्डहर पर, क्रान्ति के गम्भीर समुद्र-मंथन से, जनता की इच्छा और सहमति से सम्राट् बना है। उसके हाथ में तलवार है, जो उनके राजसिंहासनों पर लुब्ध क्रूर दृष्टि से देख रही है। बेशक, फ्रांस में फिर से राजसत्ता की स्थापना हो गई है, पर पिछले १० वर्षों की उथल-पुथल ने इस देश में महान् शक्ति का सञ्चार कर दिया है, इसे आमूलचूल परिवर्तन कर दिया है। यह नवीन शक्ति, यह नवीन राष्ट्र पुराने ढंग की राजगद्दियों और दरबारों के लिये भारी खतरे का कारण है। नैपोलियन के व्यक्तित्व ने इस नई शक्ति में नवजीवन का ही सञ्चार किया है। नैपोलियन के सम्राट् बन जाने से फ्रांस में इतना ही परिवर्तन आया है, कि क्रान्ति और परिवर्तन की शक्तियाँ और भी अधिक संगठित तथा नियन्त्रित हो गई हैं। परिणाम यह हुआ, कि यूरोप के विविध राजे-महाराजे इस नये खतरे के विरुद्ध तैयारी में व्यग्र हो गये। उधर नैपोलियन भी युद्ध के लिये उत्सुक था। उसके वैयक्तिक अभ्युदय के लिये आवश्यक था, कि फ्रांस अपनी सैनिक क्षमता को निरन्तर प्रदर्शित करता रहे। १८०२ में राज्यपरिषद् के सम्मुख भाषण करते हुए उसने एक बार कहा था—'यदि यूरोपियन राज्य फिर से युद्ध प्रारम्भ करना चाहते हैं, तो लड़ाई जितनी जल्दी शुरू हो, उतना ही अच्छा है। जितना समय गुजरता जाता है, उनके

पराजयों की स्मृति मन्द पड़ती जाती है, और हमारा विजय गौरव लोगों की दृष्टि से ओझल होता जाता है। फ्रांस को शानदार कृत्यों की आवश्यकता है—इसलिये युद्ध की भी जरूरत है।' १८०४ में एक अन्य अवसर पर नैपोलियन ने कहा था—'यूरोप में तब तक शान्ति स्थापित नहीं हो सकती, जब तक कि सम्पूर्ण महाद्वीप एक शासक के आधीन न हो जाये। यूरोप के ऊपर शासन करनेवाला एक ऐसा सम्राट होना चाहिये, जिसके आधीन विविध राजा कर्मचारी के रूप में कार्य करते हों। जो एक आदमी को इटली का राजा नियत करे, दूसरे को बवेरिया का, एक आदमी को स्विटजरलैण्ड का शासक नियत करे, दूसरे को होलेण्ड का।' निस्सन्देह नैपोलियन का यही आदर्श था, और इसको क्रिया में परिणत करने के लिये युद्ध—निरन्तर और भयङ्कर युद्ध के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं था। परिणाम यह हुआ कि यूरोप में उन भयङ्कर युद्धों का प्रारम्भ हुआ, जो दस वर्ष तक निरन्तर जारी रहे और जिन्होंने यूरोप के नक्शे में भारी परिवर्तन ला दिया। यूरोप के आधुनिक इतिहास में ये युद्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

इङ्गलैंड के साथ युद्ध—फ्रांस के साथ पहले पहल युद्ध उद्घोषित करनेवाला राज्य इङ्गलैंड था। मई १८०३ में आमीन की संधि समाप्त हो गई और फ्रांस और इङ्गलैण्ड में युद्ध शुरू हो गया। इस युद्ध के अनेक कारण थे। फ्रांस और इङ्गलैण्ड में सामुद्रिक साम्राज्य के सम्बन्ध में प्रतिस्पर्धा इसका प्रधान कारण है। निस्सन्देह, नैपोलियन साम्राज्यवादी था। सप्तवर्षीय युद्ध में इङ्गलैण्ड ने फ्रांस के जिस सामुद्रिक और औपनिवेशिक साम्राज्य का अन्त कर दिया था, नैपोलियन उसका पुनरुद्धार करना चाहता था। १८०० में नैपोलियन स्पेन को इस बात के लिये प्रेरित करने में सफल हो गया था, कि अमेरिका में मिसिसिपी नदी की घाटी के प्रदेश को—जो लुसिएना के नाम से प्रसिद्ध है, फ्रांस को दे दे। इसके कुछ समय बाद ही सेनापति लेक्लेर्क को २५०००

सैनिकों के साथ हैयटी के द्वीप पर कब्जा करने के लिये भेजा गया था। भारत में अँग्रेज लोगों के बढ़ते हुए अधिकार और प्रभाव का मुकाबला करने के लिये सेनापति डेकेन को अनेक अफसरों के साथ भेजा गया था। इसी प्रकार अन्यत्र भी अपने साम्राज्य के पुनरुद्धार को दृष्टि में रखकर सेनापति भेजे गये थे। यद्यपि ये प्रयत्न प्रायः असफल ही रहे, पर इङ्गलैंड का अपने प्रतिद्वन्द्वी को इस प्रकार शक्तिसम्पन्न तथा प्रयत्नशील देखकर चिन्तातुर हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। बेशक, इङ्गलैंड की सामुद्रिक शक्ति का मुकाबला कर सकना फ्रांस के लिये सम्भव नहीं था। पर स्थल में फ्रांस की शक्ति अद्वितीय थी। इङ्गलैंड इस महान् सैनिक शक्ति को कदापि सहन नहीं कर सकता था। यूरोप पर फ्रांस का प्रभाव जिस ढंग से बढ़ रहा था, उससे इङ्गलैंड को भारी नुकसान था। कारण यह, कि फ्रांस इङ्गलैंड के यूरोपियन व्यापार को जब चाहे नुकसान पहुँचा सकता था। नैपोलियन यूरोप के अधिकांश भाग को जीतकर अपने आधीन कर लेना चाहता था, और यदि बाह्य व्यापारी माल पर तट कर लगा दिया जावे, तो इङ्गलैंड का सम्पूर्ण व्यापार आसानी से नष्ट किया जा सकता था। यही भयंकर खतरा था, जिसने इङ्गलैंड को आमीन की सन्धि तोड़कर युद्ध करने के लिये बाधित कर दिया। नैपोलियन ने भी इस युद्ध का खुले दिल से स्वागत किया, क्योंकि वह खूब अच्छी तरह समझता था, कि इङ्गलैंड को कुचले बिना सम्पूर्ण यूरोप को अपने आधीन करने के स्वप्न को क्रिया में परिणत नहीं किया जा सकता।

इङ्गलैंड पर आक्रमण की योजना—इङ्गलैंड और फ्रांस में युद्ध शुरू हो गया। हैनोवर के प्रदेश का शासक इङ्गलैंड का राजा ही था। नैपोलियन ने उस पर हमला किया और बात की बात में अपने आधीन कर लिया। फ्रांस के आधीन सब राज्य—जो पहले रिपब्लिक थे और नैपोलियन के सम्राट् बन जाने पर उसके द्वारा नियत किये गये

शासकों के आधीन थे, पूर्णतया उसकी सहायता कर रहे थे। स्पेन को भी इङ्गलैंड के विरुद्ध सहायता करने के लिये नैपोलियन ने तैयार कर लिया था। इस प्रकार हैनोवर से लेकर इटली तक सम्पूर्ण समुद्रीय तट नैपोलियन के कब्जे में था, और इस परिस्थिति का प्रयोग इङ्गलिश व्यापार को नष्ट करने के लिये किया गया। हैनोवर से लेकर इटली तक इङ्गलिश माल का आना सर्वथा रोक दिया गया। सब बन्दरगाह इङ्गलिश माल के लिये बन्द कर दिये गये। इतना ही नहीं, इङ्गलैंड पर हमला करने के लिये धूमधाम से तैयारी की गई। बोलोन में डेढ़ लाख सैनिकों की एक विशाल सेना एकत्रित की गई। नैपोलियन इस बड़ी सेना के साथ अवश्य ही ब्रिटेन पर आक्रमण करता, परन्तु दो कारणों से उसे अपनी योजना का परित्याग करने के लिये बाधित होना पड़ा। इङ्गलैंड का जहाजी बेड़ा इस योजना की सफलता में बड़ी रुकावट था और इसके अतिरिक्त यूरोपियन राज्यों का एक नया गुट फ्रांस के साथ युद्ध करने के लिये संगठित हो गया था।

फ्रांस के विरुद्ध नवीन गुट का निर्माण—यह नया गुट किस प्रकार बना था, इसे स्पष्ट करने की आवश्यकता है। इङ्गलैंड का शासन-सूत्र इस समय फिर पिट के हाथ में आ गया था। पिट फ्रांस और नैपोलियन का पुराना दुश्मन था। आमीन की सन्धि टूट जाने पर युद्ध का संचालन करने के लिये पिट को प्रधान मन्त्री बनाया गया था। पिट अपनी नीति तथा धन के बल से रशिया और आस्ट्रिया को फ्रांस के विरुद्ध युद्ध उद्घोषित करने के लिये तैयार करने में सफल हुआ। एप्रिल १८०५ में रशिया के जार अलेक्जण्डर प्रथम ने फ्रांस के खिलाफ इङ्गलैंड से सन्धि कर ली। इस सन्धि का उद्देश्य यह था कि हालैंड, स्विट्जरलैंड, इटली और हैनोवर से फ्रांस को निकाल बाहर किया जावे। अलेक्जण्डर प्रथम नैपोलियन से बहुत नाराज था, उसकी नाराजगी का एक मुख्य हेतु यह था, कि उसने बोर्बोन वंश के एक व्यक्ति

एन्ध्रीन के ड्यूक को इसलिये प्राणदण्ड दिया था, क्योंकि उस पर राजद्रोह का अभियोग लगाया गया था। आस्ट्रिया भी १८०५ में ही इस नये गुट में शामिल हो गया। आस्ट्रिया फ्रांस के विरुद्ध बनाये गये किसी भी गुट में शामिल होने के लिये हमेशा उत्सुक रहता था। फ्रांस के अभ्युदय से सबसे अधिक नुकसान आस्ट्रिया को ही पहुँचा था। प्रशिया को भी इस गुट में सम्मिलित होने के लिये प्रेरित किया गया, उसके राजा को यह भी लालच दिया गया, कि हैनोवर का प्रदेश उसे दे दिया जायगा, परन्तु प्रशिया का कमजोर राजा फ्रेडरिक विलियम तृतीय इतने पर भी इस गुट में सम्मिलित होने के लिये तैयार नहीं हुआ।

फ्रेंच बेड़े की पराजय—इस नये गुट ने नैपोलियन की इङ्गलैंड पर आक्रमण करने की योजना को मिट्टी में मिला दिया। बोलोन में जो भारी सेना एकत्रित की गई थी, उसे एक दम आस्ट्रिया का मुकाबला करने के लिये दक्षिणी जर्मनी की तरफ भेज दिया गया। २१ अक्टूबर १८०५ के दिन इङ्गलैंड के नौ सेनापति नेल्सन ने ट्राफल्गर के अन्तरीप के समीप फ्रेञ्च और स्पेनिश बेड़े को बुरी तरह परास्त किया। इसके अनन्तर इङ्गलैंड समुद्र में अजेय हो गया। फ्रांस ने जल में इङ्गलैंड का मुकाबला करने का विचार छोड़ दिया। नैपोलियन ने अपना सम्पूर्ण ध्यान स्थल में शक्ति का विस्तार करने के लिये लगा दिया। आस्ट्रिया और रशिया के साथ जो युद्ध अब प्रारम्भ हुए, उनसे नैपोलियन की सैनिक कीर्ति अब अधिक बढ़ गई।

आस्ट्रिया के साथ युद्ध—आस्ट्रिया के साथ युद्ध में नैपोलियन को असाधारण सफलता प्राप्त हुई। तीन सप्ताह में फ्रेञ्च सेनायें वीएना पहुँच गईं। २ दिसम्बर १८०५ के दिन उसने आस्टरलिड्ज नामक स्थान पर रशिया और आस्ट्रिया की सम्मिलित सेनाओं को परास्त किया। इस पराजय के बाद रशियन सेनायें अपने देश को लौट गईं और आस्ट्रिया को सन्धि करने के लिये बाधित होना पड़ा।

प्रैसवुर्ग की सन्धि—२६ दिसम्बर १८०५ को प्रेसबुर्ग में सन्धि कर ली गई। यह सन्धि आस्ट्रिया के लिये बहुत मँहगी पड़ी। कैम्पोफोर्मियो की सन्धि के अनुसार वेनिस के (उत्तरीय इटली में) जिस प्रदेश को आस्ट्रिया ने प्राप्त किया था, वह उससे ले लिया गया। जर्मनी के अनेक राज्यों ने गत युद्ध में फ्रांस से सहानुभूति प्रगट की थी। आस्ट्रिया को नुकसान पहुँचाकर उन सबको इनाम दिया गया। बाडन और बवेरिया के राज्यों की सीमा में वृद्धि की गई। आस्ट्रिया का राजा पवित्र रोमन साम्राज्य होता था। इस स्थिति में जर्मनी के ये विविध राज्य उसके आधीन थे। पवित्र रोमन सम्राट् की स्थिति में आस्ट्रियन राजा को इस बात के लिये बाधित किया गया, कि बवेरिया और वुर्टम्वर्ग के शासकों को प्रशिया और आस्ट्रिया के राजा के समान 'राजा' की स्थिति तक पहुँचा दिया जावे। नेपल्स ने फ्रांस के शत्रुओं से सहानुभूति प्रदर्शित की थी, अतः वहाँ के बोर्बों राजवंश के राजा को राज्यच्युत कर दिया गया और वहाँ पर शासन करने के लिये नैपोलियन के भाई जोसफ बोनापार्ट को नियत किया गया। बटेबियन रिपब्लिक (हालैंड) को भी राजतन्त्र के रूप में परिवर्तित कर दिया गया और वहाँ का राजा लुई बोनापार्ट नियत किया गया। नैपोलियन की बहनों को भी शासन करने के लिये राज्य प्रदान किये गये।

र्‌हाइन के राज्य संघ का सूत्रपात—प्रेसवुर्ग की सन्धि एक अन्य दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। अनेक जर्मन राज्यों को पवित्र रोमन साम्राज्य से पृथक् कर नैपोलियन ने अपनी आधीनता में र्‌हाइन के राज्य संघ का निर्माण किया। इस संघ में बवेरिया, वुर्टम्बर्ग, बाडन, तथा अन्य १३ जर्मन राज्य सम्मिलित हुए। यह संघ फ्रेंच सम्राट् की संरक्षा में बना था और इसकी वही स्थिति थी, जो कि हालैंड की थी। आवश्यकता पड़ने पर फ्रांस के लिये यह भी उसी प्रकार काम

आ सकता था, जैसे हालैंड, स्विट्जरलैंड किसल्पाइन रिपब्लिक आदि आधीनस्थ राज्य। यह व्यवस्था की गई, कि यह संघ अपने संरक्षक नैपोलियन को ६६ हजार सिपाही प्रदान करेगा और फ्रेंच सेनापति इन्हें संगठित करेंगे।

पवित्र रोमन साम्राज्य का अन्त—प्रथम अगस्त १८०६ के दिन पवित्र रोमन साम्राज्य की महासभा के सम्मुख नैपोलियन ने उद्घोषित किया, कि क्योंकि मैंने र्‌हाइन के राज्य संघ के संरक्षक के पद को स्वीकृत कर लिया है, अतः अब मैं पवित्र रोमन साम्राज्य की सत्ता को स्वीकार नहीं कर सकता। यह साम्राज्य अब नाममात्र को ही रह गया था, इसके अधीनस्थ अनेक राज्य अब स्वतन्त्र स्थिति को प्राप्त हो चुके थे। इसकी सत्ता अब पारस्परिक झगड़ों का ही कारण बनी हुई थी। नैपोलियन की इस उद्घोषणा का परिणाम यह हुआ, कि इस प्राचीन साम्राज्य का अन्त हो गया। आस्ट्रिया का राजा, जो हंगरी, बोहेमिया क्रोटिया, गेलिसिया आदि अन्य भी बहुत से राज्यों का राजा था और साथ में पवित्र रोमन सम्राट् के गौरवशाली पद को भी प्राप्त किये हुए था, अब इस पद से विरहित हो गया। ६ अगस्त १८०६ के दिन उसने स्वयं इस पद का परित्याग कर दिया। १८ सदियों से जो सम्मानित पद चला आ रहा था, उसका इस ढंग से अन्त हुआ। पवित्र रोमन सम्राट् अब केवल आस्ट्रिया का राजा ही रह गया।

प्रशिया से युद्ध—र्‌हाइन के राज्य संघ के निर्माण से जर्मनी में नैपोलियन का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया था यह बात प्रशिया कभी सहन नहीं कर सकता था। प्रशिया के राजाओं की बहुत समय से यह महत्त्वाकांक्षा रही थी, कि जर्मनी में अपने प्रभुत्व और प्रभाव को कायम रखा जाय। इसमें नैपोलियन का र्‌हाइन का राज्यसंघ सबसे बड़ी बाधा थी। आखिर, फ्रेडरिक विलियम तृतीत ने यही उचित समझा, कि फ्रांस के खिलाफ गुट में शामिल होने से ही प्रशिया का

भला है। प्रशिया ने फ्रांस के विरुद्ध युद्ध उद्घोषित कर दिया। आस्ट्रिया आस्टरलिट्ज के युद्ध में परास्त होकर फ्रांस से सन्धि कर चुका था। उसका स्थान अब प्रशिया ने ले लिया।

जेना का युद्ध—परन्तु प्रशिया को परास्त करने में नैपोलियन को देर नहीं लगी। १४ अक्तूबर १८०६ को जेना के रणक्षेत्र में प्रशिया की बुरी तरह पराजय हुई। दस दिन बाद नैपोलियन ने प्रशिया की राजधानी बर्लिन में प्रवेश किया। वहाँ जाकर उसने महान् फ्रेडरिक की तलवार को विजयोपहार के रूप में पेरिस भेजा। प्रशिया से बहुत बड़े परिमाण में हरजाना लिया गया। इतना ही नहीं, प्रशिया से कुछ प्रदेश लेकर वेस्टफेलिया के राज्य की सृष्टि की गई और उसका राजा नैपोलियन के छोटे भाई जेरोम बोनापार्ट को बनाया गया।

रशिया का पराजय और टिलसिट की सन्धि—प्रशिया को परास्त करने के बाद रशिया पर आक्रमण किया गया। बात की बात में रशिया भी परास्त कर दिया गया। नैपोलियन की विश्वविजयिनी सेनाओं का मुकाबला करना किसी के लिये भी सम्भव नहीं था। फ्रीडलैण्ड के रणक्षेत्र में १४ जून १८०७ के दिन रशिया और फ्रांस का भयंकर युद्ध हुआ। रशिया की पराजय हुई। आखिर, रशिया और फ्रांस में सन्धि हो गई। यह टिलसिट की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। इस सन्धि के द्वारा फ्रांस के विरुद्ध यूरोपियन राज्यों का गुट सर्वथा टूट गया। आस्ट्रिया पहले ही गुट से अलग हो गया था। प्रशिया को जेना के युद्ध में बुरी तरह परास्त कर दिया गया था। अब रशिया ने भी सन्धि कर ली। शेष बचा केवल इङ्गलैण्ड, जो निरन्तर १० वर्ष तक फ्रांस से लड़ता रहा और जिसके ही अनवरत परिश्रम का परिणाम था कि नैपोलियन को अन्त में पराजय हुई।

टिलसिट की सन्धि से फ्रांस और रशिया में युद्ध ही बन्द नहीं हुआ था, इससे नैपोलियन और जार अलेक्जेण्डर प्रथम ने आपस में एक

गुप्त समझौता भी किया था। इस समझौते के अनुसार यूरोप के इन दो शक्तिशाली सम्राटों ने यह फैसला किया था, कि नैपोलियन को पश्चिमी यूरोप में अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो और जार को पूर्वी यूरोप में। जार अलक्जैण्डर प्रथम ने नैपोलियन से बातचीत में कहा था—'यूरोप क्या है? मैं और तुम ही तो यूरोप हैं।' निस्सदेह, इन दोनों सम्राटों की यही धारणा थी। इस गुप्त समझौते में अलक्जैण्डर ने इङ्गलैंड के विरुद्ध फ्रांस की सहायता करने का भी वचन दिया था।

टिलसिट की सन्धि से महत्त्वपूर्ण परिवर्तन—रशिया और प्रशिया के पराजय के अनन्तर यूरोप के राजनीतिक नकशे में जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए, उनमें वेस्टफेलिया और वारसा के राज्य सबसे प्रमुख हैं। वेस्टफेलया का जिकर पहले किया जा चुका है। पोलैण्ड का प्रदेश प्रधानतया पहले प्रशिया और रशिया के अधीन था। इस समय नैपोलियन ने पोलैण्ड के अधिकांश प्रदेश को लेकर अपनी संरक्षा में वारसा के राज्य का निर्माण किया और इसका शासक सेक्सनी के राजा को नियत किया। सेक्सनी जर्मनी का एक राज्य था। उसके राजा के साथ नैपोलियन की बड़ी दोस्ती थी। वारसा, सेक्सनी और वेस्टफेलिया—ये तीनों राज्य र्हाइन के राज्य संघ में सम्मिलित कर लिये गये और इनके सम्मिलित हो जाने से र्हाइन के राज्य संघ का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया।

इङ्गलिश प्रतिरोध—फ्रांस के विरुद्ध यूरोपियन राज्यों का गुट इस समय पूर्णतया टूट चुका था। परन्तु इङ्गलैंड के साथ अब भी युद्ध जारी था। नैपोलियन को स्थलीय युद्धों में असाधारण सफलता प्राप्त हुई थी। पर समुद्र में इङ्गलैंड की शक्ति अजेय थी। इङ्गलैंड में व्यावसायिक क्रान्ति के कारण जिस अपूर्व क्षमता तथा शक्ति का प्रादुर्भाव हो रहा था, अन्य यूरोपियन राज्यों में उसका सर्वथा अभाव था। इङ्ग-

लैंड के कारखाने इस समय इतनी तेजी के साथ आर्थिक उत्पत्ति करते थे, कि संसार का अन्य कोई भी देश इस क्षेत्र में उसका मुकाबला नहीं कर सकता था। एक ऐतिहासिक ने लिखा है, कि नैपोलियन को वाटर्लू के रणक्षेत्र में परास्त नहीं किया गया था, उसकी वास्तविक पराजय माञ्चस्टर के कपड़े के कारखानों तथा बरमिङ्घम की लोहे की भट्टियों में हुई थी। इस कथन में बहुत कुछ सचाई है। इङ्गलैण्ड अपने व्यापार और व्यवसाय के जोर पर ही नैपोलियन का इतनी व्यग्रता के साथ मुकाबला कर सका था। नैपोलियन भी इस बात को भली भाँति समझता था। वह जानता था, कि इङ्गलैंड पर किसी सेना द्वारा आक्रमण कर सकना तब तक असम्भव है, जब तक उसका जहाजी बेड़ा कायम है। इसलिये उसने इङ्गलैण्ड के व्यापार को तबाह करने का निश्चय किया। नैपोलियन को पूर्ण निश्चय था, कि जब इङ्गलैंड के व्यापार और व्यवसाय को धक्का लगेगा, तब यह "दूकानदारों की कौम" अपने आप सन्धि के लिये याचना करने को तैयार हो जावेगी। इस नीति को क्रिया में परिणत करने के लिये नैपोलियन ने निश्चय किया, कि इङ्गलैंड का कोई भी माल यूरोप में न आने पावे। नवम्बर १८०६ में बर्लिन से एक उद्-घोषणा प्रकाशित की गई, जिसमें कि इङ्गलैंड तथा उसके सम्पूर्ण उप-निवेशों के साथ सब प्रकार का व्यापारिक सम्बन्ध निषिद्ध कर दिया गया। यह उद्घोषित किया गया, कि कोई भी इङ्गलिश जहाज यूरोप के किसी भी बन्दरगाह पर न आने पावे। फ्रांस तथा नैपोलियन के संरक्षित राज्यों में यदि कोई अँग्रेज पाया जावे, तो उसे कैदी समझा जावे तथा उसके माल को जप्त कर लिया जावे। इङ्गलैंड में किसी आदमी को कोई पत्र तथा पैकेट तक न भेजा जावे। यदि किसी पत्र पर अँग्रेजी भाषा में पता लिखा हो, तो उसे भी जप्त कर लिया जावे। नैपोलियन इन आज्ञाओं द्वारा इङ्गलैंड का यूरोप से पूर्ण बहिष्कार कर देना चाहता था। उसकी इस नीति को 'इङ्गलिश' प्रतिरोध के नाम से कहा जाता है।

इस नीति को क्रिया में परिणित करने के लिये नैपोलियन ने कोई भी उपाय उठा न रखा। यूरोप के बड़े भाग पर उसका कब्जा था। आस्ट्रिया और रशिया उसके साथ संधि कर चुके थे। रशिया के साथ संधि के परिणामस्वरूप उत्तरी आर्कटिक सागर से इटली के समुद्रतट तक नैपोलियन का अधिकार था। यूरोप के देशों को वह अपनी इङ्गलिश प्रतिरोध की नीति का अनुसरण करने के लिये बाधित कर सकता था। यदि कोई देश उसकी उपेक्षा करने का साहस करे, तो उसे उपयुक्त सजा देने के लिये नैपोलियन के पास पर्याप्त शक्ति विद्यमान थी।

व्यापारी युद्ध—इस नीति का इङ्गलैण्ड ने यह जवाब दिया, कि उसने भी फ्रेञ्च साम्राज्य के सम्पूर्ण बन्दरगाहों को 'प्रतिरुद्ध' उद्घोषित कर दिया। साथ ही इङ्गलैण्ड ने एक और बुद्धिमत्ता का कार्य किया। वह यह, कि उदासीन राज्यों को अपने साथ व्यापार करने की अनुमति देदी। परन्तु नैपोलियन के पास इसका इलाज मौजूद था। दिसम्बर १८०७ में उसने मिलन (उत्तरी इटली का एक प्रसिद्ध नगर) से एक उद्घोषणा प्रकाशित की, जिसमें यह उद्घोषित किया गया, कि जो कोई देश इंगलैण्ड के साथ व्यापारिक सम्बन्ध रखेगा, उसके जहाजों को लूट लिया जायगा, तथा उसे हर तरह से नुकसान पहुँचाने की कोशिश की जायगी। संसार के आधुनिक इतिहास में यह व्यापारी युद्ध बहुत महत्त्व रखता है। वर्तमान युग के युद्ध मुख्यतया व्यापार और व्यवसाय की प्रतिस्पर्धा के कारण हुए हैं। इस ढंग के युद्धों में फ्रांस और इङ्गलैण्ड का यह युद्ध बहुत महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक है।

'इंगलिश प्रतिरोध' की नीति का सख्ती से प्रयोग—यूरोप के जिस देश ने भी नैपोलियन की 'इङ्गलिश प्रतिरोध' की नीति का उल्लंघन करना चाहा, उसे सख्त दण्ड दिया गया। स्वीडन ने बर्लिन की उद्घोषणा को मानने से इंकार किया। परिणाम यह हुआ, कि नैपोलियन ने रशिया को फिनलैण्ड का प्रदेश स्वीडन से छीन लेने के

लिए प्रेरित किया। जब इससे भी स्वीडन काबू में नहीं आया, तो वहाँ के राजा को राजगद्दी छोड़ने के लिये बाधित किया गया और नैपोलियन ने अपने एक सेनापति बर्नेदो को स्वीडन का राजा नियत किया। हालैण्ड का राजा लुई बोनापार्ट—जो नैपोलियन का भाई था, सदा अपने भाई से विमुख रहता था। उसने भी 'इंगलिश प्रतिरोध' की नीति को अमल में लाने में आनाकानी की। नैपोलियन ने उसे भी राज्यच्युत कर दिया और हालैण्ड को फ्रांस के साथ मिला दिया गया। रोम के पोप ने इस मामले में उदासीन रहना चाहा, पर नैपोलियन यह कब सह सकता था। उसने पोप के राज्य को छीन लिया और इटली के अन्तर्गत कर दिया। पोप अपना क्रोध एक ही तरह से प्रगट कर सकता था। उसने नैपोलियन को धर्म-बहिष्कृत कर दिया। पर नैपोलियन की तलवार के सम्मुख पोप की क्या ताक़त थी। नैपोलियन ने उसे कैद कर लिया। कई सालों तक पोप कैद में पड़ा रहा। पोर्तुगाल के बन्दरगाहों में इङ्गलिश जहाज आते जाते थे। नैपोलियन ने हुक्म दिया कि पोर्तुगाल इङ्गलैण्ड के खिलाफ युद्ध उद्घोषित कर दे और जितने भी अँग्रेज उस देश में हैं, उन सबको कैद कर उनकी सम्पत्ति को जब्त करले। पोर्तुगाल ने इस आज्ञा को मनाने से इंकार किया। परिणाम यह हुआ, कि नैपोलियन ने सेनापति जूनो को पोर्तुगाल पर हमला करने का आदेश दिया। बड़ी ही सुगमता से जूनो ने सम्पूर्ण पोर्तुगाल को जीत लिया। राजकीय परिवार ने पोर्तुगाल से भागकर ब्राजील में आश्रय लिया। विजयी जूनो ने बड़ी धूमधाम से लिस्बन में प्रवेश किया। इस प्रकार बड़ी सख्ती तथा व्यग्रता से नैपोलियन 'इङ्गलिश प्रतिरोध' की नीति को अमल में ला रहा था। हजारों आदमियों को इसलिये सख्त सजायें दी गई थीं, क्योंकि उन्होंने धोखे से इङ्गलिश माल को मँगाने की कोशिश की थी।

स्पेन पर कब्जा—इस प्रकार नैपोलियन निरन्तर अधिक अधिक

शक्तिशाली होता जाता था। सम्पूर्ण यूरोप में उसका आतंक सा छाया हुआ था। यूरोप के सब राजा उसकी उँगली के इशारे पर नाचते थे। पोर्तुगाल को अपने अधीन कर लेने के अनन्तर नैपोलियन को स्पेन के राज्य को भी हस्तगत करने का सुवर्णावसर प्राप्त हुआ। वहाँ के राज्य-परिवार में कुछ झगड़े चल रहे थे। नैपोलियन ने इसका उपयोग कर वहाँ के राजा चार्ल्स चतुर्थ तथा युवराज फर्डिनैण्ड को इस बात के लिए मजबूर किया, कि वे दोनों स्पेन की राजगद्दी से अपने दावे का परित्याग कर दें। ६ जून १८०८ को नैपोलियन ने अपने भाई जोसफ बोनापार्ट को स्पेन का राजा नियत किया। जोसफ पहले नेपल्स का राजा था। वहाँ पर शासन करने के लिये सेनापति मूरे को नियत किया गया। मूरे नैपोलियन का बहनोई भी था। इस प्रकार स्पेन भी नैपोलियन के पूर्णतया अधीन हो गया। स्पेन पहले भी फ्रांस का मित्र तथा आज्ञाकारी था, परन्तु अब तो वहाँ की राजगद्दी पर भी नैपोलियन का कब्जा हो गया।

स्पेनिश जनता ने नैपोलियन के इस कृत्य को सहन नहीं किया। वे विद्रोह करने के लिये कटिबद्ध हो गये। रोमन कैथोलिक पादरियों तथा भिक्षुओं ने यह कहकर लोगों को नैपोलियन के खिलाफ भड़काना शुरू किया, कि वह पोप तथा धर्म का दुश्मन है। युवराज फर्डिनैन्ड इस विद्रोह का नेता बना। फ्रेंच सेना परास्त कर दी गई और जोसफ को मेड्रिड से बाहर निकाल दिया गया। पर शीघ्र ही नैपोलियन ने एक विशाल सेना के साथ स्वयं स्पेन पर आक्रमण किया। इस सेना में दो लाख सैनिक थे। स्पेनिश सेना परास्त हो गई। ४ दिसम्बर १८०८ को मेड्रिड पर फिर नैपोलियन का अधिकार हो गया। स्पेन के आन्तरिक सुधार के लिये नैपोलियन ने अनेक प्रयत्न किये। एक महीने के लगभग स्पेन में रहकर वह फ्रांस वापिस चला गया और अपने भाई जोसफ बोनापार्ट की सहायता के लिये अच्छी बड़ी सेना स्पेन में छोड़ गया।

आस्ट्रिया के साथ युद्ध और वीएना की सन्धि—जिस समय नैपोलियन अपने दो लाख सैनिकों के साथ स्पेनिश विद्रोह को शान्त करने में व्यग्र था, उस समय आस्ट्रिया को अपने पुराने शत्रु फ्रांस से लड़ाई शुरू करने का अच्छा मौका हाथ लग गया। नैपोलियन की बढ़ती हुई शक्ति से आस्ट्रिया बहुत चिन्तित था। रशिया से लेकर इटली तक उसका प्रभाव स्थापित हो चुका था। यूरोप का 'शक्ति समुत्तुलन' इस समय नष्ट हो चुका था और फ्रांस की शक्ति इतनी अधिक बढ़ चुकी थी, कि कोई भी यूरोपियन राज्य व गुट उसका मुकाबला नहीं कर सकता था। ऐसी दशा में स्पेनिश लोगों का विद्रोह आस्ट्रिया के लिये एक सुवर्णीय अवसर था। एप्रिल १८०६ में आस्ट्रिया ने फ्रांस के खिलाफ युद्ध उद्घोषित कर दिया। परन्तु अब फिर नैपोलियन विजयी हुआ। उसने एक दम वीएना पर हमला किया। ५ जुलाई १८०६ को वीएना के समीप वाग्रम नामक स्थान पर आस्ट्रियन सेना बुरी तरह परास्त हुई। आस्ट्रिया को सन्धि की याचना के लिये बाधित होना पड़ा। अक्तूबर १८०६ में सन्धि हो गई, जो कि वीएना की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। इस सन्धि के अनुसार आस्ट्रिया को अपने राज्य का छठा हिस्सा, जिसके निवासियों की संख्या ४० लाख थी, नैपोलियन को अर्पित कर देना पड़ा। यह भी व्यवस्था की गई, कि आस्ट्रिया की सेना १॥ लाख से अधिक न बढ़ने पावे।

नैपोलियन का विवाह—आस्ट्रिया के प्रधान मन्त्री मेटरनिख को अब विश्वास हो गया था, कि नैपोलियन अजेय है, उसे परास्त नहीं किया जा सकता। अतः उसने इसी बात में अपने देश का कल्याण समझा, कि नैपोलियन के साथ स्थिर रूप से सन्धि कर ली जाय। अतः उसने भरपूर कोशिश की, कि नैपोलियन का विवाह आस्ट्रिया की राजकुमारी मेरिया लुईसा से हो जाय। नैपोलियन की पहली स्त्री जोसेफाइन की कोई सन्तान नहीं थी। नैपोलियन सन्तान के

लिये उत्सुक था। साथ ही, वह यह भी चाहता था कि यूरोप के सब से प्राचीन, राजवंश से उसका सम्बन्ध स्थापित हो जाय। हाप्सबुर्ग वंश की राजकुमारी को प्राप्त कर लेना कार्सिका के गरीब वकील के लड़के के लिये कितने गौरव तथा अभिमान की बात थी। नैपोलियन इस विवाह में अपनी एक अत्यन्त ऊँची महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति का अनुभव करता था। अब वह असल में 'सम्राट्' बन जायगा। कुल की दृष्टि से भी उसे कौन हीन समझ सकेगा? जोसेफाइन को तलाक दे दिया गया। मेरिया लुइसा के साथ नैपोलियन का विवाह हो गया। १८११ में इस दम्पति के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। नैपोलियन ने इसे 'रोम का बादशाह' इस उपाधि से विभूषित किया।

अब नैपोलियन की शक्ति अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई थी। प्रायः सम्पूर्ण पश्चिमी और मध्य यूरोप उसके अधीन हो चुका था। सारी दुनिया में नैपोलियन की तूती बोल रही थी। रशिया उसका दोस्त था। प्रशिया की क्या ताकत थी, जो उसे किसी भी किस्म का नुकसान पहुँचा सके। आस्ट्रिया बार बार पराजित होकर सीधे रास्ते पर आ गया था। स्पेन, पोर्तुगाल, इटली, हालैण्ड, स्विट्जरलैण्ड, स्वीडन—सब नैपोलियन के आधीन थे। पर इस समय भी एक देश नैपोलियन की शक्ति के खिलाफ अकेला युद्ध कर रहा था—वह देश था इङ्गलैण्ड। किस प्रकार इङ्गलैंड कोर्सिका के इस गरीब हिम्मती सिपाही को, जिसने इतिहास में एक चमत्कार कर दिखाया था, परास्त करने में समर्थ हुआ, इस पर आगे प्रकाश डाला जावेगा।

चौदहवाँ अध्याय

नैपोलियन का पतन

साम्राज्य की कमजोरियाँ—नैपोलियन का साम्राज्य अपनी चरम सीमा तक पहुँच चुका था। परन्तु यह विशाल साम्राज्य किसी सुदृढ़ आधार पर आश्रित न था। इसमें अनेक कमजोरियाँ थीं। इन्हीं का यह परिणाम हुआ कि यह साम्राज्य देर तक कायम नहीं रह सका। ये कमजोरियाँ निम्नलिखित हैं:—

(१) यह साम्राज्य एक आदमी की प्रतिभा द्वारा बना था। यह एक व्यक्ति की कृति थी। अतः इसकी सत्ता और स्थिति उस एक आदमी के जीवन तथा शक्ति पर निर्भर थी।

(२) शासित जनता की सहमति और सहानुभूति इस साम्राज्य के साथ नहीं थी। लोग इसे नहीं चाहते थे। यह जनता की इच्छा पर कायम न होकर सैनिकशक्ति तथा पाशविक बल पर आश्रित था। सैनिकशक्ति पर आश्रित साम्राज्य देर तक कायम नहीं रह सकते। जब कोई अन्य सेना तथा शक्ति बलवती हो जाती है, तो ऐसे साम्राज्य नष्ट हुए बिना नहीं रहते। नैपोलियन के साम्राज्य में लोकमत तथा लोकतंत्र शासन को कोई स्थान नहीं था, वह एक व्यक्ति की इच्छा पर आश्रित था। यह बात समय की प्रवृत्ति के प्रतिकूल थी।

(३) राष्ट्रीयता की भावना इस समय यूरोप में प्रादुर्भूत होनी प्रारम्भ हो चुकी थी। यह भावना किस प्रकार प्रारम्भ हुई, इस पर हम फिर विचार करेंगे। परन्तु यह स्पष्ट है, कि नैपोलियन का साम्राज्य राष्ट्रीयता के सिद्धान्त पर आश्रित नहीं था, अतः यह नवीन भावना उसे नष्ट करने के लिये पूर्ण प्रयत्न कर रही थी। १८०८ के बाद स्पेन, इटली, जर्मनी तथा अन्य यूरोपियन देशों में जनता भलीभाँति यह अनुभव करने लग गई, कि हम लोग स्पेनिश हैं, इटालियन हैं, व जर्मन हैं। हमें किसी अन्य देश के अधीन नहीं होना चाहिये। हमारा पृथक् स्वतन्त्र राज्य होना चाहिये। संसार के इतिहास में यह एक नई भावना थी। इससे पूर्व लोग यह नहीं समझते थे। इस भावना के कारण राष्ट्रों में जो नई अद्भुत शक्ति उत्पन्न हुई थी, उसका मुकाबला करना नैपोलियन की अपूर्व प्रतिभा तथा फ्रांस की विश्वविजयिनी सेना के लिये भी सर्वथा असम्भव था। नैपोलियन के पतन में यह प्रधान कारण है।

(४) 'इङ्गलिस प्रतिरोध' की नीति से यूरोप के व्यापार को भारी नुकसान पहुँच रहा था। व्यापारियों तथा सम्पत्तिशाली लोगों में इससे भारी असंतोष था। व्यापार के अस्तव्यस्त हो जाने से सर्वसाधारण लोग भी बहुत तकलीफ उठा रहे थे।

(५) नैपोलियन की धार्मिक नीति जनता को बिलकुल भी पसन्द नहीं थी। पादरी तथा भिक्षु लोग उसको बदनाम करने की पूरी कोशिश कर रहे थे। उसने पोप को कैद में डाला था। चर्च को राज्य की कठपुतली बना दिया था। धर्म को अपनी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने का साधन मात्र समझ रखा था। पादरी लोग इन बातों को कैसे सह सकते थे। वे उसे नास्तिक, काफिर तथा ईश्वर का दुश्मन कहते थे। सर्वसाधारण जनता इस धर्मद्वेषी नैपोलियन के बहुत विरुद्ध हो गई थी।

(६) क्रान्ति की जिस भावना से फ्रांस में अनुपम उत्साह तथा शक्ति उत्पन्न हुई थी, वह नैपोलियन के प्रादुर्भाव से अब समाप्तप्राय हो गई थी। राज्यक्रान्ति ने लोगों में जिन नई उमङ्गों तथा बल का सञ्चार किया था, वह अब खतम हो गया था। नैपोलियन को तो इन्हीं भावनाओं, उमङ्गों तथा शक्ति ने इस आश्चर्यजनक स्थिति तक पहुँचा दिया था। पर उसके एकतन्त्र स्वेच्छाचारी सम्राट् बन जाने से इन सबका ही विनाश हो गया था। नैपोलियन ने स्वयं अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मार ली थी। नैपोलियन कोई अलौकिक आदमी तो था ही नहीं। इतिहास में कोई भी व्यक्ति अलौकिक तथा दैवी नहीं होता। वह तो फ्रांस की विशेष परिस्थितियों की उपज था। जब वे परिस्थितियाँ ही नष्ट हो गईं, तो उसके नष्ट होने में क्या देर हो सकती थी ?

इङ्गलैंड का स्पेन में आक्रमण—ये बातें थीं, जो नैपोलियन के पतन में कारण हुईं। इङ्गलैंड अब तक उसके साथ संघर्ष में लगा था। 'इङ्गलिश प्रतिरोध' की नीति से जरा भी न घबराकर इङ्गलैंड जी-जान से फ्रांस का मुकाबला करने में कटिबद्ध था। अगस्त १८०८ में इङ्गलिश सेनापति सर आर्थर वेल्सली (जो वेलिंगटन के ड्यूक के नाम से इतिहास में अधिक प्रसिद्ध है) ने एक अँग्रेजी सेना के साथ पोर्तुगाल में प्रवेश किया। फ्रेञ्च सेनापति जूनो के साथ उसके युद्ध हुए। जूनो परास्त हो गया और पोर्तुगाल छोड़कर वापिस जाने के लिये बाधित हुआ। इसके बाद, जिस समय नैपोलियन आस्ट्रिया के साथ युद्ध में व्यग्र था, तब अवसर देखकर वेल्सली ने स्पेन पर आक्रमण किया। जोसफ बोनापार्ट वेल्सली का मुकाबला नहीं कर सका। परन्तु फ्रेंच सेना को स्पेन से निकाल सकना आसान कार्य नहीं था। इसके लिये निरंतर युद्धों की आवश्यकता थी। अतः वेल्सली ने यह उचित समझा, कि पोर्तुगाल वापस आकर अपनी किलाबन्दी को खूब मजबूत कर लिया जाय। इसके बाद फ्रेंच सेना के साथ निरन्तर युद्ध होता रहे। स्पेन की जनता और

इङ्गलिश सेना एक तरफ थी और नैपोलियन की सधी हुई फ्रेञ्च सेना दूसरी तरफ। यह युद्ध बहुत देर तक जारी रहा। नैपोलियन की तीन लाख सेना तथा बहुत से योग्यतम सेनापति इन युद्धों में फंसे रहे। इन युद्धों का मुख्य परिणाम यह हुआ, कि नैपोलियन स्पेन की तरफ से कभी निश्चिन्त नहीं हो सका। अन्य देशों के साथ युद्ध करते हुए वह कभी भी अपनी सम्पूर्ण शक्ति का उपयोग नहीं कर सका। स्पेन में उसे हमेशा एक भारी सेना रखने की आवश्यकता बनी रहती थी। नैपोलियन के पिछले युद्धों में उसकी असफलता का एक मुख्य कारण यह भी है।

रशिया के साथ युद्ध—यूरोप में देर तक शान्ति कायम नहीं रह सकी। सम्पूर्ण यूरोप में रशिया ही केवल ऐसा राज्य था, जो नैपोलियन के कब्जे से बाहर होने की हिम्मत कर सकता था। रशिया इङ्गलिश प्रतिरोध की नीति से संतुष्ट नहीं था। जार अलक्जैण्डर प्रथम इस बात के लिये तो तैयार था, कि इङ्गलिश जहाजों को अपने बन्दरगाहों पर न आने दे, पर उसे यह उचित नहीं मालूम होता था, कि मिलन की उद्घोषणा के अनुसार इङ्गलैंड से व्यापार करनेवाले अमेरिका आदि उदासीन राज्यों के जहाजों का भी बहिष्कार किया जावे। इसके अतिरिक्त, रशिया इङ्गलिश व्यापार का पूर्णरूप से बहिष्कार करके काम नहीं चला सकता था। टिलसिट के समझौते के अनुसार रशिया को पूर्वी यूरोप में स्वेच्छाचार करने का अधिकार दिया गया था। परन्तु नैपोलियन बाल्कन प्रायद्वीप तथा टर्की के सम्बन्ध में रशिया की नीति में हस्तक्षेप किये बिना नहीं रह सकता था। दूसरी तरफ, नैपोलियन भी रशिया के गर्व का चूर्ण करने के लिये उत्सुक था। वह सोचता था, एक रशिया को हरा दिया जाये, तो सारा यूरोप अपना है। यूरोप भर में एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित करने में केवल एक ही तो बाधा है, और वह है रशिया। यदि उसे परास्त कर अपना आधिपत्य स्थापित

कर लिया जावे, तो मैदान साफ है ! ये कारण थे, जिन्होंने टिलसिट की सन्धि को समाप्त कर दिया। नैपोलियन ने रशिया पर आक्रमण करने के लिये तैयारी प्रारम्भ कर दी। १८१२ में उसने अनुमान किया, कि तैयारी पूर्ण हो गई है। उसके अनेक सलाहकारों ने उसे सावधान भी किया, कि रशिया पर आक्रमण करने में बहुत से खतरे हैं। पर नैपोलियन ने किसी पर ध्यान नहीं दिया। ६ लाख सैनिकों की एक विशाल सेना एकत्रित की गई। एक हजार तोपें साथ ली गईं। नैपोलियन के सम्पूर्ण साम्राज्य से इस आक्रमण के लिये सैनिक एकत्रित किये गये थे।

रशियन आक्रमण—रशिया के इस महान् तथा साहसपूर्ण आक्रमण का इतिहास बहुत ही भयङ्कर तथा करुणामय है। नैपोलियन का विचार था, कि तीन साल में सम्पूर्ण रशिया को जीतकर अपने आधीन कर लिया जावेगा। नैपोलियन निरन्तर आगे बढ़ता गया, रशियन लोग पीछे हटते गये। रशियन लोगों ने युद्ध किया ही नहीं। वे चाहते थे, कि नैपोलियन उनके देश में बहुत अधिक आगे बढ़ जावे। आखिर, ७ सितम्बर १८१२ को बोरोडिनो नामक स्थान पर रशियन सेना ने नैपोलियन का मुकाबला किया। रशियन लोग हार गये। पर रशिया की भयङ्कर मौसम, प्रतिकूल परिस्थिति तथा युद्ध का परिणाम था कि जब विजयी नैपोलियन ने मास्को में प्रवेश किया, तब उसके साथ केवल एक लाख सैनिक रह गये थे। नैपोलियन की सेना को अपने भरण-पोषण के लिये अनाज तथा आश्रय न मिल सके, इसलिये रशियन लोगों ने मोस्को को पहले ही अग्निदेव के अर्पण कर दिया था। रशियन लोगों का यही तरीका था। वे ज्यों-ज्यों पीछे हटते जाते थे, त्यों-त्यों अपने देश को उजाड़ते जाते थे, ताकि नैपोलियन को किसी भी किस्म की मदद न पहुँच सके। नैपोलियन ने मोस्को पर कब्जा तो कर लिया, पर उसे स्थिर रूप से अपने आधीन रख सकना सम्भव नहीं था। सर्दी की

मौसम आ गई थी। रशिया की सर्दी अत्यन्त भयङ्कर होती है, सब ओर बरफ ही बरफ हो जाती है। एक ऐसे सुदूरवर्ती प्रदेश में—जहाँ मनुष्य और प्रकृति दोनों ही दुश्मन हों, रह सकना नैपोलियन के लिये सम्भव न रहा। उसने वापिस लौटने का निश्चय किया। वापस लौटते हुए फ्रेञ्च सेना ने बड़े वीभत्स कष्ट सहे। भयङ्कर सर्दी, भोजन का अभाव और रशियन लोगों के आक्रमणों ने इस सेना की बुरी हालत कर दी। सैनिक इतिहास में नैपोलियन की यह वापसी बहुत ही दुःखपूर्ण घटना है। जब वापिस लौटा, तो उसके साथ केवल २० हजार सैनिक रह गये थे।

नये गुट का निर्माण—इस भयङ्कर दुरवस्था से भी नैपोलियन निराश नहीं हुआ। उसने फिर सेना एकत्रित की। बाधित रूप से सैनिक सेवा की व्यवस्था कर वह एक बार फिर ६ लाख सैनिक एकत्रित करने में समर्थ हुआ। पर इसी समय नैपोलियन के विरुद्ध यूरोपियन राज्यों का एक अन्य गुट संगठित हुआ। इस नये गुट में ग्रेट ब्रिटेन, रशिया, प्रशिया और स्वीडन सम्मिलित हुए। यद्यपि यह गुट राजाओं ने संगठित किया था, पर जनता की सहानुभूति इसके साथ थी। इस समय न केवल राजा, पर जनता भी राजकीय मामलों में दिलचस्पी लेने लग गई थी। राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हो रही थी, और इस नवीन भावना के कारण जनता की शक्ति नैपोलियन का मुकाबला करने के लिये सन्नद्ध हो गई थी। इस नवीन गुट ने अपना उद्देश्य यह उद्घोषित किया, कि हम एक अत्याचारी के पंजे से जनता को—अधीन राष्ट्रों को स्वतन्त्र कराने का उद्योग करेंगे। अलैक्जएडर प्रथम या फ्रेडरिक विलियम तृतीय चाहे इस उद्देश्य को केवल जनता कि सहानुभूति प्राप्त करने के लिये कह रहे हों, पर इसमें सन्देह नहीं कि यह बहुत हद तक ध्रुव सत्य था। वस्तुतः ही नैपोलियन का साम्राज्य राष्ट्रीयता और स्वाधीनता के सिद्धान्तों की जड़ पर कुठाराघात था। इस नये गुट ने इस अस्वा-

भाविक साम्राज्य का अन्त कर सचमुच ही जनता के हित का सम्पादन किया।

सब राष्ट्रों का युद्ध—लाइप्जिग के रणक्षेत्र में प्रशियन और रशियन सेनाओं ने मिलकर नैपोलियन का मुकाबिला किया। इससे कुछ समय पूर्व आस्ट्रिया भी फ्रांस के विरुद्ध गुट में सम्मिलित हो गया था, और उसकी सेनायें भी लाइप्जिग में मौजूद थीं। १६—१६ अक्टूबर १८१३ को यह भयङ्कर युद्ध लड़ा गया, जो कि इतिहास में 'सब राष्ट्रों का युद्ध' के नाम से मशहूर है। इसमें नैपोलियन की पराजय हुई। इस युद्ध में एक लाख बीस हजार से अधिक सैनिक या तो मारे गये या बुरी तरह घायल हुए। पराजित होकर नैपोलियन अपनी अवशिष्ट सेना के साथ राइन नदी पार कर फ्रांस वापिस चला आया। उसके वापिस आते ही राइन का राज्य-संघ नष्ट-भ्रष्ट हो गया।

साम्राज्य का अंत—जर्मनी में पवित्र रोमन साम्राज्य का अन्त कर नैपोलियन ने जिस संघ का निर्माण किया था, वह सैनिक शक्ति पर आश्रित था। इस सैनिक शक्ति के निर्बल होते ही वह संघ छिन्न-भिन्न हो गया। यही नहीं, हालैण्ड और वेस्टफेलिया से भी फ्रेञ्च शासन का अन्त हो गया। जेरोम बोनापार्ट वेस्टफेलिया का परित्याग कर वापिस भाग आया। डच लोगों ने फ्रेञ्च अफसरों को हालैण्ड से निकाल बाहर किया। उधर सर आर्थर वेल्सली (वेलिङ्गटन का ड्यूक) स्पेन में फ्रेञ्च सेनाओं से निरन्तर युद्ध कर रहा था। १८१३ के अन्त तक उसने फ्रेञ्च लोगों को स्पेन से बाहर निकाल दिया।

नैपोलियन का राज्यच्युत होना—यूरोपियन राज्यों के गुट की यह इच्छा नहीं थी, कि नैपोलियन को सर्वथा नष्ट कर दिया जावे। वे उसे फ्रांस की राजगद्दी पर विराजमान रखने के लिये उद्यत थे। फ्रांस का अभिप्राय वे उत्तर में राइन नदी, उत्तर-पश्चिम में आल्पस की पर्वतमाला और दक्षिण में पिरेनीज पर्वत से लेते थे। लुई १४वें की

महत्त्वाकांक्षा इसी सीमा को प्राप्त करने की थी। नैपोलियन को इस विशाल फ्रांस का राज्य प्रस्तुत किया गया। परन्तु वह इतने से संतुष्ट नहीं रह सकता था। उसने फ्रांस की सीमा को नियमित करने से सर्वथा इन्कार कर दिया। उसे अपनी तलवार का भरोसा था। वह किसी भी क़िस्म के समझौते के लिये तैयार नहीं था। आखिर, १८१४ के प्रारम्भ में रशिया, प्रशिया और आस्ट्रिया की ४ लाख सेना ने उत्तरी फ्रांस पर आक्रमण किया। उधर वेलिङ्गटन का ड्यूक दक्षिण की तरफ से फ्रांस पर आक्रमण कर रहा था। उसके साथ इङ्गलिश सेनाओं के अतिरिक्त स्पेन और पोर्तुगाल की भी सेनायें थीं। नैपोलियन के सम्मुख विकट समस्या उत्पन्न हो गई। ३१ मार्च १८१४ के दिन पेरिस पर कब्जा कर लिया गया। नैपोलियन को राज्य छोड़ने के लिये बाधित होना पड़ा। नैपोलियन ने भरपूर कोशिश की, कि वह मुकाबिला करे। पर अब क्या हो सकता था! आखिर, उसे स्वीकार करना पड़ा, कि उसका तथा उसके परिवार का फ्रेञ्च राजगद्दी पर कोई अधिकार नहीं है। उसकी शान रखने के लिये उसकी 'सम्राट्' की पदवी कायम रखी गई और १२ लाख रुपया वार्षिक पैंशिन दे दी गई। साथ ही, एल्बा के छोटे से द्वीप में उसका अबाधित अधिकार स्वीकृत कर लिया गया।

बोर्बो राजवंश का पुनरुद्धार—विजेता राष्ट्रों के सम्मुख अब यह प्रश्न आया, कि फ्रांस की राजगद्दी के विषय में क्या निर्णय किया जाय। इस समस्या का हल करने में देर नहीं लगी। फिर से बोर्बों राजवंश का पुनरुद्धार कर दिया गया। लुई १६वें के भाई को १८वें लुई के नाम से राजगद्दी पर बिठाया गया। नैपोलियन के साम्राज्य का किस प्रकार निबटारा किया जाय, इस बात पर विचार करने के लिये वीएना में एक कांग्रेस बुलाई गई। इस कांग्रेस के सम्बन्ध में हम आगे चलकर विचार करेंगे।

नैपोलियन का वापिस लौटना—इस बीच में नैपोलियन चुप-

चाप नहीं बैठा था। एल्बा के अपने 'साम्राज्य' में कैदी की तरह रहता हुआ यह महान् 'सम्राट्' फ्रांस के आन्तरिक्त परिवर्तनों तथा वीएना की कांग्रेस को बड़े ध्यान से देख रहा था। फ्रांस की जनता १८वें लुई के शासन से संतुष्ट नहीं थी। उसके विरुद्ध असन्तोष निरन्तर बढ़ता ही जाता था। उधर वीएना में एकत्रित राष्ट्र नैपोलियन के साम्राज्य के बटवारे के सम्बन्ध में आपस में खूब लड़-झगड़ रहे थे। नैपोलियन ने देखा, समय आ गया है। अकस्मात् वह एल्बा से भाग निकला और १ मार्च १८१५ के दिन फ्रांस जा पहुँचा। सेना अब भी उसकी भक्त थी। उसने उसका साथ दिया। खून का एक भी कतरा गिराये बिना नैपोलियन एक बार फिर फ्रांस का सम्राट् बन गया। नैपोलियन में एक अद्भुत चामत्कारिक व्यक्तित्व था। वह लोगों को अपने पीछे लगाना जानता था। लोग वीरता तथा अद्भुत कार्यों के पीछे भागते हैं। नैपोलियन सचमुच वीर था। वह आँख मींचकर छलाँग मार सकता था। उसके व्यक्तित्व में एक विशेष प्रकार का जादू था। उसने लोगों से कहा—मैं तुम्हारी कुलीनों, जमींदारों और विषमताओं से रक्षा करने के लिये आया हूँ। जो सबसे बड़ा साम्राज्यवादी और स्वेच्छाचारी था, वह अपने को फिर साम्राट् बनाने के लिये अब लोकतन्त्रवादी तथा क्रान्तिकारी बन गया। नैपोलियन की यही विशेषता थी, वह मौके के अनुसार अपने को बदलना जानता था। दुनिया में ऐसे लोग आसानी से सफल हो जाते हैं।

वाटर्लू का युद्ध—१८वाँ लुई नैपोलियन के प्रगट होते ही फ्रांस छोड़कर भाग गया। सम्पूर्ण यूरोप में सनसनी सी फैल गई। वीएना के कांग्रेस के सम्मुख एक भयानक समस्या उत्पन्न हो गई। सारा यूरोप युद्ध की दुन्दुभी से प्रतिध्वनित हो उठा। फिर से सेनायें संगठित की जाने लगी। वेलिङ्गटन का ड्यूक एक लाख सैनिकों के साथ प्रशिया की एक लाख बीस हजार सेना को मिलने के लिए ब्रुसल्स की तरफ चल

पड़ा। उसका ख्याल था, कि इङ्गलिश और प्रशियन सेना मिलकर नैपोलियन को परास्त करेगी। आस्ट्रिया की सेनायें भी र्‌हाइन नदी की तरफ चल पड़ीं। इस परिस्थिति में नैपोलियन के लिये आवश्यक था कि वह भी तैयारी करे। जल्दी जल्दी में उसने दो लाख सैनिक एकत्रित किए और उनको लेकर उत्तर की तरफ चल पड़ा। उसका विचार था कि इङ्गलिश, प्रशियन और आस्ट्रियन सेनायें परस्पर न मिलने पावें, एक एक करके तीनों को परास्त कर दिया जावे। १८ जून १८१५ के दिन वाटर्लू के रणक्षेत्र में उसने अपने जीवन की अन्तिम लड़ाई लड़ी। सम्भवतः, वह वेलिङ्गटन के ड्यूक की इङ्गलिश सेना को परास्त कर देता, पर सेनापति ब्लूचर की प्रशियन सेना ठीक मौके पर आ गई। उसकी सेना के पैर उखड़ गए। नैपोलियन हार गया। वाटर्लू का युद्ध संसार के इतिहास में अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसने इस बात का अन्तिम रूप से फैसला कर दिया, कि राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद के सिद्धान्त में से किसकी विजय होती है, एक सैनिक संसार का शासन करने में सफल हो सकता है या नहीं।

सेन्ट हेलेना में कैद—वाटर्लू में परास्त होकर नैपोलियन पेरिस वापिस आया। परन्तु वहाँ लफायत के नेतृत्व में पार्लमेण्ट ने शासन-सूत्र को अपने हाथ में सम्हाल लिया था। उसे राजगद्दी प्राप्त करने की कोई सम्भावना न रही। उसने निश्चय किया कि अपने लड़के के लिये स्वयं राजसिंहासन का परित्याग कर स्वयं फ्रांस से भाग जाय। उसे स्वयं ज्ञात नहीं था कि फ्रांस से भागकर कहाँ पहुँचा जाय। सम्भवतः उसका ख्याल अमेरिका जाने का था। परन्तु ब्रिटिश जहाजी बेड़ा फ्रांस के समुद्र तट पर बड़े ध्यान से पहरा दे रहा था, वह नैपोलियन को कैद करना चाहता था। आखिर नैपोलियन ब्रिटिश लोगों के हाथ पड़ गया। नैपोलियन चाहता था, कि उसके साथ एक परास्त राजनीतिज्ञ और पदच्युत सम्राट् का सा व्यवहार किया जावे। पर ब्रिटिश लोग इस बात के लिये

उद्यत न थे। वे उसे भयंकर आदमी समझते थे। एलबा के द्वीप से जिस तरह वह भाग आया था, उसे दृष्टि में रखते हुए यह सुरक्षित नहीं था, कि उस पर कड़ी निगाह न रखी जावे। ब्रिटिश लोग उसे दुनिया के लिये एक भयङ्कर उत्पात समझते थे। उसे संसार की दृष्टि से परे रखने में ही कल्याण था। इसलिये निश्चय किया गया, कि उसे दक्षिणीय अटलांटिक सागर के एक छोटे से द्वीप सेंट हेलेना में ले जा कर कैद कर दिया जावे।

सेण्ट हेलेना में नैपोलियन ६ वर्ष के लगभग रहा। उस पर कड़ा पहरा रखा जाता था। उसने अपना समय मुख्यतया इतिहास तथा अपने जीवन के संस्मरण लिखने में व्यतीत किया। नैपोलियन के लिखे ये इतिहास और संस्मरण आत्मप्रशंसा और कल्पित विचारों से भरे हुए हैं। उसने अपने को क्रान्ति का पक्षपाती तथा क्रान्ति के विचारों का प्रसारक लिखा है। वह लिखता है, कि मैं शान्ति का पक्षपाती था। मैं पददलित राष्ट्रों को स्वतन्त्र कराना चाहता था। परन्तु यूरोपियन राज्यों और विशेषतया इङ्गलैण्ड ने मेरे प्रयत्न को सफल नहीं होने दिया। उसने लिखा है, कि मैं सम्पूर्ण यूरोपियन राज्यों को अमेरिकन कांग्रेस की तरह एक संगठन में संगठित करना चाहता था और मुझे विश्वास है कि एक दिन मेरा यह विचार अवश्य ही क्रिया में परिणत होकर रहेगा।

अन्त—५ मई १८२१ के दिन यह महान् विजेता अपने गौरवमय कृत्यों की रंगभूमि से बहुत दूर एक छोटे से द्वीप में अपनी जीवन-लीला को समाप्त कर गया। उसका मृतक संस्कार वहीं हुआ। २० वर्ष बाद १८४० में उसके मृतशरीर के अवशेषों को बड़े सम्मान के साथ पेरिस ले आया गया, और वहाँ पर एक बड़ी शानदार समाधि में उसके भौतिक अवशेषों को स्थापित कर दिया गया।

पन्द्रहवाँ अध्याय

नैपोलियन का इतिहास में स्थान

संसार के इतिहास में बड़े बड़े विजेताओं और आक्रान्ताओं को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। इतिहास की साधारण पुस्तकों में अलेक्जेंडर, सीजर, महमूद गजनवी, पाम्पे, हैनीबाल और नैपोलियन को जितना अधिक स्थान दिया गया है, उतना बड़े-बड़े धर्म प्रवर्त्तकों, वैज्ञानिकों तथा विचारकों को नहीं दिया गया। जिसने इतिहास का अक्षर भी पढ़ा है, वह सिकन्दर, महमूद और नैपोलियन का नाम जानता है। इतिहास में इन्हें 'महान्' की उपाधि दी गई है और सामान्य पाठक इन्हें महापुरुष समझते हैं। लोगों को ये विजेता और आक्रान्ता बहुत ही बड़े, असाधारण और अद्वितीय व्यक्ति प्रतीत होते हैं। नैपोलियन के सम्बन्ध में हजारों पुस्तकें लिखी गई हैं, इतिहास में उसे बड़ा गौरवपूर्ण स्थान मिला है। नाटक, कविता, उपन्यास—सब में नैपोलियन एक अत्यन्त उज्ज्वल, महान् और सुवर्णीय सत्ता प्रतीत होता है।

परन्तु संसार के इतिहास में नैपोलियन का वास्तविक स्थान क्या है? इस विषय पर लिखते हुए ऐतिहासिक को बड़ी कठिनता का मुकाबला करना पड़ता है। आप यदि नैपोलियन-सम्बन्धी साहित्य को पढ़ें, तो दो प्रकार के लेखक मिलेंगे। एक वे जिन्होंने नैपोलियन को

बहुत ऊँचा चढ़ा दिया है; दूसरे वे, जो उसे अत्यन्त नीच तथा पशु तुल्य समझते हैं। उसके जीवन-काल में लोग नैपोलियन को एक आश्चर्यजनक विजेता समझते थे। उसके अद्भुत वीर गाथाओं से सम्पूर्ण यूरोप व्याप्त हो गया था। फ्रांस के लिये वह अनुपम विजेता था। उसकी तलवार ने फ्रांस की शक्ति को रशिया की बर्फ से आच्छादित घाटियों और आल्प्स की दुर्गम पर्वतमाला से भी परे बहुत दूर तक विस्तृत कर दिया था। फ्रेञ्च लोग क्यों न उसको पूजते? उसी का काम था, कि ईजिप्ट और सीरिया की रहस्यमय अद्भुत वस्तुओं से पेरिस का अद्भुतालय परिपूर्ण हो गया था। इटली, हालैण्ड और स्पेन से करोड़ों रुपये फ्रांस को भेजे गये थे। फ्रांस की जनता उसके जादू भरे कृत्यों से चकित हुई थी। निस्सन्देह, वह उसके इशारे पर नाचती थी। उसकी मृत्यु के बाद जब फ्रांस की दुरवस्था शुरू हुई—फ्रांस का विशाल साम्राज्य बालू की भीत की तरह नष्ट हो गया—तब वहाँ के लोग उसका स्मरण कर आश्चर्य से चकित हो जाते थे। उनकी दृष्टि में एक जादूगर आया था— जो फ्रांस को इतनी दूर—इतने ऊँचे स्थान पर खींच ले गया था। पर उसका जादू का महल उसके साथ ही समाप्त हो गया। फ्रेञ्च लोगों की दृष्टि में नैपोलियन ने वह गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त किया, जो सम्भवतः अन्य किसी व्यक्ति को नहीं मिला। फ्रेञ्च इतिहास, साहित्य और काव्य में नैपोलियन सबसे अधिक उज्ज्वल, शानदार और पूजनीय व्यक्ति बन गया। पर फ्रांस के शत्रुओं की दृष्टि में? नैपोलियन एक भयङ्कर राक्षस था। जो संसार की शान्ति और व्यवस्था को नष्ट करने के लिये उत्पन्न हुआ था। उन्होंने उसे बदनाम करने के लिये जो कुछ भी बन सका, किया। उसके पतन के बाद भी उसके विरुद्ध भावना प्रचण्ड रही। इङ्गलिश ऐतिहासिकों ने नैपोलियन को कभी भी सहानुभूति की दृष्टि से नहीं देखा। न केवल इङ्गलिश पर अन्य यूरोपियन ऐतिहासिक भी उसे घृणा की दृष्टि से देखते रहे।

पर आज नैपोलियन को अपनी जीवन-लीला समाप्त किये एक सदी से अधिक समय व्यतीत हो चुका है। अब उसके सम्बन्ध में ठीक विचार बना सकना असम्भव नहीं रहा है। वस्तुतः नैपोलियन क्रांति की उपज था। फ्रेञ्च राज्यक्रान्ति ने जो असाधारण और अद्भुत शक्ति उत्पन्न की थी, वही नैपोलियन की शानदार विजयों में मुख्य कारण थी। यह नहीं समझना चाहिये, कि नैपोलियन कोई अलौकिक पुरुष था। इतिहास में कोई भी व्यक्ति अलौकिक नहीं होता। सब अपनी परिस्थितियों की कृति होते हैं। क्रांति ने एक अद्भुत शक्ति, एक अद्भुत लहर उत्पन्न की थी, जो यूरोप के अधिकांश देशों को व्याप्त कर रही थी। नैपोलियन तो इस लहर में तैरते हुए दूर से नजर आनेवाले एक बड़े लक्कड़ के समान था। यह लहर नैपोलियन की कृति नहीं थी। उसे जो कुछ भी सफलता हुई, उसने जो कुछ भी विजय प्राप्त की, वह उसकी अलौकिक शक्ति का परिणाम नहीं था। उसमें कोई ऐसी असाधारण शक्ति नहीं थी—जिसने आस्ट्रिया, प्रशिया, स्पेन और रशिया को उसके सम्मुख घुटने टेक देने को विवश कर दिया। वह अद्भुत शक्ति तो उन नई प्रवृत्तियों में—नवीन भावनाओं में थी; जिन्हें फ्रेञ्च राज्यक्रान्ति ने जन्म दिया था, नैपोलियन तो उन प्रवृत्तियों के हाथ में एक कठपुतली की तरह काम कर रहा था। यदि इस बात को हम अपनी दृष्टि में रखें, तो हम नैपोलियन के सम्बन्ध में ठीक-ठीक सम्मति बनाने में समर्थ हो सकेंगे। जहाँ तक उसके गौरवमय असाधारण कृत्यों का सम्बन्ध है, वहाँ तक यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये, कि यह उसके किसी जादू—किसी अलौकिक प्रभाव के परिणाम नहीं थे। वे सब हमले, वे सब विजय क्रान्ति द्वारा प्रादुर्भूत जनता की शक्ति के परिणाम थे। जिस प्रकार पैगम्बर मुहम्मद के कार्य से अरब की जनता में एक अद्भुत शक्ति प्रादुर्भूत हुई थी और उसने अपने समय के सम्पूर्ण सभ्य संसार को व्याप्त कर लिया था--अरब लोगों के विविध सेनापति तो उस

शक्ति के प्रतिनिधि-मात्र थे। इसी प्रकार फ्रेञ्च राज्यक्रान्ति से जो अतुल शक्ति उत्पन्न हुई थी, वह सम्पूर्ण यूरोप को व्याप्त कर रही थी। नैपोलियन, मूरो आदि सेनापति तो उसके प्रतिनिधि—निशान—उपलक्षण-मात्र थे। नैपोलियन अपनी सैनिक प्रतिभा से उनमें अधिक सफल तथा अधिक प्रसिद्ध हो गया, पर वह शक्ति उसकी अपनी कृति नहीं थी।

नैपोलियन की वैयक्तिक योग्यता के सम्बन्ध में अपनी सम्मति बनाने का अवसर हमें तब प्राप्त होता है, जब वह घटनाचक्र से—जटिल परिस्थितियों से, फ्रेञ्च रिपब्लिक का प्रधान कान्सल बन गया था, जब राज्यक्रान्ति का सबसे प्रमुख नेता वही था। प्रधान कान्सल के पद पर अधिष्ठित होने पर नैपोलियन को एक ऐसा अद्भुत अवसर मिला था, जैसा कि उससे पूर्व शायद किसी अन्य व्यक्ति को नहीं मिला। पुराने जमाने का अन्त हो रहा था, नवीन युग की सृष्टि की जा रही थी। विषमता, अन्याय, अत्याचार और संकीर्णता पर आश्रित मध्य-कालीन संस्थायें नष्ट हो रही थीं, और उनके स्थान पर एक ऐसी नई दुनिया का प्रादुर्भाव हो रहा था, जिसमें सब लोग समान हों, कोई किसी पर अत्याचार करनेवाला न हो। सब एक दूसरे को भाई भाई समझें। फ्रांस में यह नया युग बहुत कुछ प्रादुर्भाव हो चुका था और आस-पास के राज्य आँख मींचकर उसका अनुसरण कर रहे थे। सारा यूरोप एक नये युग का स्वप्न देख रहा था। अब इस सम्पूर्ण प्रवृत्ति, इस सारी लहर का नेता था—नैपोलियन। निस्सन्देह, नैपोलियन इस महत्त्वपूर्ण उच्च स्थान पर पहुँच गया था। सारा फ्रांस उसके कब्जे में था—उसकी इच्छा ही वहाँ कानून थी। इसलिये नहीं, कि ईश्वर ने उसे इस पद पर पहुँचाया था, बल्कि इसलिये कि जनता ने उसे यह गौरवपूर्ण सम्मान प्रदान किया था। इस स्थिति का प्रयोग संसार में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने के लिये भी किया जा सकता

था। नैपोलियन नये युग का संस्थापक भी बन सकता था। पर उसने अपने गौवरपूर्ण असाधारण पद का प्रयोग किस काम के लिये किया? क्या क्रान्ति को स्थिर और व्यवस्थित करने के लिये? क्या मांटस्क और रूसो के सिद्धन्तों को एक क्रियात्मक सत्य बना देने के लिये? क्या सम्पूर्ण यूरोप के सम्मुख क्रान्ति के विधायक और उज्ज्वल रूप को प्रगट करने के लिये? नहीं, इसके लिये नैपोलियन ने कुछ नहीं किया। फिर उसने क्या किया? वह १४वें लुई के पीछे चलना चाहता था। उसे टुइलरी के राजप्रासाद में दरबारियों की संगति में रहने में आनन्द अनुभव होता था। उसने अपनी असाधारण शक्ति और स्थिति का प्रयोग फ्रांस में फिर से एकतन्त्र स्वेच्छाचारी राजसत्ता का पुनरुद्धार करने के लिये किया। उसके प्रयत्न से फिर राजदरबार का उद्धार हुआ, लोगों में ऊँच नीच के भाव उत्पन्न हुए, भाषण, लेखन और मुद्रण की स्वतन्त्रता छीन ली गई। क्रांन्ति ने जो कुछ किया था, उस पर पानी फेरने के लिये--नैपोलियन के इन कार्यों का कितना असर हुआ।

वह सीजर का अनुसरण करना चाहता था। रोमन इतिहास उसे बहुत आकर्षित करता था। 'कान्सल' शब्द उसने रोमन इतिहास से ही लिया था। प्राचीन रोमन रिपब्लिक के प्रधान को 'कान्सल' कहते थे, सीजर भी पहले कान्सल बना था। नैपोलियन भी पहले कान्सल बना। फिर सीजर सम्राट् बन गया। नैपोलियन ने भी उसका अनुसरण किया। वह भी 'कान्सल' से 'सम्राट्' बन गया। चाहिये तो यह था कि वह राज्यक्रान्ति द्वारा उत्पन्न 'रिपब्लिक' को स्थिर और व्यवस्थित करता। यह न कर उसने सम्राट् बनने में ही गौरव समझा। इसके बाद उसने जो कुछ भी कार्य किया—वह अपनी 'सम्राट्' की स्थिति को दृढ़ करने के लिये ही किया। फ्रांस के बहिष्कृत कुलीन लोगों को उसने फिर वापिस बुला लिया। रोम के पोप के साथ उसने समझौता किया। किस लिये?

क्या उसे स्वयं रोमन कैथोलिक धर्म में श्रद्धा थी ? क्या वह धर्म को मनुष्यों के लिये उपयोगी समझता था ? नहीं। उसका विचार था कि पोप के पक्ष में हो जाने से उसकी स्थिति बहुत दृढ़ हो जावेगी। धर्म को साथ लिये बिना उसकी राजसत्ता कायम नहीं कर सकेगी—ऐसा उसका विचार था। उसने एक बार कहा था—"धर्म के बिना राज्य में व्यवस्था कैसे रह सकती है ? विषमता के बिना समाज कायम नहीं रह सकता और विषमता रखने के लिये धर्म आवश्यक है। जब एक आदमी भूख के मारे तड़प तड़प कर प्राण दे रहा हो और दूसरे के पास इतनी अधिक सम्पत्ति हो, कि वह यह भी न जानता हो कि वह उसका क्या करे, इस हालत में वह भूखा मरता हुआ मनुष्य कैसे संतुष्ट रह सकता है, जब तक कि धर्म आकर उसे यह न समझावे—कि परमात्मा की ऐसी ही इच्छा है। संसार में अमीर और गरीब दोनों ही रहने चाहियें परंतु परलोक में यह भेद न रहेगा।" नैपोलियन का खयाल था, कि लोगों को संतुष्ट रखने के लिये धर्म के बिना काम नहीं चल सकता। धर्म एक ऐसी उत्तम वस्तु है, जो गरीब, दुखी और अत्याचार पीड़ित लोगों को अपनी दुर्दशा में भी सन्तोष और शान्ति सिखाती है, अपनी दुर्दशा को परम कृपालु मङ्गलरूप भगवान की इच्छा जताकर लोगों को दुखी और दलित रहने के लिये बाधित करती है। नैपोलियन चाहता था, कि इस अत्युत्तम पदार्थ का अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिये प्रयोग करे। पहले जब वह जैकोबिन दल का सदस्य था, तब धर्म को अत्यन्त हानिकारक समझता था और हमेशा उसके खिलाफ रहता था, पर अब अपने स्वार्थ को पूर्ण करने के लिये धर्म का पक्षपाती बन गया था।

अपनी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिये ही नैपोलियन ने ईसाई धर्म का विदेशों में प्रचार करने का संकल्प किया था। उसने लिखा था "मैं चाहता हूँ कि ईसाई मिशनों का फिर से संगठन

किया जावे। रशिया, अफ्रीका और अमेरिका में ये ईसाई मिशनरी मेरे लिये बहुत उपयोगी सिद्ध होंगे। ये जहाँ भी जावेंगे, देशों का ठीक ठीक परिज्ञान प्राप्त कर पावेंगे। उनकी पोशाक को देखकर कोई उन पर सन्देह नहीं करेगा। कोई यह नहीं जान पावेगा कि वे राजनीतिक और व्यापारी दृष्टि से खोज कर रहे हैं।" धर्मप्रचार में भी नैपोलियन का उद्देश्य राजनीतिक और व्यापारिक था।

शिक्षा के क्षेत्र में भी नैपोलियन के विचार बहुत संकीर्ण थे। १७९२ में फ्रांस के क्रान्तिकारियों ने बाधित और मुफ्त शिक्षा की स्कीम तैयार की थी। उनका विचार था, कि एक भी फ्रेञ्च पुरुष व स्त्री ऐसी नहीं रहनी चाहिए, जो शिक्षित न हों। जिस उपाय का अवलम्बन सभी सभ्य देशों में उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग में किया गया, फ्रेञ्च क्रान्तिकारी उसे अठारहवीं सदी में ही प्रयोग में लाने का प्रयत्न कर रहे थे। यदि राज्यक्रान्ति के मार्ग में नैपोलियन की महत्त्वाकांक्षायें एक भारी विघ्न उपस्थित न कर देतीं, तो सम्भवतः फ्रांस में बहुत पहले शिक्षा का प्रसार हो जाता। पर नैपोलियन की दृष्टि में प्रारम्भिक शिक्षा का बहुत महत्त्व नहीं था। वह इस बात की कोई आवश्यकता नहीं समझता था, कि सर्वसाधारण को शिक्षित किया जावे। निस्सन्देह, उसके समय में बहुत से शिक्षालय खुले। पर ये नैपोलियन की प्रतिभा के परिणाम नहीं थे। राज्य क्रान्ति ने लोगों में शिक्षा के लिये प्रबल आकांक्षा उत्पन्न कर दी थी। नैपोलियन तो उसमें एक बाधा रूप ही था। स्त्री शिक्षा के विषय में नैपोलियन के विचार निम्न लिखित थे—मैं नहीं समझता, कि हमें लड़कियों की शिक्षा के सम्बन्ध में किसी योजना को तैयार करने के लिये अपने दिमागों को तकलीफ देने की जरूरत है। उनकी शिक्षा के लिये उनकी मातायें ही काफी हैं। सार्वजनिक शिक्षा उनके लिये किसी काम की नहीं है, क्योंकि उन्हें जनता में आने की आवश्यकता ही

कब होती है। उनके लिये तो रीति रिवाज और व्यवहार की शिक्षा ही पर्याप्त है—आखिर, उन्हें विवाह ही तो करना है। यह मत समझिये कि ये विचार एक ऐसे आदमी के हैं, जो अर्वाचीन काल की रोशनी से पहले उत्पन्न हुआ था। ये विचार एक ऐसे सम्राट् के हैं, जिसे फ्रेञ्च राज्यक्रान्ति की नवीन भावनाओं ने इतने ऊँचे पद पर पहुँचाया था।

नैपोलियन यदि चाहता तो राज्यक्रान्ति के विचारों को न केवल फ्रांस में, अपितु अपने सम्पूर्ण साम्राज्य में फैला सकता था। क्रान्ति द्वारा जिस नवीन युग की स्थापना की जा रही थी और जिससे मनुष्य जाति का अनुपम कल्याण होना था, उसमें नैपोलियन असाधारण रूप से सफलता प्राप्त कर सकता था। पर उसने इस दिशा में जरा भी प्रयत्न नहीं किया। उसके कृत्यों से क्रान्ति के अनेक प्रयोग नष्ट ही हुए। निस्सन्देह उसकी विजयों ने क्रान्ति की भावना को दूर-दूर तक विस्तृत कर दिया था। पर यह होना सर्वथा स्वाभाविक था। जो देश फ्रेञ्च लोगों के संसर्ग में आते थे, वे नई भावनाओं से आप्लावित हुए बिना नहीं रह सकते थे। फ्रेञ्च सेनायें क्रान्ति की लपटों के समान थीं। वे जहाँ जाती थीं, किलों और गाँवों को ध्वन्स करने के साथ साथ पुराने जमाने की गन्दगी के ढेरों को भी भस्म करती जाती थीं। इसमें नैपोलियन की क्या कृति थी? देखना तो यह है, कि जब वह स्वयं फ्रांस का कर्त्ता धर्ता बन गया, तब उसने क्या किया, तब फ्रांस और उसके साम्राज्य का शासन किन सिद्धांतों से किया गया? क्या उस समय क्रान्ति की विजयों और सफलता के लिये कोशिश की गई? नहीं। सत्य बात तो यह है, कि नैपोलियन पुराने जमाने की लहर में बह गया। प्रधान कान्सल के रूप में ही उसने अपने भाई बहिनों को ऊँचे ऊँचे पदों पर नियत किया, बिना इस बात की परवाह किये कि वे उन कार्यों के योग्य हैं, उन्हें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पद दिये गये। यह कितनी स्वाभाविक बात है? पर साथ ही कितनी अनुचित भी है। जिस

प्रकार पुराने जमाने के अमीर उमरा लोग अपने भाइयों, कृपापात्रों और आश्रितों को उचित व अनुचित सब प्रकार के तरीकों से ऊँचे पदों पर पहुँचाने की कोशिश किया करते थे, वैसे ही नैपोलियन ने भी किया। वह इस स्वाभाविक मानवीय निर्बलता से ऊँचा नहीं उठ सका। क्रान्ति का सिद्धान्त था, कि मनुष्यों में ऊँच नीच का भेद कोई नहीं है। प्रत्येक मनुष्य अपनी योग्यता से राजकीय पदों को प्राप्त करने का अधिकारी बनता है। पर इस शक्तिशाली, साहसी और सफल नैपोलियन के भाई बहिन केवल इसलिये बड़े बड़े राज्यों के शासक और कर्त्ता धर्ता बनाये गये, क्योंकि वे उसके निकट सम्बन्धी थे। नैपोलियन उनको खुश करना चाहता था, उनकी दृष्टि में बड़ा बनना चाहता था। अपने घर में—अपने परिवार में बड़प्पन प्रदर्शित करना मनुष्यों के लिये कितना स्वाभाविक होता है।

और जब नैपोलियन सम्राट् बन गया ? फिर १६वें लुई का जमाना वापिस लौट आया। वही राज-दरबार, वही पोशाकें, वही अनुचर और पार्श्वचर—वही सब शान शौकत और धूम धाम। रिपब्लिकन फ्रांस के अधीन अन्य रिपब्लिकन राज्यों में भी अब राजतन्त्र शासन स्थापित किया गया और उन पर शासन करने के लिये नियत किये गये नैपोलियन के भाई बहिन। कहाँ तो फ्रांस की क्रान्तिकारी सेनायें यूरोप भर में राजसत्ता का अन्त करने के लिये संघर्ष कर रही थीं, और कहाँ यह सफल सेनापति रिपब्लिकन राज्यों में एक सत्तात्मिक शासन स्थापित कर रहा था। कितना भारी परिवर्तन था ? फ्रांस की क्रान्तिकारी भावनायें इस महान् सम्राट् के हाथ में पड़कर कितनी विकृत और पतित रूप धारण कर रही थीं।

नैपोलियन को तब तक सन्तोष नहीं हुआ, जब तक कि उसने आस्ट्रिया की राजकुमारी से विवाह कर अपने को यूरोपियन राजाओं की दृष्टि में कुलीन साबित नहीं कर दिया। सचमुच नैपोलियन इस बात

के लिये उत्सुक था, कि लोग उसे अपने से ऊँचा, बहुत अधिक ऊँचा समझें। सब लोग यह भूल जावें, कि वह कोर्सीका के एक ग़रीब वकील का लड़का है, जो ब्रीन के सैनिक शिक्षणालय में अपने साथी कुलीन विद्यार्थियों द्वारा निरन्तर अपमानित किया जाता था। वह चाहता था, कि लोग उसे सम्राट् महान् नैपोलियन समझें, जो कि आस्ट्रिया के पवित्र उच्च हाप्सबुर्ग सम्राट् का जामाता है, और जिसकी महारानी आस्ट्रियन राजकुमारी है। कैसा ऊँचा ख़याल था! राज्यक्रान्ति इन्हीं भावनाओं के प्रसार के लिये तो उत्पन्न हुई थी! रशियन ज़ार अलक्जैण्डर के साथ टिलसिट में बैठकर उसने कैसे ऊँचे भावों को प्रगट किया था ? 'यूरोप क्या है ?' 'हम यूरोप हैं।' जनता कहाँ गई ? यूरोप की जनता नैपोलियन की दृष्टि में कोई स्थान ही नहीं रखती थी। इस दृष्टि से अलक्जैण्डर और नैपोलियन — दोनों बिलकुल एक जैसे विचार रखते थे।

इस स्थिति में हम नैपोलियन के सम्बन्ध में क्या सम्मति प्रगट करें! इसमें तो कोई सन्देह नहीं, कि वह असाधारण शक्तिसम्पन्न, साहसी और जबर्दस्त व्यक्ति था। उसके अन्दर एक किस्म की आकर्षण शक्ति थी, जिससे लोग उसके पीछे लग जाते थे। अपनी योग्यता और सामर्थ्य से ही वह अत्यन्त साधारण स्थिति से ऊँचा उठकर एक महान् सम्राट् के पद को पहुँचा था। पर इस उन्नति में उसकी योग्यता ही एकमात्र कारण नहीं है। नैपोलियन ने जो कुछ कर दिखाया, उसमें उसकी अपनी योग्यता के अतिरिक्त अधिक महत्त्वपूर्ण कारण— बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण कारण वह अद्भुत और अद्वितीय शक्ति है, जिसे फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने उत्पन्न किया था। उसी शक्ति का सहारा लेकर नैपोलियन ने इतनी असाधारण विजय प्राप्त की। उसी शक्ति का दुरुपयोग कर वह एक उच्च सम्राट् के पद को पहुँच गया और सम्पूर्ण यूरोपियन राज्यों के लिये एक भयंकर खतरा बन गया। यदि सैनिक शक्ति और साहस

के अतिरिक्त नैपोलियन में प्रतिभा, विचार और सत्कल्पना भी होती, तो वह अपनी महत्त्वपूर्ण परिस्थितियों का उपयोग और ही प्रकार से करता। उस हालत में 'सब राष्ट्रों का युद्ध' उसके खिलाफ न लड़ा जाता, सब राज्यों की जनता भी अपने राजाओं के साथ उसका मुकाबला करने के लिये न उठ खड़ी होती। यूरोप भर की जनता उसे अपना रक्षक और नेता समझती और उसकी सहायता प्राप्त कर अपने को स्वाधीन बनाने का प्रयत्न करती। नैपोलियन इस गौरवपूर्ण पद को प्राप्त कर सकता था। इसके लिये उसे कितना उत्तम अवसर प्राप्त हुआ था। पर उसने इस क्षेत्र में अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने का प्रयत्न नहीं किया। वह बह गया, उस धारा में—जो गिरावट और पतन की तरफ ले जाती थी।

नैपोलियन के युद्धों में कुल मिला कर ४० लाख के लगभग मनुष्यों के जीवन नष्ट हुए। इतने जीवनों का विनाश किस लिये हुआ? एक आदमी की महत्त्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिये। इससे बहुत कम, सम्भवतः इसके शतांश से नैपोलियन संसार को नवयुग का संदेश देने का कार्य कर सकता था। पर उसका ध्यान ही इस तरफ नहीं था। लुई १६वें का जीवन उसे अधिक आदर्श प्रतीत होता था।

सोलहवाँ अध्याय

नैपोलियन के बाद यूरोप की समस्यायें

क्रान्ति का दमन—फ्रांस की राज्यक्रान्ति को प्रारम्भ हुए एक चौथाई शताब्दि व्यतीत हो चुकी थी। इस बीच यूरोप में भारी उथल पुथल मच गई थी। पुरानी संस्थायें टूट रही थीं, नवीन युग का प्रादुर्भाव हो रहा था। नई और पुरानी दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों में भारी संघर्ष चल रहा था। नैपोलियन परास्त हो गया था, उसके साथ ही फ्रांस का सैनिक गौरव भी मट्टी में मिल गया था। पर इससे नई प्रवृत्तियों का अन्त नहीं हो गया था। 'स्वतन्त्रता समानता और भ्रातृभाव' के निनाद से अब भी यूरोप गूँज रहा था। राष्ट्रीयता की भावना लोगों में नवजीवन उत्पन्न कर रही थीं। एकतन्त्र शासन का स्थान लोकतन्त्र शासन ले रहा था। लोग आपस में बात करते थे, राज्य जनता का है, वोट का हक सबको होना चाहिये। राजा की सत्ता जनता की इच्छा पर आश्रित है। ये सब प्रवृत्तियाँ फ्रेञ्च राज्यक्रान्ति ने उत्पन्न की थीं। १७९२ से लेकर १८१५ तक फ्रांस के खिलाफ जितने भी गुट बने, वे इन प्रवृत्तियों के दुश्मन थे, इन्हें नष्ट करने में ही यूरोप का कल्याण समझते थे। इन गुटों का उद्देश्य क्रान्ति को कुचलना तथा एकतन्त्र शासन को फिर से स्थापित करना था। अब जब कि ये गुट अपने उद्देश्य में सफल हो रहे थे, जब इन्होंने फ्रांस को परास्त कर दिया था,

तब इनका स्वाभाविक रूप से यही प्रयत्न था, कि नई प्रवृत्तियों को सर्वथा नष्ट कर फिर से पुराने जमाने को कायम कर दिया जावे। इङ्गलैण्ड और प्रशिया में नये युग की रोशनी पहुँच चुकी थी, पर वहाँ शासक भी इस बात को अच्छी तरह समझे हुए थे कि उनका कल्याण इसी में है, कि रशिया और आस्ट्रिया के साथ मिलकर नई प्रवृत्तियों को कुचल दिया जाय। इसलिये नैपोलियन को परास्त करनेवाले विजयी राज्यों के सम्मुख पहला प्रश्न यह था, कि कौन से ऐसे उपाय किये जावें, जिनसे क्रान्ति की भावनाओं का नामोनिशान ही संसार से मिट जावे।

मैटरनिख—नैपोलियन के पतन के बाद यूरोप का प्रधान राजनीतिज्ञ का मैटरनिख था। प्रतिक्रिया और क्रान्ति की विरोधी प्रवृत्तियों को मैटरनिख के रूप में एक अत्यन्त योग्य नेता मिल गया था। मैटरनिख का जन्म १७७३ में हुआ था। वह र्‌हाइन नदी के तट पर स्थित कोब्लेन्ट्स नामक स्थान का रहनेवाला था। उसके माता पिता कुलीन श्रेणी के व्यक्ति थे। उसका पालन-पोषण कुलीन वातावरण में हुआ था। जब वह विश्वविद्यालय की शिक्षा प्राप्त कर रहा था, तब उसने फ्रांस से भागे हुए कुलीन परिवारों की दुःख गाथाओं को सुना था। इन गाथाओं तथा राज्यक्रान्ति के वृत्तान्त को सुनकर उसके हृदय में नवीन प्रवृत्तियों के विरुद्ध तीव्र भावना उत्पन्न हो गई थी। उसकी पैतृक सम्पत्ति नैपोलियन ने जब्त कर ली थी, इस कारण वह क्रान्ति तथा नई प्रवृत्तियों का और भी अधिक दुश्मन हो गया था। आस्ट्रिया के प्रधान मन्त्री के परिवार में उसका विवाह हुआ था। इस कारण उसकी महत्ता तथा वैभव बहुत अधिक बढ़ गये थे। अपने श्वसुर-कुल की सहायता से वह यूरोप के सभी राजनीतिज्ञों तथा राजकुलों से परिचित हो गया था। धीरे धीरे आस्ट्रिया के राजनीतिक वातावरण में उसका महत्त्व बढ़ता गया। १८०६ में उसे प्रधान मन्त्री के पद पर नियत किया

गया। इसके बाद मैटरनिख ४० साल तक निरन्तर आस्ट्रिया का प्रधान मन्त्री रहा। इस सुदीर्घ काल में उसने अपनी शक्ति को पूर्णरूप से क्रान्ति की भावनाओं को नष्ट करने तथा पुराने जमाने को स्थापित करने के लिये लगा दिया। उसका सिद्धान्त था, कि क्रान्ति एक ऐसी बीमारी है, जिसका इलाज किया जाना चाहिये। यह एक ऐसा ज्वालामुखी है, जिसका शमन करना आवश्यक है। क्रान्ति एक ऐसा भयङ्कर राक्षस है, जो हर समय सामाजिक व्यवस्था को निगल लेने के लिये तैयार रहता है। वह कहा करता था, कि राजाओं को यह अधिकार है, कि वें अपनी प्रजा के भाग्यों का निबटारा करें। राजा केवल ईश्वर के सम्मुख ही उत्तरदायी होते हैं, जनता के प्रति नहीं। उसका मत था, कि यूरोप को स्वतन्त्रता की जरूरत नहीं है, उसे शान्ति की आवश्यकता है। वह अपने जीवन का यही उद्देश्य समझता था, कि समाज के क्षीण होते हुए संगठन की रक्षा करने के लिये नई प्रवृत्तियों तथा क्रान्ति की भावनाओं को जड़ से नष्ट कर दिया जावे।

केवल मैटरनिख ही नहीं, यूरोप के अन्य राजनीतिज्ञ भी इन्हीं विचारों को मानते थे। उस समय के यूरोपियन वातावरण में ये ही विचार मुख्यतया प्रचलित थे। इन राजनीतिज्ञों का यही सिद्धान्त था कि जनता के अधिकारों की उपेक्षा की जाय। जनता शासन में हिस्सा चाहती है, अपने अधिकार माँगती है—कितनी फिजूल बात है। अधिकार तो राजा के हैं। दुनिया में रिपब्लिकों की जरूरत नहीं है। वैध शासन और अराजकता—एक ही बात है। यह प्रतिक्रिया का युग था। फ्रांस ने जिन नई प्रवृत्तियों को शुरू किया था, उनके विरुद्ध अब भयङ्कर प्रतिक्रिया हो रही थी। तलवार के जोर पर पुराने जमाने को स्थापित करने का उद्योग किया जा रहा था। मैटरनिख इस सम्पूर्ण प्रयत्न का प्रधान पुरोहित था। इसीलिये इस युग को 'मैटरनिख का युग' भी कहते हैं।

नैपोलियन के पतन के बाद यूरोप का पुनः निर्माण करने के लिये वीएना में जो कांग्रेस हुई, उसके सम्मुख सबसे महत्त्वपूर्ण विचारणीय विषय यह था, कि क्रान्ति के भूत से किस प्रकार यूरोप की रक्षा की जावे, और समाज को छिन्न-भिन्न होने से किस प्रकार बचाया जावे।

नैपोलियन के साम्राज्य की व्यवस्था—इसके अतिरिक्त दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न उनके सम्मुख यह था, कि नैपोलियन के साम्राज्य की क्या व्यवस्था की जावे। नैपोलियन की असाधारण विजयों ने यूरोप के पुराने राजवंशों को नष्ट कर दिया था। स्पेन, पोर्तुगाल, इटली, नेपल्स, स्वीडन, हालैण्ड, स्विट्जरलैण्ड, आस्ट्रियन नीदरलैण्ड, पोलैण्ड आदि विविध देशों के पुराने शासक नैपोलियन द्वारा नष्ट कर दिये गये थे। इन सब पर नैपोलियन के बन्धु-बान्धव या सेनापति शासन करते थे। अब उसके पतन के बाद यह प्रश्न था, कि इन विविध राज्यों के शासन की क्या व्यवस्था की जावे। यह प्रश्न बहुत विकट था। क्रान्ति को कुचलने के प्रश्न पर तो सब राज्य सहमत थे, पर इस विषय में उनमें भारी मतभेद थे। यूरोप के सभी राज्य महत्त्वाकांक्षी, साम्राज्यवादी तथा स्वार्थ से परिपूर्ण थे। वे इस बात के लिये उत्सुक थे, कि इस विशेष परिस्थिति से लाभ उठाकर अपने स्वार्थ को सिद्ध किया जावे। इसके अतिरिक्त विविध व्यक्तियों के विविध राजगद्दियों के सम्बन्ध में दावों पर भी गम्भीरता के साथ विचार किया जाना था। उस जमाने में राज्य भी मामूली जायदाद की हैसियत रखते थे। जिस तरह जमीन जायदाद के मामले में अनेक दावेदारी होते हैं, और उन पर कानून की बारीकियों से फैसला करना होता है, उसी प्रकार राज्यों का भी निर्णय होता था। नैपोलियन के साम्राज्य के पतन से जो बहुत से प्रदेश इस समय राजा से रहित थे, उनके दावेदारों की कमी नहीं थी। वीएना की कांग्रेस में इन सबका विचार होकर यह फैसला होता था, कि कौन राज्य किस व्यक्ति के सुपुर्द किया जावे।

चर्च की समस्या—चर्च का मामला और भी विकट था। राज्य-क्रान्ति ने न केवल फ्रांस में, अपितु पश्चिमी यूरोप के बहुत बड़े हिस्से में चर्च की व्यवस्था को सर्वथा नष्ट कर दिया था। प्रोटेस्टेण्ट और रोमन कैथोलिक चर्चों का भेद तो यूरोप में था ही, अब राज्यक्रान्ति के कारण धर्म के विरुद्ध भावना भी बलवती हो गई थी। नैपोलियन ने तो चर्च को सर्वथा राज्य की कठपुतली बना दिया था। पोप को कैद कर तथा उसके राज्य को अपने कब्जे में कर नैपोलियन ने चर्च के सम्पूर्ण रोब को ही धूल में मिला दिया था। पुराने जमाने की स्थापना में लगे हुए वीएना में एकत्रित राजनीतिज्ञों के सम्मुख चर्च की व्यवस्था का भी प्रश्न विद्यमान था।

शान्तिरक्षा का उपाय—साथ ही, ये राजनीतिज्ञ ऐसा उपाय ढूँढ़ने के लिये भी प्रयत्नशील थे, जिससे यूरोप में युद्ध की सम्भावना कम हो जावे। २५ वर्ष के निरन्तर युद्धों से यूरोप के राज्य तंग आ गये थे। इसके अतिरिक्त नैपोलियन के विरुद्ध जो अन्तिम गुट बना था, उसमें यूरोप के बहुत से प्रमुख राज्य सम्मिलित थे। अब इन राज्यों के राजनीतिज्ञों का खयाल था, कि यदि इस गुट को कायम रखा जावे, तो एक ऐसे उपाय का सुगमता से आविष्कार किया जा सकता है, जिससे भविष्य में युद्ध की सम्भावना बहुत कुछ कम हो जावे। इस उपाय को ढूँढ़ निकालना भी उनके सम्मुख एक बहुत महत्त्वपूर्ण समस्या थी।

सत्रहवाँ अध्याय

वीएना की कांग्रेस

पेरिस की सन्धि—जिस समय नैपोलियन को फ्रांस से बहिष्कृत कर एल्बा के द्वीप में भेज दिया गया, और १८वें लुई को गद्दी पर बिठाया गया, उसी समय कुछ महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक मामलों का फैसला कर लिया गया था। ३० मई १८१४ को विजयी राज्यों ने १८वें लुई के साथ सन्धि की थी, जो कि पेरिस की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार फ्रांस पर शासन करने के लिये बोर्बों वंश का अधिकार स्वीकृत किया गया। फ्रांस की वह सीमा निश्चित की गई, जो कि क्रान्ति से पूर्व १ नवम्बर १७९२ के दिन थी। उस दिन जो उपनिवेश फ्रांस के आधीन थे, वे भी उसे वापिस लौटा दिये गये। नैपोलियन के भग्न साम्राज्य से नीदरलैण्ड के राज्य की सृष्टि की गई। यह हालैण्ड और बेल्जियम को मिलाकर बनाया गया था। इस नवीन राज्य पर शासन करने के लिये हालैण्ड के पुराने आरेन्ज राजवंश के अधिकार को स्वीकृत किया गया। स्विट्ज़रलैण्ड को स्वतन्त्र कर दिया गया। जर्मनी के विविध राज्यों को मिलाकर एक नवीन सन्धि की रचना की गई। इटली के विविध पुराने राज्यों का पुनरुद्धार किया गया, और इस प्रकार जो विविध रिपब्लिकन राज्य क्रान्ति द्वारा प्रादुर्भूत हुए थे, उन सबका अन्त कर दिया गया। पेरिस की सन्धि में मोटी-मोटी

बातों का निबटारा कर लिया गया था। शेष बातें वीएना की कांग्रेस के लिये छोड़ दी गई थीं। महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का फैसला वीएना में ही किया जाना था।

कांग्रेस के प्रतिनिधि—सितम्बर १८१४ में वीएना की कांग्रेस प्रारम्भ हुई। संसार के आधुनिक इतिहास में यह कांग्रेस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। राजनीतिज्ञों को इससे बड़ी बड़ी आशायें थीं। टर्की के सिवाय शेष सब यूरोपियन देशों के प्रतिनिधि इसमें सम्मिलित हुए थे। कुल मिलाकर ९० बड़े महाराजा और ५३ राजा—व उनके प्रतिनिधि इसमें एकत्रित थे। आस्ट्रिया का सम्राट् फ्रांसिस प्रथम अपने योग्य प्रधान मन्त्री मेटरनिख के साथ इस कांग्रेस का सम्पूर्ण प्रबन्ध कर रहा था। सब राजे महाराजे उसके अतिथि थे। रशिया का जार अलेक्जैण्डर प्रथम अपने मन्त्री नेसलरोड और जर्मनी के प्रसिद्ध नेता स्टाइन के साथ उपस्थित था। प्रशिया का राजा फ्रेडरिक विलियम तृतीय हार्डनबर्ग और फान हुम्बोल्ड्ट को साथ लेकर आया था। ग्रेट ब्रिटेन ने कैसलरे तथा वेलिङ्गटन के ड्यूक को अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा था। फ्रांस की तरफ से टेलीरां आया था, जो मृदुभाषिता और चाणाक्षता में अपना सानी नहीं रखता था। पोप की तरफ से कार्डिनल गान साल्वी उपस्थित हुआ था। इसके अतिरिक्त अन्य बहुत से प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ और राजे महाराजे यूरोप के भाग्य का निर्माण करने के लिये वीएना में एकत्रित हुए थे। इतने महाराजों, अमीर उमराओं, सरदारों और श्रीमन्तों के उपस्थित होने से वीएना की शान का कोई ठिकाना नहीं रहा था। तरह तरह की बढ़िया पोशाकें सब तरफ नजर आती थीं। धूम-धाम और रौनक का कोई अन्त नहीं था। प्रतिनिधियों का स्वागत करने के लिये आस्ट्रियन सरकार ने कोई कसर नहीं उठा रखी थी। भोज, गान, नाच, तमाशे आदि की कोई हद न थी। यूरोप भर से नाचने गानेवाले इकट्ठे किये गये थे। प्रतिनिधि

की आवभगत करते हुए आस्ट्रियन सरकार दिवालिया तक हो गई थी।

कार्यनीति—कांग्रेस के कार्य का कोई निश्चित ढंग न था। कोई प्रस्ताव पेश नहीं होते थे, वोट लेने की भी व्यवस्था नहीं थी। नाचघर में राज्यों की सीमायें तय होती थीं। नाच-तमाशे देखते हुए राज्यों को बढ़ाने या घटाने का फैसला हो जाता था। गम्भीर से गम्भीर राजनीतिक मामले सहभोजों, तमाशों और संगीत सम्मेलनों में तय कर लिये जाते थे। किसी ने कोई हँसी मजाक की बात कही, औरों को पसन्द आ गई, मान ली गई। जिन देशों के भाग्य का निर्णय हो रहा है, उनकी जनता क्या चाहती है, इसकी किसी को परवाह नहीं थी। रशिया, आस्ट्रिया, प्रशिया और ब्रिटेन के शक्तिशाली प्रतिनिधि जो चाहते थे, हो जाता था। कांग्रेस का कोई निश्चित सभापति नहीं था। मेटरनिख ही प्रधान और मन्त्री, दोनों का कार्य करता था। वह जिस ढंग से चाहता, कार्य चलाता। आस्ट्रिया, प्रशिया, रशिया और ब्रिटेन-इन चार मुख्य राज्यों ने आपस में गुप्त रूप से फैसला कर लिया था, कि सब मामलों पर पहले आपस में फैसला कर लेंगे, फिर उसे कांग्रेस के सम्मुख पेश करेंगे। निर्बल राष्ट्रों की किसी को परवाह न थी। नैपोलियन का पतन करने के लिये जो अन्तिम गुट बना था, उसने डंके की चोट के साथ उद्घोषित किया था, कि हम निर्बल राष्ट्रों को साम्राज्यवादी नैपोलियन के पंजे से मुक्त करना चाहते हैं, पर अब विजयी हो जाने के अनन्तर उन्हें अपने स्वार्थ-साधन के अतिरिक्त अन्य किसी बात की चिन्ता नहीं थी। फ्रांस का प्रतिनिधि टेलीरां ही था, जिसे निर्बल राष्ट्रों की फिकर थी। वस्तुतः, वह इन छोटे राज्यों की सहायता से अपने देश के हितों की रक्षा करना चाहता था। वह इस बात पर जोर देता था, कि कांग्रेस का कार्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार होना चाहिये। परन्तु प्रशियन फान हुम्बोल्डट उसे जवाब देता था 'जिसकी लाठी

उसकी भैंस', हम अन्तर्राष्ट्रीय कानून को मानते ही नहीं। इस प्रक विजयी राज्यों के प्रतिनिधि अपनी ताकत के जोर पर मनमानी क पर तुले हुए थे। पर उनके स्वार्थ भी आपस में टक्कर खाते थे। नि राज्यों को इसी बात का भरोसा था। टेलीरां इन्हीं मतभेदों और भग का लाभ उठाकर अपने उद्देश्य को पूर्ण करने का प्रयत्न कर रहा थ

विचारणीय प्रश्न—वीएना की कांग्रेस के सम्मुख प्रधानत निम्नलिखित कार्य थे—

(१) बेल्जियम, हालैण्ड, र्हाइन का राज्यसंघ, इटली के रा वारसा की डची तथा स्विट्जरलैण्ड की सीमाओं को निश्चित कि जाना था। यह भी निर्णय होना था, कि इन प्रदेशों को पृथक् रा के रूप में रखा जावे या नहीं।

(२) नैपोलियन के जमाने में जो विविध नवीन शासक यूरोप के रंग-मञ्च पर प्रगट हो गये थे, उनका निबटारा होना था। साथ ही पुराने राजवंशों के पुनरुद्धार के विषय पर भी विचार होना था।

(३) फ्रांस फिर कभी इस प्रकार यूरोप की शान्ति और व्यवस्था के लिये खतरा नहीं बन सकेगा, इसका भी इन्तजाम आवश्यक था।

(४) जिन राज्यों ने नैपोलियन की सहायता की थी या उस आज्ञाओं का पालन किया था, उन्हें क्या दण्ड दिया जाये—इस का भी निर्णय किया जाना था।

निर्णय करने के सिद्धान्त—इन समस्याओं का निर्णय बहुत कठि नहीं था, पर शक्तिशाली यूरोपियन राज्यों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा त स्वार्थ भावना ने इसे बहुत कठिन बना दिया था। जार सम्पूर्ण पोलैण्ड अपना अधिकार स्थापित करना चाहता था। प्रशिया की आँख सेक्स पर थी। आस्ट्रिया इटली को हड़प जाना चाहता था, तथा जर्म पर भी पूर्ववत् आधिपत्य स्थापित करना चाहता था। ग्रेट ब्रिटेन इच्छा थी, कि फ्रांस के जिन उपनिवेशों पर गत युद्धों में विजय प्र

की थी, उन्हें अपने कब्जे में रखा जाय। साथ ही, समुद्र पर अपना अधिकार अक्षुण्ण बना रहे। फ्रांस अपने पुराने राज्य को कायम रखने की चिन्ता में था। छोटे राज्यों की अपनी अलग स्कीमें थीं। ऐसी स्थिति में किसी भी मामले का निबटारा सुगमता से किया जा सकना सम्भव नहीं था। विजयी राज्यों का सिद्धान्त तो यह था, कि पराजितों के माल को विजेताओं में बाँट दिया जावे। इसी सिद्धान्त को लेकर वे अपना कार्य कर रहे थे। वे समझते थे, न्याय यह है, कि जितने भी राजा राज्यक्रान्ति से पूर्व यूरोप के देशों का शासन कर रहे थे, उन सबके वंशधरों को फिर से राजगद्दी पर बिठा दिया जाय। पर यह कर सकना सुगम नहीं था। इसलिये निश्चय किया गया, कि उन अन्य राजाओं को कोई न कोई जमीनें देकर संतुष्ट करने का प्रयत्न किया जाय। वीएना में एकत्रित राजनीतिज्ञों के सम्मुख 'राष्ट्रीयता' तो कोई कीमत ही नहीं रखती थी। राष्ट्रीयता की सर्वथा उपेक्षा कर वे 'परमेश्वर' द्वारा पृथिवी का शासन करने के लिये नियत किये गये, राजाओं के अधिकारों और दावों की रक्षा करने के लिये कटिबद्ध थे। आज संसार में 'राष्ट्रीयता' का सिद्धान्त सर्व सम्मत है, पर उस समय यह एक भयंकर तथा क्रान्तिकारी सिद्धान्त था, जिसे राज्यक्रान्ति ने उत्पन्न किया था। उस समय के 'सभ्य' लोग इसे हानिकारक तथा अनुचित समझते थे।

मुख्य फैसले—वीएना की कांग्रेस ने यूरोप के राजनीतिक नक्शे में जो मुख्य-मुख्य परिवर्तन किये, उन्हें यहाँ उल्लिखित करना आवश्यक है—

(१) **फ्रांस**—पिछले दिनों में फ्रांस ने जिन प्रदेशों पर अधिकार प्राप्त कर लिया था, उनमें से बेल्जियम और लुक्सम्बुर्ग हालैण्ड के साथ मिला दिये गये और इन तीनों राज्यों पर शासन करने के लिये आरेन्ज के राजवंश को नियत किया गया। बेल्जियम और लुक्सम्बुर्ग की जनता हालैण्ड की जनता से सर्वथा भिन्न थी। परन्तु वीएना की

कांग्रेस ने इस बात की जरा भी परवाह न कर उन्हें एक ही शासन के आधीन कर दिया। स्विट्ज़रलैण्ड को फिर स्वतन्त्र संघात्मक रिपब्लिक के रूप में परिणत कर दिया गया। फ्रांस में बोर्बों राजवंश का पुनरुद्धार किया गया। उसकी सीमायें वे ही रक्खी गईं, जो कि राज्यक्रान्ति से पूर्व थीं। जब नैपोलियन एल्बा से वापिस आया था, तो फ्रांस की जनता ने उसका साथ दिया था। इस अपराध पर सेवाय के प्रदेश को फ्रांस से छीन लिया गया। फ्रांस को यह अच्छी सजा दी गई थी। उस जमाने का ढंग ही यह था।

(२) **जर्मनी**—नैपोलियन के आक्रमणों से पूर्व जर्मनी में कई सौ राज्य थे। इनमें से अनेक राज्य चर्च की सम्पत्ति थे, अनेक का विस्तार एक शहर से अधिक नहीं था। अधिकांश राज्य छोटे-छोटे थे। नैपोलियन ने इनमें से बहुत से राज्यों का अन्त कर कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण राज्यों को संगठित कर र्हाइन के राज्य सङ्घ का निर्माण किया था। अब यह तो असम्भव था, कि क्रान्ति के युग से पूर्व के सैकड़ों राज्यों का पुनरुद्धार किया जाय। वीएना के राजनीतिज्ञों ने जर्मनी के छोटे-छोटे राज्यों के दावों पर कोई ध्यान नहीं दिया। उन्होंने सब मिलाकर ३८ राज्यों को कायम रखा और उनको एक नवीन संगठन में संगठित किया। इस नवीन जर्मन राज्यसङ्घ (कान्फिडरेशन) की एक केन्द्रीय राजसभा बनाई गई, जिसका नेता आस्ट्रिया को निश्चित किया गया। आस्ट्रिया की अधिकांश जनता जर्मन जाति की ही है। ऐतिहासिक घटनाओं ने उसे बहुत समय तक जर्मनी से पृथक् कर रखा था। पर वस्तुतः वह प्रशिया आदि बहुत से जर्मन राज्यों में से एक था और इस काल में जर्मन राज्यों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था। आस्ट्रिया के नेतृत्व में अब जिस नवीन जर्मन राज्यसङ्घ का निर्माण हुआ था, उसमें सब राज्यों, जिनकी संख्या ३८ थी—के प्रतिनिधि सम्मिलित होते थे। यह स्मरण रखना चाहिये कि ये जनता के

प्रतिनिधि न होकर राजाओं के प्रतिनिधि होते थे और उन्हीं के प्रति उत्तरदायी होते थे। जर्मनी के जिन राज्यों की सत्ता को वीएना की कांग्रेस ने स्वीकृत किया था, उनकी सीमा निश्चित करते हुए बहुत कठिनता का सामना करना पड़ा था। प्रशिया को बहुत से नये प्रदेश दिये गये थे। रहाइन नदी का पश्चिमी प्रदेश, जिसको फ्रांस ने जीतकर अपने अधीन कर लिया था, अब प्रशिया को दे दिया गया। सैक्सनी के राज्य ने पिछले युद्धों में नैपोलियन की सहायता की थी, उसे यह सजा दी गई, कि उसका ४० प्रतिशत प्रदेश प्रशिया के आधीन कर दिया गया। पोलेण्ड और पोमेरेनिया का भी कुछ प्रदेश प्रशिया को दिया गया। नैपोलियन को परास्त करने में प्रशिया का बड़ा हाथ था। अतः स्वाभाविक रूप से उसे वीएना की कांग्रेस में बहुत से प्रदेश प्राप्त हुए और वह यूरोप के प्रथम श्रेणी के राज्यों में गिना जाने लगा। प्रशिया सैनिक दृष्टि से तो पहले ही बहुत उन्नति कर चुका था, अब उसका प्रदेश भी बहुत काफी विस्तृत हो गया।

(३) **इटली**—इटली के विविध राज्यों को फिर से स्थापित किया गया। नेपल्स की राजगद्दी फिर बोर्बों राजवंश के अधीन की गई। पोप के प्रदेश पोप के अधीन किये गये। पीडमौन्ट का राज्य फिर सार्डिनिया के राजा को दिया गया। जिनोआ की प्राचीन रिपब्लिक भी इसी राज्य के साथ सम्मिलित कर दी गई। टस्कनी और मोडेना में फिर से उनके पुराने राजवंशों की स्थापना की गई। परमा का राज्य नैपोलियन की धर्मपत्नी मेरिया लुइसा के—जो कि आस्ट्रिया की राजकुमारी थी, सुपुर्द कर दिया गया। आस्ट्रिया का पहले बेल्जियम पर जो आस्ट्रियन नीदरलैंड के नाम से प्रसिद्ध है, कब्जा था। अब यह प्रदेश हालैण्ड को दे दिया गया था। अतः उसे संतुष्ट करने के लिये बेल्जियम के बदले में वेनिस की प्राचीन रिपब्लिक उसे सौंप दी गई। मिलन तो नैपोलियन के युद्धों से पूर्व ही आस्ट्रिया के आधीन था।

अब मिलन और वेनिस—दो प्रदेश उसके कब्जे में आ गये और इस प्रकार उत्तरी इटली में एक महत्त्वपूर्ण प्रदेश—जो कि लोम्बार्डो-वेनेटियन राज्य के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है, आस्ट्रिया के आधीन हो गया। इस प्रकार इटली में फिर से अनेक राज्य कायम हुए। नैपोलियन के आक्रमणों का एक बड़ा लाभ इटली के लिये यह हुआ था, कि वह प्रधानतया दो राज्यों में संगठित हो गया था—इटली का राज्य और नेपल्स। इससे इटालियन लोगों में अपनी एकता तथा राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न होने लग गई थी। पर अब फिर उसे अनेक भागों में विभक्त कर दिया गया और इटली के एक संगठन में संगठित होने की सम्भावना बहुत समय के लिये दूर जा पड़ी।

(४) **स्वीडन**—फिनलैण्ड का प्रदेश स्वीडन से लेकर रशिया को दे दिया गया। इसी प्रकार पोमेरेनिया का प्रदेश प्रशिया के सुपुर्द किया गया। इनके बदले में नार्वे का राज्य स्वीडन को दे दिया गया। नार्वे पहले डेन्मार्क के आधीन था, पर क्योंकि डेन्मार्क के राजा ने नैपोलियन की सहायता की थी, अतः उसे यह सजा दी गई कि नार्वे उससे छीन लिया गया।

(५) **पोलैंड**—पोलैंड को अनेक टुकड़ों में विभक्त कर रशिया, प्रशिया तथा आस्ट्रिया ने निगल लिया। इससे पूर्व भी पोलैंड को अनेक बार इन राज्यों ने टुकड़े कर आपस में बाँटा था। इस सबका इतिहास लिखने की आवश्यकता नहीं है। इतना निर्दिष्ट करना पर्याप्त है, कि वीएना की कांग्रेस ने पोलैंड का मुख्य भाग रशिया के अर्पित किया। वारसा का जो राज्य नैपोलियन के समय में बनाया गया था, वह भी रशिया को दे दिया गया। पोसन, थोर्न और डान्ट्सिग के प्रदेश प्रशिया के हिस्से में आये। दक्षिणी गेलसिया आस्ट्रिया के सुपुर्द किया गया।

(६) **ग्रेट ब्रिटेन**—ग्रेट ब्रिटेन ने बहुत से नवीन उपनिवेश प्राप्त किये। माल्टा, सेण्ट लूसिया, टोबेगो और मोरिशस—ये द्वीप फ्रांस से लेकर

ब्रिटेन को दिये गये। ट्रिनिडाड और हाण्डरस पहले स्पेन के आधीन थे, वे अब ब्रिटेन को प्राप्त हुए। इसी प्रकार सीलोन, केप कोलोनी और गायना का कुछ प्रदेश हालैण्ड से ब्रिटेन के हाथ लगा। ऊपर से देखने से इन प्रदेशों व उपनिवेशों का विशेष महत्त्व नहीं मालूम होता, पर वस्तुतः ग्रेट ब्रिटेन इसी काल में अपने विशाल सामुद्रिक और औपनिवेशिक साम्राज्य की नींव डाल रहा था। जो द्वीप उसने वीएना की कांग्रेस में प्राप्त किये थे, वे सामुद्रिक शक्ति की दृष्टि से बहुत महत्त्व-पूर्ण थे। विशेषतया, माल्टा, सीलोन, केप कोलोनी और मोरीशस आगे चलकर ब्रिटेन के लिये बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए।

(७) **स्पेन**—स्पेन में फिर से वहाँ के पुराने बोर्बों राजवंश की स्थापना की गई।

दास प्रथा का विरोध—इन विविध राजनीतिक और प्रादेशिक परिवर्तनों के अतिरिक्त वीएना की कांग्रेस ने अन्य भी अनेक निर्णय किये। दास प्रथा के विरुद्ध प्रस्ताव पास हुआ और यह उद्घोषित किया गया, कि यह प्रथा सभ्यता और मानवीय अधिकारों के सर्वथा प्रतिकूल है। परन्तु इस प्रस्ताव को क्रिया में परिणत करना प्रत्येक राज्य की अपनी इच्छा पर छोड़ दिया गया। अठारहवीं सदी में दासों का व्यापार जिस क्रूरता से होता था, दासों पर जिस ढंग से भयङ्कर अत्याचार किये जाते थे, उससे पाश्चात्य संसार के सभ्य विचारशील लोग उद्विग्न हो उठे थे। सबसे पूर्व अमेरिका ने दास प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई, उसके बाद मार्च १८०७ में ब्रिटिश पार्लमैण्ट ने इस प्रथा को नष्ट करने का प्रस्ताव पास किया। १८१३ में स्वीडन ने दास प्रथा को नष्ट किया और एक वर्ष बाद १८१४ में हालैण्ड ने स्वीडन का अनुसरण किया। इस प्रकार वीएना की कांग्रेस से पूर्व ही दास प्रथा के विरुद्ध वातावरण तैयार था और इस विषय में प्रस्ताव पास करना बहुत कठिन बात नहीं थी।

अन्तर्राष्ट्रीय विधान—दास प्रथा के विरुद्ध प्रस्ताव पास करने के अतिरिक्त वीएना की कांग्रेस ने अन्तर्राष्ट्रीय विधान तैयार करने के लिये भी उद्योग किया। यूरोप की नदियों में नौकानयन के लिये विविध देशों में क्या नियम हों, समुद्र का उपयोग विविध राजा किस प्रकार करें और राज्यों के आपस में व्यवहार करने के लिये क्या कायदे हों—इन सब बातों को निश्चित विधान में संगठित किया गया।

वाटर्लू के युद्ध से कुछ दिन पूर्व २ जून १८१५ तक वीएना की कांग्रेस अपने कार्य को समाप्त कर चुकी थी। सब समझौतों को एक निश्चित विधान में एकत्रित कर लिया गया था और उन पर विविध राज्यों के हस्ताक्षर भी हो चुके थे।

कांग्रेस की भूलें—वीएना की कांग्रेस का यह कार्य बीसवीं सदी के ऐतिहासिक को बहुत ही अद्भुत तथा विचित्र प्रतीत होगा। वीएना में एकत्रित राजनीतिज्ञों की दृष्टि में राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का कोई महत्त्व नहीं था। बेल्जियम के लोगों को अपना पृथक् राज्य बनाने का हक है, नार्वे को स्वीडन के साथ नहीं मिलाना चाहिये, फिन लोग रशिया के नीचे नहीं रहना चाहते, पौलैण्ड में जो लोग बसते हैं, वे एक हैं, उन्हें तीन टुकड़ों में बाँटकर तीन लुटेरों के हाथ में नहीं सौंप देना चाहिये, इटली एक देश है, उसे एक संगठन में संगठित करना चाहिये—ये सब विचार वीएना के इन 'महान् राजनीतिज्ञों' को बहुत ही अस्वाभाविक, अनुचित तथा क्रान्तिकारी प्रतीत होते थे। साथ ही राज्य के शासन में जनता की इच्छा को भी कोई स्थान प्राप्त है, यह बात इन राजनीतिज्ञों को समझ नहीं आती थी। जनता का भी कोई अधिकार है, यह इनकी अकल में ही नहीं समाता था। इनकी दृष्टि में यदि किसी के अधिकार थे, तो केवल उन उच्च राजवंशों के, जिन्हें साक्षात् भगवान ने पृथ्वी पर अपना प्रतिनिधि नियत किया है। वीएना में जो कुछ भी हुआ, समय की प्रवृत्तियों के सर्वथा विरुद्ध हुआ,

फ्रांस की राज्यक्रान्ति में जिन प्रवृत्तियों को जन्म दिया गया, वे एक-देशीय नहीं रह सकती थीं। उन्होंने धीरे-धीरे सम्पूर्ण यूरोप ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण संसार को व्याप्त कर दिया था। वीएना में उन प्रवृत्तियों की उपेक्षा की गई। यह सर्वथा स्वाभाविक था, क्योंकि मानवीय जाति की एक निर्बलता है, वह नई बात को जल्दी नहीं समझ सकती, नई प्रवृत्तियों को सुगमता से नहीं पहचान सकती। परन्तु यह स्पष्ट है, कि वीएना में जो कुछ हुआ, वह समय को देखते हुए सर्वथा अनुचित तथा अस्वाभाविक था। यही कारण है, कि अगली एक सदी के यूरोपीय इतिहास ने वीएना की सम्पूर्ण कृति को पलट दिया। १८१५ के बाद १५ साल के अन्दर ही अन्दर बेल्जियम हालैण्ड से पृथक् हो गया। ५० साल में इटली और जर्मनी का स्वरूप सर्वथा परिवर्तित हो गया। इटली एक हो गया—सम्पूर्ण इटली में एक राज्य स्थापित हो गया। जर्मनी ने आस्ट्रिया से पृथक् होकर अपने नवीन संगठन का निर्माण किया। नार्वे को स्वीडन से पृथक् होने में देर नहीं लगी। १९१४—१८ के यूरोपीय महायुद्ध ने तो राज्यों की सीमा को राष्ट्रीयता के आधार पर निश्चित करने में कोई भी कसर उठा नहीं रखी। पश्चिमी संसार में १९वीं सदी का इतिहास राष्ट्रीयता तथा लोकसत्तावाद के सिद्धान्तों और पुराने जमाने के पारस्परिक संघर्ष के वृत्तान्त से परिपूर्ण है। आखिरकार, इन सिद्धान्तों की विजय हुई। आज संसार राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को स्वीकार करता है, स्वभाग्य निर्णय तथा लोकसत्तावाद के सिद्धान्तों में आज किसी को भी सन्देह नहीं रहा है। आज दुनिया वीएना की कांग्रेस के वातावरण से बहुत आगे बढ़ गई है।

कांग्रेस के लाभ—परन्तु वीएना की कांग्रेस से अनेक उत्तम लाभ भी हुए। यूरोप में शान्ति की स्थापना हो गई। चौथाई सदी के निरन्तर युद्धों के बाद यूरोप को शान्ति की बहुत सख्त जरूरत थी। कम से कम इस शान्ति की स्थापना में वीएना की कांग्रेस को अवश्य सफलता हुई।

इसके अतिरिक्त, यह पहला ही अवसर था, जब यूरोप के सम्पूर्ण राज्यों ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किये थे। इससे कम से कम राज्यों को यह तो अनुभव हुआ था, कि हम मिलकर भी कार्य कर सकते हैं, आपस में बातचीत करके किसी एक समझौते पर भी पहुँच सकते हैं। राज्यों की अराजकता को नष्ट करने के लिये यह एक महत्त्वपूर्ण पग था। वीएना में यूरोप भर के प्रतिनिधि एकत्रित हुए थे। उन्होंने मिलकर अपनी समस्याओं पर विचार किया था, चाहे उनके विचार करने का ढंग कितना ही निकम्मा क्यों न हो, चाहे उनके विचार कितने ही पुराने तथा भद्दे क्यों न हों—पर वे एक निश्चित उद्देश्य के लिये इकट्ठे तो हुए थे और समय को देखते हुए यह बात भी कम न थी।

अठारहवाँ अध्याय

यूरोप में शान्ति स्थापना के प्रयत्न

वीएना की कांग्रेस ने अपना कार्य अभी समाप्त किया ही था, कि नैपोलियन एल्बा के द्वीप से निकलकर फ्रांस पहुँच गया। जिस प्रकार वाटर्लू के रणक्षेत्र में उसे सदा के लिये परास्त कर दिया गया, इसका वर्णन पहले किया जा चुका है। नैपोलियन के पतन के अनन्तर यूरोपियन राज्यों को निश्चिन्तता और सन्तोष का साँस लेने का अवसर मिला। यूरोप युद्धों से थक चुका था। केवल राजा ही नहीं, जनता भी शान्ति के लिये उत्सुक थी, लोग लड़ाई से ऊब चुके थे और वस्तुतः यूरोप को इस समय किसी ऐसे उपाय की आवश्यकता थी, जिससे युद्धों की सम्भावना एक अच्छे बड़े समय के लिये दूर हो जाये।

'पवित्र मित्रमंडल'—आस्ट्रिया, रशिया, प्रशिया और ग्रेट ब्रिटेन ने आपस में मिलकर नैपोलियन को परास्त किया था। वीएना में भी ये चार राज्य ही सर्वप्रधान थे। अब इनके कन्धों पर ही इस बात की भी जिम्मेवारी थी, कि युद्ध की सम्भावना को नष्ट करने के लिये उपाय करें। सबसे पूर्व रशिया के जार अलैक्जण्डर प्रथम ने यह प्रस्ताव पेश किया, कि राजा लोग मिलकर एक धार्मिक भाई-चारे का निर्माण करें, और यह मित्रमण्डल यूरोप में शान्ति स्थापित रखने की उत्तरदायिता अपने ऊपर ले। अलैक्जण्डर ने इसको 'पवित्र

मित्रमण्डल' के नाम से पुकारा और अन्य राज्यों से इसमें सम्मिलित होने की प्रार्थना की। प्रशिया के राजा और आस्ट्रिया के सम्राट् ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और 'पवित्र मित्रमण्डल' का मसविदा दिसम्बर १८१५ में प्रकाशित किया गया। इस मसविदे में रशिया, प्रशिया और आस्ट्रिया के राजाओं ने यह उद्घोषित किया, कि वे सब आपस में एक दूसरे को भाई-भाई समझेंगे और एक की विपत्ति को सब अपनी ही विपत्ति मानेंगे। अन्य राजाओं को भी इस मित्रमण्डल में सम्मिलित होने के लिये निमन्त्रित किया गया। बहुत से राज्यों ने निमन्त्रण को स्वीकार भी किया। ब्रिटेन इसमें शामिल नहीं हुआ। टर्की के सुल्तान को निमन्त्रण ही नहीं दिया गया था और पोप ने इसमें सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया था। विचारशील लोग इस मसविदे को धोखेबाजी के सिवा और कुछ नहीं समझते थे। सर्वसाधारण लोगों का ख्याल था, कि जनता के अधिकारों को कुचलने के लिये यह नया गुट बनाया गया है। निस्सन्देह, इस बात में बहुत कुछ सत्यता थी।

चतुर्मुख मित्रमण्डल—'पवित्र मित्रमण्डल' की यह स्कीम कामयाब नहीं हो सकी। इसके दो महीने बाद ही २० नवम्बर १८१५ को रशिया, प्रशिया, आस्ट्रिया और ग्रेट ब्रिटेन—इन चार राज्यों ने मिलकर एक 'चतुर्मुख मित्रमण्डल' का निर्माण किया। यह मित्रमण्डल बहुत देर तक यूरोप के राजनीतिक मामलों का सञ्चालन करता रहा। १८४८ की राज्यक्रान्ति द्वारा इस गुट का विनाश हुआ। इस प्रकार यह चौथाई शताब्दि के लगभग तक यूरोप का भाग्यविधाता बना रहा। इस मण्डल का निर्माण इस उद्देश्य से हुआ था, कि यूरोप में क्रान्तिकारी विचारों को नष्ट किया जावे, नैपोलियन व उसके परिवार का कोई व्यक्ति फ्रांस व यूरोप की किसी राजगद्दी पर न बैठ सके और राजाओं के अबाधित शासन को सर्वत्र अक्षुण्ण रखा जावे। इस मण्डल की धारणा थी, कि किसी भी राज्य के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप किया जा



वीएना की कांग्रेस के बाद १८१५ में यूरोप का मानचित्र
रशिया का राज्य
आयरलैंड
फ्रांस
स्पेन
हंगरी
तुर्की साम्राज्य
काला सागर
वलेचिया
मोरक्को
अलजीरिया
ट्यूनिस

सकता
नवीन
पहुँचेगा
मित्रमए
वस्था क
यूरोप में
के तत्वों

श्र
के लिये
वोट दे
ब्रिटेन—
दिया
रूप से
'चतुर्मुख
लन में
था। वे
थी—पर

दूस
हुआ।
विचार
प्रशिया
इन रा
करने
अधिका
कहना
हस्तक्षेप

फा

सकता है। यदि यूरोप के किसी कोने में भी क्रान्ति की भावनायें व नवीन प्रवृत्तियाँ बलवती होंगी, तो उससे सम्पूर्ण राज्यों को नुकसान पहुँचेगा। जनता में किसी प्रकार का असन्तोष हो, उसको दबाना यह मित्रमण्डल अपना कर्तव्य समझता था। इस मण्डल ने यह भी व्यवस्था की, कि समय समय पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन होते रहें, जिनमें कि यूरोप में शान्ति स्थापना के सम्बन्ध में विचार होता रहे तथा अशान्ति के तत्त्वों को नष्ट करने के उपायों का निश्चय किया जाता रहे।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन—यूरोपियन समस्याओं पर विचार करने के लिये पहला सम्मेलन एक्स-ला-शापेल में १८१८ में हुआ। इसमें वोट देने का अधिकार केवल रशिया, प्रशिया, आस्ट्रिया और ग्रेट ब्रिटेन—इन चार राज्यों को ही था। पीछे से फ्रांस को भी यह हक दे दिया गया, क्योंकि उसने पेरिस की सन्धि की सम्पूर्ण शर्तों को पूर्ण रूप से क्रिया में परिणत कर दिया था। इस प्रकार अब यह मण्डल 'चतुर्मुख' के स्थान पर 'पञ्चमुख' हो गया। अन्य राज्यों को इस सम्मेलन में निमन्त्रित तो किया गया था, पर उन्हें वोट का अधिकार नहीं था। वे अपने विचार प्रगट कर सकते थे, उनसे सलाह ली जा सकती थी—पर इसके अतिरिक्त उनका कोई अधिकार नहीं था।

दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन १८२० में ट्रोप्पा नामक स्थान पर हुआ। १८२० में स्पेन और नेपल्स में क्रान्तियाँ हुई थीं और उन्हीं पर विचार करने के लिये यह सम्मेलन बुलाया गया था। इसमें रशिया, प्रशिया और आस्ट्रिया ने 'हस्तक्षेप के सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया। इन राज्यों का कहना था, कि यदि क्रान्ति द्वारा सरकारों को परिवर्तन करने का प्रयत्न किया जायगा, तो हमें उसमें हस्तक्षेप करने का पूर्ण अधिकार होगा। ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने इसका विरोध किया। उनका कहना था कि यह कार्य प्रत्येक राज्य का अपना है। दूसरों को इसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।

तीसरा सम्मेलन लैबख में सन् १८२१ में हुआ। इस समय नेपल्स में विद्रोह हुआ था। इस सम्मेलन ने आस्ट्रिया को यह अधिकार दिया कि नेपल्स के आन्तरिक मामले में हस्ताक्षेप कर विद्रोह को शान्त करे। इस प्रकार हस्ताक्षेप के सिद्धान्त को क्रिया में परिणत किया गया और आस्ट्रिया ने नेपल्स के विद्रोह को शान्त किया। इसी समय ग्रीस में टर्की के शासन के विरुद्ध ग्रीक लोगों ने विद्रोह किया था। रशिया ने इस विषय में उद्घोषित किया, कि हम इस प्रकार के विद्रोहों को बिलकुल पसन्द नहीं करते और क्रान्तिकारियों को सावधान करते हैं, कि वे आगे से इस प्रकार का कार्य कभी न करें।

१८२२ में वेरोना नामक स्थान पर चतुर्थ अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन किया गया। इस समय स्पेन तथा उसके अमेरिकन उपनिवेशों में विद्रोह हो रहे थे। इसी प्रकार पीडमौन्ट तथा ग्रीस में भी विद्रोह की अग्नि भड़क रही थी। पीडमौन्ट में हस्ताक्षेप करने का अधिकार आस्ट्रिया को दिया गया। स्पेन का मामला फ्रांस के तथा ग्रीस का मामला रशिया के सुपुर्द किया गया। 'पञ्चमुख मित्रमण्डल' अमेरिकन उपनिवेशों के मामले में भी हस्तक्षेप करना चाहता था। पर संयुक्तप्रान्त अमेरिका इस बात को नहीं सह सका। वहाँ की सरकार ने उद्घोषित किया, कि नई दुनिया (अमेरिका) के मामलों में पुरानी दुनिया (यूरोप) हस्तक्षेप न करे। इसी प्रकार अमेरिका भी यूरोपियन झगड़ों से कोई सम्बन्ध न रखे। संयुक्तप्रान्त अमेरिका के उस समय के राष्ट्रपति मुनरो के नाम से यह सिद्धान्त 'मुनरो सिद्धान्त' के नाम से मशहूर है, और इसी के कारण यूरोपियन राज्य अमेरिकन राज्यों में हस्तक्षेप न कर सके और वे स्पेन की अधीनता से स्वतन्त्र हो गये।

मित्रमण्डल का पतन—निस्सन्देह, यह मित्रमण्डल यूरोप में शान्ति स्थापित रखने के कार्य में बहुत कुछ सफल हुआ। जहाँ तक शान्ति स्थापना का उद्देश्य था, वहाँ तक इसकी उपयोगिता थी और

इसका कार्य वस्तुतः लाभदायक था। पर नई प्रवृत्तियों को कुचलने की कोशिश बहुत ही अनुचित तथा हानिकारक थी। एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन से तंग आये हुए लोग जब अपने अधिकारों के लिये संघर्ष करने को उतारू होते थे, तो यह 'मित्रमण्डल' उन्हें कुचल देने के लिये यूरोप भर की सम्मिलित शक्ति को लेकर आ खड़ा होता था। जनता की नई भावनाओं का यह सबसे बड़ा दुश्मन था। कुछ समय तक इसे निरन्तर सफलता होती रही, पर आखिरकार इसके विरोध में भी शक्तियाँ संगठित होने लगीं। ट्रोप्पा के सम्मेलन में ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने इसके सिद्धान्तों का घोर विरोध किया था। 'मुनरो सिद्धान्त' स्पष्टरूप से इसके विरोध में था। १८३० और १८४८ की क्रान्तियों ने इसे जबर्दस्त धक्के दिये थे। इन सब कारणों से यह चतुर्मुख या पञ्चमुख मित्रमंडल आखिर नष्ट हो गया और नई प्रवृत्तियों को क्रिया में परिणत होने का द्वार खुल गया।

उन्नीसवाँ अध्याय

यूरोप में प्रतिक्रिया का काल

१. फ्रांस में प्रतिक्रिया का युग

१६वें लुई का शासन—नैपोलियन के पतन के बाद १६वें लुई के भाई को १८वें लुई के नाम से फ्रांस की राजगद्दी पर बिठाया गया। क्रान्ति के प्रारम्भ होने पर जब अनेक कुलीन तथा राज-परिवार के व्यक्ति फ्रांस से भाग गये थे, तब यह भी उनके साथ चला गया था और यूरोपियन राजाओं के साथ मिलकर निरन्तर क्रान्ति के विनाश के लिये प्रयत्न कर रहा था। १६वें लुई को प्राणदण्ड मिलने के पश्चात् यह अपने को फ्रांस की राजगद्दी का वास्तविक उत्तराधिकारी समझता था। २० वर्ष तक यह निरन्तर इसके लिये कोशिश करता रहा। क्रान्ति और उसके बाद नैपोलियन के पतन के लिये उसने भरपूर कोशिश की और आखिर वह अपने प्रयत्नों में सफल हुआ। जब वह राजगद्दी पर बैठा, तो उसका कोई खास विरोध न हुआ। फ्रांस की जनता बोर्बों राजवंश के शासन के आधीन रहने के लिये अभ्यस्त थी। क्रान्ति उन्हें नई तथा अद्भुत सी चीज मालूम होती थी। उस जमाने में सर्वसाधारण जनता राजनीतिक मामलों में बहुत अधिक दिलचस्पी नहीं लेती थी। क्रान्ति तथा उससे उत्पन्न रिपब्लिक प्रधानतया जैकोबिन दल की कृति थी। जनता का अधिकांश भाग इस बात से बेपरवाह था कि कौन

राजगद्दी पर बैठता है और पेरिस में किसका प्रभुत्व स्थापित होता है। जब रिपब्लिक का ढोंग कायम रखकर नैपोलियन ने सम्पूर्ण शासन-सूत्र को अपने हाथ में ले लिया, तो फ्रांस की सर्वसाधारण जनता को विशेष आश्चर्य नहीं हुआ। जब नैपोलियन सचमुच सम्राट् बन गया, तब भी जनता को विशेष चिन्ता नहीं हुई और अब जब कि फिर बोर्बों राजवंश का ६० वर्ष का बूढ़ा आदमी उनके भाग्य का विधाता बन गया—तब भी उन्होंने इसे एक सामान्य सी बात ही समझा। वास्तविक बात यह है, कि फ्रांस की अधिकांश जनता अब तक भी हृदय से राजसत्ता की पक्षपाती थी। जनता में परिवर्तन बहुत धीरे-धीरे आता है। वह नये विचारों को एकदम ग्रहण नहीं कर सकती। सैकड़ों वर्षों से फ्रांस में एक राजा का शासन चला आ रहा था, जनता को उसके शासन में रहने का अभ्यास था, राजसत्ता को मानने के संस्कार उसमें बहुत गहरे थे। ये आसानी से नहीं बदल सकते थे।

परन्तु राज्यक्रान्ति ने २५ वर्ष तक जो काम किया था, वह भी नष्ट नहीं किया जा सकता था। आखिर, क्रान्ति भी एक ध्रुव सत्य घटना थी। लाखों आदमियों का खून व्यर्थ में ही नहीं बहा था। बोर्बों वंश फिर फ्रांस की राजगद्दी पर आया, पर जमाना बहुत बदल चुका था। बोर्बों वंश के साथ पुराना जमाना वापस नहीं आया। सामन्त पद्धति अब भूतकाल की चीज हो चुकी थी। चर्च अब राज्य का मुकाबला नहीं कर सकता था। कुलीन और पुरोहित श्रेणियों के विशेषाधिकारों को अब स्वीकृत नहीं किया जा सकता था। कानून की दृष्टि में सब लोग बराबर हो चुके थे। 'मुद्रित पत्रों' से अब किसी को कैद नहीं किया जा सकता था। स्वतन्त्र भाषण, स्वतन्त्र लेखन और अपने विश्वासों व अन्तरात्मा के अनुसार धार्मिक विधिविधानों का अनुसरण—ये ऐसी बातें थीं, जिन्हें अब बोर्बों राजवंश नष्ट नहीं कर सकता था, इसलिये १८वें लुई ने राजगद्दी पर बैठकर भी क्रान्ति के सिद्धान्तों

को कायम रखा। उसने क्रान्ति के कार्य पर पानी फेरने का प्रयत्न नहीं किया। यदि वह चाहता, तो भी यह उसके वश के बाहर बात थी। क्रान्ति को सर्वथा मिटा सकना उसके लिये असम्भव था।

जून १८१४ की घोषणा—वैध राजसत्ता की स्थापना—जून १८१४ में १८वें लुई ने एक उद्घोषणा प्रकाशित की। इसके अनुसार फ्रांस के वैध राजसत्ता शासन स्थापित करने की घोषणा की गई। फ्रांस का शासन करने के लिये एक पार्लियामेंट बनाई गई, जिसमें दो सभायें थीं। एक सरदारों की सभा और दूसरी राष्ट्र प्रतिनिधि सभा। सरदारों की सभा के सदस्य राजा द्वारा मनोनीत किये जाते थे और राष्ट्र प्रतिनिधि सभा के सदस्यों को जनता चुनती थी। निर्वाचन का अधिकार सब नागरिकों को नहीं दिया गया। जिनकी आयु ३० वर्ष से कम न हो और जो कम से कम १८० रु० वार्षिक टैक्स देते हों, उन्हीं को वोट का अधिकार दिया गया। इस प्रकार अमीर लोग ही निर्वाचन में हिस्सा लेते थे, राष्ट्र प्रतिनिधि सभा सर्वसाधारण जनता की प्रतिनिधि नहीं थी, वह अमीर लोगों की हा सम्मति को प्रगट कर सकती थी। परन्तु यदि इङ्गलैण्ड के उस समय के शासन-विधान से तुलना की जाय, तो फ्रांस का यह शासन-विधान निस्सन्देह अधिक लोकसत्तात्मक था। प्रतिक्रिया के काल में ही फ्रांस का यह शासन-विधान यूरोप के अन्य सब देशों की अपेक्षा अधिक उन्नत था। यह राज्यक्रान्ति का ही प्रभाव था, जिसे प्रतिक्रिया का काल भी नहीं मिटा सका था। नवीन शासन-विधान के साथ १८वें लुई ने अपनी उद्घोषणा में जनसाधारण के अधिकारों को भी घोषित किया। अधिकारों की इस घोषणा में क्रान्ति के प्रायः सभी सिद्धान्तों को स्वीकृत किया गया था। कानून के सम्मुख सब मनुष्य बराबर हैं, राजकीय पदों के लिये सब मनुष्य एक समान रूप से नियत किये जा सकते हैं, टैक्स का निर्णय प्रत्येक मनुष्य की सम्पत्ति के अनुसार किया जायगा। प्रत्येक मनुष्य

को धार्मिक तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता प्राप्त है, भाषण, लेखन तथा मुद्रण की सबको स्वतन्त्रता है, ये सब बातें १८वें लुई ने उद्घोषित की, जो कि १६वें लुई का भाई था, बोर्बों राजवंश का था, जिन्दगी भर क्रान्ति को कुचलने की कोशिश करता रहा था और जिसे मेटरनिख तथा क्रान्ति के दुश्मनों ने राजगद्दी पर बिठाया था।

फ्रांस के विविध दल—कट्टर राजसत्तावादी—१८वें लुई के साथ बहुत से कुलीन तथा उच्च पुरोहित श्रेणी के लोग फ्रांस वापस लौट आये थे। वे क्रान्ति के कट्टर दुश्मन थे। क्रान्ति ने इन्हें तबाह कर दिया था। इनके हृदय में बदला लेने की आग धधक रही थी। ये फिर से पुराने जमाने को वापस ले आने के लिये तुले हुए थे। इन्होंने एक पृथक् दल की रचना की, जो कि कट्टर राजसत्तावादी दल के नाम से प्रसिद्ध है। इसका नेता राजा का भाई 'आर्तोआ का काउण्ट' था। इनका कहना था, कि प्रेस को स्वतन्त्रता नहीं मिलनी चाहिये, कुलीनों की छिनी हुई सम्पत्ति उन्हें फिर वापस मिलनी चाहिये, राजा का शासन एकतन्त्र तथा स्वेच्छाचारी होना चाहिये, और जनता का शासन में कोई अधिकार नहीं होना चाहिये। अभिप्राय यह कि पिछले २५ वर्षों में जो कुछ भी कार्य हुआ है, उसको एक फूँक से उड़ा देना चाहिये। इस दल के लोग संख्या में बहुत अधिक नहीं थे, पर इनका प्रभाव तथा बल बहुत अधिक था।

उदार राजसत्तावादी—राजसत्तावादी दल के सभी लोग इतने कट्टर तथा क्रान्ति के दुश्मन नहीं थे। 'आर्तोआ के काउण्ट' के दल के अतिरिक्त राजसत्तावादियों का एक और भी दल था, जो समय की गति को समझता था। ये लोग भली भाँति समझते थे कि क्रान्ति के सम्पूर्ण कार्य को बात की बात में नष्ट नहीं किया जा सकता। इन्हीं के प्रभाव से राजा ने वह उद्घोषणा प्रकाशित की थी, जिसमें जनता के अधिकारों की रक्षा की गई थी, और नवीन शासन-विधान का निर्माण

किया गया था। अधिकांश लोग इसी दल से सहानुभूति रखते थे। यह दल फ्रांस में इङ्गलैण्ड के ढंग पर वैध राजसत्ता को स्थापित करना चाहता था।

लिबरल—तीसरा दल लिबरल कहलाता था। ये लोग राजा के विरोधी नहीं थे। राजा की सत्ता को वे शासन की स्थिरता के लिये आवश्यक समझते थे। पर इनका खयाल था, कि १८१४ की उद्घोषणा में जनता को पर्याप्त अधिकार नहीं मिले हैं। वोट देने के लिये १८० रु० वार्षिक टैक्स देने की शर्त बहुत अधिक है, इससे बहुत कम लोगों को वोट का अधिकार प्राप्त होता है। वोट का अधिकार विस्तृत किया जाना चाहिये, और राजा को पूर्णतया मन्त्रियों के आधीन होना चाहिये। मन्त्रियों का पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी होना आवश्यक है।

इन तीन दलों के अतिरिक्त कुछ लोग बोर्बों वश के शासन के पूर्णतया विरोधी थे। वे किसी भी प्रकार १८वें लुई के शासन से समझौता करने को उद्यत नहीं हो सकते थे। इन लोगों को निम्नलिखित दलों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) बोनापार्टिस्ट दल—यह दल नैपोलियन बोनापार्ट को राजगद्दी पर बिठाने का पक्षपाती था। नैपोलियन के गौरवमय कृत्य इनकी आँखों के सामने मौजूद थे। ये प्रायः नैपोलियन की सेनाओं के सिपाही थे, जो अपने विश्वविजयी सेनापति को गौरव गाथाओं को किसी भी दशा में भूल नहीं सकते थे। जब तक नैपोलियन जीवित रहा, ये उसे राजगद्दी पर बिठाने का प्रयत्न करते रहे। जब वह मर गया, तो उसके लड़के 'रोम के बादशाह' को नैपोलियन द्वितीय के नाम से सम्राट् बनाने के लिये प्रयत्नशील रहे।

(२) रिपब्लिकन दल—इस दल के लोग बोर्बों राजवंश और नैपोलियन—दोनों के विरोधी थे। ये फिर से फ्रांस में रिपब्लिक की स्थापना करना चाहते थे।

१८वें लुई के शासन में उदार राजसत्तावादियों की शक्ति अधिक प्रबल थी। कट्टर राजसत्तावादियों ने पुराने जमाने को स्थापित करने के लिये बहुत कोशिश की। विद्रोह किये, मारकाट की, खून बहाया, पर उनका उद्देश्य पूर्ण नहीं हुआ। वे केवल इतना ही कर सके, कि नेपोलियन के कुछ प्रमुख पक्षपातियों को फ्रांस से बहिष्कृत कर दिया गया। क्रान्ति को मिटा सकना उनकी शक्ति के बाहर था। परन्तु इसमें सन्देह नहीं, कि राजदरबार की बाहरी शान-शौकत और रोब को फिर से स्थापित करने में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली। दरबार की पुरानी पोशाकें, शिष्टाचार तथा तरीके बहुत हद तक फिर वापस आ गये। क्रान्ति के तिरंगे झण्डे की जगह पर बोर्बों वंश का सफेद झण्डा फ्रांस के राजप्रासाद पर फहराने लगा। कट्टर राजसत्तावादी बाहरी तरीकों को तो वापिस ले आये, पर वास्तविक पुराने जमाने को पुनः स्थापित कर सकना उनके लिये सर्वथा असम्भव था।

दलों का संघर्ष—१८वें लुई के शासन में जब पहले पहल राष्ट्र प्रतिनिधि सभा का निर्वाचन हुआ, तो कट्टर राजसत्तावादी दल सबसे प्रबल रहा। वोट देने का अधिकार बहुत कम लोगों का था, अतः इस दल की विजय बहुत अस्वाभाविक नहीं थी। इन्होंने कोशिश की, कि १८१४ की उद्घोषणा में उद्घोषित जनसाधारण के सम्पूर्ण अधिकारों को वापस ले लिया जाय। इसके लिये निरन्तर कानून पास किये जाने लगे, यहाँ तक कि राजा घबरा गया। उसे डर था, कि कहीं फिर क्रान्ति न हो जाय। उसने राष्ट्र प्रतिनिधि सभा को बर्खास्त कर दिया और नये निर्वाचन की आज्ञा दी। नये निर्वाचन में वैध राजसत्तावादी तथा लिबरल दल का बहुमत था। इन दलों के शासन में फ्रांस ने बहुत अधिक उन्नति की। सेना का पुनः संगठन किया गया। वोट देने का अधिकार अधिक विस्तृत किया गया, और इसी प्रकार से अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण सुधार किये गये। १८२० में फिर कट्टर राजसत्तावादी

प्रबल हो गये। इन्हीं की प्रबलता के कारण इस काल में फ्रांस ने मैटरनिख की भावनाओं का पूरा साथ दिया। स्पेन की जनता के विद्रोह को शान्त करने के लिये फ्रेंच सेना भेजी गई और वोट देने के अधिकार को फिर से संकुचित कर दिया गया।

१०वें चार्ल्स का शासन—१८२४ में १८वें लुई की मृत्यु हुई। उसके बाद उसका भाई 'आर्तोआ का काउण्ट' दसवें चार्ल्स के नाम से फ्रांस की राजगद्दी पर बैठा। यह कट्टर राजसत्तावादी दल का प्रधान नेता था, क्रान्ति और नैपोलियन का घोर शत्रु था। इसकी उमर का बड़ा भाग क्रान्ति के साथ युद्ध करने में व्यतीत हुआ था। वस्तुतः, वह १९वीं सदी का व्यक्ति नहीं था, उसे १७वीं सदी में उत्पन्न होना चाहिये था। राजा का दैवीय अधिकार, असहिष्णु चर्च और कुलीन लोगों की स्वेछाचारिता ही उसकी दृष्टि में सभ्यता के चिह्न थे। उसकी उमर ६७ वर्ष की हो चुकी थी। इस बड़ी उमर में उससे यह आशा करना कि वह अपने जन्म भर के सिद्धान्तों और मन्तव्यों का परित्याग कर दे, उससे अन्याय करना था। नई प्रवृतियों को कुचलने में उसने मैटरनिख को भी मात कर दिया। उसके स्वेच्छाचारी शासन से सम्पूर्ण फ्रेञ्च जनता घबरा गई। यदि दसवाँ चार्ल्स भी अपने भाई की तरह समझदार और समय की गति को पहचाननेवाला होता, तो शायद बोर्बों वंश का शासन फ्रांस में स्थिर हो जाता। पर वैधराजसत्ता उसकी दृष्टि में कोई अर्थ ही नहीं रखती थी। वह राजा के दैवीय अधिकार के सिद्धान्त को क्रिया में परिणत करने के लिये तुला हुआ था। इसलिये उसने बहुत से कानून अपने विशेष अधिकार से जारी किये, जिनमें जनता के सम्पूर्ण अधिकारों को छीनने का प्रयत्न किया गया। वह कट्टर राजसत्तावादी दल का नेता रह चुका था। अब उसे अवसर मिला था कि अपने सिद्धान्तों को क्रिया में परिणत करे। उसकी नीति का परिणाम यह हुआ कि १८३० में फ्रांस

में फिर क्रान्ति हो गई। दसवें चार्ल्स को फ्रांस छोड़कर भागना पड़ा। १८३६ में आस्ट्रिया में उसकी मृत्यु हुई। वह अपने को शहीद समझता था। उसका ख्याल था, कि जो कुछ उसने किया है, ठीक किया है। परलोक में उसे इसका फल मिलेगा।

१०वें चार्ल्स के राज्यच्युत होने के साथ फ्रांस में फिर क्रान्ति का काल प्रारम्भ हो गया। फ्रांस में नई और पुरानी प्रवृत्तियों का परस्पर संघर्ष चल रहा था। पुरानी प्रवृत्तियों के अभेद्य दुर्ग को नष्ट किये बिना नई प्रवृत्तियाँ कार्य में परिणत नहीं हो सकती थीं। मनुष्य मशीन नहीं है, वह एक जीवित जागृत चेतन सत्ता है। इसी प्रकार मनुष्य जाति और राष्ट्र भी मशीन नहीं हैं, वे भी जीवित जागृत और चेतन सत्तायें हैं। उनमें परिवर्तन आते हैं, परन्तु धीरे धीरे। उनमें विकास होता है। जो फ्रेञ्च जनता सैकड़ों वर्षों से एक खास ढंग से रहती चली आ रही थी, उसे राज्यक्रान्ति एकदम कैसे बदल सकती थी? निस्सन्देह, क्रान्ति ने उसे बदला—बहुत बदला। पर उसको पूर्ण रूप से सफल होने के लिये अभी समय की आवश्यकता थी। यह कारण है, कि क्रान्ति के बाद प्रतिक्रिया का काल आया। पर यही काल भी देर तक नहीं रह सका। कुल १६ वर्ष बाद ही फिर क्रान्ति का युग प्रारम्भ हो गया।

२. अन्य यूरोपियन देशों में प्रतिक्रिया का काल

फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने जिन नई प्रवृतियों को जन्म दिया था, वे केवल फ्रांस तक ही सीमित नहीं रही थीं वे यूरोप के बड़े भाग में व्याप्त हो गई थीं। विशेषतया, फ्रांस के निकटवर्ती प्रदेशों को तो उन्होंने सर्वथा परिवर्तित कर दिया था। इटली, हालैण्ड, स्विट्जरलैण्ड आदि देशों में तो पुराने एकतन्त्र शासन का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना भी हो गई थी। नैपोलियन की विजयों ने क्रान्ति की लहरों को

स्पेन, पोर्तुगाल, जर्मनी और वारसा तक पहुँचा दिया था। अब नैपोलियन के पतन के अनन्तर इन सब स्थानों पर प्रतिक्रिया का काल आरम्भ हुआ। पुराने राजा सिंहासन पर बिठाये गये और उनके साथ ही पुरानी संस्थाओं, रीति रिवाजों और विचारों के भी पुनरुद्धार का प्रयत्न किया गया।

स्पेन में प्रतिक्रिया—नैपोलियन के पतन के अनन्तर स्पेन का शासन फर्डिनैण्ड सप्तम के सुपुर्द किया गया। नैपोलियन ने स्पेन को अपने अधीन कर वहाँ की राजगद्दी पर अपने भाई जोसफ बोनापार्ट को नियत किया था। परन्तु जनता उसके शासन को स्वीकार करने को तैयार नहीं हुई। उसने विद्रोह कर दिया। वेलिङ्गटन का ड्यूक अपनी इङ्गलिश सेनाओं के साथ उसकी सहायता करने को कटिबद्ध था। परिणाम यह हुआ कि नैपोलियन को अपने तीन लाख के लगभग सैनिक स्पेन में सन्नद्ध करने पड़े। आखिर फ्रेञ्च सेना की पराजय हुई, स्पेन स्वतन्त्र हो गया। यह घटना १८१२ में हुई थी। वहाँ का पुराना राजा फर्डिनैण्ड नैपोलियन की संरक्षा में फ्रांस में नजरबन्द था, वह अपने देश को वापस नहीं आ सका। इससे लाभ उठा कर स्पेनिश जनता ने एक लोकसत्तात्मक शासन का संगठन किया। पार्लियामेण्ट की स्थापना की गई और क्रान्ति द्वारा प्रादुर्भूत नये विचारों के अनुसार स्पेन का शासन-विधान तैयार किया गया।

स्वतन्त्रता का अपहरण—१८२४ में नैपोलियन की पराजय के बाद फर्डिनैण्ड अपने देश में वापस आया। क्रान्ति की विरोधी प्रवृत्तियाँ पूर्णतया उसकी सहायता के लिये उद्यत थीं। उसने राजगद्दी पर बैठते ही शासन विधान को नष्ट कर दिया, पार्लियामैंण्ट बर्खास्त कर दी। वैयक्तिक स्वतन्त्रा छीन ली गई, कुलीन और पुरोहित श्रेणियों को विशेषाधिकार प्रदान किये गये। १८१२ के शासन विधान में जिन उदार सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया था, उन्हें फ्रेञ्च राज्यक्रान्ति—

जिसे बदनाम करना उस समय के राजनीतिक वातावरण में फैशन सा बन चुका था—का प्रभाव बताकर नष्ट कर दिया गया। उदार विचारों के लोगों को देश से बहिष्कृत कर दिया गया या जेल में ठूँस दिया गया। फिर पुराने ढँग की एकतन्त्र स्वेच्छाचारी राजसत्ता स्थापित की गई। विधर्मियों को जीते जी आग में जला देने या अन्य वीभत्स दण्ड देने के लिये धार्मिक न्यायालय (इन्क्वीजीशन कोर्ट) कायम किये गये। जेसुइट सम्प्रदाय का फिर जोर हो गया। पुस्तक, अखबार—सब पर कड़ा निरीक्षण जारी किया गया। भाषण और लेख की स्वतन्त्रता वापिस ले ली गई। चर्च की सम्पत्ति यथापूर्व चर्च को दे दी गई। फर्डिनैण्ड सप्तम ने जनता के अधिकारों की रत्ती भर भी परवाह नहीं की। 'जनता के अधिकार' उसकी सम्मति में कोई अर्थ ही नहीं रखते थे। देश की सम्पत्ति को दरबारियों के सुखोपभोग, आमोद प्रमोद और भोग-विलास के लिये स्वाहा किया जाने लगा। फर्डिनैण्ड की नीति इतनी मूर्खता पूर्ण थी, कि मेटरनिख तक ने उसे उदार नीति का अनुसरण करने का परामर्श दिया।

जनता का विद्रोह—फर्डिनैण्ड के शासन का वही परिणाम हुआ, जो ऐसे शासनों का हुआ करता है। स्पेन के उपनिवेशों में विद्रोह हो गया। कुशासन के दोष सर्वत्र प्रगट होने लगे। खर्च बहुत बढ़ गया, आमदनी रही नहीं। स्पेन दिवालिया हो गया। आखिर १८२० में स्पेन में विद्रोह की अग्नि भड़क उठी। फर्डिनैण्ड इसे शान्त करने में असमर्थ था। पर यूरोपीय राजाओं का मित्रमण्डल उसकी सहायता करने को उद्यत था। १८२२ के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में—जो कि वेरोना नामक नगर में हुआ था, स्पेनिश विद्रोह को शान्त करने का कार्य फ्रांस के सुपुर्द किया गया। ९५००० सैनिकों की एक सेना स्पेन आई और विद्रोह को शान्त करने में सफल हुई। विदेशी सहायता से फर्डिनैण्ड सप्तम अपनी राजगद्दी को कायम रखने में समर्थ हुआ।

इसके बाद यह अत्याचारी एकतन्त्र राजा १८३८ तक स्पेन का शासन करता रहा। १८३८ में इसकी मृत्यु हुई। उस समय तक स्पेन पूर्णतया दिवालिया हो चुका था। जो स्पेन किसी समय यूरोपियन राज्यों में सबसे अधिक उन्नत और प्रगतिशील था, वह अब बिलकुल दिवालिया तथा नष्टप्राय हो गया था।

फर्डिनैन्ड सप्तम के निर्बल परन्तु अत्याचारपूर्ण शासन में क्रान्ति की प्रवृत्तियाँ सर्वथा दबी हुई नहीं थीं। १८३० में जब क्रान्ति की लहर ने एक बार फिर सम्पूर्ण यूरोप को व्याप्त कर लिया, उस समय स्पेन भी उसके प्रभाव से अछूता नहीं बचा। १८३४ में स्पेन में उदार विचारों की फिर प्रधानता हो गई और १८३७ में फर्डिनैन्ड को पार्लियामैण्ट तथा नवीन शासन-विधान को स्वीकृत करने के लिये बाधित होना पड़ा। उसकी मृत्यु से पूर्व ही स्पेन में वैध राजसत्ता की स्थापना हो गई थी। वह अपनी शक्ति को किसी भी ढंग से मर्यादित कराने के लिये उद्यत नहीं था। परन्तु नई प्रवृत्तियों को काबू में रख सकना उसकी शक्ति से बाहर था। इसलिये यद्यपि उसके जीते जी ही स्पेन में क्रान्ति की भावनायें सफल हो गईं, पर इसमें सन्देह नहीं कि १८१४ के बाद यूरोप में जब क्रान्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया का युग आया, तो फर्डिनैन्ड ने एक बार फिर १७वीं सदी के 'स्वर्गीय दिवसों' की झलक यूरोप को दिखा दी।

इटली में प्रतिक्रिया का काल—वीएना की कांग्रेस ने इटली में फिर से विविध पुराने राज्यों का पुनरुद्धार कर दिया था। नैपोलियन के आक्रमणों और विजयों का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लाभ इटली के लिये यह हुआ था, कि वहाँ के लोगों में एकानुभूति उत्पन्न हो गई थी और इटालियन लोग अपने देश को एक राष्ट्र समझने लगे थे। युद्धों और विदेशी आक्रमणों से भी अनेक बार लाभ हो जाते हैं, और निस्सन्देह इटली के लिये नैपोलियन के आक्रमण इस दृष्टि से बहुत

लाभदायक सिद्ध हुए थे। परन्तु वीएना में एकत्रित राजनीतिज्ञों के लिये इस नई प्रवृत्ति का कोई महत्त्व न था। वे जनता की इच्छा की अपेक्षा राजाओं के अधिकारों को अधिक महत्त्व देते थे। यही कारण है, कि १८१४ के बाद मैटरनिख के शब्दों में इटली केवल एक 'भौगोलिक संज्ञा' रह गया था। 'इटली' इस शब्द से किसी एक राज्य का ग्रहण नहीं होता था। यह तो केवल एक भौगोलिक देश का बोध कराता था। लोम्बार्डी (मिलन) और वेनिस आस्ट्रिया के कब्जे में थे। परमा, मोडेना और टस्कनी में विविध राजवंश राज्य करते थे, जो प्रायः आस्ट्रियन राजवंश की शाखायें मात्र ही थे। दक्षिणी इटली में नेपल्स का प्रसिद्ध और पुराना राज्य था, जो बोर्बो राजवंश की एक शाखा के आधीन था। मध्य में पोप का राज्य था। इन विविध राज्यों के रहते हुए इटली की राजनीतिक एकता की आशा दुराशा मात्र ही थी।

पीडमौन्ट में सुधारों का नाश—नैपोलियन के काल में इटली में अनेक नवीन सुधार किये गये थे। सामन्त पद्धति का नाश कर कुलीन और पुरोहित श्रेणियों के विशेषाधिकारों का अन्त कर दिया गया था। क्रान्ति के सिद्धान्तों और नई प्रवृत्तियों को उस समय में पर्याप्त स्थान प्राप्त था। परन्तु अब प्रतिक्रिया के काल में इटली के विविध राज्यों में भी पूर्णतया पुराने जमाने को कायम करने का प्रयत्न किया गया। २० मई १८१४ को सार्डिनिया+पीडमौन्ट के राजा विक्टर एमेनुअल प्रथम ने अपनी राजधानी टूरिन में प्रवेश किया। राजगद्दी पर बैठते ही उसने एकदम सम्पूर्ण सुधारों को नष्ट कर दिया। क्रान्ति के जमाने में उसके राज्य में जो भी महत्त्वपूर्ण कार्य हुए थे, उन सबको कलम की नोक से दूर हटा दिया गया। कुलीन श्रेणी को अपने विशेषाधिकार फिर प्राप्त हुए, पादरियों को चर्च की सम्पत्ति फिर वापस मिल गई। चर्च के न्यायालय फिर कायम किये गये। प्रेस पर कड़ी निगाह रखी

गई। धार्मिक स्वतन्त्रता छीन ली गई। फ्रांस के प्रति इतनी अधिक घृणा प्रगट की गई, कि राजप्रासाद से फ्रेञ्च साज-सामान को नष्ट कर दिया गया। और तो और रहा, टूरिन के बाग से बहुत से पौदों और वृक्षों को केवल इसलिये उखाड़ दिया गया, क्योंकि वे फ्रेञ्च लोगों द्वारा आरोपित किये गये थे। शिक्षा का कार्य फिर से चर्च के सुपुर्द कर दिया गया। उदार विचारों के लोगों को राज्य के लिये अत्यन्त भयङ्कर समझा जाने लगा। जरा सा सन्देह होने पर उन्हें गिरफ्तार कर लिया जाता था और भारी दण्ड दिये जाते थे।

पोप का राज्य—केवल पीडमौन्ट में ही नहीं, इटली के अन्य राज्यों में भी यही अवस्था थी। पोप के राज्य में १८१४ में एक उद्घोषणा प्रकाशित की गई, जिससे कि फ्रेञ्च लोगों के सम्पूर्ण कार्यों पर पानी फेर दिया गया। फ्रेञ्च लोगों के नामोनिशान तक को भी मिटा देने की पोप को इतनी अधिक उत्सुकता थी, कि रोम की गलियों में गैस के प्रकाश को हटा दिया गया, क्योंकि यह फ्रेञ्च क्रान्तिकारियों द्वारा जारी किया गया था। अधिक क्या, टीका लगाने की वैज्ञानिक प्रथा इसलिये हटा दी गई, क्योंकि इसका आविष्कार फ्रांस में हुआ था।

उत्तरीय इटली के विविध राज्य—लोम्बार्डी और वेनिस तो सीधे आस्ट्रिया के अधीन थे। वहाँ पर मैटरनिख का शासन स्थापित था। उसके समान नई भावनाओं का दुश्मन यूरोप भर में अन्य कोई था ही नहीं, फिर यह आशा कैसे की जा सकती थी, कि इन प्रदेशों में नवीन युग का कोई भी चिह्न अवशिष्ट रह सकेगा? परमा, मोडेना और टस्कनी आस्ट्रियन राजवंश के विविध व्यक्तियों के अधीन थे। इन पर आस्ट्रिया का पूरा प्रभाव विद्यमान था। ये सब मैटरनिख के सिद्धान्तों का आँख मींचकर अनुसरण कर रहे थे।

नेपल्स की अवस्था भी अच्छी नहीं थी। वहाँ के बोर्बों शासक फिर से पुराने स्वर्गीय दिनों की स्थापना के लिये उत्सुक थे। सम्पूर्ण इटली में

नई प्रवृत्तियों के विरुद्ध भयङ्कर प्रतिक्रिया चल रही थी। राजाओं और कुलीन श्रेणियों के सम्पूर्ण प्रयत्नों के होते हुए भी इटली में क्रान्ति के दिनों में जो भारी परिवर्तन आया था, उसे सुगमता से हटाया नहीं जा सकता था। लोगों के दिमाग बदल चुके थे, वे और ढंग से सोचने लग गये थे। राष्ट्रीयता की भावना इटालियन नवयुवकों के हृदयों में नवीन आशा का संचार कर रही थी। वे संगठित और स्वतन्त्र इटली का स्वप्न देख रहे थे। फ्रेञ्च राज्यक्रान्ति तथा नैपोलियन की विजयों ने लोगों में सुधार और नई प्रवृत्तियों के लिये उत्कट आकांक्षा उत्पन्न कर दी थी—जो कि आगे चलकर पूर्ण रूप से क्रिया में परिणत हो गई।

स्पेन और इटली में ही नहीं, यूरोप के अन्य सभी राज्यों में यह क्रान्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया का काल था। ओरेन्ज का राजवंश बेल्जियम के लोगों की इच्छा के सर्वथा प्रतिकूल 'पवित्र मित्रमण्डल' की सहायता से उन पर शासन कर रहा था। पोलेण्ड की जनता विविध एकतन्त्र राजाओं के शासन में विभक्त थी। पोर्तुगाल में इङ्गलिश लोगों की संरक्षा में एकतन्त्र शासन का स्थापन किया गया था। यह तो हुई उन देशों की बात जिनमें क्रान्ति की लहरें पहुँच चुकी थीं। उन देशों का तो कहना ही क्या है, जो क्रान्ति के दिनों में उसको कुचलने के लिये निरन्तर युद्ध करते रहे। उन देशों में तो पुराने ढंग के एकतन्त्र शासन का पूर्ण आधिपत्य था।

बीसवाँ अध्याय

राजनीतिक क्रांतियों का फिर से प्रारम्भ

१. प्रतिक्रिया के काल का अन्त

नेपोलियन के पतन के बाद जब क्रान्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया के काल का प्रारम्भ हुआ, तो लोगों ने समझा, अब क्रान्ति का युग हमेशा के लिये समाप्त हो गया। क्रान्ति के विरोधी खुशियाँ मनाने लगे। विचारकों ने समझा, क्रान्ति कितनी अस्वाभाविक चीज थी। क्या कभी संसार में सब लोग बराबर हो सकते हैं ? सब लोगों का शासन—कितनी असम्भव, कितनी फिजूल बात है। सब लोगों के दिमाग एक समान नहीं होते हैं। सब लोगों की शक्ति बराबर नहीं होती है। फिर सब लोगों के अधिकार कैसे बराबर हो सकते हैं। ऊँच नीच के विचार, राजा के दैवीय अधिकार का सिद्धान्त, पुरोहितों की उच्चता का भाव, कुलीनों की श्रेष्ठता के विश्वास लोगों में बहुत गहरे गये हुए थे। पुराने जमाने में अरिष्टोटल जैसे दार्शनिक ने लिखा था, कुछ लोग शासन करने के लिये उत्पन्न हुए हैं, और अन्य लोग शासित होने के लिये। अरिष्टोटल जैसे तत्ववेत्ता भी अपने समय से परे नहीं देख सकते थे। उन्हें कुछ का मालिक और कुछ का गुलाम होना स्वाभाविक प्रतीत होता था। लूथर इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता था, कि किसानों को भूमिपतियों के विरुद्ध

विद्रोह करने का हक है। उसके सम्पूर्ण सुधारों के उपदेश कुलीन लोगों के लिये थे और यह उन्हीं का कार्य था, कि वे अपनी जागीरों में धार्मिक सुधार करें। लूथर ने किसानों पर भयंकर से भयंकर अत्याचार करने के लिये जर्मनी के जमींदारों को अपनी सहमति दी थी। वह भी अपने समय से परे नहीं देख सकता था। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के असफल होने के अनन्तर यदि यूरोपियन जनता अपने युग से परे न देख सकी हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? लोगों ने समझा, एक भयंकर तूफान आया था, अब वह चला गया है। दुनियाँ में तो राजाओं का एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन ही हमेशा के लिए कायम रहता है, यही ईश्वरीय विधान है, यही सदा से चला आ रहा है, यही सदा रहेगा। कुछ समय तक मेटरनिख का प्रभाव निरपवाद रूप से कायम रहा। क्रान्ति की भावनाओं को कुचला गया। 'स्वाधीनता, समानता और भ्रातृभाव' ये सिद्धान्त अत्यन्त भयंकर समझे जाते रहे। 'जनता के अधिकारों' में विश्वास रखनेवाले लोग समाज और व्यवस्था के दुश्मन कहे जाने लगे। वैध शासन के पक्षपातियों का एक ही स्थान था और वह था जेल। जो लोग कहते थे, जनता का शासन होना चाहिये, वे सभ्यता के शत्रु समझे जाते थे। नये विचारों का पहले पहल इसी प्रकार स्वागत होता है। आज संसार में जो सिद्धान्त सर्वसम्मत और निरपवाद रूप से स्वीकृत कर लिये गये हैं वे कभी भयङ्कर क्रान्तिकारी विचार माने जाते थे। जिन्हें आज क्रान्तिकारी और भयङ्कर समझा जाता है, सम्भवतः सभ्य संसार कल उन्हें सर्वसम्मत समझने लगेगा। इतिहास में हमें नित्य निरन्तर यही क्रम दृष्टिगोचर होता है।

संसार में सबसे प्रबल शक्ति विचारों की है। तलवार और बन्दूक से इसका संहार नहीं किया जा सकता। इसे जितना ही कुचलने का प्रयत्न किया जाता है, यह उतनी ही अधिक प्रबल हो जाती है। फ्रांस में जिन नवीन विचारों का प्रादुर्भाव हुआ था, उन्हें भी कुचल सकना

असम्भव था। वे लोगों के दिमागों में घर कर चुके थे। क्रान्ति की चौथाई सदी ने मनुष्य जाति के सम्मुख नवीन कल्पनायें उपस्थित की थीं—एक नवीन दुनिया की सम्भावना प्रदर्शित की थी। प्रतिक्रिया के युग में वह नया चित्र लोगों की आँखों से ओझल नहीं हो गया था। एकतन्त्र राजाओं के अत्याचारों से तंग आये हुए लोगों के सम्मुख एक निश्चित और स्पष्ट मार्ग था, और उस मार्ग की स्मृति उनमें अभी बिलकुल ताजी थी। फ्रेञ्च राज्यक्रान्ति ने जिन नई प्रवृत्तियों को जन्म दिया था, वे अपना कार्य कर रही थीं। संसार में किसी वस्तु का विनाश नहीं होता। केवल ठोस भौतिक पदार्थ ही नहीं, विचार और सिद्धान्त भी कभी सर्वथा नष्ट नहीं होते। किसी न किसी रूप में वे कायम रहते हैं। उनका प्रभाव मनुष्यों में अमर रहता है। फिर फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने जिस विचार सरणी की सृष्टि की थी, उसने तो प्रादुर्भूत होते ही सम्पूर्ण पाश्चात्य संसार को जड़ से हिला दिया था। उसकी शक्ति असीम थी। उसका नष्ट हो सकना असम्भव था। पुराने युग का लोथ के समान भारी बोझ उसे दबा सकने में सर्वथा असमर्थ था। यही कारण है, कि वीएना की कांग्रेस के केवल पाँच वर्ष बाद ही क्रान्ति की इन प्रवृत्तियों ने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया। सर्वत्र विद्रोह और क्रान्ति के चिन्ह नजर आने लगे। एक सदी के लगभग तक यूरोप में पुरानी और नई प्रवृत्तियों में संघर्ष चलता रहा। पाश्चात्य संसार का अगला इतिहास वस्तुतः इन प्रवृत्तियों के संघर्ष का इतिहास है। आखिर, फ्रेञ्च राज्यक्रान्ति ने जिन भावनाओं को जन्म दिया था, वे सफल हुईं। सन् १८२० से १८४८ तक यूरोप का इतिहास नई प्रवृत्तियों के प्रगट होने व फूट पड़ने के वृत्तान्त से भरा हुआ है। १८४८ के बाद ये प्रवृत्तियां सर्वत्र सफल होती हुई नजर आने लगीं। इस अध्याय में हमें इस बात पर प्रकाश डालना है कि १८४८ तक किस प्रकार इन प्रवृत्तियों ने पुराने जमाने को नष्ट करने का प्रयत्न किया और उन्हें कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई।

२. स्पेन की राज्यक्रान्ति

फर्डिनेन्ड के शासन से असन्तोष—फर्डिनैन्ड सप्तम ने किस प्रकार स्पेन में क्रान्ति की भावनाओं तथा नवीन सुधारों को कुचलने का प्रयत्न किया था, इसका वर्णन पहले किया जा चुका है। पुराने जमाने को फिर से वापस ले आने के लिये जो कुछ भी उससे बन पाया, उसने किया। परिणाम यह हुआ, कि जनता में असन्तोष की अग्नि भड़क उठी। सुधार के पक्षपाती शान्तिमय उपायों से अपने उद्देश्य को पूर्ण करने में सर्वथा असमर्थ हो गये। राजा पर वे किसी भी प्रकार से अपना प्रभाव नहीं डाल सकते थे। राजा पूर्णतया कुलीन और पुरोहित श्रेणी के प्रभाव में था। आखिर, निराश होकर उन्होंने गुप्त समितियों का संगठन किया। सर्वसाधारण जनता उनके साथ थी। क्रान्ति ने जनता को जो अधिकार तथा अवसर दिये थे, उन्हें वह आसानी से नहीं छोड़ देना चाहती थी। मध्यश्रेणी के बहुत से लोग जो अपने व्यवसायों तथा व्यापार के कारण बहुत काफी उन्नत तथा समृद्ध हो चुके थे, अब इस बात को नहीं सह सकते थे, कि कुलीन लोग उनकी अपेक्षा अधिक विशेषाधिकारों का उपभोग करें। सिपाही लोग भी फर्डिनैण्ड के शासन से असन्तुष्ट थे। नैपोलियन के विरुद्ध लड़ते लड़ते राष्ट्रीयता की भावनायें उनमें कूट-कूटकर भर गई थीं। जनता की इच्छा के विरुद्ध इस प्रकार का एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन वे सहन नहीं कर सकते थे। विद्रोह के लिये मैदान तैयार था। १८२० में विद्रोह की अग्नि स्पेन भर में प्रचण्ड हो उठी। काडिज में सेना ने विद्रोह किया। क्रान्तिकारी लोग तो उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में थे ही। वे भी शामिल हो गये। विद्रोह की अग्नि सम्पूर्ण स्पेन में व्याप्त हो गई। फर्डिनैण्ड के लिये अपनी राजगद्दी को सँभालना मुश्किल हो गया। आखिर, जनता को सन्तुष्ट करने के लिये उसने १८१२ के शासन-विधान को फिर स्थापित

किया। धार्मिक न्यायालय नष्ट कर दिये गये। और अधिक सुधार करने की प्रतिज्ञा की गई। परिणाम यह हुआ, कि जनता धोके में आ गई। विद्रोह शान्त हो गया। दो वर्षों तक फर्डिनैण्ड ने नवीन शासन-विधान के अनुसार शासन किया। पार्लियामैण्ट का निर्वाचन किया गया, उदार विचारों के नेता मन्त्री नियत किये गये। परन्तु फर्डिनैण्ड की नियत साफ नहीं थी। वैध शासन की कल्पना भी उसे सह्य न थी। वह विदेशी सेनाओं की सहायता से वैध शासन को नष्ट करने के लिये षड्यन्त्र कर रहा था। कुलीन और पुरोहित श्रेणियों के लोग उसके साथ थे। आखिर, फर्डिनैण्ड अपने मित्र मेटरनिख को इस बात के लिये प्रेरित करने में समर्थ हुआ, कि वह 'चतुर्विध मित्र मण्डल' की शक्ति का स्पेन में स्वेछाचारी राजसत्ता स्थापित करने के लिये प्रयोग करे। सन् १८२३ में वेरोना के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में स्पेन का मामला पेश किया गया। सब राज्य इस बात के पक्ष में थे, कि फर्डिनैण्ड की सहायता की जाय। केवल इङ्गलैण्ड विरुद्ध था। आखिर, यह निश्चय किया गया कि फ्रांस की सेनायें फर्डिनैण्ड की सहायता के लिये भेजी जाय। ९५ हजार फ्रेञ्च सैनिक एकसत्तात्मक राजतन्त्र की स्थापना के लिये स्पेन में प्रविष्ट हुए। फ्रांस की वे सेनायें, जिन्होंने सारे यूरोप को क्रान्ति की लहरों से व्याप्त कर दिया था, अब इतनी अधिक परिवर्तित हो गई थीं, कि जनता के न्याय्य अधिकारों को कुचलने के लिये एक स्वेच्छाचारी राजा की सहायता करने में सङ्कोच नहीं करती थीं। फ्रेञ्च सैनिकों की सहायता से नई प्रवृत्तियों को सर्वथा कुचल दिया गया। पार्लियामैण्ट बर्खास्त कर दी गई। उदार मन्त्रिमण्डल पदच्युत कर दिया गया। स्पेन में फिर वही स्वेच्छाचारी राजसत्ता, वही धार्मिक न्यायालय, वही कुलीनों के लिये अधिकार, अभिप्राय यह है, कि वही पुराना जमाना स्थापित हो गया। उदार विचारों के लोगों पर भयङ्कर अत्याचार किये गये। एक प्रकार का आतङ्क सा बिठाने का

प्रयत्न किया गया। फर्डिनेन्ड १८३० तक इसी प्रकार एकतन्त्र और स्वेच्छाचारी रूप से शासन करता रहा। इस सुदीर्घ काल में उसके विरुद्ध विद्रोह करने का साहस किसी को न हुआ। उसकी सहायता करने के लिये मेटरनिख अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ उद्यत था। यूरोप के राजा अत्याचारों और क्रूरताओं के लिये उसकी पीट ठोक रहे थे।

विद्रोह की प्रवृत्ति का पुनः प्रारम्भ—१८३० में जब फ्रांस में राज्यक्रान्ति हुई, तो उसका प्रभाव स्पेन पर भी पड़ा। जनता में एक बार फिर साहस का संचार हुआ। उदार विचारों के लोग सुधार के लिये आन्दोलन करने लगे। परन्तु उनको सफलता नहीं हुई। लोगों में डर बैठा देने के लिये सब प्रकार के उपायों को प्रयोग में लाया गया। गुप्तचरों की संख्या बढ़ा दी गई। फौजी न्यायालय कायम किये गये। मेड्रिड में एक विद्यार्थी को केवल इसलिये फाँसी पर चढ़ा दिया गया, क्योंकि उसने 'स्वतन्त्रता की जय' का नारा लगाया था। एक स्त्री को इसलिये प्राणदण्ड दिया गया, क्योंकि उसने एक झन्डे पर 'स्वतन्त्रता कानून, समानता' ये शब्द लिखे थे। परन्तु इन सब अत्याचारों के होते हुए भी उदार और नवीन विचारों के लोग निरन्तर प्रबल होते जाते थे। १८३४ में पार्लियामैंट में नवीन विचारों के लोगों की संख्या बहुत बढ़ गई। फर्डिनेन्ड सप्तम की पार्लियामैंट नाम को ही व्यवस्थापिका सभा थी, उसके अधिकार न के बराबर थे। उसे टैक्सों पर वोट देने तक का अधिकार प्राप्त न था। पर फिर भी पार्लियामैंट में बहुमत हो जाने के कारण नवीन विचारों के लोग राजा को शासन-सुधार करने के लिये विवश करने में समर्थ हुए। इन नवीन लोगों की शक्ति निरन्तर बढ़ती ही गई। १८३७ में राजा को बाधित होना पड़ा, कि १८१२ के शासन-विधान के आधार पर एक नवीन शासन-विधान स्पेन में जारी करे। १८३७ के इस शासन-विधान से पार्लियामैंट की शक्ति पुनः स्थापित हो गई। यद्यपि यह जनता की वास्तविक प्रतिनिधि नहीं थी,

क्योंकि वोट देने का अधिकार बहुत कम लोगों को प्राप्त था, पर राजा की एकतन्त्र सत्ता अब अवश्य नष्ट हो गई थी।

वैध राजसत्ता की स्थापना—१८३७ के शासन-विधान से स्पेन में भी वैध राजसत्ता प्रचलित हुई। पार्लियामैंट के प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल स्पेन का शासन करने लगा।

स्पेनिश उपनिवेशों में स्वतन्त्रता की भावना—१६वीं और १७वीं सदियों में जब यूरोपियन लोगों ने अपने सामुद्रिक साम्राज्यों का निर्माण आरम्भ किया, तो स्पेन इस क्षेत्र में सबसे आगे बढ़ा हुआ था। मध्य और दक्षिण अमेरिका में स्पेन ने अनेक उपनिवेशों की स्थापना की थी। इन स्पेनिश उपनिवेशों में स्वशासन का जरा भी अस्तित्व न था। ये पूर्णतया स्पेन के आधीन थे। जब १८वीं सदी के उत्तरार्ध में उत्तरीय अमेरिका के इङ्गलिश उपनिवेशों में स्वराज्य के लिये आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, तो उसका प्रभाव स्पेनिश उपनिवेशों पर पड़ना सर्वथा स्वाभाविक था। इङ्गलिश उपनिवेशों को अपने प्रयत्न में सफलता हुई। वे स्वतन्त्र 'संयुक्त राज्य' अमेरिका का निर्माण करने में समर्थ हुए। जब स्पेन के उपनिवेशों ने देखा, कि उनके उत्तरीय पड़ोसी स्वाधीन हो गये हैं, तो उनमें भी स्वराज्य प्राप्त करने की उत्कण्ठा प्रबल हो गई। फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने उनमें और अधिक साहस उत्पन्न किया और वे स्वतन्त्रता के लिये संग्राम करने को सन्नद्ध हो गये। उपनिवेशों में स्पेन का शासन बहुत ही कठोर और विकृत था। स्पेनिश लोग उपनिवेशों को धन उपार्जन और अपने लाभ का साधन मात्र समझते थे। फ्रांस की क्रांति के बाद जब नेपोलियन ने स्पेन पर कब्जा कर लिया, तो इन अमेरिकन उपनिवेशों को अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिये आन्दोलन करने का सुवर्णावसर हाथ लगा। इसके अतिरिक्त अपने व्यापार को उन्नत करने का भी उन्होंने विशेष रूप से प्रयत्न किया। इससे पूर्व वे स्पेन के अतिरिक्त और किसी देश से व्यापार

नहीं कर सकते थे। उन दिनों में यूरोप की औपनिवेशिक नीति का यह एक महत्त्वपूर्ण अंग था, कि उपनिवेश मूल देश के अतिरिक्त अन्य किसी से व्यापार न कर पावें। नैपोलियन के समय की अव्यवस्था से लाभ उठाकर स्पेनिश उपनिवेशों ने संयुक्तराज्य अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन के साथ व्यापार करना प्रारम्भ कर दिया। राजनीतिक स्वतन्त्रता की दृष्टि से इन उपनिवेशों में बहुत आन्दोलन चल रहा था। १८०४ के बाद उनमें निरन्तर विद्रोह होने लगे।

क्रान्ति का प्रारम्भ—स्पेन उस समय नैपोलियन के कब्जे में था। वहाँ स्वयं गृहकलह जारी था। स्पेन से किसी भी प्रकार की सहायता इन उपनिवेशों के विद्रोह को शान्त करने के लिये नहीं भेजी जा सकती थी। परिणाम यह हुआ, कि जो थोड़ी बहुत सेनायें उपनिवेशों में विद्यमान थीं, वे परास्त कर दी गईं और वहाँ के स्पेनिश शासकों को पराजित कर बाहर निकाल दिया गया। इन विद्रोहों में संयुक्त राज्य अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन की सहानुभूति विद्रोहियों के साथ थी। यद्यपि इङ्गलैंड नेपोलियन के खिलाफ स्पेन को सहायता करने के लिये कटिबद्ध था, तथापि स्पेनिश साम्राज्य का भङ्ग होते देख कर उसे हार्दिक प्रसन्नता थी। अधिकांश स्पेनिश उपनिवेश इस समय स्वतन्त्र हो गये और उनमें संयुक्त राज्य अमेरिका व फ्रांस के नमूने के रिपब्लिकन शासन स्थापित हुए।

मित्र-मण्डल का हस्तक्षेप—स्पेनिश उपनिवेशों की इन सफल क्रान्तियों को यूरोप के स्वैच्छाचारी राजा सहन नहीं कर सकते थे। जनता के विद्रोह, चाहे वे पृथ्वी के किसी भी कोने में क्यों न हो रहे हों, उन्हें सह्य न थे। इसलिये वेरोना के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में (१८२३) जब स्पेनिश विद्रोह को कुचलने का कार्य फ्रांस के सुपुर्द किया गया, तब साथ ही यह भी निश्चय हुआ, कि इन उपनिवेशों के विद्रोहों को भी शान्त किया जाय और इन्हें फिर फर्डिनैण्ड सप्तम की

आधीनता में ले आया जाय। फ्रांस की सेनायें बड़ी खुशी से इस महत्त्वपूर्ण कार्य को भी अपने हाथ में ले लेतीं, अगर ग्रेट-ब्रिटेन और संयुक्तराज्य अमेरिका इस बात का विरोध न करते।

इङ्गलैण्ड का विरोध—ग्रेट ब्रिटेन दो कारणों से इसके विरोध में था। पहली बात यह कि इससे स्पेन के साम्राज्य का पुनः स्थापन होता था और दूसरी बात यह कि पिछले दिनों में स्पेनिश उपनिवेशों के साथ उसका नया नया व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हुआ था। ग्रेट ब्रिटेन को इस व्यापार से बहुत आशा थी। यह निश्चित था कि यदि वे उपनिवेश फिर स्पेन के आधीन हो जाते, तो फिर पुरानी औपनिवेशिक नीति का अवलम्बन कर अन्य देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध को सर्वथा रोक दिया जाता। ग्रेट ब्रिटेन इस भारी नुकसान को सहने के लिये उद्यत नहीं था, अतः उसने उद्घोषित किया, कि अमेरिका के इन स्वतन्त्र राज्यों की स्वतन्त्रता में यूरोप के राज्य यदि किसी भी प्रकार की बाधा डालेंगे, तो ग्रेट ब्रिटेन उनका पूरा विरोध करेगा और आवश्यकता पड़ने पर शस्त्र का भी आश्रय लेगा। संयुक्त राज्य अमेरिका भी यह नहीं चाहता था, कि उसका नया नया स्थापित हुआ व्यापारिक सम्बन्ध इतनी सुगमता से नष्ट हो जावे। साथ ही वह यह भी सहन नहीं कर सकता था, कि पुरानी दुनियाँ के राज्य नयी दुनियाँ के मामलों में इस प्रकार से हस्तक्षेप करें।

मुनरो सिद्धान्त—इसलिये १८२२ में ही संयुक्तराज्य अमेरिका ने कोलम्बिया, चिली, अर्जेन्टाइन और मेक्सिको (ये सब पहले स्पेन के उपनिवेश थे) को स्वतन्त्र राज्यों के रूप में स्वीकृत कर लिया, और अगले वर्ष १८२३ में राष्ट्रपति मुनरो ने अमेरिका कांग्रेस के सम्मुख उस प्रसिद्ध सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जो अब तक उसके अपने नाम से विख्यात है। राष्ट्रपति मुनरो ने कहा—"यूरोपियन राज्यों के पारस्परिक युद्धों में हमने अब तक कभी भी हिस्सा नहीं लिया है। न

हमारी यह नीति ही है, कि हम यूरोप के आन्तरिक मामलों में किसी क़िसम का हस्तक्षेप करें। परन्तु जिस समय हमारे अधिकारों पर हमला किया जाता है, या उनको गहरे तरीके से हानि पहुँचाई जाती है, तभी हम आत्मरक्षा के लिये तैयारी करते हैं, या नुक़सान से अपना बचाव करते हैं। पर पृथिवी के इस भाग के आन्दोलनों और घटनाओं से हमारा अधिक सन्निकट सम्बन्ध है, और इसका कारण कोई भी बुद्धिमान् तथा निष्पक्ष व्यक्ति सुगमता से समझ सकता है। यूरोप के 'मित्रमंडल' की राजनीतिक पद्धति हम लोगों से इस अंश में सर्वथा भिन्न है।...हम इस बात को उद्घोषित करना चाहते हैं, कि यदि यूरोपियन राज्यों का 'मित्रमण्डल' अपनी राजनीतिक पद्धति को पृथिवी के इस भाग के किसी हिस्से पर प्रयुक्त करने का प्रयत्न करेगा, तो इसे हम अपनी शान्ति और सुरक्षा के लिए खतरनाक समझेंगे।" यही स्थापना इतिहास में 'मुनरो-सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध है। यह ध्यान में रखना चाहिये, कि इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में ग्रेट ब्रिटेन के परराष्ट्र सचिव ज्यार्ज कैनिङ्ग का भी हाथ था।

स्वतन्त्रता की प्राप्ति—राष्ट्रपति मुनरो की इस उद्घोषणा का यह परिणाम हुआ, कि यूरोपियन राज्यों के लिये कोलम्बिया आदि स्वतन्त्र हुए स्पेनिश उपनिवेशों के मामले में हस्तक्षेप करना कठिन हो गया। मेटरनिख तथा उसके साथी राजनीतिज्ञ परेशान रह गये। प्रबल इच्छा होते हुए भी वे उपनिवेशों को आधीन करने के लिये फर्डिनैन्ड की सहायता नहीं कर सके। फर्डिनेन्ड ने स्वयं भी कोई प्रयत्न नहीं किया। उसमें इतनी शक्ति नहीं थी, कि एक तरफ तो अपनी प्रजा की स्वाधीनता की भावनाओं को कुचलता रहे और दूसरी तरफ सुदूरवर्ती अमेरिकन उपनिवेशों को भी अपने अधीन रख सके। परिणाम यह हुआ, कि स्पेन का औपनिवेशिक साम्राज्य नष्ट हो गया। क्रान्ति की जो भावनायें फ्रांस में प्रादुर्भूत हुई थीं, वे यदि स्पेन में पूर्णतया प्रसारित नहीं हुईं,

तो कम से कम समुद्र पार के उपनिवेशों में तो अपना कार्य क[illegible] ही गई।

३. अन्य देशों में क्रांति का प्रारम्भ

सन १८२० में स्पेन के साथ ही पोर्तुगाल में भी राज्यक्रान्ति [illegible] प्रारम्भ हुआ। सन् १८०८ में नैपोलियन की सेनाओं ने पोर्तुगाल प[र] कब्जा कर लिया था और वहाँ का राजा डाम जान चतुर्थ अपने अमेरि[का]कन उपनिवेश ब्राजील में भाग गया था। इसके बाद पोर्तुगाल फ्रां[स] के अधीन हो गया और राजा डाम जान चतुर्थ ब्राजील में स्वतन्त्र[रू]प से शासन करता रहा। परन्तु पोर्तुगाल में फ्रेंच लोगों का शासन देर त[क] कायम नहीं रह सका। १८०८ के अन्त में ही वेलिङ्गडन के ड्यूक ने अपनी इङ्गलिश सेनाओं के साथ वहाँ पर प्रवेश किया और फ्रेंच सेनाओं को परास्त कर पोर्तुगाल को अपने कब्जे में कर लिया। त[ब] से लेकर १८२० तक (१८०८-१८२०) पोर्तुगाल इङ्गलिश अफसरों के शासन में था, जो कि ब्राजील भागे हुए पोर्तुगीज राजा के नाम पर राज्य कर रहे थे। पोर्तुगाल के निवासी इन इङ्गलिश लोगों के शासन को जरा भी पसन्द नहीं करते थे। फ्रेंच राज्यक्रान्ति द्वारा प्रादुर्भूत नवीन भावनाओं ने उन पर भी प्रभाव डाला था वे भी राष्ट्रीयता के भावों से प्रेरित होकर अपने देश को इङ्गलिश लोगों की हुकूमत से मुक्त कराने तथा जनता के अधिकारों को स्थापिति करने के लिये उत्सुक थे। पोर्तुगाल पोर्तुगीज लोगों के लिये है, यह भावना सम्पूर्ण देश में व्याप्त हो गई। इस दशा में जब १८२० में स्पेनिश लोगों ने विद्रोह किया, तो पोर्तुगाल में भी विद्रोह की अग्नि प्रचण्ड हो गई। ब्रिटिश शासकों को वहिष्कृत कर दिया गया। 'धार्मिक-न्यायालय' (इन्क्वीजिशन) नष्ट किये गये। कुलीन और पुरोहित श्रेणियों से विशेषाधिकार छीन लिये गये। लोकसभा का संगठन कर साथ ही यह भी उद्घोषित किया गया,

कि क़ानून की दृष्टि में सब मनुष्य एक समान हैं, सबको लिखने, बोलने और मुद्रण की पूर्ण स्वतन्त्रता है। इस लोकसभा ने लोकतन्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार देश के लिये एक नवीन शासन-विधान का निर्माण किया।

पोर्तुगाल की इस क्रान्ति को यूरोपियन स्वेच्छाचारी राजा सहन न कर सके। वे हस्तक्षेप करने का विचार करने लगे। ग्रेट ब्रिटेन ने भी पोर्तुगाल के विद्रोह को कुचल देने का निश्चय किया। ब्राजील में भागे हुए राजा जान चतुर्थ को प्रेरित किया गया, कि वह अपने वास्तविक राज्य को वापस लौटकर अपनी खोई हुई राजगद्दी को सँभाल ले। राजा जान ने इस सुवर्णावसर को हाथ से नहीं जाने दिया। वह पोर्तुगाल वापस लौट आया। १८२१ में पोर्तुगाल वापस आकर राजा जान ने यह उद्घोषित किया, कि मैं नवीन शासन-विधान को स्वीकृत करने के लिये तैयार हूँ। जनता इससे बहुत सन्तुष्ट हुई। उन्होंने उसे राजा स्वीकृत कर लिया। राजा जान चतुर्थ एक बार फिर पोर्तुगाल का राजा बन गया। पर जान चतुर्थ के ब्राजील से प्रस्थान करते ही वहाँ विद्रोह हो गया। इस विद्रोह का नेता जान का अपना लड़का डाम पेट्रो था। उसे ब्राजील में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में देर नहीं लगी। जान एक देश का राजा रह सकता था, पोर्तुगाल का या ब्राजील का। दोनों देशों को सँभाल सकना उसकी शक्ति से बाहर था।

पोर्तुगाल वापस लौटकर जान ने जिस उदार नीति का परिचय दिया था, उसे वह देर तक कायम नहीं रख सका। शीघ्र ही वह कुलीन और पुरोहित लोगों के प्रभाव में आ गया। उसने शासन-विधान की उपेक्षा करनी प्रारम्भ कर दी। परिणाम यह हुआ, कि एक बार फिर विद्रोह की अग्नि प्रचण्ड हो उठी। पोर्तुगाल की जनता ने विद्रोह कर दिया। राजा डाम जान चतुर्थ को भाग चलने के लिये बाधित होना पड़ा। एक ब्रिटिश जहाज का आश्रय लेकर वह अपनी जान बचाने में

समर्थ हुआ। परन्तु यूरोप के एकतन्त्र राजा और विशेषतया ब्रिटेन उसकी सहायता करने को कटिबद्ध थे। उन्होंने उसे फिर सहारा दिया। यूरोपियन 'मित्रमण्डल' की सहायता से राजा जान फिर पोर्तुगाल की राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ। इस समय में कुलीन श्रेणी और यूरोप के राजपरिवारों ने जनता के खिलाफ एक भयङ्कर षड्यन्त्र किया हुआ था। जनता इस षड्यन्त्र के सम्मुख सर्वथा असहाय थी।

१८२६ में राजा जान की मृत्यु हुई। उसका लड़का डाम पेड्रो, जो इस समय ब्राजील का राजा था, अब पोर्तुगाल का राजा बना। सन् १८३४ तक जनता और राजा में निरंतर संघर्ष जारी रहा। इस काल में पोर्तुगाल में एक प्रकार का गृह-युद्ध सा हो रहा था। जनता अपने अधिकारों के लिये कोशिश कर रही थी और कुलीन श्रेणियों की सम्पूर्ण शक्ति उनकी न्याय्य माँगों को पाशविक बल का प्रयोग करके नष्ट करने में लगी हुई थी। आखिर, १८३४ में जनता को विजय हुई। राजा को एक उद्घोषणा पत्र प्रकाशित करने के लिये बाधित होना पड़ा, जिसमें कि कुलीन और पुरोहित श्रेणियों के विशेषाधिकार नष्ट किये गये, चर्च की सम्पत्ति छीन ली गई, वैध राजसत्ता की स्थापना की गई और जनता के अधिकार स्वीकृत किये गये। पोर्तुगाल में भी राजसत्ता को पूर्णतया जनता के आधीन कर दिया गया। क्रान्ति की प्रवृत्तियाँ आखिरकार पोर्तुगाल में भी सफल हो गईं।

वीएना की कांग्रेस के बाद इटली के विविध राज्यों की क्या व्यवस्था की गई थी, उस पर विस्तार से प्रकाश डाला जा चुका है। उत्तरीय इटली के बड़े भाग पर आस्ट्रिया का शासन था। अनेक राज्य आस्ट्रिया के प्रभाव में थे। पीडमौन्ट, नेपल्स, पोप का राज्य, लोम्बार्डी, टस्कनी आदि सभी राज्यों में एकतन्त्र और स्वेच्छाचारी राजा राज्य कर रहे थे। इटली में राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हो चुकी थी। इटालियन नवयुवक अपने देश को एक शासन में संगठित देखना

चाहते थे, पर उनकी आकांक्षा के पूर्ण होने की कोई सम्भावना दृष्टिगोचर नहीं होती थी। वीएना के राजनीतिज्ञों ने जनता की इच्छा की सर्वथा उपेक्षा कर पुराने राजवंशों का पुनरुद्धार कर दिया था। ये छोटे-छोटे राजा अपने को परमेश्वर का प्रतिनिधि समझकर मनमानी तरीके से शासन कर रहे थे। १८२० में जब स्पेन में राज्यक्रान्ति हुई, तो इटालियन लोगों में भी साहस उत्पन्न हुआ। वे भी अपने अधिकारों के लिये संघर्ष करने को उद्यत हो गये। इटली में गुप्त समितियों की कमी नहीं थी। १८१५ के बाद जब प्रतिक्रिया के युग का प्रारम्भ हुआ था, तभी अनेक गुप्त समितियों का संगठन किया गया था। 'कार्बोनरी' नामक समिति के सदस्यों की संख्या साठ हजार के लगभग थी। इस सुप्रसिद्ध समिति के अतिरिक्त अन्य भी बहुत सी गुप्त समितियाँ विद्यमान थीं, जो कि अपने देश को स्वतन्त्र तथा संगठित करने के लिये प्रयत्न कर रही थीं। १८२० में इन सब समितियों को विद्रोह करने के लिये अत्यन्त उत्तम अवसर हाथ लगा। नेपल्स के लोगों ने अपने राजा फर्डिनैन्ड छठे के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और उसे बाधित किया, कि वह अपने राज्य में शासन-विधान का निर्माण कर उसके अनुसार शासन करे। इसी प्रकार सिसली—जो कि नेपल्स के राजा के ही आधीन था, में भी विद्रोह हुआ। वहाँ पर भी जनता के अधिकारों को स्वीकृत करने के लिये आवाज उठाई गई। पर सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। आस्ट्रिया का प्रधान मन्त्री मेटरनिख यह सहन नहीं कर सकता था, कि इटली के लोगों में भी नवीन भावनाओं का प्रचार हो। फर्डिनेन्ड छटे की सहायता के लिये आस्ट्रियन सेनायें तैयार थीं। उन्होंने न केवल सिसली के विद्रोह को शान्त किया, अपितु नेपल्स की जनता को भी अच्छा पाठ पढ़ाया। नेपल्स के नये शासन-विधान को नष्ट कर दिया गया। जिसने इसका विरोध करने की हिम्मत की, उसे भयङ्कर दण्ड दिये गये। आस्ट्रियन सेनाओं की सहायता से नेपल्स के राज्य में फिर

पहले के समान एकतन्त्र और स्वेच्छाचारी राजसत्ता की स्थापना हो गई।

१८२१ में पीडमौन्ट की जनता ने विद्रोह किया। पीडमौन्ट का प्रदेश फ्रांस के बहुत समीप था। क्रान्ति की लहरें उसे अच्छी तरह आप्लावित कर चुकी थीं। नैपोलियन उसे जीतकर फ्रांस के आधीन कर चुका था और वहाँ के निवासी स्वतन्त्रता और समानता के सिद्धान्तों पर आश्रित शासन का आस्वाद ले चुके थे। पीडमौन्ट के विद्रोहियों का कहना था, कि हमारे देश में भी शासन-विधान की स्थापना होनी चाहिये, एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन का अन्त होना चाहिये, और उत्तरीय इटली से आस्ट्रिया के प्रभाव को नष्ट कर सम्पूर्ण देश को एक सूत्र में संगठित करना चाहिये। पीडमौण्ट का राजा विक्टर एमेनुअल प्रथम इस विद्रोह को शान्त करने में असमर्थ था। उसने राजगद्दी का परित्याग करने में ही कल्याण समझा। अपने भाई चार्ल्स फेलिक्स को राज्य देकर वह पीडमौन्ट छोड़कर चला गया। चार्ल्स फेलिक्स बहुत हिम्मती और जबर्दस्त आदमी था। उसने आस्ट्रिया और रशिया की सहायता प्राप्त कर विद्रोह को शान्त करने में सफलता प्राप्त की। विद्रोह शान्त हो गया। १८२० में क्रान्ति की जो लहर स्पेन में प्रारम्भ हुई थी, वह इटली तक पहुँचते-पहुँचते सर्वथा शक्तिहीन हो गई। इटालियन लोगों की आकांक्षायें पूर्ण नहीं हो सकीं। परन्तु जो नई प्रवृत्तियाँ उनमें कार्य कर रही थीं, वे सदा के लिये दबाई नहीं जा सकती थीं। चौथाई सदी के बाद ही इटली एक देश बन गया और वहाँ की जनता की महत्त्वाकांक्षायें पूर्ण हो गईं। नई भावनायें क्रिया में परिणत हो गईं।

अठारहवीं सदी के अन्त तक बाल्कन प्रायद्वीप के बड़े भाग पर टर्की के सुलतान का शासन था। बाल्कन प्रायद्वीप में अनेक जातियाँ निवास करती थीं। इन सब की भाषा, धर्म, नसल और जाति टर्की से भिन्न थी। फ्रांस की राज्य क्रान्ति द्वारा उत्पन्न नई प्रवृत्तियों ने इन पर भी

असर डाला और इन्होंने भी यह अनुभव करना शुरू किया, कि हमें भी स्वतन्त्र होना चाहिये। ग्रीक लोग सोचने लगे, कि ग्रीस को टर्की के आधीन नहीं रहना चाहिये। सर्ब, बल्गेरियन, रूमानियन आदि लोगों में भी इसी प्रकार के विचार उत्पन्न हुए। राष्ट्रीयता की भावनाओं से प्रभावित होकर बाल्कन प्रायद्वीप की इन जातियों ने स्वतन्त्र होने का स्वप्न देखना प्रारम्भ किया। टर्की के सुलतान का शासन पूर्णतया स्वेच्छाचारी और एकतन्त्र था। बाल्कन प्रायद्वीप के निवासी प्रधानतया ईसाई धर्म को माननेवाले थे। वे एक मुसलमान सुलतान का शासन किसी भी प्रकार नहीं सह सकते थे। जिस समय नैपोलियन का पतन करने के लिये ग्रेट ब्रिटेन, एशिया, रशिया और आस्ट्रिया ने गुट का निर्माण किया और यह उद्घोषित किया, कि हम विविध जातियों को नैपोलियन के एकाधिपत्य से मुक्त कराने के लिये और यूरोप में स्वतन्त्रता तथा राष्ट्रीयता की स्थापना के लिये संघर्ष कर रहे हैं, तो इन बाल्कन जातियों को बहुत आशा हुई। उन्होंने समझा कि इस शक्तिशाली गुट की सहायता कर अन्त में हम भी अपनी अवस्था को उन्नत करने में समर्थ हो सकेंगे। विशेषतया, ग्रीस में नैपोलियन के विरुद्ध इस गुट की सहायता करने के लिये भारी आन्दोलन किया गया। १५ हजार के लगभग ग्रीक स्वयंसेवक इस युद्ध में सम्मिलित हुए। आखिर, जब नैपोलियन का पतन हो गया और यूरोप का पुनः निर्माण करने के लिये विविध राजनीतिज्ञ वीएना में एकत्रित हुए, तब इन लोगों को बड़ी आशा थी कि हमारी तरफ ध्यान दिया जायगा और हमारे उद्धार के लिये भी कोशिश की जायगी। पर वे पूर्ण-रूप से निराश हुए। वीएना के राजनीतिज्ञ राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता के कट्टर दुश्मन थे। नैपोलियन के खिलाफ विविध लोगों को सहायता प्राप्त करने के लिये ही इन उदात्त शब्दों का प्रयोग किया गया था। वीएना से निराश होकर ग्रीक लोगों ने अपने पहिये पर अपने आप कन्धा लगाने का निश्चय

किया। अनेक सभा-समितियाँ संगठित की गईं। विशेषतया, 'मित्र सभा' नाम की संस्था ने बड़ा भारी काम किया। इस सभा के सदस्य सम्पूर्ण बाल्कन प्रायद्वीप में फैले हुए थे। केवल कान्स्टेन्टिनोपल में ही इसके सदस्यों की संख्या १७ हजार के लगभग थी। इस संस्था ने स्वाधीनता के लिये बड़ा भारी प्रचार किया। इसके आन्दोलनों का परिणाम यह हुआ कि सम्पूर्ण बाल्कन प्रायद्वीप में स्वाधीनता की भावना प्रबल हो गई। १८२० में जब स्पेन, पोर्तुगाल और इटली में विद्रोह की अग्नि धधक रही थी, तो ग्रीक देशभक्तों को भी अपने देश में स्वराज्य स्थापित करने की आशा प्रबल हो उठी। उनका प्रधान नेता इप्सिलान्टी बड़े आवेश में कहने लगा—'हेलन भाइयों! वक्त आ गया है। अब हमें अपने धर्म और देश की स्वतन्त्रता के लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये।' सारे ग्रीस में यही भाव हिलोरे मारने लगे। परिणाम यह हुआ, कि १८२१ में ग्रीस का स्वाधीनता संग्राम प्रारम्भ हो गया।

१८२१ में जब लैबख नामक स्थान पर यूरोपियन मित्रमण्डल की अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस हो रही थी, तब उन्हें यह चिन्ताजनक समाचार सुनने को मिला, कि एक और देश ने न्याय्य और परमेश्वर के प्रतिनिधि सम्राट् के खिलाफ विद्रोह कर दिया है। मेटरनिख का पक्ष था कि ग्रीक विद्रोह को शान्त करने के लिये टर्की के सुलतान को सहायता दी जानी चाहिये। सुलतान ईसाई नहीं है, तो क्या हुआ। वह सम्राट् तो है। उस जमाने में जाति, नसल, धर्म आदि तत्त्व लोगों में एकानुभूति उत्पन्न करनेवाले नहीं थे। यूरोप भर के राजा अपने को भाई-भाई समझते थे, जहाँ तक लोगों के अधिकारों को कुचलने का प्रश्न हो। फ्रांस के कुलीन अपने देश के किसान व जुलाहे को उतना 'अपना' नहीं समझते थे, जितना कि प्रशिया व रशिया के कुलीन जमींदारों को। इस अवस्था में, यह सर्वथा स्वाभाविक ही था, कि टर्की के

मुसलमान सुलतान की क्रिश्चियन ग्रीक प्रजा को कुचलने के लिये मेटरनिख प्रस्ताव उपस्थित करता। परन्तु अन्य राजाओं ने उसका समर्थन नहीं किया। सुलतान की शक्ति बहुत काफी थी। वह भयंकर से भयंकर उपायों का प्रयोग कर ग्रीक विद्रोह को शान्त करने का प्रयत्न कर रहा था। इस विद्रोह ने यूरोप के उदार विचारकों को एक अच्छा अवसर दिया। जनता अपने अधिकारों के लिये कहीं पर भी संघर्ष कर रही हो, उन्हें उसकी सफलता में हार्दिक खुशी होती थी। ग्रीस के लोग ईसाई धर्म को माननेवाले थे और उनका सुलतान मुसलमान था। इस बात का इन उदार लोगों ने अच्छा उपयोग किया। मुसलमान अफसरों की तरफ से जो भयंकर अत्याचार ग्रीस की ईसाई जनता पर किये जा रहे थे, उनके समाचारों को सुनकर यूरोप के ईसाई लोगों में हलचल मच गई। क्रान्ति के समर्थक उदार लोगों ने आन्दोलन करना प्रारम्भ किया कि ग्रीक लोगों के मामले में हस्तक्षेप करना चाहिये और मुसलमानों के पंजे से ईसाई भाइयों की रक्षा करनी चाहिये। ग्रीस के प्राचीन गौरवमय इतिहास को यूरोप के निवासी अभी भूले नहीं थे। ग्रीस की प्राचीन सभ्यता का यूरोप पर भारी प्रभाव था। इस कारण यूरोप के लोगों को ग्रीस से स्वाभाविक सहानुभूति थी। वे उसकी सहायता करने के लिये तैयार हो गये। सब स्थानों से स्वयंसेवक लोग ईसाई भाइयों की सहायता करने के लिये ग्रीक पहुँचने लगे। इङ्गलैंड का प्रसिद्ध कवि लार्ड बायरन भी इस युद्ध में स्वयंसेवक के रूप में सम्मिलित हुआ। यूरोप भर में ग्रीस की सहायता के लिये चन्दा एकत्रित किया गया। सब जगह से युवक सेना में भर्ती हुए। परन्तु अब भी मेटरनिख अपनी महाशक्ति के साथ ग्रीक जनता के विद्रोह को शान्त करने की चिन्ता में व्यग्र था। आखिर, वह इस बात में कामयाब हुआ, कि आस्ट्रिया और प्रशिया को ग्रीस की किसी भी प्रकार की सहायता करने से रोके रखे। पर अन्य देशों पर उसका जादू नहीं

चला । जनता में ग्रीस की सहायता के लिये जो आन्दोलन चल र
था, वह बहुत प्रबल था । रशिया, फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन ने मेटरनिख
बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया । वहाँ के लोग ग्रीस की पूर्ण सहाय
करते रहे । कुछ समय बाद ही इङ्गलैंड को ध्यान आया कि ग्रीस
स्वतन्त्रता का परिणाम यह होगा, कि टर्की की शक्ति निर्बल
जायगी । अन्य बाल्कन जातियाँ भी ग्रीस का अनुसरण करेंगी
अन्ततोगत्वा टर्की का सर्वथा विनाश हो जायगा । इङ्गलैंड अपने पूर्व
साम्राज्य की रक्षा के लिये यह आवश्यक समझता था, कि टर्की
विनाश न होने दिया जाय । यूरोप और एशिया के बीच के मार्ग
इस समय टर्की का अधिकार था । टर्की से इङ्गलैंड को किसी प्रकार
खतरा नहीं था । पर यदि टर्की की शक्ति कमजोर हो जाय और
महत्त्वपूर्ण मार्ग पर रशिया व किसी अन्य शक्तिशाली राज्य का कब्
हो जाय, तो इङ्गलैंड के लिये बहुत बड़ी समस्या उत्पन्न हो जाती
अतः इङ्गलैंड का कल्याण इसी में था, कि टर्की को नष्ट होने
बचाया जाय । आखिर, इस विचार से इङ्गलैंड ने ग्रीस की सहाय
बन्द कर दी । परन्तु रशिया और फ्रांस निरन्तर उसकी सहायता कर
रहे । इसका परिणाम यह हुआ, कि ग्रीस को अपने मनोरथ में सफल
प्राप्त हुई । एड्रियानोपल की सन्धि में (१८२६) ग्रीस की पू
स्वतन्त्रता स्वीकृत कर ली गई ।

ग्रीस में स्वाधीन राज्य की स्थापना हो गई । शासन करने के लि
बवेरिया के राजकुमार ओटो को—जिसकी आयु १८ वर्ष की
राजगद्दी पर बिठाया गया । शासन-विधान का निर्माण कर
राजसत्ता कायम की गई । यूरोप भर के उदार लोग इस बात से बहु
अधिक प्रसन्न हुए । क्रान्ति की भावनाओं के प्रारम्भ होने के बाद
पहला राज्य था, जिसने विदेशी शासन के विरुद्ध लड़ कर स्वतन्
प्राप्त की थी ।

अन्य बालकन जातियों में भी ग्रीस के उदाहरण ने असाधारण साहस का संचार किया। वे सब स्वाधीनता के लिये कोशिश करने लगीं। रशिया इस प्रयत्न में उनका प्रधान सहायक था। जनता से उसे कोई सहानुभूति नहीं थी, पर टर्की की शक्ति को कमजोर कर अपने प्रभाव को विस्तृत करने की पूर्ण सम्भावना उसे दृष्टिगोचर होती थी। दूसरी तरफ ग्रेट ब्रिटेन इन जातियों की भावनाओं का प्रधान विरोधी था। ब्रिटेन को जनता से विशेष विरोध नहीं था—परन्तु टर्की के निर्बल होने से उसे अपनी हानि प्रतीत होती थी। रशिया और ब्रिटेन की इन भावनाओं ने बालकन प्रायद्वीप की समस्या को कितना जटिल बना दिया, इस बात का उल्लेख आगे चलकर किया जावेगा। यहाँ इतना लिखना पर्याप्त है, कि क्रान्ति की लहर सम्पूर्ण बाल्कन प्रायद्वीप में स्वतन्त्रता के लिये उत्कट आकांक्षा का प्रादुर्भाव कर रही थी।

४. फ्रांस की द्वितीय राज्यक्रान्ति

सन् १८३० में फ्रांस में द्वितीय राज्यक्रान्ति का प्रारम्भ हुआ। १७८९ की क्रान्ति ने जिन नवीन भावनाओं को जन्म दिया था, वे अपना कार्य कर रही थीं। वीएना की कांग्रेस ने इन भावनाओं को कुचलने का यथाशक्ति प्रयत्न किया था। बोर्बों राजवंश का पुनरुद्धार करके वीएना के राजनीतिज्ञों ने फ्रांस में पुराने जमाने को फिर से वापिस ले आने के लिये कोई भी कसर उठा नहीं रखी थी। पर नई प्रवृत्तियों को नष्ट कर सकना उनकी शक्ति के बाहर था। १८वें लुई के शासन से लोग बहुत अधिक असंतुष्ट नहीं हुए। उसने शक्तिभर जनता की परवाह करने का प्रयत्न किया था। पर चार्ल्स १०वाँ बहुत ही स्वेच्छाचारी तथा उद्धत राजा था। वह 'सच्चे अर्थों में' राजा बनना चाहता था। वैध राजसत्ता, उसकी दृष्टि में कोई अर्थ ही नहीं रखती थी। परिणाम यह हुआ कि क्रान्ति की भावनायें फिर प्रबल हो गईं। चार्ल्स के

शासन से जनता असंतुष्ट थी। क्रान्ति की प्रवृत्तियाँ निरन्तर जोर पकड़ रही थीं। इन दो कारणों ने मिल कर १८३० की द्वितीय राज्य क्रान्ति का प्रादुर्भाव किया।

चार्ल्स १०वाँ जनता के अधिकारों का घोर शत्रु था। वह पहले कट्टर राजसत्तावादी दल का नेता रह चुका था। १८वें लुई की समझौते की नीति को देख कर वह गुस्से में दाँत पीसा करता था। वह कहता था, कि इङ्गलैण्ड के राजा के समान 'वैध राजा' होने की अपेक्षा तो लकड़ियाँ चीरना अधिक अच्छा है। १८२४ में जब वह फ्रांस की राजगद्दी पर बैठा, तब उसने निश्चय किया कि मैं ईश्वर की इच्छा के अनुसार राज्य करूँगा, जनता की इच्छा से नहीं। वह पूर्ण रूप से १४वें लुई के समान स्वेच्छाचारी राजा होना चाहता था। उसका दृढ़ संकल्प था कि मैं क्रान्ति की सब भावनाओं को पूरी तरह कुचल कर वास्तविक राजा की तरह फ्रांस का शासन करूँगा। राजगद्दी पर बैठते ही चार्ल्स ने अपना कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। लेख, भाषण और प्रेस की स्वतन्त्रता छीन ली गई। कुलीन जमींदारों को हरजाने के तौर पर ६० करोड़ रुपये दिये गये। पादरियों को पुराना गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कराया गया। शिक्षा का कार्य चर्च के सुपुर्द कर दिया गया। चार्ल्स ने निःसङ्कोच रूप से पुराने जमाने को स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया। इस नीति का परिणाम यह हुआ, कि फ्रांस में विद्रोह की अग्नि प्रचण्ड हो गई। उदार विचारों के लोग जोर पकड़ने लगे। रिपब्लिक और क्रान्ति के पक्षपातियों को अपनी शक्ति बढ़ाने का उत्तम अवसर प्राप्त हो गया। १८३० के राष्ट्र-प्रतिनिधि सभा के निर्वाचन में उन लोगों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई, जो नवीन प्रवृत्तियों के पक्षपाती थे और चार्ल्स दशम की नीति का विरोध करते थे। निर्वाचन के परिणाम को सुनकर चार्ल्स को बहुत क्रोध आया। २६ जुलाई सन् १८३० के दिन उसने चार विशेष कानून जारी किये। इन कानूनों के

निम्नलिखित व्यवस्थायें की गई थीं (१) प्रेस की स्वाधीनता को रोका गया (२) नई राष्ट्र-प्रतिनिधि सभा को बर्खास्त कर दिया गया। (३) निर्वाचन का अधिकार किन को हो, इस सम्बन्ध में नये नियम जारी किये गये। इन नियमों से वोट का अधिकार बहुत कम लोगों को रह गया। तान चौथाई लोग वोट के अधिकार से वञ्चित कर दिये गये। (४) राष्ट्रप्रतिनिधि सभा का नया निर्वाचन करने के लिये हुकुम जारी हुआ। चार्ल्स दशम को स्वप्न में भी खयाल नहीं था कि उसके इन विशेष कानूनों का क्या परिणाम होगा। वह तो मजे से शिकार खेलने में वक्त गुजार रहा था। परन्तु इन कानूनों के प्रकाशित होते ही फ्रांस भर में विद्रोह की ज्वालायें व्याप्त हो गईं। बोनापार्टिस्ट, रिपब्लिकन, वैध राजसत्तावादी—सब दल राजा की स्वेच्छाचारिता का विरोध करने के लिये एक हो गये। स्वाधीनता के जयजयकारों से पेरिस गूँज उठा। पुराने सिपाही, विद्यार्थी, मजदूर—सब भड़क गये। पेरिस की गलियों में किलाबन्दी की जाने लगी। पत्थर, ईंट, तख्ते, पुरानी मेज कुर्सियाँ—जो कुछ भी मिला, इकट्ठा कर लिया गया और उससे मोर्चाबन्दी की जाने लगी। १७८६ और १७६२ के दिन एक बार फिर दृष्टिगोचर होने लगे। सारे पेरिस में सनसनी फैल गई। लफायत के नेतृत्व में पेरिस के उदार लोग खुल्लम-खुल्ला विद्रोह के लिये निकल पड़े। पेरिस विद्रोहियों के कब्जे में आ गया। राजा की सेनाओं ने उनका मुकाबला किया। पर जनता की शक्ति का सामना नहीं कर सके। तीन दिन तक लगातार गलियों में लड़ाई होती रही। सेना की सहानुभूति विद्रोह के साथ थी। बहुत से सिपाही तो स्पष्टरूप से विद्रोह में हिस्सा ले रहे थे। प्रथम राज्य क्रान्ति ने जो भावनायें उत्पन्न की थीं, वीएना की कांग्रेस ने उन्हें केवल दबा दिया था। अवसर पाते ही ये फिर एक बार फूट पड़ीं। आखिर, चार्ल्स की पराजय हुई। उसे जनता की इच्छा के सम्मुख सिर झुकाना पड़ा। अपने १० वर्ष के

पोते को राजगद्दी पर बिठाकर वह स्वयं इङ्गलैण्ड भाग गया। स्वेच्छाचारी राजसत्ता के पुनरुद्धार के लिये जो प्रयत्न उसने प्रारम्भ किया था, वह शीघ्र ही विफल हो गया।

क्रान्तिकारियों के सम्मुख अब यह समस्या पेश आई, कि शासन की क्या व्यवस्था करें। रिपब्लिक दल का पक्ष था कि अब रिपब्लिक की स्थापना करनी चाहिये। क्रान्ति के वास्तविक सञ्चालक इसी दल के थे। मज़दूर, व्यवसायी और विद्यार्थी इस दल में बहुसंख्या में विद्यमान थे, ये सब रिपब्लिक के लिये उत्सुक थे। परन्तु मध्यश्रेणी के लोग—जिनका नेता थीयर था, वैध राजसत्ता के पक्षपाती थे। लफायत ने मध्यस्थ का कार्य किया और दोनों दलों में समझौता हो गया। आखिर, रिपब्लिकन लोग भी वैध राजसत्ता की स्थापना के लिये राजी हो गये। ७ अगस्त १८३० को राष्ट्र प्रतिनिधि सभा में यह विषय पेश हुआ और निश्चय हुआ कि लुई फिलिप को फ्रांस की राजगद्दी पर बिठाया जाय। लुई फिलिप बोर्बों राजवंस की एक शाखा ओर्लियनिस्ट वंश का था, और अपने विचारों में बहुत उदार था। लोग उसे बहुत चाहते थे। १८३० की क्रान्ति पूर्णरूप से सफल हुई। जनता ने स्वयं अपना राजा चुना। जनता के अधिकारों की यह स्पष्ट विजय थी। फ्रांस का नया राजा अपनी युवावस्था में जैकोबिन दल का सदस्य रह चुका था। उसने क्रान्तिकारी सेना में सम्मिलित होकर क्रान्ति के विरोधियों से अनेक लड़ाइयाँ भी लड़ी थीं। 'आतङ्क के राज्य' में जब फ्रेञ्च राज्यक्रान्ति ने बहुत उग्र रूप धारण किया, तब यह लुई फिलिप उसका विरोधी हो गया और फ्रांस से भाग गया। वीएना की कांग्रेस के बाद जब भागे हुए लोग अपने देश वापिस आये, तब यह भी आया। इस प्रतिक्रिया के काल में भी यह लोकतन्त्र का पक्षपाती रहा और यही कारण है, कि जनता इसे बहुत चाहती थी। वह सामान्य लोगों की तरह रहता था। सादे रहन सहन की वजह से भी लोग उसके बहुत पक्ष में थे। १८३०

की राज्यक्रान्ति के बाद फ्रांस में रिपब्लिक की स्थापना नहीं हुई, परन्तु जनता ने अपनी इच्छा से—अपनी सम्मति से यह निश्चय किया कि उनका शासक कौन हो। इस प्रकार १८३० की क्रान्ति सब प्रकार से सफल हुई।

राष्ट्र प्रतिनिधि सभा के लुई फिलिप को राजा चुनने के बाद ८६ प्रतिनिधियों के हस्ताक्षरों से एक उद्घोषणा पत्र प्रकाशित हुआ। इसमें कहा गया था—फ्रांसीसी भाइयो! फ्रांस अब स्वतन्त्र है। एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन अपना सिर ऊँचा उठा रहा था, पर पेरिस की जनता ने उसे पददलित कर दिया है। अब फिर व्यवस्था और स्वतन्त्रता की स्थापना हो गई है। लुई फिलिप हमारे अधिकारों की रक्षा करेगा, क्योंकि वह अपने अधिकार हमसे ही प्राप्त करेगा।' नये शासन-विधान में प्रेस की स्वतन्त्रता को स्वीकार किया गया। लोग स्वतन्त्रता से सभा कर सकें, इस अधिकार को माना गया। उन सब लोगों को वोट का अधिकार दिया गया, जिनकी आयु २५ साल से अधिक हो और जो अपनी जायदाद पर कम से कम १२०) रु० वार्षिक कर देते हों, या यदि वे कोई पेशा करनेवाले हों, तो कम से कम ६०) रु० वार्षिक टैक्स देते हों। इस प्रकार मध्यश्रेणी के लोगों को वोट का अधिकार प्राप्त हुआ। पर सर्वसाधारण जनता को—किसानों और मजदूरों को इस नये शासन-विधान ने भी कोई अधिकार नहीं दिया। ६०) रु० वार्षिक टैक्स देने-वाले लोगों की संख्या भी बहुत अधिक नहीं थी। परन्तु नये मताधिकार के अनुसार वोटरों की संख्या दुगने के लगभग हो गई थी और समय को दृष्टि में रखते हुए यह मामूली बात नहीं थी। इस नये शासन-विधान के अनुसार यह भी निश्चय किया गया, कि रोमन कैथोलिक धर्म का राज्य के साथ कोई सम्बन्ध न रहे, सब लोगों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो। शिक्षणालय चर्च के आधीन न रहें। इस प्रकार १८वें लुई और १०वें चार्ल्स के समय में जो प्रतिक्रिया हुई थी, उसे बहुत हद तक १८३० की राज्यक्रान्ति द्वारा दूर किया गया।

लुई फिलिप के मुख्य पक्षपाती मध्यश्रेणी के लोग थे। उसके विरोधियों की संख्या कम नहीं थी। कुलीन श्रेणी के लोग उसकी सत्ता को स्वीकृत करने के लिये तैयार न थे। वे बोर्बों राजवंश के किसी कुमार को फ्रांस की राजगद्दी पर देखना चाहते थे, इसके अतिरिक्त बोनापार्टिस्ट दल और रिपब्लिकन दल भी उसके शासन को स्वीकृत करने के लिये उद्यत न थे। बोनापार्टिस्ट दल 'रोम के बादशाह' को फ्रांस का राज्य देना चाहता था और रिपब्लिकन लोग रिपब्लिक के आदर्श को पूर्ण करना चाहते थे। यद्यपि बहुत से रिपब्लिकन लोगों ने समझौते के तौर पर लुई फिलिप को राजा मान लिया था, पर उनकी वास्तविक आकांक्षा रिपब्लिक स्थापित करने की ही थी। मजदूर, किसान, कारीगर और अन्य सामान्य स्थिति के लोग नये शासन से असन्तुष्ट थे। इन लोगों के बड़े हिस्से को वोट का अधिकार प्राप्त नहीं हुआ था, अतः शासन पर उनका कोई प्रभाव नहीं था। उनमें असन्तोष फैलने लगा। लोग कहने लगे—चार्ल्स १०वें के स्वेच्छाचारी शासन का स्थान फ्रांस के अमीरों के स्वेच्छाचारी शासन ने ले लिया है। वास्तविक लोकतंत्र का फ्रांस में सर्वथा अभाव है। एक के बाद एक गुप्त समिति सङ्गठित की गई। मजदूर लोग अपनी हालत को अच्छा बनाने के लिये आन्दोलन करने लगे। काम करने के घण्टे कम होने चाहिये; वेतन बढ़ने चाहियें, कारखानों की दशा को अधिक स्वास्थ्यप्रद बनाना चाहियें, कारखानों में काम करने वाली स्त्रियों और बच्चों पर सख्ती नहीं की जानी चाहिये तथा उनके लिये विशेष सुविधायें और नियम होने चाहियें—इस प्रकार की माँग मजदूरों की तरफ से पेश की जाने लगीं। मजदूर कहते थे—क्रांति से हमें क्या मिला है? चार्ल्स १०वें के शासन का अन्त हुआ, तो हमें क्या लाभ पहुँचा। क्रान्ति हमने की और उसका लाभ ले गये मध्यश्रेणी के लोग, अतः आवश्यकता इस बात की है कि क्रान्ति को पूर्ण किया जाय। देश के शासन में जन-साधारण का हाथ हो, मजदूरों और किसानों को वोट

का अधिकार प्राप्त हो। इतना ही नहीं, उनकी दशा की उन्नत करने के लिये राज्य की तरफ से प्रयत्न किया जाय।

परन्तु फ्रांस की सरकार इस आंदोलन को कुचलने के लिये तुली हुई थी। ऐसे कानून पास किये गये, जिनसे मजदूर अपने को संगठित न कर सकें। संगठन के बिना मजदूर अपनी उन्नति कदापि नहीं कर सकते थे, और फ्रांस की उस सरकार ने जिसका प्रादुर्भाव १८३० की राज्यक्रान्ति से हुआ था, इन्हीं संगठनों को गैर कानूनी कर दिया था। मजदूरों ने अपनी दशा को सुधारने के लिये हड़तालें कीं। राज्य ने अपनी शक्ति का प्रयोग कर इन्हें तोड़ डाला। राज्य की इस नीति का परिणाम यह हुआ कि मजदूर लोग विद्रोह के लिये तय्यार हो गये। लियों के रेशम के कारखानों में काम करनेवाले मजदूर काले झंडे लेकर निकल पड़े। विद्रोह हो गया। मजदूर लोगों की माँग थी, कि मनुष्य मात्र को वोट का अधिकार दिया जाय। इतना ही नहीं, राजनीतिक क्रान्ति के साथ-साथ वे सामाजिक क्रान्ति भी चाहते थे। उनकी माँग थी, कि आर्थिक उत्पत्ति के मुनाफे के हिस्सेदार मजदूरों को भी बनाना चाहिए। वे केवल राजनीतिक अधिकारों से संतुष्ट नहीं थे। लुई ब्लां आदि विविध लेखक इस काल में आर्थिक समस्या को लोगों के सम्मुख उपस्थित कर रहे थे। सम्भवतः इतिहास में प्रथम बार जनता अनुभव कर रही थी कि राजनीतिक स्वतंत्रता और समानता के अतिरिक्त आर्थिक स्वतंत्रता और समानता की भी समाज की शान्ति और सन्तोष के लिए आवश्यकता है।

इस आर्थिक असन्तोष के अतिरिक्त रिपब्लिक के पक्षपाती लोग अनुभव करने लगे थे कि १८३० की राज्यक्रांति वस्तुतः सफल नहीं हुई। लुई फिलिप को राजगद्दी पर बिठाना स्वीकृत कर उन लोगों ने भारी भूल की थी। नये शासन में सर्वसाधारण जनता की क्या दशा थी? अधिकांश लोगों को वोट तक का अधिकार प्राप्त नहीं था। मजदूरों की

शिकायतों का कोई अन्त न था। क्या इस शासन को स्वराज्य व लोकतंत्र कहा जा सकता था? कभी नहीं। रिपब्लिकन लोग कहते थे—सर्व साधारण जनता को शिक्षित करना चाहिए। अमीर गरीब का भेद न करके सब लोगों को समान रूप से राजनीतिक अधिकार प्राप्त होने चाहियें। इस मनोवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि विविध सभायें संगठित की गईं। बहुत सी गुप्त समितियाँ बनाई गईं। अखबारों में आन्दोलन होने लगा। नवीन शासन का मजाक किया जाने लगा। तानों और कानूनों से लुई फिलिप और उसके मन्त्रियों की मखौल होने लगी।

लुई फिलिप को चाहिये था, कि असन्तोष के वास्तविक कारणों को समझ कर इस आन्दोलन को शान्त करता। पर उसने शक्ति के प्रयोग का निश्चय किया, पुराने ढङ्ग के स्वेच्छाचारी राजाओं का अनुसरण कर आंदोलन को कुचलने की कोशिश की। उद्घोषणा की गई, कि सब संगठन अपनी नियमावलियों को सरकार के सम्मुख पेश करें और सरकारी अनुमति के बिना कोई संगठन कायम न रह सके। लोगों को स्वतंत्रता से सभायें करने का अधिकार प्राप्त था, उसे छीन लिया गया। रिपब्लिकन सभाओं और गुप्त समितियों को नष्ट किया गया। रिपब्लिकन समाचार-पत्रों को बन्द कर दिया गया, उनके सम्पादक कैद कर लिये गये। राज्य की आलोचना करना, सम्पत्ति के वैयक्तिक अधिकार का विरोध करना या राजसत्ता के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार के शासन-विधान का पक्ष लेना अपराध बना दिये गये। जो लोग इन कानूनों को तोड़ें, उन्हें दण्ड देने के लिये विशेष न्यायालयों की सृष्टि की गई। लुई फिलिप ने उदार और लोकसत्ता के पक्षपाती होने के ढोंग को छोड़ कर पूर्ण रूप से एकतन्त्र और स्वेच्छाचारी शासन का प्रारम्भ कर दिया।

वस्तुतः, १८३० की राज्यक्रान्ति असफल हो गई। जनता की इच्छा और अनुमति से जो लुई फिलिप राज्यगद्दी पर बैठा था, वह भी जनता पर ही अत्याचार करने लगा। उसे कतल करने के लिये ६ बार कोशिश

की गई। पर वह बचता गया। आखिर १८४८ की राज्यक्रांति ने उसके स्वेच्छाचारी शासन का अन्त किया।

१८३० की राज्यक्रांति नई प्रवृत्तियों की सामयिक रूप से विजय थी। क्रान्ति की प्रवृत्तियाँ निरन्तर अधिक अधिक प्रबल होती जाती थीं। पर पुराने जमाने को एकदम पलट देना उनकी शक्ति के बाहर था। यही कारण है कि एक बार कुछ समय के लिये सफल होकर भी वे शीघ्र ही फिर परास्त हो गईं।

५. १८३० की क्रांति का यूरोपियन देशों पर प्रभाव

क्रांति का प्रसार—फ्रांस की द्वितीय राज्यक्रांति अपने देश तक सीमित नहीं रही। एक ऐतिहासिक ने लिखा है, कि जिस प्रकार तालाब में पत्थर फेंकने से उसकी लहरें एक स्थान से प्रारम्भ होकर सम्पूर्ण तालाब को व्याप्त कर लेती हैं, इसी प्रकार जब फ्रांस में राज्यक्रांति होती थी, तो उसका प्रभाव सम्पूर्ण यूरोप में व्याप्त हो जाता था। फ्रांस की प्रथम राज्यक्रांति ने यूरोप के अधिकांश देशों में कुलीन श्रेणी के विशेषाधिकारों को नष्ट कर दिया था। राष्ट्रीयता और लोकतंत्र की आवाज यूरोप भर में गूँज रही थी। १८३० की इस क्रान्ति का प्रभाव बहुत व्याप्त था। यूरोप भर में एक प्रकार की सनसनी सी फैल गई थी। सब देशों की जनता में असाधारण रूप से साहस और उत्साह का संचार हो गया था। वीएना की कांग्रेस ने जिस प्रकार अस्वाभाविक रूप से यूरोप का पुनः संगठन किया था, उसके विरुद्ध सर्वत्र विद्रोह प्रारम्भ हो गये थे। नया जमाना पुराने जमाने को पलट देने के लिये एक भारी कोशिश करने को सन्नद्ध हो गया था।

बेल्जियन क्रान्ति—१८३० की क्रान्ति का प्रभाव सबसे पहले बेल्जियम में प्रगट हुआ। वीएना की कांग्रेस ने बेल्जियम को हालैंड के साथ मिला दिया था। भाषा, धर्म, नसल, हित आदि सब दृष्टियों से

बेल्जियन लोग डच लोगों से भिन्न थे। डच लोग प्रोटेस्टेण्ट धर्म को माननेवाले थे, बेल्जियन लोग रोमन कैथोलिक थे। डच लोगों की भाषा और नसल बेल्जियन लोगों से सर्वथा पृथक् थी। अधिकांश डच लोग किसान थे, दूध दही उत्पन्न करना उनका मुख्य व्यवसाय था। उनका हित इस बात में था, कि मुक्तद्वार वाणिज्य की नीति का अनुसरण किया जाय। इसके विपरीत, बेल्जियन लोग विविध व्यवसायों में लगे हुए थे। पक्का माल तैयार करना उनका प्रधान पेशा था। बेल्जियम के विविध नगर खान तथा वस्त्र-व्यवसाय के केन्द्र बन चुके थे। उनका मुख्य लाभ इसमें था, कि संरक्षण की नीति का प्रयोग किया जाय। इसके अतिरिक्त डच लोग फ्रांस से घृणा करते थे, बेल्जियन लोग फ्रांस के मित्र थे। बेल्जियम और हालैण्ड एक दूसरे से सर्वथा भिन्न थे। राष्ट्रीयता और जनता की इच्छा की सर्वथा उपेक्षा कर वीएना में उन्हें एक साथ मिला दिया गया था। हलैण्ड का राजा विलियम प्रथम बेल्जियन लोगों पर अत्याचार करने में जरा भी संकोच नहीं करता था। उनकी राष्ट्रीय भावनाओं को कुचलने के लिये, उनके आर्थिक हितों को हानि पहुँचाने के लिये, जो कुछ भी उससे बन सका, उसने किया। व्यापारियों और व्यवसाइयों पर भारी टैक्स लगाये गये। शासन के लिये डच आफिसर नियत किये गये। डच कानून जारी हुए। प्रेस की स्वाधीनता नष्ट की गई। स्कूलों का निरीक्षण करने के लिये प्रोटेस्टेन्ट निरीक्षक रखे गये, यद्यपि बेल्जियम के विद्यार्थी और शिक्षक सभी रोमन कैथोलिक थे। हालैण्ड और बेल्जियम की पार्लमैण्ट एक थी। यद्यपि बेल्जियम की आबादी हालैण्ड की अपेक्षा दुगने के लगभग थी, पर पार्लमैण्ट में उनके प्रतिनिधियों की संख्या एक बराबर थी। मन्त्रिमंडल में बेल्जियम लोग बहुत कम होते थे। १८३० में मन्त्रिमंडल के सदस्यों की संख्या सात थी। उनमें से केवल एक मन्त्री बेल्जियन था। अभिप्राय यह है कि बेल्जियन लोग अनुभव करते थे कि उनके साथ अधीनस्थ

देश का-सा व्यवहार किया जा रहा है, और डच लोग अपने लाभ के लिये उनके हितों का विघात कर रहे हैं। उनमें स्वतन्त्रता की भावनायें निरन्तर प्रबल होती जाती थीं। डच शासन के अत्याचारों के होते हुए भी बेल्जियन लोगों में अपनी राष्ट्रीय, स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिए आन्दोलन प्रचण्ड होता जाता था।

सफलता—१८३० में जब फ्रांस में राज्यक्रान्ति हुई, तब बेल्जियन लोगों में भी अपनी आकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिये उत्साह का संचार हुआ। १८ नवम्बर के दिन बेल्जियम में विद्रोह हुआ। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता उद्घोषित कर दी गई। नवीन शासन-विधान का निर्माण किया गया। लिओपोल्ड प्रथम के नाम से एक जर्मन राजकुमार को राजगद्दी पर बिठा कर वैध राजसत्ता की स्थापना की गई। ४ अक्टूबर को बेलिजयम की स्वतन्त्र सरकार ने उद्घोषणा की, कि "बेल्जियम का प्रदेश शक्ति के प्रयोग से हालैण्ड से पृथक् कर लिया गया है, और अब वह पृथक् स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिवर्तित किया जाता है।" जुलाई १८३१ में लिओपोल्ड का राज्याभिषेक बड़ी धूमधाम के साथ बेल्जियम की राजधानी ब्रुसेल्स में किया गया। इस प्रकार बेल्जियम हालैण्ड की अधीनता से मुक्त हुआ। अन्य यूरोपियन राज्यों ने उसकी स्वतन्त्रता को स्वीकृत कर लिया। इसके कुछ समय बाद ही १८३६ में, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, आस्ट्रिया, रशिया और प्रशिया ने बेल्जियम की स्वाधीनता के अतिरिक्त यह भी स्वीकृत किया कि हम सब उसे उदासीन राज्य समझेंगे। १६१४ तक बेल्जियम की उदासीनता कायम रही। किसी राज्य ने इसे नष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया। पर १६१४ के यूरोपीय महायुद्ध के प्रारम्भ में जर्मनी ने १८३६ के समझौते को 'कागज का टुकड़ा' कहकर बेल्जियम पर आक्रमण किया और इस अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि की उपेक्षा की। १८३० से १६१४ तक बेल्जियम पूर्णरूप से स्वाधीन रहा और 'उदासीन राज्य' होने के कारण सब युद्धों से बचा रहा।

पोलेण्ड—पोलेण्ड किस प्रकार रशिया, प्रशिया और आस्ट्रिया में विभक्त कर दिया गया था, इसका जिक्र पहले किया जा चुका है। १८३० में 'पोलेण्ड' इस नाम से कोई राज्य नहीं था। सम्पूर्ण पोल लोग तीन विविध शक्तिशाली राज्यों के आधीन थे। परन्तु उनमें राष्ट्रीय भावनाओं का अभाव नहीं था। वे लोग अपनी एकता और स्वतन्त्रता के लिये आन्दोलन कर रहे थे। १८३० में जब फ्रांस और बेल्जियम में क्रान्ति हुई, तो उसका प्रभाव पोलेण्ड पर भी पड़ा। पोलैण्ड का मुख्य भाग रशिया के आधीन था। वहाँ के लोग विद्रोह के लिये तैयार हो गये। रशियन अफसरों को कतल कर दिया गया या बाहर निकाल दिया गया। फ्रांस, जर्मनी और ब्रिटेन के लोग पोल राष्ट्रीय भावनाओं के साथ सहानुभूति रखते थे। परन्तु उनका यह साहस नहीं हुआ कि रशिया के विरोध में पोल लोगों की सहायता कर सकें। साल भर तक रशिया और पोलेण्ड में लड़ाई जारी रही। पोल लोगों के लिये रशिया का मुकाबला कर सकना सुगम कार्य नहीं था। आखिर, वे परास्त हुए। हजारों पोल देशभक्तों को प्राणदंड दिया गया। हजारों को देश निकाला देकर साइबीरिया भेज दिया गया। पोल विद्रोह को बुरी तरह कुचला गया। बहुत से लोगों ने भाग कर पश्चिमी यूरोप व अमेरिका की शरण ली। वहाँ वे अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्न करते रहे। पर गत यूरोपीय महायुद्ध से पूर्व उनकी आकांक्षा पूर्ण नहीं हो सकी।

जर्मनी—जर्मनी के विविध राज्य भी १८३० की क्रान्ति की लहरों से अछूते नहीं बच सके। स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय एकता के भाव सम्पूर्ण जर्मनी में प्रबल हो उठे। लोग इस बात के लिये आतुर हो गये कि जर्मनी को भी राष्ट्रीय दृष्टि से संगठित करना चाहिए और विविध जर्मन राज्यों का अन्त कर एक शक्तिशाली जर्मन राष्ट्र का निर्माण होना चाहिए। परन्तु प्रशिया और आस्ट्रिया का शासन इतना मजबूत था कि

वहाँ की जनता विद्रोह के लिये हिम्मत नहीं कर सकी। परन्तु जर्मनी के छोटे-छोटे राज्यों में अनेक स्थानों पर विद्रोह हुए। ब्रुन्स्विक की जनता ने अपने राजा चार्ल्स द्वितीय को राज्यच्युत कर नवीन शासन-विधान का निर्माण किया और वैध राजसत्ता की स्थापना की। सैक्सनी में विद्रोह हुआ, दुबारा राजा को बाधित किया गया, कि जनता द्वारा निर्मित शासन-विधान और सुधारों को स्वीकृत करे। हैनोवर में भी नवीन शासन की स्थापना की गई। हैसल कैसल का वह राजा, जो लोगों को कोड़े मारा करता था और जिसने रोटी के व्यवसाय को अपने अधिकार में किया हुआ था, इस बात के लिये बाधित किया गया, कि अपने राज्य में शासन-विधान की स्थापना करे। हैम्बेख नामक स्थान पर तीस हजार लोग इकट्ठे हुए। स्वतन्त्रता के गीत गाये जाने लगे। लोग कहने लगे—'जर्मनी के संयुक्त राज्य' का संगठन होना चाहिए। सारे यूरोप में रिपब्लिक की स्थापना होनी चाहिए। एक वक्ता यहाँ तक आगे बढ़ गया कि उसने कहा —'ईश्वर की कृपा पर आश्रित सर्वोत्तम राज्य मानवीय जाति का दुश्मन होता है।' फ्रांकफोर्ट में विद्यार्थियों की सभा को भंग करने के लिये पोलीस को गोली चलानी पड़ी। विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों की सभायें कायम हो गईं। सब जगह राष्ट्रीय गीत गाये जाने लगे। मातृभूमि की एकता और स्वतन्त्रता के लिये सम्पूर्ण जर्मनी में आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह आन्दोलन संगठित नहीं था। सारे जर्मनी में स्वतन्त्रता और एकता के लिये भावना तो उत्पन्न हो गई थी, परन्तु विविध लोगों की आकांक्षाओं का एक सूत्र में संगठन नहीं हुआ था। यही कारण है, कि १८३० की क्रान्ति की लहर जर्मनी में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं कर सकी। मैटरनिख ने इस आन्दोलन को कुचलने का पूरा पूरा प्रयत्न किया। वह क्षण भर के लिये भी यह नहीं सह सकता था, कि उसके अपने लोगों में—जर्मन लोगों में नई भावनाओं का संचार हो जाय। उस समय में आस्ट्रिया

जर्मनी से पृथक् नहीं था। मैटरनिख की पूरी शक्ति स्वतन्त्रता और एकता की प्रवृत्तियों को नष्ट करने में लगी हुई थी। जर्मन राज्य-संघ की राजसभा में नवीन प्रवृत्तियों के विरुद्ध कानून पेश किये गये। उनको स्वीकृत कराने में मैटरनिख को विशेष तकलीफ नहीं हुई। नये कानूनों का परिणाम यह हुआ कि सर्वत्र देशभक्तों और सुधार के पक्षपातियों पर भयंकर अत्याचार किये गये। देशभक्त लोग गिरफ्तार कर लिये गये। बहुतों को देश निकाला दिया गया। नवीन शासन-विधान नष्ट कर दिये गये। शासन-विधान के लिए अँग्रेजी में शब्द है—कान्स्टीट्यूशन। इसका एक और अर्थ होता है, वह है शरीर का संगठन। एक बार की बात है, कि आस्ट्रिया के राजा फ्रांसिस से किसी सरदार ने कहा-'आपका कान्स्टिट्यूशन (शरीर का संगठन) बहुत उत्तम है।' फ्रांसिस इस पर बहुत नाराज हुआ। उसने क्रोध में आकर कहा—"तुम क्या कहते हो? याद रखो, फिर कभी यह शब्द मेरे सम्मुख न बोलना। कहो, आपका शारीरिक स्वास्थ्य बहुत उत्तम है, या आपके शरीर की रचना बहुत अच्छी है, पर इस 'कान्स्टिट्यूशन' शब्द का प्रयोग कभी मत करो, मेरे यहाँ कोई कान्स्टिट्यूशन न अब है, और न भविष्य में कभी होगा। शैतान के सिवा अन्य किसी के पास कान्स्टिट्यूशन नहीं होता और न किसी को इसकी आवश्यकता ही है।" इसमें सन्देह नहीं, कि उस समय के जर्मन शासकों में कान्स्टिट्यूशन के लिये इसी ढङ्ग की घृणा विद्यमान थी। मैटरनिख कहता था, सब मुसीबतों की जड़ यह है, कि थोड़े से लोग खतरनाक प्रतिनिधिसत्तात्मक शासन के लिये आन्दोलन करते हैं। जर्मनी में मैटरनिख को पूर्ण सफलता हुई। विद्रोह शान्त कर दिये गये। देशभक्तों की आकांक्षाओं को कुचल दिया गया। पर यह नहीं समझना चाहिये कि स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय एकता के भाव सदा के लिये नष्ट हो गये। कुछ ही समय के अनन्तर जर्मनी एक संगठित राष्ट्र के रूप में परिवर्तित हो गया और उसमें लोकतन्त्र शासन स्थापित होने में भी बहुत देर

नहीं लगी। यह सब किस प्रकार सम्पन्न हुआ, इस पर हम यथास्थान आगे चलकर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

इटली—१८३० की क्रान्ति ने इटली पर बड़ा प्रभाव डाला। वीएना की कांग्रेस ने इटली को अनेक राज्यों में विभक्त कर दिया था। इटालियन देशभक्त अपने देश को एक सूत्र में संगठित करने तथा स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये उतावले हो रहे थे। १८३० की लहर ने उनमें नई आशा और उत्साह का संचार किया। इटली के लोगों को आशा थी, कि स्पेन और फ्रांस उनकी सहायता करेंगे। कुछ लोगों का खयाल था कि नैपोलियन के लड़के को स्वतन्त्र इटली की राजगद्दी पर बिठा कर सम्पूर्ण देश को संगठित किया जा सकता है। इटली में गुप्त समितियों की कमी नहीं थी। लोगों में स्वतन्त्रता की भावना उत्पन्न हो चुकी थी। वे अवसर की प्रतीक्षा में थे। १८३० में जब फ्रांस, बेल्जियम, जर्मनी और पोलैंड—सब जगह क्रान्ति की अग्नि धधक रही थी, इटालियन लोगों ने भी विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। मोडेना के लोगों ने अपने ड्यूक को बाहर निकाल दिया। परमा की शासिका नैपोलियन की रानी मेरिया लुइसा थी। परमा के लोगों ने उसे अपने पितृगृह आस्ट्रिया भाग जाने के लिये बाधित किया। पोप के राज्य में भी विद्रोह हुआ। पो से लेकर टाइबर नदी तक सब जगह राष्ट्रीय तिरंगे झण्डे के नीचे लोग विद्रोह के लिये तैयार हो गये। इस विकट समय में इटली के विविध राजाओं को एक स्थान से ही सहायता की आशा थी और वह था मैटरनिख। वह सदा 'ईश्वर के प्रतिनिधि' राजाओं की सहायता के लिये उद्यत रहता था। अपने उद्देश्य की पूर्ति के इस सुवर्णावसर को वह कब अपने हाथ से जाने दे सकता था। एकदम आस्ट्रियन सेनायें इटली भेजी गईं। आस्ट्रिया की सधी हुई सेनाओं का मुकाबला करने की हिम्मत इटालियन देशभक्तों में नहीं थी। वे परास्त हो गये। पुराने राजाओं का पुनरुद्धार किया गया। १८३० की क्रान्ति की लहर में

इटालियन लोगों ने जो कुछ भी प्राप्त किया था, उस सबको मटियामेट कर दिया गया। मैटरनिख क्षण भर के लिये भी यह नहीं सह सकता था, कि आस्ट्रिया के पड़ौस में ही लोग 'स्वतन्त्रता' और 'राष्ट्रीयता' की बातें करें। उत्तरीय इटली पर आस्ट्रिया का आधिपत्य भी था। इन 'भयंकर' प्रवृत्तियों के होते हुए यह प्रभाव व आधिपत्य किस प्रकार कायम रह सकता था?

स्पेन—१८३० की क्रान्ति का प्रभाव स्पेन पर भी पड़ा। उदार विचार के लोग फिर जनता के अधिकारों को प्राप्त करने के लिये कोशिश करने लगे। परन्तु उन्हें सफलता नहीं हुई। फर्डिनैण्ड ने क्रूरता और अत्याचार का आश्रय लिया। क्रान्ति की भावनाओं से अपने देश को बचाने के लिये उसने सब प्रकार के उपायों का प्रयोग किया। परिणाम यह हुआ, कि कुछ समय के लिये क्रान्ति तथा सुधार की भावनायें दब गईं। १८३७ में ये भावनायें फिर बलवती हुईं। उस समय जनता को नवीन शासन-विधान की स्थापना में सफलता हुई और स्पेन का शासन 'वैध राजसत्ता' के रूप में परिवर्तित हो गया।

स्विटजरलैंड—स्विटजरलैंड के विविध प्रांतों (कैण्टन) पर भी १८३० की क्रान्ति का असर हुआ। प्रायः सभी प्रांतों में लोग अपने शासन-विधान में सुधार करने के लिये अग्रसर हुए। अब तक स्विटजरलैंड के विविध प्रांतों में जो शासन-विधान प्रचलित थे, उनमें सर्वसाधारण जनता का बहुत कम हाथ था। सम्पूर्ण शक्ति कुछ कुलीन परिवारों के पास थी। इनका शासन बहुत ही दोषपूर्ण तथा निन्दनीय था। १८३० में जनता ने कोशिश की कि इस अवस्था में सुधार किया जाय। सब प्रांतों में शासन-विधानों का सुधार किया गया। केवल प्रांतीय शासन में ही नहीं, केन्द्रीय सरकार में सुधार के लिये भी आन्दोलन हुआ। स्थान-स्थान पर सभायें की गईं। आखिर, केन्द्रीय सरकार को जनता के सम्मुख झुकना पड़ा। उसमें भी अनेक परिवर्तन

किये गये। १८३० की क्रान्ति की लहर ने स्विटजरलैण्ड के शासन में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये, परन्तु अभी वह पूर्णरूप से लोकतन्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार नहीं बन सका। इसके लिये अभी और अधिक आन्दोलन की आवश्यकता थी। १८४८ में जब फ्रांस में तीसरी राज्यक्रान्ति हुई, और एक नई तथा अधिक प्रबल क्रांति की लहर का प्रारम्भ हुआ—उस समय स्विस लोग अपने उद्देश्य में सफल हुए और स्विटजरलैण्ड का शासन पूर्णतया लोकतन्त्र सिद्धान्तों पर आश्रित हो गया।

ग्रेट ब्रिटेन—ग्रेट ब्रिटेन भी क्रान्ति के प्रभाव से नहीं बच सका। १८३० में ग्रेट ब्रिटेन में टोरी दल का प्रभुत्व था। इस कारण सर्वसाधारण जनता बहुत असंतुष्ट थी। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के समाचारों से उसकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा और ब्रिटिश लोग भी अपने अधिकारों के लिये संघर्ष करने का प्रयत्न करने लगे। टोरी दल का प्रधान नेता विलिङ्गटन का ड्यूक—जो मैटरनिख का पक्का दोस्त था और उस समय में इङ्गलैण्ड का प्रधान मन्त्री था, जनता के अधिकारों से जरा भी सहानुभूति नहीं रखता था। उसने स्पष्ट उद्घोषित कर दिया कि पार्लियामैण्ट के निर्वाचन के लिये वोट देने का अधिकार और अधिक विस्तृत नहीं किया जा सकता। उस समय इङ्गलैंड में वोट देने का अधिकार बहुत कम लोगों को प्राप्त था और निर्वाचन के ढंग में बहुत से दोष थे। जनता इनमें सुधार चाहती थी। पर टोरी पार्टी इससे सहमत नहीं थी। परिणाम यह हुआ कि विलिङ्गटन के ड्यूक की निराशाजनक उद्घोषणा से लोग बहुत क्रुद्ध हो गये। टोरी पार्टी बदनाम हो गई। ह्विग (लिबरल) पार्टी का प्राबल्य हो गया और लार्ड जान रसल ने प्रथम सुधार बिल पेश किया। लोग अब तक भी सुधार के इतने खिलाफ थे कि यह बिल पास नहीं हो सका। ह्विग प्रधान मन्त्री ने पार्लियामैंट को बर्खास्त कर नये चुनाव का निश्चय

किया। नवीन निर्वाचन में ह्विग दल की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई। लोक-सभा में द्वितीय सुधार बिल सुगमता से पास हो गया, परन्तु लार्ड सभा ने उसे अस्वीकृत कर दिया। जनता सुधार के साथ थी, पर लार्ड लोग उसे क्रिया में परिणत नहीं होने देते थे। जब तक कि दोनों सभायें प्रस्तावित सुधारों को पास न कर दें, तब तक वे स्वीकृत नहीं समझे जा सकते थे। परिणाम यह हुआ कि जनता में आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। बड़ी बड़ी सभायें की गईं, जुलूस निकाले गये। कई स्थानों पर दंगे भी हो गये। लोग वैध उपायों से अपनी बात को मनाने में असमर्थ हुए थे, उन्होंने शक्ति प्रदर्शित करने का निश्चय किया। आखिर, सुधार के विरोधी लार्ड लोगों को जनता की इच्छा के सम्मुख सिर झुकाना पड़ा। १८३२ का तृतीय सुधार-बिल दोनों सभाओं में पास हो गया। इससे जनता को बहुत बड़े परिमाण में अधिकार प्राप्त हुए। ग्रेट ब्रिटेन का शासन बहुत अंशों में 'लोकतन्त्र' हो गया। स्पेन्सर वालपूल ने १८३२ के सुधारों को सबसे बड़ी क्रान्ति के नाम से पुकारा है। इन सुधारों के रूप में ब्रिटेन में नई प्रवृतियाँ बहुत हद तक सफल हो गईं। इन्होंने शासन के रूप को ही परिवर्तित कर दिया। ग्रेट ब्रिटेन के शासन-विधान के विकास पर एक पृथक् अध्याय में विचार किया जावेगा, और तब इस सुधार-बिल पर विस्तार से प्रकाश डाला जावेगा।

अमेरिका—१८३० की क्रांति की लहर केवल यूरोप तक ही सीमित नहीं रही। विशाल अटलान्टिक महासागर को पार कर अमेरिका में भी उसने अपना प्रभाव प्रदर्शित किया। संयुक्तप्रान्त अमेरिका में भी दोनों तरह की प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं। एक तरफ जहाँ जनता लोकतन्त्र को पूर्णता तक पहुँचाने के लिये प्रयत्न कर रही थी, वहाँ ऐसे लोगों की भी कमी नहीं थी, जो नई प्रवृत्तियों को पसन्द नहीं करते थे। विशेषतया बड़े बड़े अमीर लोग इन प्रवृत्तियों के विरोधी थे। अमेरिका में कुलीन

श्रेणी का अभाव था । कोई ऐसे लोग नहीं थे, जिन्हें अपने जन्म की वजह से विशेषाधिकार प्राप्त हों । पर वहाँ की आर्थिक दशा ने ऐसे लोगों की एक श्रेणी उत्पन्न कर दी थी, जो बहुत ही अधिक धनी और समृद्धि-शाली थे। अमेरिका की विस्तृत उपजाऊ जमीनों पर गुलामों के श्रम से खेती की जाती थी । इन जमीनों के मालिक गुलामों की कमाई को लूटकर असाधारण रूप से अमीर हो गये थे। इसके अतिरिक्त खानों तथा कल कारखानों के मालिक भी समृद्धि की दृष्टि से बहुत आगे बढ़े हुए थे । ये लोग स्वाभाविक रूप से सर्वसाधारण जनता के अधि-कारों तथा नई प्रवृत्तियों को बहुत पसन्द नहीं करते थे । १८३० की क्रान्ति की लहर ने जनता तथा सुधार के पक्षपातियों में नवीन उत्साह का संचार किया । दासप्रथा के विरुद्ध आन्दोलन प्रबल हो गया । संयुक्तप्रान्त अमेरिका के उत्तरीय प्रदेशों में एक हजार के लगभग दास-प्रथा विरोधी सभाओं का संगठन किया गया । इन सभाओं की माँग थी कि दास-प्रथा को एकदम नष्ट कर दिया जाय । इस आन्दोलन के अतिरिक्त गरीबों और मामूली लोगों की दशा में सुधार करने के लिये भी इस समय में बहुत प्रयत्न किया गया । कारखानों में काम करने-वाले बच्चों और स्त्रियों के सम्बन्ध में विशेष नियम बनाये गये । कर्ज को अदा न कर सकने पर कैद में डाल देने के नियम को उड़ाया गया । इसी प्रकार के अन्य भी बहुत से सुधार हुए । अमेरिका के इति-हास में यह काल बहुत महत्त्व रखता है । इस समय जनता के अधिकारों को स्थापित करने के लिये बहुत कुछ कार्य हुआ। राज्य तथा सरकार ने यह अनुभव करना शुरू किया, कि सर्वसाधारण जनता के अधिकारों की रक्षा करना हमारा कर्त्तव्य है । निस्सन्देह, यह एक नया विचार था । अब तक जनता राज्य से संघर्ष करती थी । अब से राज्य नें स्वयं जनता और उसके अधिकारों की फिकर करनी प्रारम्भ की ।

मित्रमण्डल का अन्त—इस अध्याय के प्रारम्भ में हमने बताया

था, कि क्रान्ति की प्रवृत्तियों के खिलाफ जिस प्रतिक्रिया के काल का प्रारम्भ वीएना की कांग्रेस से हुआ था, वह देर तक स्थिर न रह सका। शीघ्र ही नई प्रवृत्तियाँ प्रबल हो गईं और पुराने जमाने को परास्त करने के लिये संघर्ष करने लगीं। १८३० की लहर ने अनेक देशों से पुरानी भावनाओं को नष्ट कर दिया। अनेक देशों में इस नई लहर को असफलता भी हुई। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि संसार धीरे-धीरे नई रोशनी से प्रकाशित होता जाता था। नई प्रवृत्तियों को कुचलने तथा पुराने जमाने को स्थिर रखने के लिये यूरोपियन राज्यों ने जिस 'मित्रमण्डल' का निर्माण किया था, १८३० की क्रांति की लहर से उसे भयकर धक्का लगा। ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस उससे पूर्णतया पृथक् हो गये। मैटरनिख का प्रभाव कम हो गया। उसने रशिया और प्रशिया के साथ मिलकर राजा के दैवीय अधिकारों की रक्षा के लिये एक नवीन संघ का निर्माण किया। पर ब्रिटेन और फ्रांस उसमें सम्मिलित नहीं हुए। १८३० की क्रान्ति ने ब्रिटेन में टोरी दल का प्रभुत्व नष्ट कर दिया था। फ्रांस में तो जनता की इच्छा से एक नवीन शासन का स्थापन हुआ ही था। इस दशा में यह कैसे सम्भव हो सकता था, कि ये दोनों राज्य मैटरनिख का साथ दे सकें। निस्सन्देह, १८३० की क्रांति की यह सबसे भारी विजय थी। मैटरनिख तथा उसके साथी जिस प्रकार यूरोप को चलाना चाहते थे, १८३० की क्रान्ति ने सिद्ध कर दिया कि उसमें उन्हें कदापि सफलता नहीं हो सकती।

इक्कीसवाँ अध्याय

व्यावसायिक क्रान्ति

(१) आर्थिक परिवर्तन

फ्रांस की राज्यक्रान्ति के साथ यूरोप में एक नवीन युग का प्रारम्भ हुआ। उन्नीसवीं सदी में इस नवयुग का निरन्तर विकास होता रहा। पर राजनीतिक क्रान्तियों ने यूरोप के आधुनिक इतिहास में जितने परिवर्तन किये हैं, उससे कहीं अधिक परिवर्तन व्यावसायिक क्रान्ति द्वारा हुए हैं। सर्वसाधारण जनता के जीवन में परिवर्तन व उन्नति करनेवाली जो शक्तियाँ उन्नीसवीं सदी में काम कर रही थीं, उन्हें हम चार भागों में बाँट सकते हैं—(१) व्यावसायिक क्रान्ति (२) राष्ट्रीय भावना का प्रादुर्भाव (३) वैध शासनों का विकास और (४) साम्यवाद की लहर।

इसमें सन्देह नहीं, कि फ्रांस की राज्यक्रान्ति द्वारा यूरोप में एक नई राजनीतिक चेतना उत्पन्न हो गई थी। राजाओं के एकतन्त्र, स्वेच्छाचारी शासन का अन्त होकर जनता का राज्य स्थापित होना चाहिये, यह भाव प्रबल हो गया था। पर अभी लोगों के दैनिक जीवन में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं आया था। अठारहवीं सदी के अन्त तक यूरोप का आर्थिक जीवन प्रायः वैसा ही था, जैसा कि दो हजार साल

पहले सिकन्दर व सीजर के जमाने में था। उसी तरह यूरोप का किसान लकड़ी के हलों से जमीन जोतता था, खुरपे से उसकी नलाई करता व दरांती से फसल को काटता था। कारीगर तकली व चर्खे पर सूत कातता व लकड़ी की खड्डी पर उसकी बुनाई करता था। लुहार लोग पुराने समय के घन व हथौड़े से काम करते थे। लकड़ी की बनी गाड़ियाँ असबाब ढोने व यात्रा करने के काम में आती थीं। घोड़े की अपेक्षा तेज चलनेवाली किसी सवारी का उस समय के यूरोपियन लोगों को परिज्ञान नहीं था। समुद्र में चलनेवाले जहाज चप्पुओं व पाल से चलते थे। लोग प्रधानतया गाँवों में निवास करते थे। उनके रहने के घर प्रायः मिट्टी व पत्थर के बने होते थे। यदि ईसा से ल्यग के जमाने का कोई आदमी अठारहवीं सदी के अन्त में यूरोप में अकस्मात् आ पहुँचता, तो उसे लोगों के रहन सहन व दैनिक जीवन में कोई विशेष परिवर्तन नजर न आता।

पर केवल १½ सदी के इस थोड़े से समय में कितना भारी परिवर्तन यूरोप में आ गया है! खेती, वस्त्र व्यवसाय व आने-जाने आदि सब क्षेत्रों में यान्त्रिक शक्ति का प्रयोग होने लगा है। रेल, मोटर, तार, हवाई जहाज व रेडियो आदि ने देश व काल पर कैसी अद्भुत विजय प्राप्त कर ली है। पहले जो काम हजारों मजदूर दिन भर में करते थे, वह अब यान्त्रिक शक्ति से मिनटों में हो जाता है। हजारों टनों के बोझ वाले विशाल जहाज भाप व बिजली की शक्ति से महासमुद्रों को बात की बात में पार कर जाते हैं। विज्ञान की सहायता से प्रकृति की शक्तियों को किस प्रकार मनुष्य ने अपने वस में कर लिया है। ऐसा प्रतीत होता है, कि मानो किसी जादूगर ने अपनी जादू की छड़ी से जमाने को एकदम इतना बदल दिया है।

इस महान् परिवर्तन का प्रारम्भ अठाहरवीं सदी में हुआ था। उन्नीसवीं सदी में इसका खूब विकास हुआ। अब भी यह निरन्तर जारी

है। इसी को हम 'व्यावसायिक क्रान्ति' कहते हैं। इसका प्रारम्भ अचानक व एकदम नहीं हुआ। वस्तुतः, यह धीरे धीरे विकसित हुई। पर इससे मनुष्य के जीवन में एक मौलिक परिवर्तन आ गया है, एक नई सभ्यता का प्रारम्भ हो गया है। राज्यक्रान्तियों के नेताओं का नाम इतिहास में गौरव के साथ लिया जाता है। लोग उन्हें शहीद व 'हीरो' मान कर उनका सम्मान करते हैं। इतिहास ग्रन्थों के पृष्ठ के पृष्ठ उनकी प्रशंसा व गौरवगाथा से परिपूर्ण रहते हैं। पर मानव-जीवन में इतना महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाने वाले व्यावसायिक क्रान्ति के इन नेताओं का नाम लोगों को विदित भी नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि इन शिल्पियों व कारीगरों का कार्य बड़े बड़े क्रान्तिकारी नेताओं व वीर सेनापतियों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व का था, और उन्होंने मानव-समाज की सुख समृद्धि के लिये बड़े महत्त्व का कार्य किया। जिस प्रकार राज्यक्रान्तियों का प्रधान क्षेत्र फ्रांस था, व्यावसायिक क्रान्ति का केन्द्रस्थान इङ्गलैण्ड था। वहीं से प्रारम्भ होकर व्यावसायिक क्रान्ति न केवल सम्पूर्ण यूरोप में, अपितु सारे संसार में व्याप्त हो गई।

(२) कृषि की उन्नति

पिछली डेढ़ सदी में पाश्चात्य संसार की आर्थिक दशा में जो असाधारण उन्नति हुई है, उसका मुख्य श्रेय व्यावसायिक क्रान्ति को है। पर उसके लिये मैदान तैयार करने में कृषि की उन्नति का बड़ा हाथ था। अतः उस पर पहले प्रकाश डालना बहुत आवश्यक है।

अब से कुछ समय पूर्व संसार के प्रायः सभी देश 'कृषि-प्रधान' थे। जनता का बड़ा भाग कृषि-कार्य में लगा रहता था। व्यवसायों की अधिक उन्नति नहीं हुई थी। लोगों की आजीविका का मुख्य आश्रय खेती ही थी। आर्थिक उन्नति के क्षेत्र में जिस देश ने सम्पूर्ण संसार का नेतृत्व किया है, वह इङ्गलैण्ड है। उसी के उदाहरण को

लीजिये । अठाहरवीं सदी में इङ्गलैंड एक कृषि-प्रधान देश था। वहाँ की जनता का बहुत बड़ा भाग देहातों में निवास करता था। गाँवों की भूमि दो प्रकार की होती थी, खेती के काम में आनेवाली और चरागाह के रूप में प्रयुक्त होनेवाली भूमि। किसानों के खेत एक स्थान पर नहीं होते थे। यदि एक खेत गाँव के दक्षिण में होता था, तो दूसरा उत्तर में। खेत बहुत छोटे छोटे तथा बिखरे हुए होते थे। एक खेत से दूसरे खेत को जाने में किसान का बहुत सा समय नष्ट हो जाता था। साथ ही, बहुत सी जमीन रास्तों और पगडण्डियों में खराब हुई रहती थी। आधुनिक समय के बड़े और इकट्ठे खेत उस समय तक इङ्गलैण्ड में नहीं थे। जमीन की पैदावार को कायम रखने के लिये आजकल के तरीकों का आविष्कार भी उस समय में नहीं हुआ था। हर तीसरे साल खेत को खाली छोड़ना पड़ता था, ताकि उसकी उपज़-शक्ति नष्ट होने से बची रहे। भिन्न-भिन्न किसम की फसलों को बारी-बारी से बोते रहने पर जमीन की उपज-शक्ति को कायम रखा जा सकता है, इसका ज्ञान उस समय के अंग्रेज किसानों को नहीं था। खेती के लिये वही पुराने जमाने के औजार काम में आते थे। हल, फावड़ा और दराँती से बढ़कर कोई अन्य औजार अठारहवीं सदी के इङ्गलैण्ड के किसानों के पास नहीं था। खेती के लिये काम आनेवाली जमीन के अतिरिक्त, जो अन्य जमीन खाली पड़ी रहती थी, वह चरागाह के काम आती थी, उसमें गाँव भर के पशु स्वच्छन्द रूप से चर सकते थे। जलाने के लिये ईंधन भी इसी जमीन से एकत्र किया जाता था। चरागाह को साफ रखने तथा पशुओं को बीमारी से बचाने का कोई प्रयत्न उस समय नहीं किया जाता था। परिणाम यह था, कि पशु बहुत कमजोर तथा दुबले पतले होते थे। इङ्गलैण्ड की आबादी भी उस समय बहुत कम थी। अठारहवीं सदी के अन्त में इङ्गलैंड के निवासियों की संख्या ९० लाख के लगभग थी। शहरों

का विकास बहुत कम हुआ था। शहर संख्या में थे ही बहुत कम; और जो थे, वे भी छोटे छोटे और निहायत गन्दे होते थे। आवागमन के साधनों की उस समय बड़ी दुर्दशा थी। सड़कें प्रायः कच्ची और टूटी फूटी थीं। डाकुओं की बहुतायत के कारण इन पर आना-जाना भी आशंका से शून्य न था।

अठारहवीं सदी के अन्त में इस दशा में परिवर्तन आना प्रारम्भ हुआ। इङ्गलैण्ड में कृषि-सम्बन्धी जो उन्नति हुई, उस पर हम दो दृष्टियों से विचार कर सकते हैं। (१) कृषि के तरीकों में सुधार और (२) खेतों के स्वरूप में परिवर्तन।

कृषि के तरीकों में सुधार करनेवाला पहला अंग्रेज वैज्ञानिक टल नाम का महानुभाव था। इसने अनेक ऐसे आविष्कार किये, जिनसे कृषि की पद्धति में बहुत उन्नति हुई। बार-बार खेत को जोतकर यदि मिट्टी को बिलकुल बारीक कर दिया जाय, तो पैदावार बहुत बढ़ाई जा सकती है, इस सिद्धान्त का पहले-पहल इसी ने पता किया। साथ ही, बीज बोने के ऐसे क्रियात्मक उपायों का, जिनसे बीज खेत में समान रूप से बोये जा सकें, कहीं कम या अधिक न पड़ें, परिज्ञान भी पहले-पहल इसी ने किया। इसीलिये श्री टल के विषय में कहा जाता था, कि जिस जमीन में कोई अन्य आदमी एक दाना पैदा कर सकता है, वहाँ वह दो दाने पैदा करके दिखा सकता था।

टल के प्रसिद्ध अनुयायी श्री टाउनशैन्ड ने भी कृषि के तरीकों में अनेक महत्त्वपूर्ण सुधार किये। उसकी अपनी जागीर पहले बिलकुल उजाड़ तथा दलदलों से परिपूर्ण थी। पर टाउनशैन्ड ने उस निकम्मी तथा ऊसर जमीन को लहलहाते खेत के रूप में परिवर्तित कर दिखाया। बारी-बारी से भिन्न-भिन्न फसलों को बोकर जमीन की उपज-शक्ति को निरन्तर कायम रखा जा सकता है, इस असूल का परिज्ञान टाउनशैन्ड ने ही कराया। अनेकविध खादों के उपयोग से जमीन की

उपज को बढ़ाने के सफल परीक्षण भी इसी समय में किये गये। साथ ही, पशुओं की तरक्की पर भी ध्यान दिया गया। राबर्ट बेकवल ने पशुओं की नसल को उन्नत करने के लिये अनेक परीक्षण किये। इस समय तक इङ्गलैण्ड के पशु बहुत ही तले-दुबले व कमजोर होते थे। उनके शरीर पर हड्डियाँ नजर आती थीं। पर बेकवल के प्रयत्न से इस दशा में सुधार शुरू हुआ। पशुओं के मांस को भोज्य पदार्थ के रूप में प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। कृषि के उपकरणों में भी उन्नति की गई। बैलों से चलनेवाले लकड़ी के हलों के स्थान पर घोड़ों से चलनेवाले लोहे के भारी हलों का आविष्कार हुआ। अनाज को भूसे से अलग करने के लिये भी मशीनों का निर्माण किया गया। इस मशीन का आविष्कारक एण्ड्रू माकवेल नाम का एक सज्जन था। इस समय के अंग्रेज किसान कितने अन्ध-विश्वासी तथा अपरिवर्तनवादी थे, इसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है, कि वे लोग नये लोहे के हल को इस्तेमाल करने से इसलिये घबराते थे, क्योंकि उनके विचार में इनसे जमीन में जहर घुस जाता था। नये हल के समान ज्यादा अच्छी किसम की दराँतियों व फावड़ों का भी इस समय आविष्कार हुआ। बीजों को चुनने की तरफ भी लोगों का ध्यान गया। बोने के लिये बढ़िया बीजों की आवश्यकता है, इस पर विशेष जोर दिया जाने लगा।

खेती के लिये इन नये आविष्कारों का प्रचार करने की भी कोशिश की गई। आर्थर यंग के आन्दोलन से सन् १७९३ में ब्रिटिश सरकार ने कृषि का एक पृथक् विभाग खोल दिया। इसका काम ही यह था, कि किसानों में खेती के नये तरीकों का प्रचार करे। इसके कुछ समय बाद सन् १८३९ में रायल एग्रिकल्चरल सोसायटी की स्थापना हुई।

कृषि-सम्बन्धी ये सब सुधार तब तक विशेष लाभदायक नहीं हो सकते थे, जब तक कि खेतों के स्वरूप में परिवर्तन न हो। खेतों के

छोटे-छोटे व बिखरे हुए होने के कारण किसी किसान के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह खेती के उन्नत साधनों का प्रयोग कर सके। साथ ही, नये सुधारों के लिये पूँजी की जरूरत होती थी। खेती के उन्नत तरीके तभी काम में लाये जा सकते थे, जब कि खेतों को एकत्र कर एक बड़े फार्म का रूप दिया जावे। इस उद्देश्य से ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा बहुत से ऐसे कानून पास किये गये, जिनसे खेतों के विविध स्वामियों के दावों पर विचार करके उनकी जमीन को एक स्थान पर एकत्र करने की व्यवस्था की गई। सरकार की ओर से इस काम के लिये अनेक कमिश्नर नियत किये गये। वे सब जगह जाकर इस बात की जाँच करते थे, कि किस खेत पर किस किसान का हक है, और उस किसान की सारी जमीन को किस प्रकार इकट्ठा किया जा सकता है। सन् १७०० से १८३६ तक इङ्गलैण्ड में खेतों को एकत्र करने के लिये जो विविध क़ानून पास हुए, उनकी संख्या ४००० से भी अधिक थी। यह काम कितना महत्त्वपूर्ण था, इसका अनुमान इसी एक बात से किया जा सकता है। पर खेतों के एकत्र किये जाने से बहुत से छोटे-छोटे किसान बेरोजगार हो गये, और वे आजीविका की खोज में शहरों की तरफ़ आकृष्ट हुए। शहरों में इस समय व्यावसायिक क्रान्ति प्रारम्भ हो चुकी थी। नये-नये उद्योग-धन्धों का विकास हो रहा था।

(३) वैज्ञानिक आविष्कार

जिन वैज्ञानिक आविष्कारों ने यूरोप में व्यावसायिक क्रान्ति का सूत्रपात किया, उन्हें हम तीन भागों में बाँट सकते हैं। (१) ऐसे नवीन यान्त्रिक आविष्कार जिनसे मानव श्रम की बचत हो। (२) जल, कोयला, भाप और बिजली—ये सब यान्त्रिक शक्ति के काम आ सकते हैं, इस बात का पता लगना। (३) रसायन-शास्त्र की नई प्रक्रियाओं का परिज्ञान। हम इन पर क्रमशः विचार करेंगे।

नवीन यान्त्रिक आविष्कार किस प्रकार मानव श्रम में बचत करने में सहायक हो रहे थे, इसका एक उत्तम उदाहरण वस्त्र-व्यवसाय है। कपड़ा बनाने के लिये पहले रुई को सूत के रूप में कातना होता है और बाद में सूत को बुनकर कपड़ा तैयार किया जाता है। अठारहवीं सदी के मध्य तक यूरोप में सूत कातने के दो ही साधन थे, तकली व चरखा। पर इन दोनों उपकरणों से मनुष्य एक समय में एक ही सूत कात सकता था। सन् १७६७ में जेम्स हरग्रीव नाम के अँगरेज कारीगर ने एक ऐसे चरखे का आविष्कार किया, जिससे एक साथ आठ व दस सूत काते जा सकते थे। इसका अभिप्राय यह हुआ, कि इस नये चरखे से एक कारीगर आठ या दस कारीगरों का काम कर सकता था। एक साल बाद, सन् १७६८ में रिचर्ड आर्कराइट नामक के अन्य अँगरेज शिल्पी ने एक ऐसी मशीन का आविष्कार किया, जिसमें बेलनों द्वारा सूत काता जाता था, और ये बेलन यान्त्रिक शक्ति द्वारा चलते थे। धीरे-धीरे सूत कातने के उपकरणों में उन्नति होती गई, और अठारहवीं सदी की समाप्ति से पूर्व इङ्गलैण्ड में ऐसी मशीनें काम करने लगीं, जिनसे एक साथ दो सौ सूत काते जाते थे। ये मशीनें यान्त्रिक शक्ति से चलती थीं, और इनका संचालन करने के लिये एक या दो से अधिक करीगरों की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। जो काम पहले सौ कारीगर करते थे, वह अब एक कारीगर करने लगा। इससे आर्थिक उत्पत्ति में मानव-श्रम की कितनी बचत हुई, यह सहज में ही भली भाँति समझा जा सकता है।

सूत कातने के नये उपकरणों के साथ-साथ कपड़ा बुनने के उपकरणों में भी उन्नति का होना आवश्यक था। नई मशीनों द्वारा सूत भारी तादाद में तैयार होने लगा था। जुलाहे लोग अपने पुराने तरीकों से सूत की इतनी भारी मात्रा को कपड़े के रूप में परिवर्तित करने में असमर्थ थे। आवश्यकता आविष्कार की जननी कही गई है। अब

अनेक शिल्पियों ने कपड़ा बुनने की खड्डियों में भी सुधार शुरु किये। १७८४ में डा० कार्टराइट नाम के एक शिल्पी ने एक ऐसी खड्डी का आविष्कार किया, जो जल की शक्ति से चलती थी, और जिसमें ताना बाना अपने आप बुना जाता था। इस नई खड्डी से १५ वर्ष की आयु का एक लड़का उतना कपड़ा तैयार कर लेता था जितना कि पुराणी खड्डी से दस कुशल कारीगर कर पाते थे। धीरे धीरे डा० कार्टराइट की खड्डी में सुधार होते गये और इन नई मशीनों की लोकप्रियता किस प्रकार बढ़ती गई, इसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है, कि सन् १८३३ में एक लाख के लगभग ये नई खड्डियाँ इङ्गलैण्ड में प्रयुक्त हो रही थीं।

सूत कातने और बुनने के इन नये उपकरणों के कारण इङ्गलैण्ड में कपड़ा बहुत बड़ी मात्रा में तैयार होने लगा। रुई इङ्गलैण्ड में पैदा नहीं होती। वस्त्र व्यवसाय के लिये इङ्गलैण्ड को रुई बाहर से मँगानी पड़ती है। सन् १७६४ तक, इङ्गलैण्ड बाहर से जो रुई कपड़ा बनाने के लिये मँगाता था, उसकी मात्रा पचास हजार मन से अधिक नहीं होती थी। धीरे धीरे बाहर से आने वाली रुई की मात्रा बढ़ती गई और सन् १८४१ में इङ्गलैण्ड में जो रुई बाहर से आई, उसकी मात्रा ६५ लाख मन हो गई। ७५ वर्ष के लगभग समय में इङ्गलैण्ड को रुई की खपत सौ गुना से भी अधिक बढ़ गई। यह सब यान्त्रिक उपकरणों का परिणाम था। सन् १८१५ में राबर्ट आवन नाम का एक वस्त्र व्यवसायी अभिमान के साथ यह कहा करता था, कि उसके अपने एक कारखाने में दो हजार कारीगर जितना कपड़ा तैयार करते हैं, पुराने तरीकों से सारे स्काटलैण्ड के सब जुलाहे मिल कर उतना कपड़ा नहीं तैयार कर सकते थे। राबर्ट आवन की यह गर्वोक्ति सत्य पर आश्रित थी। पिछले चालीस वर्षों में जो नये यान्त्रिक आविष्कार हुए थी, उन्होंने मानव-श्रम में भारी बचत कर दी थी, और आर्थिक उत्पत्ति पहले की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ा दी थी।

मशीनों की उन्नति के लिये यह आवश्यक था, कि उन्हें बनाने के लिये किसी ऐसी धातु का प्रयोग किया जाय, जो मजबूत और चिरस्थायी हो। औजार बनाने के लिये बहुत पुराने जमाने से लोहे का उपयोग किया जाता था। पर लोहा बहुत कम मात्रा में उपलब्ध होता था, और लोहे को साफ करके उसे मजबूत बनाने के साधन बहुत ही असन्तोषजनक थे। अठारहवीं सदी में, जिस समय आर्कराइट और हारग्रीव जैसे शिल्पी चरखे और करघे की उन्नति में लगे थे, उसी समय अन्य शिल्पी लोहे की उत्पत्ति के नये साधनों की खोज में जुटे हुए थे। लोहे को तैयार करने में पहले लकड़ी का कोयला प्रयुक्त होता था। सन् १७५० में पत्थर का कोयला प्रकाश में आया, और उसकी तेज गरमी से लोहे की कच्ची धात को पिघालने व साफ करने का काम बहुत सुगम होगया। धीरे धीरे नई किसम की भट्ठियाँ तैयार होने लगीं, और साफ व मजबूत लोहा भारी मात्रा में बनने लगा। मशीनों की उन्नति में इस लोहे ने बहुत बड़ी सहायता की।

पर नई मशीनों के आविष्कार ही पर्यात नहीं थे। जब तक नई मशीनों को चलाने के लिये नई यान्त्रिक शक्ति का भी आविष्कार न हो, उनसे पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता। वायु और जल—इन दो प्राकृतिक शक्तियों का मनुष्य को प्राचीनकाल से परिज्ञान था। अपने श्रम के अतिरिक्त मनुष्य देर से इनका उपयोग करना जानता था। पवनचक्की और पनचक्की मध्यकाल में भी प्रयुक्त होती थीं। पर इनका उपयोग और क्षेत्र बहुत सीमित थे। मनुष्य जहाँ चाहे वहाँ और जिस प्रकार से चाहे, इन शक्तियों की उपयोग नहीं कर सकता था। अठारहवीं सदी में भाप की शक्ति का आविष्कार हुआ और पत्थर के कोयले से उत्पन्न तीव्र अग्नि और जल के संयोग से जो भाप प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होती है, उसे काबू कर मनुष्य एक नई यान्त्रिक शक्ति को हस्तगत कर सकता है, यह ज्ञात हुआ। भाप की इस शक्ति

को प्रयुक्त करने वाले उपकरण को 'स्टीम इंजन' कहते हैं। इनका सबसे पहले आविष्कार न्यूकामन नाम के शिल्पी ने किया था। बाद में जेम्स वाट ने उसमें बहुत सुधार किया। वस्त्र व्यवसाय में सब से पहले सन् १७८५ में स्टीम इंजन का प्रयोग किया गया। अठारवीं सदी के अन्त तक इङ्गलैण्ड में हजारों की संख्या में स्टीम इंजन प्रयुक्त होने लगे—और व्यवसाय के क्षेत्र में उनका प्रचार बहुत अधिक हो गया। मध्यकाल में मनुष्य सब श्रम अपने हाथ व पैर से करता था। बैल व घोड़े की जो शक्ति उसे उपलब्ध थी, वह भी जीवित शरीर की शक्ति होने के कारण अपनी एक मर्यादा रखती थी। पर अब लोहे और इंजन के रूप में मनुष्य के हाथ में एक ऐसा दानव आ गया था, जिससे वह गुलाम के तौर पर काम ले सकता था, और जो चेतन शरीर के समान श्रान्ति और क्लान्ति का शिकार सुगमता से नहीं हो जाता था। स्टीम इंजन के आविष्कार से भारी और बड़ी मशीनों का संचालन सम्भव हुआ और उससे आर्थिक उत्पत्ति में बहुत वृद्धि हुई।

स्टीम इंजन के आविष्कार से आवागमन के साधनों में भी बहुत उन्नति हुई। नदियों और समुद्र में नौकायें पहले भी चलती थीं, पर वे चप्पुओं और पाल के द्वारा चलाई जाती थीं। सन् १८०२ में नौकाओं में भी स्टीम इंजन स्थापित किया गया, और ऐसी नौकाओं व जहाजों का निर्माण प्रारम्भ हुआ, जो चप्पुओं व पाल से न चलकर इंजन द्वारा चलते थे। धीरे धीरे जहाजों के आकार में भी वृद्धि शुरू हुई। लाखों मन बोझ के विशाल जहाज समुद्र के वक्षस्थल को चीरते हुए तेज गति से दौड़ने लगे—पर यह सब केवल इसलिये सम्भव हो सका, क्योंकि उन्हें चलाने के लिये अब कपड़े के पाल व चप्पुओं पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं रही थी। अब उन्हें चलाने के लिये भाप की यान्त्रिक शक्ति मनुष्य के वश में आ गई थी।

यदि भाप की शक्ति से जल में जहाज चलाये जा सकते थे, तो

उसी शक्ति का उपयोग स्थल में गाड़ियाँ चलाने के लिये क्यों नहीं किया जा सकता था? जिस प्रकार चप्पुओं व पाल का स्थान अब स्टीम इंजन ले रहा था, उसी प्रकार घोड़े व बैल का स्थान भी स्टीम इंजन क्यों नहीं ले सकता था? सन १८१४ में ज्यार्ज स्टीवन्सन ने एक ऐसे लोकोमोटिव (स्वयं संचालित होने वाला इंजन) का आविष्कार किया, जो लोहे की पटरी पर स्वयं भाप की शक्ति से चल सकता था, और अपने साथ बोझ से भरी हुई गाड़ियों को भी खींच सकता था। इस लोकोमोटिव का पहला उपयोग खान से कोयले को ढोकर नहर तक पहुँचाने के लिये किया गया। पर यह रेलगाड़ी के उस महान आविष्कार का श्री गणेश था, जिसने आगे चल कर मनुष्य के यातायात को इतना सुगम कर दिया। सन १८२५ में इङ्गलैण्ड में पहली रेलवे लाइन बनी, यह १२ मील लम्बी थी। पहली रेलगाड़ी की चाल भी अधिक से अधिक १२ मील प्रति घण्टा थी। इस गाड़ी को देखने के लिये लोगों में इतनी उत्सुकता थी, कि जब पहले पहल गाड़ी चलाई गई, तो भीड़ को पटरी से परे रखने के लिये कुछ घुड़सवार इंजन के आगे आगे चलने के लिये नियत करने पड़े। १८३० में मांचेस्टर और लिवरपूल के बीच में बाकायदा रेल चलने लगी। उस समय २७ मील की इस लाइन को पार करने में गाड़ी को डेढ़ घण्टे के समय लगता था। तेरह साल के समय में, सन १८४३ तक इङ्गलैण्ड में १८०० मील रेलवे लाइन बन गई थी। अब लण्डन से लिवरपूल पहुँचने में केवल दस घण्टे लगते थे। रेल से पहले तेज घोड़ा गाड़ियों द्वारा इसी में एक सप्ताह लग जाता था। निःसन्देह, मनुष्य ने स्टीम इंजन के आविष्कार द्वारा देश और काल पर भारी विजय प्राप्त कर ली थी।

स्टीम इंजन व नये यान्त्रिक उपकरणों के आविष्कार के साथ साथ अठारहवीं सदी में यूरोप में रसायन शास्त्र की नई प्रक्रियाओं

का भी परिज्ञान हो रहा था। रसायन शास्त्र बहुत पुराणा विज्ञान है। मध्यकाल में इसी की सहायता से वैज्ञानिक लोग उस पारस पत्थर की खोज में लगे थे, जिसके स्पर्श से लोहा सोना बन सके। अब वैज्ञानिकों ने इस प्रकार के पारस को पाने की आशा तो त्याग दी थी, पर उन्होंने सचमुच अपने आविष्कारों से उन प्रक्रियाओं को जान लिया था, जिनसे वे मानस के कल्याण व हित के लिये बहुत कुछ काम कर सकते थे। लोहे को मजबूत बनाने की प्रक्रिया का परिज्ञान इसका एक उदाहरण है। इस एक रासायनिक आविष्कार से व्यावसायिक क्रान्ति में जितनी सहायता मिली, उसकी कल्पना सहज में की जा सकती है।

नई मशीनों के आविष्कार, यान्त्रिक शक्ति के प्रारम्भ और नई रासायनिक प्रक्रियाओं के परिज्ञान ने मिल कर आर्थिक उत्पत्ति के क्षेत्र में जिस नये युग का प्रारम्भ किया, उसके कारण मानव समाज के व्यावसायिक संगठन में बड़ा भारी परिवर्तन आगया। इसी को व्यावसायिक क्रान्ति कहते हैं। वस्तुतः, मनुष्य के जीवन में यह एक भारी क्रान्ति थी। इसका प्रभाव मनुष्य के हित व कल्याण के लिये उन क्रान्तियों से कहीं अधिक था, जिनके द्वारा मनुष्य ने राजा व चर्च के आधिपत्य का अन्त कर जन साधारण के शासन का सूत्रपात किया था।

(४) व्यावसायिक क्रान्ति के परिणाम

यूरोप में व्यावसायिक क्रान्ति ने मानव समाज के जीवन में जो भारी परिवर्तन किया है, उस पर प्रकाश डालना आवश्यक है—

१. **आर्थिक उत्पत्ति में वृद्धि**—यूरोप में व्यावसायिक उन्नति का प्रारम्भ इङ्गलैण्ड से हुआ। वहाँ आर्थिक उत्पत्ति में इतनी अधिक वृद्धि हुई, कि जहाँ सन १७८२ में इङ्गलैण्ड से बाहर जाने वाले माल

की कीमत बीस करोड़ के लगभग थी, वहां १८१५ में, केवल ३३ वर्ष बाद ६० करोड़ के लगभग का माल दूसरे देशों में विक्री के लिये जाने लगा। पिछली डेढ़ सदी में इङ्गलैण्ड में अकेले कपड़े की पैदावार में ६०० गुना की वृद्धि हुई है। यदि संसार के सब स्त्री पुरुषों को सूत कातने और बुनने के काम में लगा दिया जाय, तो वे जितना कपड़ा साल भर में तैयार कर सकेंगे, उससे कहीं अधिक कपड़ा अकेले इङ्गलैंड में कपड़े की मिलों द्वारा तैयार होता है।

केवल वस्त्र व्यवसाय में ही नहीं, अन्य व्यवसायों में भी मशीन के प्रयोग ने उत्पत्ति में भारी वृद्धि की है। उदाहरण के लिये पिन के व्यवसाय को लीजिये। इङ्गलैंड की एक साधारण फैक्टरी में सत्तर लाख पिन एक दिन में तैयार होते हैं, और इतनी उत्पत्ति करने वाली मशीन को चलाने के लिये केवल तीन शिल्पियों की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार, मशीन के कारण छापेखानों (प्रिंटिंग प्रेस) में यह सम्भव है, कि एक घण्टे में लाख व अधिक संख्या में समाचार पत्रों की प्रतियाँ छापी जा सकें। मध्यकाल में भी यूरोप में छापेखाने होते थे। पर मैटर को कम्पोज करना, स्याही लगाना व छापना—सब काम हाथ से होता था। परिणाम यह था, कि एक दिन में कुछ सौ प्रतियाँ ही छाप कर तैयार की जा सकती थीं। पर यान्त्रिक शक्ति और मशीन के उपयोग के कारण अब मुद्रण-व्यवसाय ने इतनी अधिक उन्नति कर ली है, कि लाखों की संख्या में छपने वाले समाचारपत्र प्रातःकाल छपकर तैयार हो जाते हैं, और दिन निकलने तक पाठकों के हाथ में पहुँच जाते हैं।

२. गृह व्यवसाय का अन्त और विशाल कारखानों का प्रारम्भ—व्यावसायिक क्रान्ति से पहले मध्य काल में गृह-व्यवसाय की पद्धति जारी थी। प्रत्येक कारीगर अपने घर पर काम करता था। उसका घर पर ही एक छोटा सा कारखाना होता था, जिसमें वह अपनी स्त्री

व बच्चों तथा अन्तेवासियों (शागिर्दों) के साथ आर्थिक उत्पत्ति करता था। कुम्हार, जुलाहा, मोची, लुहार आदि सब व्यवसायी अपने अपने घर पर काम करते थे। उनके काम करने के कोई घण्टे नियत न होते थे। वे जब चाहते और जितने समय तक चाहते, काम करते और स्वयं ही अपने माल को देहात की पीठ में या शहर की मण्डी में बेच देते थे। कारीगरों का जीवन बड़ा सीधा, सरल और शान्तिमय था।

पर व्यावसायिक क्रान्ति ने इस दशा को बदल दिया। नई मशीनों के मुकाबले में गृह व्यवसायों के लिये ठहर सकना कठिन होगया। गृह व्यवसायों का स्थान वे कारखाने (फैक्टरी) लेने लगे, जिसमें नई मशीनें यान्त्रिक शक्ति द्वारा काम करती थीं और इनमें श्रमी (मजदूर) व कारीगर की अपेक्षा मशीनों का महत्त्व अधिक था, और एक एक कारखाने में हजारों की संख्या में श्रमी लोग एकत्र होकर मशीन की सहायता से आर्थिक उत्पत्ति करते थे। कारीगर अब स्वतन्त्र उत्पादक न रह कर भृति (मजदूरी) प्राप्त करने वाला होगया। उसकी स्थिति एक ऐसे गुलाम की होगई, जिसने अपने स्वामी (कारखाने के मालिक) के आदेश के अनुसार कार्य करना है।

मशीन के उपयोग के कारण श्रम-विभाग का भी बहुत विकास हुआ। पहले आर्थिक उत्पत्ति की सब प्रक्रियायें कारीगर स्वयं करता था। इसके यह कारण गुँजाइश थी, कि वह अपनी प्रतिभा के अनुसार कला का प्रदर्शन कर सके। पर अब आर्थिक उत्पत्ति की प्रक्रिया अनेक छोटे छोटे भागों में विभक्त हो गई, जिन्हें विविध मशीनें सम्पन्न करती हैं, और मनुष्य का कार्य केवल यह देखना है, कि मशीन ठीक प्रकार से अपना कार्य कर रही है। श्रमी व शिल्पी की प्रतिभा व कला को प्रयुक्त होने का अवसर इन कारखानों में नहीं रह गया है। वस्तुतः उसकी स्थिति भी एक मशीन की रह गई है, जिसे दूसरों की इच्छा के अनुसार गुलाम के रूप में काम करना है।

३. पूँजीपतियों का प्रभाव—व्यावसायिक क्रान्ति के कारण अब यह सम्भव नहीं रहा, कि कारीगर स्वतन्त्र रूप से आर्थिक उत्पत्ति कर सकें। मध्यकाल में उत्पत्ति के लिये किसी बड़ी पूँजी की आवश्यकता नहीं होती थी। कारीगर को जिन औजारों व उपकरणों की आवश्यकता होती थी, वे सस्ते में खरीदे जा सकते थे, या कारीगर उन्हें स्वयं बना लेता था। पर मशीनों के इस नये युग में जो कीमती इंजन व जटिल मशीनें काम में आने लगीं, उन्हें हर कोई सुगमता से प्राप्त नहीं कर सकता था। उनके लिये पूँजी की आवश्यकता होती थी। जिन लोगों के पास रुपया था, वे स्वयं शिल्पी न होते हुए भी अपने धन के बल पर मशीन खरीद कर कारखाना कायम कर सकते थे, और सैकड़ों, हजारों मजदूरों को वेतन देकर आर्थिक उत्पत्ति का संचालन कर सकते थे। यह स्वाभाविक था, कि इन नये लोगों का प्रभाव आर्थिक क्षेत्र में बढ़ता जाय और धीरे धीरे सब आर्थिक उत्पत्ति स्वतन्त्र शिल्पियों के हाथ से निकल कर इन धनिकों व पूँजीपतियों के हाथ में आजाय। उन्नीसवीं सदी के शुरू से यह प्रक्रिया निरन्तर जोर पकड़ने लगी, और पूँजीपति श्रेणी प्रकाश में आकर सम्पूर्ण व्यवसायों को अपने हाथ में करने लगी।

यह ठीक है, कि व्यावसायिक क्रान्ति से पूर्व भी यह पूँजीपति श्रेणि जोर पकड़ने लगी थी। जब से दिग्दर्शक यन्त्र का आविष्कार हुआ, यूरोप का व्यापार एशिया व अफ्रीका में बढ़ने लगा। ऐसे व्यापारी प्रगट हुए जो जहाजों पर बड़ी मात्रा में माल लाद कर बाहर ले जाते थे और व्यापार द्वारा प्रचुर धन कमाते थे। पहले ये लोग स्वतन्त्र शिल्पियों से कपड़ा व अन्य माल खरीद करते थे। पर धीरे धीरे इन्होंने यह अनुभव किया, कि व्यापार की दृष्टि से यह अधिक अच्छा है, कि शिल्पियों को नौकर रख कर उनसे माल तैयार कराया जाय। ये बड़े बड़े धनिक व्यापारी सैकड़ों हजारों की संख्या में शिल्पियों

को अपने पास नौकरी में रखकर आर्थिक उत्पत्ति कराने लगे थे। और इससे एक प्रकार के ऐसे 'कारखानों' का प्रादुर्भाव हुआ था, जिनमें काम यान्त्रिक शक्ति के बिना पुराने किसम के औजारों से ही होता था। पर उनमें शिल्पियों की स्वतन्त्र सत्ता का ह्रास होकर धनिकों का प्रभाव बढ़ता जाता था। पर अब नये वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण यान्त्रिकशक्ति और नई मशीनों का जो प्रारम्भ हुआ, उसने तो इन 'कारखानों' के महत्त्व को बहुत बढ़ा दिया। धनिक पूँजीपतियों के लिये यह सुगम हो गया, कि वे अपने रुपये से इंजन व मशीन खरीद कर सब व्यवसाय को अपने हाथ में कर लें, और शिल्पियों को पूर्णतया अपनी वशवर्ती बना लें।

व्यावसायिक क्रान्ति ने आर्थिक उत्पादकों को दो श्रेणियों में विभक्त कर दिया—पूँजीपति और मजदूर। धीरे धीरे मजदूरों को अपनी दुर्दशा का ज्ञान हुआ, और उन्होंने अपने को संगठित कर अपनी दशा को उन्नत करने व अपने अधिकारों की माँग के लिये संघर्ष प्रारम्भ किया। पूँजीपतियों व मजदूरों का पारस्परिक संघर्ष व्यावसायिक उन्नति का महत्त्वपूर्ण परिणाम है।

(४) **व्यावसायिक नगरों का विकास**—बड़े बड़े कारखानों के विकास के कारण नगरों की आबादी बढ़ने लगी। देहातों के गृह-व्यवसाय नष्ट होने लगे और उनके कारीगर शहरों के कारखानों में मजदूरी करने के लिये आने लगे। जिन नगरों में बड़े कारखानों के लिये सुविधायें थीं, उनका बड़ी तेजी के साथ विकास हुआ। १७६० में लिवरपूल की आवादी चालीस हजार थी। १८४१ में वह बढ़कर दो लाख अठाइस हजार हो गई। इसी प्रकार इसी काल में मान्चेस्टर की आवादी पैंतालीस हजार से बढ़कर तीन लाख हो गई। १७६० में लंकाशायर की आवादी १,६६००० थी। १६०१ में वह बढ़कर ४,५००,००० तक पहुँच गई। सन् १८०० में सारे यूरोप में केवल

अठारह नगर ऐसे थे, जिनकी जनसंख्या एक लाख से ऊपर हो। एक सदी बाद ऐसे नगरों की संख्या २०० से भी ऊपर हो गई थी। व्यावसायिक नगरों का विकास व्यावसायिक क्रान्ति का एक बहुत महत्त्वपूर्ण परिणाम है। इन विशाल नगरों का जीवन देहातों व कसबों के सीधे साधे, सरल जीवन से बहुत ही भिन्न था। देहात के स्वतन्त्र वातावरण में रहनेवाला किसान व शिल्पी अब इन महानगरियों के तंग वायुमण्डल में निवास करने के लिये बाधित हुआ था।

(५) **नया श्रेणि भेद**—मध्यकालीन यूरोप में जागीरदार सामन्तों का प्रभाव सबसे अधिक था। सामन्त, पादरी और सर्वसाधारण जनता, जिसमें किसान व शिल्पी सब अन्तर्गत थे, ये तीन श्रेणियाँ उस समय में विद्यमान थीं। पर अब नया श्रेणिभेद उत्पन्न हुआ। कारखानों के मालिक पूँजीपतियों का महत्त्व अब मध्यकाल के सामन्तों की अपेक्षा अधिक बढ़ गया। पूँजीपति और मजदूर—ये दो श्रेणियाँ प्रधान रूप से बन गईं। मजदूर पूर्णतया पूँजीपतियों पर आश्रित थे। सामाजिक दृष्टि से स्वतन्त्र होते हुए भी उनकी स्थिति गुलामों से अच्छी नहीं थी। पर पूँजीपति और मजदूर इन दो श्रेणियों के साथ साथ इस समय एक तीसरी श्रेणि का भी विकास होने लगा। इसे हम शिक्षित मध्य श्रेणि कह सकते हैं। कारखानों में यान्त्रिक शक्ति और जटिल मशीनों का संचालन करने के लिये ऐसे शिक्षित शिल्पियों की आवश्यकता थी, जो विज्ञान में विशारद हों। साथ ही, कारखानों का हिसाब रखने, व्यापार की नीति का निर्माण करने व माल का प्रचार करने के लिये कुशल शिक्षित पुरुषों के बिना काम नहीं चल सकता था। मध्य श्रेणि के ये शिक्षित लोग स्वयं पूँजीपति न होते हुए भी समाज में अतुल प्रभाव रखते थे। नये आर्थिक जीवन में व्यापारी, महाजन, वकील आदि का महत्त्व बढ़ने लगा, और इन सबसे मिलकर एक तीसरी श्रेणि—शिक्षित मध्यश्रेणि—का विकास हुआ। धीरे-धीरे अपने प्रभाव

की दृष्टि से इसका वही महत्त्व बनने लगा, जो मध्यकाल में पादरियों का था। शिक्षा और ज्ञान के प्रकाश के कारण इस श्रेणि के लोगों के लिये समाज और सरकार—दोनों पर अपना प्रभाव बढ़ा सकना बहुत सुगम था। प्रेस, समाचारपत्र और पुस्तकों के प्रचार के कारण यह श्रेणि अपने विचारों का प्रसार भी सुगमता से कर सकती थी। परिणाम यह हुआ, कि धीरे धीरे समाज का नेतृत्व इनके हाथ में आने लगा।

(६) **पारिवारिक जीवन पर असर**—व्यावसायिक क्रान्ति से पूर्व आर्थिक उत्पत्ति का कार्य प्रधानतया पुरुष करते थे। स्त्रियाँ घर का काम करती थीं, और आर्थिक क्षेत्र में भी अपने पुरुषवर्ग की सहायता करती थीं। इससे सर्वसाधारण जनता में भी पारिवारिक जीवन सुखमय तथा अक्षुण्ण बना रहता था। पर बड़े कारखानों के प्रादुर्भाव के कारण जब शिल्पी लोग देहातों से शहरों में मजदूरी की तलाश में आने लगे, तो इस नागरिक जीवन पर बड़ा प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। शहरों में रहने की जगह की कमी थी। मजदूरों के लिये सम्भव नहीं था, कि वे शहरों में परिवार के योग्य स्थान प्राप्त कर सकें। एक-एक कोठरी में अनेक मजदूर एक साथ निवास करते थे। उनके लये अपनी स्त्री व बच्चों को साथ रख सकना कठिन था। परिणाम यह हुआ, कि पारिवारिक जीवन की शान्ति व सुख नष्ट होने लगे। साथ ही, आजीविका की तलाश में बहुत सी स्त्रियों व बच्चों ने भी कारखानों में मजदूरी शुरू कर दी। मशीनों से चलने वाले कारखानों में काम करने के लिये शारीरिक शक्ति व शिल्पनैपुण्य की विशेष आवश्यकता न थी। उनमें स्त्री व बच्चे भी सुगमता से काम कर सकते थे। पूँजीपतियों को इसमें लाभ था कि वे स्त्रियों व बालकों को मजदूरी पर रखें, क्योंकि उनकी मजदूरी की दर कम होती थी। पुरुष बेकार फिरने लगे, और स्त्रियों व बच्चों को बड़ी संख्या में कारखानों में काम मिलने

लगा। बच्चों के भविष्य के लिये यह बात बहुत हानिकारक थी। स्त्रियों के स्वास्थ्य पर भी इसका बहुत प्रतिकूल असर पड़ता था। बाद में ऐसे बहुत से कानून बनाये गये, जिनसे स्त्रियों व बच्चों को पूँजीपतियों के लोभ का शिकार बनने से बचाने का उद्योग किया गया। पर इसमें सन्देह नहीं, कि शुरू में व्यावसायिक क्रान्ति ने जहाँ पारिवारिक जीवन की सुख शान्ति को नष्ट किया, वहाँ स्त्रियों व बच्चों के स्वास्थ्य व भविष्य पर भी बहुत प्रतिकूल प्रभाव डाला। वस्तुतः, इस युग में पूँजीपतियों ने सब प्रकार से गरीबों की असहाय दशा का फायदा उठाया और गरीब व अमीर का भेद निन्तर अधिक अधिक बढ़ता गया।

(७) **वैयक्तिक स्वतन्त्रता का सिद्धान्त**—इस युग में पूँजीपतियों की मनमानी का किसी भी प्रकार से विरोध कर सकना सुगम नहीं था। कारण यह, कि एक तरफ तो अभी स्वेच्छाचारी एकतन्त्र शासन विद्यमान थे, लोकतन्त्र शासन का भली भाँति विकास नहीं हुआ था; दूसरी तरफ, इस समय के विचारक 'वैयक्तिक स्वतन्त्रता' के सिद्धान्त के अनुयायी थे। इस सिद्धान्त के अनुसार, यह समझा जाता था कि राज्य को व्यवसाय के क्षेत्र में किसी प्रकार का हस्तक्षेप या नियन्त्रण नहीं करना चाहिये। पूँजीपति और मजदूर के पारस्परिक सम्बन्ध उनके स्वेच्छापूर्वक किये ठीके पर आश्रित हैं। किसी ने मजदूर को विवश नहीं किया, कि वह नाममात्र की मजदूरी पर दिन में १२ व १५ घण्टे तक काम करे। यदि वह न चाहे, तो उसे पूरी स्वतन्त्रता है, कि वह नौकरी छोड़ दे। प्रत्येक मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं विधाता है, वह अपने भले बुरे को स्वयं भलीभाँति समझता है। यदि उसे खुला छोड़ दिया जाय, तो वह अपनी योग्यता और कार्यक्षमता के अनुरूप स्वयं उचित स्थान प्राप्त कर लेगा। इसी प्रकार, वस्तुओं की कीमतें उपलब्धि और मांग के नियम पर आश्रित हैं। अर्थशास्त्र का

यह नियम स्वयं वस्तुओं की कीमतों को ठीक करता रहता है। राज्य की ओर से इसमें हस्तक्षेप करना ठीक वैसा ही है, जैसे जल को नीचे बहने से रोकना।

इन विचारों का परिणाम क्रिया में बहुत भयंकर हुआ। पूँजी-पतियों को गरीब लोगों की असहाय दशा का अनुचित लाभ उठाने का सुवर्णीय अवसर हाथ लगा। उनके कारखानों में नौ वर्ष की आयु से भी कम के बालक काम करने के लिये रखे जाते थे, और ऊपर उन्हें १२ से १५ घण्टे तक प्रतिदिन काम करने के लिये विवश होना पड़ता था। इतने समय तक काम करने के बाद वे जिन मकानों में विश्राम करने के लिये जाते थे, वे गन्दे, सीले और तंग होते थे। एक एक कमरे में दर्जनों बच्चे, मर्द व स्त्रियाँ एक साथ रहने के लिये विवश होती थीं।

बाद में वैयक्तिक स्वतन्त्रता के इस हास्यास्पद सिद्धांत के विरुद्ध भी प्रतिक्रिया शुरू हुई। लोगों ने आन्दोलन शुरू किया, कि कार-खानों पर सरकार का नियन्त्रण होना चाहिये, और यह नियन्त्रण सर्वसाधारण जनता के हित में हो। इसके लिये वोट देने का अधिकार केवल अमीरों तक ही सीमित नहीं रहना चाहिये। मजदूरों के अपने संगठन भी अपने हितों की रक्षा के लिये बनने शुरू हुए—और धीरे धीरे कारखानों की दशा में सुधार प्रारम्भ हुए।

(८) व्यापार का विस्तार—व्यावसायिक क्रान्ति के कारण व्यापार का बहुत विस्तार हुआ। पहले लोग अपनी प्रायः सभी आव-श्यकताओं को स्वयं पूरा करने का प्रयत्न करते थे। गांव प्रायः अपने आप में आर्थिक दृष्टि से पूर्ण होते थे। पर बड़े कारखानों के विकास के साथ-साथ भिन्न-भिन्न व्यवसायों के पृथक्-पृथक् केन्द्रों का विकास प्रारम्भ हुआ। मैंचेस्टर और लंकाशायर वस्त्र-व्यवसाय के लिये व शैफील्ड तथा बर्मिंघम लोह व्यवसाय के लिये प्रसिद्ध होने लगे। जब

एक केन्द्र में प्रधानतया एक ही व्यवसाय केन्द्रित हुआ, तो शहरों का पारस्परिक व्यापार बढ़ना बिलकुल स्वाभाविक था। इसी प्रकार विविध देश अपनी स्वाभाविक परिस्थितियों के कारण पृथक् व्यवसायों में विशेषता प्राप्त करने लगे। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी बहुत वृद्धि होने लगी।

इसमें सन्देह नहीं, कि व्यावसायिक क्रान्ति के परिणाम अच्छे व बुरे—दोनों प्रकार के थे। गरीब शिलिपियों की इसके कारण शुरू में बहुत दुर्दशा हुई। उनकी स्थिति स्वतन्त्र प्रतिष्ठित शिल्पी के बजाय पराश्रित मजदूर की हो गई। पर शहरों में आने से वे ज्ञान के उस प्रकाश को भी धीरे-धीरे प्राप्त करने लगे, जिससे उन्हें अपनी स्थिति व अधिकारों की भलीभाँति पहचान हो गई। कुछ ही समय बाद, वे अपने हितों व अधिकारों की रक्षा के लिये संघर्ष में लग गये। और अब न केवल उनकी आर्थिक स्थिति संतोषजनक है, पर साथ ही राज्य पर भी उनका अतुल प्रभाव है। राज्य के राजनीतिक जीवन में उनका महत्त्व अब सबसे अधिक है। मानवसमाज की उन्नति का ढंग यही है, कि एक परिवर्तन पहले अपने कुपरिणाम भी उत्पन्न करता है, पर धीरे-धीरे बुराई का अन्त करके मनुष्य उन्नति के मार्ग पर अग्रेसर हो जाता है।

(५) अन्य देशों में व्यावसायिक क्रान्ति

व्यावसायिक क्रान्ति के क्षेत्र में नेतृत्व इङ्गलैंड ने किया, पर अन्य यूरोपियन देश भी उसके प्रभाव से वञ्चित नहीं रहे। फ्रांस में राज्य-क्रान्ति ने जिस नवजीवन को उत्पन्न किया, उसके कारण वहाँ के लोगों ने यान्त्रिकशक्ति और नई मशीनों को अपनाने में देर नहीं की। सन् १७८५ में कपड़े का पहला बड़ा कारखाना फ्रांस में खुला। इसके लिये सब मशीन इङ्गलैण्ड से मँगवाई गई थी। नैपोलियन ने

वस्त्र व्यवसाय को उन्नत करने के लिये बड़ा उत्साह दिखाया। परिणाम यह हुआ, कि १८१५ तक फ्रांस में भी चार लाख मन रूई प्रति वर्ष कपड़े के रूप में परिवर्तित होने लगी। सन् १८३१ तक यह संख्या बढ़कर सोलह लाख मन तक पहुँच गई। फ्रांस में भी वस्त्र व्यवसाय में हजारों मजदूर काम करने लगे। १८३१ में इस प्रकार के मजदूरों की संख्या ढाई लाख से ऊपर थी। रूई के अतिरिक्त, रेशम और ऊन के कपड़ों के व्यवसाय में भी फ्रांस ने बहुत उन्नति की। लियों और लील के नगर रेशमी कपड़ों के लिये संसार भर में प्रसिद्ध हो गये। साबुन, तेल, शराब, कागज, घड़ी, शीशा और अनेक व्यवसायों में फ्रांस इङ्गलैण्ड से भी आगे बढ़ गया।

उन्नीसवीं सदी के शुरू में इङ्गलैण्ड और फ्रांस—दो ही देश यूरोप में व्यावसायिक दृष्टि से सबसे अधिक उन्नत थे। यही कारण है, कि साम्राज्यवाद के क्षेत्र में भी इन्हीं दो देशों में संघर्ष सबसे प्रबल था। अफ्रीका, भारत व एशिया के अन्य देशों में इङ्गलैण्ड और फ्रांस अपना अपना प्रभुत्व कायम रखने के लिये प्रयत्नशील थे।

जर्मनी में व्यावसायिक क्रान्ति का प्रारम्भ १८४५ के लगभग हुआ। उससे पहले, वहाँ आर्थिक उत्पत्ति प्रायः मध्यकाल की शैली से ही होती थी। जर्मनी के इस क्षेत्र में पिछड़ जाने का प्रमुख कारण वहाँ राजनीतिक एकता का अभाव था। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक भी जर्मनी में सैकड़ों छोटे बड़े राज्य थे—जो प्रायः परस्पर लड़ते रहते थे। पर एक बार जब प्रिंस बिस्मार्क के कर्तृत्व से जर्मनी राजनीतिक दृष्टि से एक व शक्तिशाली हो गया, तो व्यावसायिक क्षेत्र में उन्नति करने में उसने असाधारण क्षमता प्रदर्शित की। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक जर्मनी किसी भी प्रकार इङ्गलैण्ड व फ्रांस से व्यावसायिक क्षेत्र में कम नहीं रहा था।

बेल्जियम, डेनमार्क, हालैण्ड और स्वीडन अठारहवीं सदी के

अन्त में ही व्यावसायिक क्रान्ति के प्रभाव में आने लगे थे। पर स्पेन, इटली, आस्ट्रिया और रशिया उन्नीसवीं सदी के अन्त तक इस महान् आर्थिक परिवर्तन के प्रभाव से प्रायः अछूते ही बचे रहे। इनमें उन्नीसवीं सदी के अन्त व बीसवीं सदी के प्रारम्भ में व्यावसायिक क्रान्ति के चिह्न प्रगट होने शुरू हुए और प्रथम यूरोपीय महायुद्ध के प्रारम्भ तक भी इन देशों की व्यावसायिक दशा इङ्गलैण्ड, फ्रांस और जर्मनी की अपेक्षा बहुत पिछड़ी हुई थी।

यूरोप से मध्यकाल का अन्त होकर आधुनिक (माडर्न) युग के आने में जितना महत्त्वपूर्ण कार्य फ्रांस की राज्यक्रान्ति व उससे उत्पन्न हुई क्रान्ति की लहर ने किया है, उतना ही व उससे भी कहीं अधिक कार्य इस व्यावसायिक क्रान्ति ने किया है। विज्ञान का उपयोग शिल्प की उन्नति के लिये करके यूरोप के जनसमाज ने एक ऐसे युग का श्रीगणेश किया है, जिसके कारण मनुष्य प्रकृति की शक्तियों व भौतिक जगत पर निरन्तर विजय करता जा रहा है, और इनको मानव समाज के सुख, समृद्धि और उत्कर्ष के लिये प्रयुक्त करने में समर्थ हो रहा है।

बाईसवाँ अध्याय

राष्ट्रीयता की भावना का विकास

(१) राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव

मनुष्यों में शुरू से यह प्रवृत्ति रही है, कि जिन लोगों की नसल, भाषा, धर्म, रीति-रिवाज और ऐतिहासिक परम्परा एक हो, वे परस्पर मिलकर एक संगठन में संगठित हों। इस प्रकार के एक सदृश लोगों के समूह को जाति या कबीला कहते हैं। जब एक जाति किसी एक निश्चित भूखण्ड पर बसकर अपना एक राज्य बना लेती है, अपने को एक शासन में संगठित कर लेती है, तब वह राष्ट्र कहाने लगती है। इस प्रकार के राष्ट्र की यह स्वाभाविक आकांक्षा रहती है, कि वह अपनी पृथक् स्वतन्त्र सत्ता को कायम रखे, पड़ोसी राष्ट्रों व किसी शक्तिशाली सम्राट् द्वारा अपनी स्वतन्त्रता व पृथक् सत्ता पर आंच न आने दें। राष्ट्र या राष्ट्रीयता की यह भावना मानवीय इतिहास की एक अत्यन्त प्रबल शक्ति है। प्राचीन ग्रीस व इटली के विविध छोटे छोटे राज्य इसी प्रकार की जातियों द्वारा निर्मित हुए थे। उन्हें ठीक अर्थों में राष्ट्र समझा जा सकता था। बाद में मैसिडोनियन और रोमन सम्राटों ने इन राष्ट्रों की स्वतन्त्रता का अन्त कर उन्हें अपने अधीन कर लिया। रोमन सम्राटों के विशाल साम्राज्य में विविध भाषा बोलनेवाले अनेक नसलों के लोग निवास करते थे। रोमन लोगों ने अपने

साम्राज्य में एक प्रकार की एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया, पर वे विविध जनसमूहों की राष्ट्रीय भावना को पूर्णतया नष्ट नहीं कर सके।

रोमन साम्राज्य के पतन के बाद, उसके भग्नावशेष पर जिन विविध राज्यों का निर्माण हुआ, उनकी तह में भी राष्ट्रीयता की भावना काम कर रही थी। इङ्गलैण्ड, फ्रांस, स्पेन और पोर्तुगाल इसके उदाहरण हैं। पर मध्यकालीन यूरोप की सामन्त पद्धति में यह सम्भव नहीं था, कि राज्य का आधार राष्ट्रीयता की भावना बनी रहती। इस युग में विविध महत्त्वाकांक्षी राजा अपने वशवर्ती सामन्तों की सहायता से अपनी शक्ति का विस्तार करते थे। अन्य राजाओं को अपने अधीन करने और दूसरे राजा के सामन्तों को अपना वशवर्ती बनाने में वे सदा तत्पर रहते थे। परिणाम यह था, कि आस्ट्रिया के सम्राट् इटली को और स्पेन के सम्राट् हालैण्ड को अपने अधीन करने में सफल हुए। शार्लमेगन, फिलिप द्वितीय आदि मध्यकाल के शक्तिशाली राजाओं के राज्यक्षेत्र का आधार राष्ट्रीयता न होकर उनकी अपनी शक्ति व विविध सामन्तों को वशवर्ती रखने की क्षमता थी।

फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने जिन नई शक्तियों व प्रवृत्तियों को जन्म दिया, राष्ट्रीयता की भावना उनमें प्रमुख है। जो लोग धर्म, भाषा, नसल, रीति-रिवाज और ऐतिहासिक परम्परा के अनुसार एक हैं, उनका अपना पृथक् राज्य होना चाहिए, और इस राज्य में किसी एक स्वेच्छाचारी राजा का शासन न होकर सर्वसाधारण जनता का लोकमत के अनुसार शासन होना चाहिए, यह सिद्धान्त फ्रांस की राज्यक्रांन्ति की मुख्य देन है। इसी कारण, जब लुई सोलहवाँ पेरिस से भाग निकला, तो एक फ्रांसीसी ने कहा था 'यदि राजा भाग गया, तो कोई बात नहीं। फ्रेंच राष्ट्र तो विद्यमान है।' रूसो का कहना था—'यह जनता ही होती है, जिससे वस्तुतः राज्य का निर्माण होता है।' राष्ट्रीयता की भावना फ्रेंच राज्यक्रान्ति में बड़ी प्रबलता से काम कर

रही थी। यही कारण है, कि जब पुरानी एस्टेट्स जनरल को नया रूप दिया गया, तो उसका नाम 'राष्ट्रीय सभा' रखा गया। फ्रांस के देहातों में क्रान्ति के दिनों में लोग कहा करते थे—हम नार्मन्डी या ब्रिटानी के निवासी नहीं हैं, अपितु फ्रांस के निवासी हैं। 'राष्ट्र की जय हो' के नारों से उन दिनों का सम्पूर्ण फ्रांस गूँज उठा था। सारे यूरोप के एकतन्त्र राजाओं की सम्मिलित शक्ति का मुकाबला फ्रांस जो सफलता के साथ कर सका था, उसका आधारभूत कारण यही राष्ट्रीयता की भावना थी। नैपोलियन ने जो यूरोप भर के राजाओं को परास्त किया था, उसका कारण भी यही भावना थी। नैपोलियन जहाँ कहीं भी आक्रमण करता था, यही कहता था कि मैं जनता को, राष्ट्रों को स्वेच्छचारी राजाओं के अत्याचारों से मुक्त कराने के लिये युद्ध कर रहा हूँ। वह आक्रान्त देशों की जनता से यही अपील करता था, कि वे स्वेच्छाचारी राजाओं के अत्याचारपूर्ण शासन के विरुद्ध विद्रोह कर राष्ट्रीय शासन की स्थापना करें। इसमें सन्देह नहीं, कि नैपोलियन के आक्रमणों ने यूरोप में राष्ट्रीयता की भावना के प्रसार में बड़ी सहायता की। इटली, पोलैण्ड, जर्मनी, स्पेन आदि सब देशों में नैपोलियन द्वारा ही नवयुग का सन्देश पहुँचा। पर जब नैपोलियन ने अपने को सम्राट् उद्घोषित कर 'रोमन साम्राज्य' की पुरानी परम्परा का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया, तो यह नवप्रसारित राष्ट्रीय भावना ही उसके मार्ग में सबसे बड़ी बाधक बनी। जिस युद्ध में नैपोलियन का पतन हुआ, वह 'राष्ट्रों का युद्ध' कहाता है। निःसन्देह, राष्ट्रीयता की भावना ने ही नैपोलियन के खिलाफ उस शक्ति को एकत्र किया था, जिसके सम्मुख यह विश्व विजयी वीर भी खड़ा नहीं रह सका। राष्ट्रीयता का जो सन्देश नैपोलियन ने दिया था, उसे यूरोप ने अपना लिया, यद्यपि इस सन्देश के वीर प्रसारक की सत्ता को यूरोप की नई प्रादुर्भूत राष्ट्रशक्ति ने सहन नहीं किया।

(२) १८१५ के बाद राष्ट्रीयता की भावना

नैपोलियन के पतन के बाद यूरोप का पुनः निर्माण करने के लिए जो राजनीतिज्ञ वीएना में एकत्र हुए थे, उन्होंने राष्ट्रीयता की भावना की पूर्णतया उपेक्षा की। इन राजनीतिज्ञों का प्रयत्न यह था, कि यूरोप के पुराने राजवंशों की सत्ता व अधिकारों का पुनरुद्धार करें। वीएना की कांग्रेस में फ्रांस की राज्यक्रान्ति के सब चिह्नों को नष्ट कर पुराने यूरोप की स्थापना की गई। पर इतिहास में जो शक्ति एक बार उत्पन्न हो जाती है, उसे सदा के लिए दबा सकना सम्भव नहीं होता। १८१५ के बाद उन्नीसवीं सदी का सम्पूर्ण यूरोपियन इतिहास वीएना की कांग्रेस की कृति के विरुद्ध प्रतिक्रिया व क्रान्ति की प्रवृत्तियों की सफलता के लिये किये गये संघर्ष का इतिहास है। व्यावसायिक क्रान्ति द्वारा जन-साधारण में एक जागृति उत्पन्न हो गई थी। इसी जन-साधारण ने राष्ट्रीय भावना को अपनाया, और यह अपना ध्येय बनाया कि जो लोग राष्ट्रीय दृष्टि से एक हैं, उनका पृथक् संगठन हो, और इस स्वतन्त्र संगठन में लोकमत के अनुसार शासन हो। उन्नीसवीं सदी से यूरोप में इटली, जर्मनी, बेल्जियम, ग्रीस आदि कितने ही राज्यों का पुनः संगठन राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार किया गया, और सर्वत्र देशभक्त लोग इसी सिद्धान्त की सफलता के लिए कार्य करते रहे।

उन्नीसवीं सदी का यूरोप का साहित्य देशभक्ति और राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत है। वर्ड्स्वर्थ जैसे कवि ने फ्रांस की राज्यक्रान्ति को दृष्टि में रखते हुए लिखा था—'प्रतीत होता है, मानवता ने एक बार फिर जन्म लिया है।' इस काल के सभी अंग्रेज कवियों की रचनाएँ नई भावनाओं का प्रतिपादन करती हैं। न केवल इङ्गलैण्ड अपितु फ्रांस, जर्मनी, इटली आदि सभी देशों के साहित्यिक इस समय

में राष्ट्रीयता के अनुयायी थे। यह युग देश-प्रेम और राष्ट्र-भक्ति का था।

न केवल साहित्य द्वारा, अपितु गुप्त समितियों द्वारा भी इस युग में राष्ट्रीयता और देशभक्ति का प्रचार किया जा रहा था। साहित्य के प्रचार पर इस समय की सरकारें अनेक प्रकार की पाबन्दियाँ लगाती थीं। परिणाम यह हुआ, कि इस भावना का प्रचार गुप्त समितियों द्वारा होने लगा। दक्षिणी इटली में कारबोनारी नाम की एक गुप्त समिति संगठित हुई, जिसका उद्देश्य 'राष्ट्रीय एकता' और 'राजनीतिक स्वतन्त्रता' की स्थापना करना था। १८२० में स्पेन, पोर्तुगाल और इटली में जो क्रान्तियाँ हुईं, उनमें इस समिति का बड़ा हाथ था। १८३० और १८४८ में फ्रांस से शुरू होकर क्रान्ति की जो लहरें यूरोप भर में व्याप्त हुईं, उनमें इस गुप्त समिति का कर्तृत्व बड़े महत्त्व का था। १८३१ में मेजिनी ने 'युवक इटली' नामक समिति का संगठन किया। इसके सब सदस्य यह प्रण करते थे, कि वे इटली की राष्ट्रीय एकता और स्वतन्त्रता के लिए प्राणपण से यत्न करेंगे। १८४८ की क्रान्ति के समय में इस समिति के सदस्यों ने हजारों की संख्या में भाग लिया। मैजिनी अपनी राष्ट्रीय भावना को केवल इटली तक सीमित नहीं रखना चाहता था। उसकी यह योजना थी, कि 'युवक इटली' के समान ही 'युवक हंगरी', 'युवक पोलैण्ड' और 'युवक आयर्लैण्ड' का संगठन करे, और इन देशों में भी राष्ट्रीय एकता व स्वतन्त्रता की स्थापना हो। मैजिनी का स्वप्न था, कि सारे यूरोप में राष्ट्रीय भावना फलीभूत हो, और राजाओं के स्वेच्छाचारी शासनों का अन्त होकर 'युवक यूरोप' का प्रादुर्भाव हो।

मैजिनी का यह स्वप्न आगे जाकर पूर्ण हुआ। यूरोप के सभी देशों में राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार राज्यों का निर्माण हुआ, और इन नये राष्ट्रों में लोकतन्त्र सरकारों की स्थापना हुई। पर इसके

लिए जनता को घोर संघर्ष करना पड़ा। उन्नीसवीं सदी के यूरोप के इतिहास पर हम अगले अध्यायों में जो प्रकाश डालेंगे, उसमें इसी संघर्ष का वृत्तान्त होगा।

(३) नये शासन-विधानों का निर्माण

उन्नीसवीं सदी के यूरोप के राजनीतिक इतिहास पर विचार करते हुए इस बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती, कि इस युग में प्रायः सब देशों में नये शासन-विधानों का निर्माण किया गया। लार्ड मार्ले के अनुसार १८०० से १८८० तक अस्सी सालों में यूरोप के विविध देशों में जो नये शासन-विधान बने, उनकी संख्या ३०० से भी ऊपर थी। ये शासन-विधान उन नई राजनीतिक भावनाओं के मूतरूप थे, जो इस समय यूरोप में जोर पकड़ रही थीं। जिन देशों में क्रान्ति द्वारा नई सरकार की स्थापना होती थी, वहाँ नये शासन विधान का निर्माण होता ही था। अन्य देशों में भी समझदार राजा लोग लोकमत की बढ़ती हुई शक्ति को अनुभव कर रियायत के रूप में शासन-विधान का निर्माण कराते थे, ताकि जनता को आंशिक रूप से संतुष्ट कर क्रांति से देश को रक्षा की जाय। पर यह ध्यान रखना चाहिए, कि इन शासन-विधानों की सफलता इस बात पर निर्भर थी, कि जनता कितनी जाग्रत है, और उसमें नई प्रवृत्तियाँ कितना जोर पकड़ चुकी हैं।

तेईसवाँ अध्याय

क्रान्ति की तीसरी लहर

(१) फ्रांस की तृतीय राज्यक्रान्ति

नई और पुरानी प्रवृत्तियों में जिस प्रकार यूरोप भर में संघर्ष चल रहा था, उस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। फ्रांस की पहली राज्यक्रान्ति ने जिन नवीन भावनाओं को उत्पन्न किया था, वे भयंकर विरोध के होते हुए भी धीरे धीरे सफलता प्राप्त कर रही थीं। मनुष्य जाति जीवित, जागृत प्राणी के समान एक जीव है। इस कारण उसमें आकस्मिक परिवर्तन नहीं हो सकते। क्रान्ति की प्रवृत्तियाँ भी एकदम मानवीय जाति को परिवर्तित नहीं कर सकती थीं। वे पुरानी प्रवृत्तियों से संघर्ष कर रही थीं और धीरे धीरे सफल होती जाती थीं। पहली राज्यक्रान्ति ने फ्रांस को बहुत कुछ बदल दिया था। १८३० की दूसरी राज्यक्रान्ति ने इस सिद्धान्त को भली भाँति स्थापित कर दिया था, कि राजा चुनने का अधिकार जनता को है। देश का शासन किस ढंग से होना है, यह निश्चित करना जनता का कार्य है। अब १८४८ की तीसरी क्रान्ति ने फ्रांस को राजनीतिक दृष्टि से बहुत आगे बढ़ा दिया। इस क्रान्ति का प्रभाव केवल फ्रांस तक ही सीमित नहीं रहा। पहली और दूसरी क्रान्तियों के समान १८४८ की इस तीसरी राज्यक्रान्ति की लहरें भी यूरोप के बड़े भाग में व्याप्त हो गईं।

१८३० की अपेक्षा १८४८ की क्रान्ति अधिक प्रबल तथा व्यापक थी। यूरोप भर में जो नई प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही थीं, वे १८४८ में एकदम बड़े वेग के साथ फूट पड़ी थीं। यद्यपि क्रान्ति का प्रथम प्रस्फोट इटली में हुआ था, तो भी फ्रांस की क्रान्ति बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए हम सबसे पूर्व उसी का वर्णन करेंगे। १६वीं सदी में फ्रांस क्रांतिकारी यूरोप का सबसे प्रमुख केन्द्र-स्थान था।

रिपब्लिकन दल—१८३० की क्रान्ति में फ्रांस की जनता ने स्वेच्छाचारी राजा चार्ल्स दशम को पदच्युत कर अपनी इच्छा से लुई फिलिप को राजगद्दी पर बिठाया था। शुरू शुरू में लुई फिलिप ने जनता की इच्छा के अनुसार शासन करने का प्रयत्न किया। पर उसे सफलता नहीं हुई। उसके विरोधियों की कमी नहीं थी। बोर्बों राजवंश के पक्षपाती फिर से स्वेच्छाचारी राजसत्ता स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे थे। कुलीन और पुरोहित लोग राजसत्ता को जनता के अधीन नहीं कर देना चाहते थे। कुछ लोग नेपोलियन के वंशजों को फ्रांस की राजगद्दी पर देखना चाहते थे। उनकी सम्मति में 'नैपोलियन' इस नाम में ही कोई ऐसा अद्भुत जादू था, जो फ्रांस की सम्पूर्ण समस्याओं को बात की बात में हल कर सकता था। परन्तु लुई फिलिप के सबसे प्रबल विरोधी 'रिपब्लिकन दल' के लोग थे। इनकी सम्मति में लुई फिलिप का शासन क्रान्ति के सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं था। फ्रांस में पूर्ण लोकतन्त्र रिपब्लिक स्थापित करना इनका उद्देश्य था। इस समय में फ्रेञ्च जनता का एक बड़ा भाग अपनी हालत से सर्वथा असंतुष्ट था। कल-कारखानों की उन्नति के साथ साथ श्रमी लोगों की संख्या बढ़ती जाती थी। ये श्रमी शहरों में रहते थे, गाँव के लोगों की तरह भोले भाले नहीं थे। राजनीतिक और सामाजिक समस्याएँ इनके लिए अज्ञेय रहस्य नहीं थी। ये लोग कहते थे—हमने रिपब्लिक का जमाना देखा, नैपोलियन का शासन देखा, फिर बोर्बों सम्राटों का

स्वेच्छाचार भी देखा—हमारी हालत तो किसी से भी अच्छी नहीं हुई। यदि फ्रांस में वैध राजसत्ता या रिपब्लिक भी स्थापित हो गया, तो हमारा क्या? 'कोउ नृप होय हमें का हानी, चेरि छाड़ि नहीं होउब रानी,' इस बात के तथ्य को इन लोगों ने खूब अच्छी तरह अनुभव किया हुआ था। वैध राजसत्ता या रिपब्लिक किसी ने भी इन श्रमियों या किसानों की दशा को सुधारने का प्रयत्न नहीं किया था। लुई फिलिप के शासन से मध्यश्रेणी के लोग बहुत असंतुष्ट नहीं थे। मध्यश्रेणी ने ही उसे राजगद्दी पर बिठाया था—उन्हीं को वोट का अधिकार प्राप्त था, वे ही पार्लियामेंट के सदस्य चुने गये थे, टैक्सों का फैसला करते थे, कानून बनाते थे। पर सर्वसाधारण लोग? इन्हें वोट का अधिकार प्राप्त नहीं था, शासन में इनका कोई हाथ नहीं था। इनके लिए लुई फिलिप की पार्लियामेंट का शासन भी वैसा ही था, जैसा कि लुई १६वें या चार्ल्स दशम का। ये असंतुष्ट लोग हमेशा क्रान्ति के लिए उत्सुक रहते थे। क्रान्ति से इन्हें कोई हानि नहीं पहुँच सकती थी। इन्हें तो अव्यवस्था, परिवर्तन और क्रान्ति से लाभ ही लाभ था। रिपब्लिकन दल को इनका बड़ा भरोसा था। क्रान्ति शुरू होते ही ये लोग उसमें जी-जान से सम्मिलित हो सकते थे।

लुई फिलिप के शासन का अन्त करने में इन किसानों और मजदूरों का ही हाथ नहीं था। उदार विचारों के पढ़े-लिखे समझदार लोग भी उसके विरुद्ध थे। धीरे धीरे लुई फिलिप का शासन भी पुराने स्वेच्छाचारी एकतन्त्र ढंग की तरफ झुकता जाता था। १८३ की क्रान्ति की लहर ने जब पोलैण्ड, जर्मनी और इटली में विद्रोह की अग्नि को भिड़का दिया, तो ये उदार विचार के लोग उनकी भरसक सहायता करने के पक्ष में थे। वे आशा करते थे कि लुई फिलिप—जिसने कि क्रान्ति के कारण ही राजगद्दी प्राप्त की है, अवश्य ही अन्य देशों के क्रान्तिकारियों से सहानुभूति रक्खेगा। पर उन्हें निराश होना पड़ा। लुई

फिलिप ने अन्य देशों के क्रान्तिकारियों को सहायता पहुँचाने से साफ इनकार कर दिया। इसके अतिरिक्त, लुई फिलिप का प्रधानमन्त्री गुइजो प्रोटेस्टेण्ट धर्म को मानने वाला था, उस समय के फ्रांस में धर्म पर्याप्त महत्त्व रखता था। फ्रांस की रोमन कैथोलिक जनता इस बात को नहीं सहन कर सकती थी कि उनका प्रधान मन्त्री प्रोटेस्टेण्ट धर्म का अनुयायी हो। लुई फिलिप के पक्षपाती लोग बहुत थोड़े थे। मध्यश्रेणी के अमीर लोग ही, जिनका पार्लियामेंट में प्राधान्य था और जो वैध राजसत्ता के नाम पर अपनी मनमानी करने में समर्थ हो रहे थे, उसके शासन के एकमात्र आधार थे।

विद्रोहों का प्रारम्भ—रिपब्लिकन लोग लुई फिलिप के शासन का अन्त करने के लिए भरसक कोशिश कर रहे थे। उसको कतल करने के लिए भी छः बार प्रयत्न किया गया, पर सफलता नहीं हुई। कई स्थानों पर विद्रोह भी हुए, पर सरकार ने उन्हें सुगमता से शान्त कर दिया। राजा पर तरह तरह के आक्षेप किये जाने लगे, अखबारों में उसका मजाक उड़ाया जाने लगा। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ, कि राजा ने अपने विरोधियों को कुचलने के लिए प्रचण्ड उपायों को प्रयुक्त करने का निश्चय किया। जासूसों की संख्या बढ़ा दी गई। गुप्त समितियों को तोड़ा गया। प्रेस की स्वतन्त्रता छीनी गई। लोगों को स्वतन्त्रतापूर्वक सभा करने को रोका गया। इन सब उपायों का परिणाम यह हुआ कि जनता उत्तेजित हो गई और आखिर १८४८ में एक बार फिर फ्रांस में विद्रोह की अग्नि प्रचण्ड हो उठी। लुई फिलिप के शासन का अन्त हो गया और रिपब्लिक स्थापित हुई।

क्रान्ति का सूत्रपात—यह क्रान्ति किस प्रकार हुई, इसका वर्णन करने की आवश्यकता है। १८४७ में सुधार के पक्षपाती उदार विचारों के लोगों ने फ्रांस भर में सभाएँ करने का निश्चय किया। इन सभाओं का उद्देश्य यह था, कि एक प्रार्थना-पत्र पर अधिक से अधिक

लोगों के हस्ताक्षर करवाये जावें और इस प्रर्थना-पत्र द्वारा राजा की सेवा में यह निवेदन किया जावे कि देश को सुधारों की आवश्यकता है और विशेषरूप से वोट के अधिकार को अधिक विस्तृत किया जाना चाहिए। इन सार्वजनिक सभाओं का परिणाम यह हुआ कि सारे देश में राजनीतिक जागृति फैल गई, सुधारों के लिये आन्दोलन अत्यन्त प्रचण्ड हो गया। सरकार को यह आन्दोलन सह्य नहीं था। हुकुम जारी किया गया कि कोई सभा सरकार की आज्ञा के बिना न की जावे। पर जनता इस प्रकार की मनमानी आज्ञा को यूँही मान लेने-वाली नहीं थी। २२ फरवरी १८४८ को प्रसिद्ध अमेरिकन क्रान्तिकारी वाशिङ्गटन का जन्म-दिन था। लोगों ने निश्चय किया कि इस दिन पेरिस में एक भारी सहभोज का आयोजन किया जाय। एक जुलूस का भी संगठन किया गया। राष्ट्रीय स्वयंसेवक दल और विद्यार्थी बड़े शौक से इस जुलूस की प्रतीक्षा कर रहे थे। पर सरकार अपनी स्वेच्छाचारिता के लिए तुली हुई थी। उसने जुलूस और सहभोज—दोनों को बन्द कर दिया। पर लोग माननेवाले नहीं थे। जुलूस की सब तैयारियाँ हो चुकी थीं। २२ फरवरी को प्रातःकाल सरकार की आज्ञा का उल्लंघन कर बड़ी धूमधाम के साथ जुलूस निकाला गया। विद्यार्थी और मजदूर बड़े उत्साह के साथ जुलूस में शामिल हुए। 'सुधारों की जय' के नारों के साथ जुलूस ने पेरिस की गलियों में घूमना प्रारम्भ किया। लोग समझ रहे थे, एक बड़ी बात हो रही है। राजाज्ञा का खुल्लमखुल्ला उल्लंघन किया जा रहा है। पर गरम से गरम रिपब्लिकन व साम्यवादी नेता को भी यह खयाल नहीं था, कि आज क्रान्ति हो जानेवाली है। क्रान्ति का किसी को स्वप्न में भी खयाल नहीं था। जोश में भरे हुए लोग सरकारी हुकुम को तोड़ने के लिए निकल पड़े थे। जब एक बार लोगों में आज्ञा उल्लघन करने का भाव प्रबल हो जावे, तो उसे काबू में रख सकना असम्भव हो जाता है।

अव्यवस्था और विद्रोह की शक्तियाँ बलवती हो गईं। गुण्डों और बदमाशों को अपना काम करने का सुवर्णावसर हाथ लग गया। दूकानें लुटने लगीं। बाजार में मोर्चाबन्दी शुरू हो गई। इस आकस्मिक तूफान से राजा आश्चर्यचकित रह गया। जनता को शान्त करने के लिए राजा को प्रतिज्ञा करनी पड़ी कि उनके मनोवांछित सुधार स्वीकृत कर लिये जावेंगे।

लुई फिलिप का अन्त—सम्भवतः, १८४८ की क्रान्ति यहीं पर समाप्त हो जाती। क्रान्तिकारियों के लिए यही पर्याप्त था, उन्होंने राजा को जनता की इच्छा के सम्मुख झुका दिया था। वे वैध राजसत्ता से संतुष्ट हो सकते थे। परन्तु इसी बीच में एक ऐसी घटना हो गई, जिसने २२ फरवरी के प्रचण्ड आन्दोलन को एक भयंकर क्रान्ति के रूप में परिवर्तन कर दिया। उस समय में फ्रांस का प्रधान मन्त्री गुइजो था। लोग इससे बहुत असंतुष्ट थे। २३ फरवरी को बहुत-से लोग इसके मकान के चारों तरफ इकट्ठे हो गये। सरकार को डर था कि कहीं गुइजो के मकान पर हमला न हो जावे। गोली चलाने का हुक्म दिया गया। गोलियों की बौछार से २३ आदमी मरकर गिर गये। ३० के लगभग बुरी तरह घायल हो गये। क्रान्ति के समय पुलिस प्रायः इसी तरह की गल्ती किया करती है। भीड़ को तितर-बितर करने के और भी तरीके थे, पर शक्ति के मद से मस्त हुई पुलीस ने निहत्थी जनता पर गोलियाँ छोड़ने में संकोच नहीं किया। गोला-बारी का समाचार सुनकर लोगों में उत्तेजना फैल गई। मृत लोग शहीद बना दिये गये। बड़ी धूम-धाम से उनकी लाशों का जुलूस निकाला गया। लाशों को देखकर लोग भड़क गये। पहले दिन तो 'सुधारों की जय' के नारे लगाये जा रहे थे। अब उनकी जगह पर 'रिपब्लिक की जय' के नारे शुरू हुए। गोला-बारी का जिम्मेवार राजा को ठहराया गया और जनता राजसत्ता का ही अन्त कर देने के लिये उतावली हो गई।

२२ फरवरी को लोग वैध राजसत्ता से संतुष्ट थे। पर अगले दिन ? गोली चल चुकने के बाद ? राजा के अन्त रिपब्लिक और के सिवा अन्य कोई चीज उन्हें संतुष्ट नहीं कर सकती थी।

२४ फरवरी को पेरिस भर में लड़ाई शुरू हो गई। बाजारों और गलियों में मोर्चाबन्दी कर ली गई। कुल मिलाकर १५०० मोर्चे बनाये गये थे। दीवारों पर बड़े बड़े इश्तिहार चिपकाये गये। उनमें लिखा था—"लुई फिलिप भी हमें उसी तरह कत्ल करता है, जैसे १०वाँ चार्ल्स करता था। लुई को भी चार्ल्स के पास भेज दो।" लोग हथियारों की ढूँढ़ में निकल पड़े। जो कुछ हाथ में आया वही लेकर क्रान्ति के वीर राजसत्ता के अन्त और रिपब्लिक की स्थापना के लिए पेरिस की गलियों का चक्कर काटने लगे। राजा ने सिपाहियों को हुक्म दिया—लोगों को गोली से उड़ा दो। पर सिपाहियों ने गोली चलाने से इनकार कर दिया। क्रान्ति की भावनाओं से सिपाही भी अछूते नहीं बचे थे। क्रान्तिकारियों की भीड़ ने टुइलर्स के राजप्रासाद को घेर लिया। राजमहल की खिड़कियों पर गोलियों की बौछार होने लगी। लुई फिलिप घबड़ा गया। राज्य छोड़कर भाग जाने के सिवा अन्य कोई चारा न था। अपने पोते 'पेरिस के काउण्ट' को राजगद्दी पर बिठाकर उसने फ्रांस से भाग जाने का निश्चय किया। लुई ने अपना वेश बदल लिया, अपने को 'डा० स्मिथ' बताकर वह ग्रेट ब्रिटेन पहुँचने में सफल हो गया। प्रधान मन्त्री गुइजो ने उसका अनुसरण किया। इसी बीच में क्रान्तिकारियों की भीड़ राजप्रासाद को तोड़ने-फोड़ने में लगी हुई थी। महल के सम्पूर्ण साज-सामान को लूट लिया गया। राजसिंहासन को आग लगा दी गई। लोग कहते थे—इस गद्दी की क्या जरूरत है ? फ्रांस में अब सदा के लिए रिपब्लिक ही कायम रहेगी।

सामयिक सरकार—राजसत्ता का अन्त हो गया। अब नवीन सरकार के स्थापित करने की समस्या सम्मुख उपस्थित हुई। १८४८

की यह क्रान्त अकस्मात् प्रादुर्भूत हो गई थी। लोग इसके लिये तैयार नहीं थे। इसलिए लुई फिलिप के फ्रांस छोड़कर ग्रेट ब्रिटेन भाग जाने के बाद विविध दलों के लोग भावी सरकार का निर्माण करने के लिए विचार करने लगे। साम्यवादी रिपब्लिकन दल के नेता पूर्वीय पेरिस के एक होटल में एकत्रित हुए। उनका खयाल साम्यवादी ढंग की रिपब्लिक स्थापित करने का था। साम्यवाद के लाल झण्डे को फहराते हुए उन्होंने उद्घोषित किया कि फ्रांस में रिपब्लिक की स्थापना की जाती है। प्रत्येक नागरिक को हक है कि वह मजदूरी प्राप्त कर सके। मजदूरों को अपने संघ बनाने का अधिकार है। इसी प्रकार से अन्य भी बहुत से साम्यवादी सिद्धान्तों को उद्घोषित किया गया। जिस समय पूर्वीय पेरिस में साम्यवादी लोग अपने ढंग की रिपब्लिक की उद्घोषणा कर रहे थे, उसी समय पेरिस के पश्चिमीय भाग में सामान्य रिपब्लिकन दल के नेता पुराने राष्ट्र-प्रतिनिधि सभा के भवन में एकत्रित हुए। उन लोगों ने भी राजसत्ता का अन्त होकर रिपब्लिक के स्थापित होने की उद्घोषणा की। आखिर, दोनों दलों के लोगों की सम्मिलित बैठक हुई। सामयिक सरकार का निर्माण किया गया और निश्चय हुआ कि स्थिर रूप से रिपब्लिकन सरकार का संगठन करने और नवीन शासन-विधान का निर्माण करने के लिए एक राष्ट्रीय महासभा का निर्वाचन कराया जावे। इस महासभा के प्रतिनिधि चुनने का अधिकार फ्रांस के प्रत्येक पुरुष को दिया गया। ५ मार्च १८४८ का दिन निर्वाचन के लिए निश्चित किया गया।

राष्ट्रीय महासभा के निर्वाचन और स्थिर सरकार की प्रतीक्षा किये बिना ही सामयिक सरकार ने सुधारों का कार्य प्रारम्भ कर दिया। सामयिक सरकार में साम्यवादी लोगों का बहुत जोर था। फ्रांस का प्रमुख साम्यवादी अर्थशास्त्री लुई ब्लां 'सार्वजनिक कार्य-

सचिव' के पद पर नियत था। इस सरकार ने अपनी साम्यवादी योजनाओं को यथेष्ट रूप से क्रिया में परिणत किया। बेकार मजदूरों को काम दिलाने के लिए 'राष्ट्रीय कारखानों' की स्थापना की गई। जो आदमी चाहे, मजदूरों की 'राष्ट्रीय सेना' में भर्ती हो सकता था। राज्य के पास इन बेकार मजदूरों के लिए कोई काम न था, पर इन्हें संतुष्ट करने के लिए हीं नये नये कार्यों की सृष्टि की गई। खाई खोदने और किले बनाने के लिए सवा रुपया रोज के हिसाब से प्रत्येक आदमी को मजदूरी दी गई। बहुत बड़ी संख्या में बेकार लोग राष्ट्रीय मजदूर सेना में भर्ती हुए। धीरे धीरे इन 'सैनिकों' की संख्या एक लाख से ऊपर पहुँच गई। सवा लाख से अधिक रुपया प्रतिदिन केवल पेरिस के बेकारों को संतुष्ट करने के लिए निरर्थक कार्यों पर खर्च होने लगा। राज्य के पास इतना धन नहीं था। बेकारों की संख्या अनन्त थी। 'राष्ट्रीय मजदूर सेना' सरकार के लिए एक समस्या बन रही थी। परन्तु साम्यवादी दल का जोर था। उन्हें असंतुष्ट करने का साहस सरकार को नहीं हो सकता था। आखिर, समझदार रिपब्लिकन नेताओं ने एक कौशलपूर्ण चाल चली। उन्होंने प्रस्ताव किया कि मजदूरों की दशा का सुधार करने के लिए एक पृथक् उपसमिति का निर्माण कर दिया जावे, जो विशेष रूप से इसी कार्य में लगी रहे। लुई ब्लां को इस उपसमिति का प्रधान बनाया गया। साम्यवादियों ने समझा, इस उपसमिति द्वारा हम अपने उद्देश्य को भली भाँति पूर्ण कर सकेंगे। पर यह उनकी भारी भूल थी। वस्तुतः, इस उपसमिति के कारण उनका प्रभाव सरकार में कम हो गया। वे मजदूरों में कार्य करने, सुन्दर सुन्दर व्याख्यान देने और अपने उदात्त सिद्धान्तों की व्याख्या करने में व्याप्त हो गये। अपनी योजनाओं को क्रिया में परिणत करने के लिए उन्हें धन की आवश्यकता थी। पर धन उनके पास नहीं था। यह सरकार की स्वीकृति के बिना नहीं मिल सकता

था और सरकार में उनका प्रभाव कम हो रहा था। वहाँ वे अपनी योजनाओं को स्वीकृत नहीं करा सकते थे।

मजदूर उपसमिति ने अपना कार्य बड़े जोर-शोर से प्रारम्भ किया। एक मार्च के दिन मजदूर पार्लियामेंट की योजना तैयार हुई। प्रत्येक व्यवसाय के प्रतिनिधि बुलाये गये। १० मार्च को मजदूर पार्लियामेंट का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। पार्लियामेंट के लिए वह भवन लिया गया, जिसमें पहले कुलीन सरदारों की सभा का अधिवेशन होता था। यह वही भवन था, जिसमें पहले अनेक बार मजदूरों के विरुद्ध अनेकविध कानूनों का निर्माण हुआ था। इसी भवन में कुलीनों के विशेष अधिकारों की रक्षा के लिए कितने ही प्रयत्न किये जा चुके थे। परन्तु १० मार्च १८४८ को इस शानदार भवन में मजदूरों की दशा को सुधारने के लिए उपाय सोचे जा रहे थे। कितना महान् और अद्भुत परिवर्तन था। लुई ब्लां अपने आवेश को रोक न सका। अपने प्रारम्भिक भाषण में उसने कहा—'जिन आसनों पर पहले गोटे किनारियों से विभूषित कोट पहने हुए लोग विराजमान होते थे, आज उन पर मैं क्या देखता हूँ? आज उन पर वे लोग बैठे हैं, जिनके कपड़े ईमानदार मेहनत के कारण चिथड़े चिथड़े हो गये हैं।' मजदूर पार्लियामेंट ने अपना कार्य बड़े उत्साह से प्रारम्भ किया। सम्भवतः, यह पहला ही अवसर था, जब कि फ्रांस भर के मजदूरों के प्रतिनिधि अपनी समस्याओं पर विचार करने के लिए एक स्थान पर एकत्रित हुए थे। पर यह पार्लियामेंट बहुत कुछ नहीं कर सकी। इसके पास योजनाएँ तो बहुत थीं, पर रुपये का सर्वथा अभाव था। लुई ब्लां चाहता था कि मजदूरों की सहोद्योग समितियाँ कायम की जावें, जिनमें कि मजदूर लोग अपनी पैदावार के अपने आप मालिक हों। पर रुपये के अभाव में वह क्या करता? वह असहाय था।

राष्ट्रीय महासभा—उधर राष्ट्रीय महासभा का निर्वाचन हो चुका था। ४ मई को महासभा का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। महासभा की बहुसंख्या सामान्य रिपब्लिकन दल की थी। साम्यवादी दल के प्रतिनिधि बहुत थोड़े थे। फ्रांस के देहाती लोगों को साम्यवादी योजनाओं से कोई सहानुभूति नहीं थी। साम्यवाद लोगों के लिये अभी एक नया सिद्धान्त था। उसका प्रचार अभी पेरिस के मजदूरों में ही हुआ था। पेरिस के बाहर के सर्वसाधारण लोग उसे सर्वथा उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। यही कारण था कि नवीन निर्वाचित राष्ट्रीय महासभा में साम्यवादी लोगों की शक्ति बहुत न्यून थी। नवीन प्रतिनिधियों ने देश के लिए शासन-विधान तैयार करने से पूर्व 'राष्ट्रीय कारखानों' और 'राष्ट्रीय मजदूर सेना' के सम्बन्ध में व्यवस्था करने का संकल्प किया। इन बेकार मजदूरों पर राज्य को प्रतिदिन सवा लाख के लगभग रुपये खर्च करने पड़ रहे थे। अनन्त काल तक इतना रुपया एक निरर्थक कार्य पर खर्च करते रहना फ्रांस की शक्ति से बाहर था। इसलिये राष्ट्रीय महासभा ने निश्चय किया कि 'राष्ट्रीय कारखानों' को बन्द कर दिया जावे और मजदूर सेना बर्खास्त कर दी जावे। इस निश्चय का परिणाम यह हुआ कि लाख से अधिक आदमी एकदम बेकार हो गये। पेरिस के इन्हीं लोगों ने १८४८ की राज्यक्रान्ति में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। राजसत्ता का अन्त कर रिपब्लिक की स्थापना में इनका बड़ा हाथ था। इन्होंने अनुभव किया कि सरकार ने हमसे विश्वासघात किया है। ये गरीब बेकार लोग भूखे मर रहे थे। ये कहते थे, रिपब्लिक से हमें क्या लाभ? लुई फिलिप के जमाने में हमारी जो दशा थी, वही अब भी है। क्रांति के बाद हमें जो काम मिला था, वह भी अब सरकार ने हमसे छीन लिया। वस्तुतः, ये इन लोगों के असंतुष्ट होने के प्रबल कारण विद्यमान थे। इन्होंने सरकार का मुकाबला करने का निश्चय किया। यदि पहले इनकी सहा-

यता से राजसत्ता का अन्त हो सकता था, तो अब रिपब्लिकन सरकार को भी ये अच्छा सबक सिखा सकते थे।

बेकार मजदूरों ने विद्रोह कर दिया। पेरिस के उन मुहल्लों में जहाँ मजदूरों की बस्तियाँ थीं, मोरचाबन्दी कर ली गई। मजदूर लोग हथियार लेकर निकल पड़े। २३ जून से २६ जून तक निरन्तर चार दिन तक पेरिस की गलियों में लड़ाई जारी रही। चारों दिनों में १० हजार आदमी कतल हो गये। इस विद्रोह को शान्त करना सरकार के लिये सुगम कार्य न था। विद्रोह ने इतना प्रचण्ड रूप धारण कर लिया था कि किसी एक व्यक्ति को एकाधिकारी (डिक्टेटर) बनाने की आवश्यकता अनुभव हुई। सेनापति कैविग्नेक को यह पद दिया गया और उसने बड़ी क्रूरता से विद्रोह को शान्त किया। मजदूर लोग अच्छे योद्धा न थे, उन्हें हथियार चलाने का अच्छा अभ्यास नहीं था। इसके अतिरिक्त वे भूखे और नङ्गे थे। सरकार की सधी हुई सेनाओं का मुकाबला कर सकना उनके लिये आसान बात न थी। वे परास्त हो गये। सरकार ने उनसे भयङ्कर बदला लिया। बिना किसी मुकदमे के, चार हजार से अधिक आदमियों को देश निकाला दिया गया। मजदूर नेताओं को बाजार बीच गोली से उड़ा दिया गया। ११ हजार आदमी कैद किये गये। मजदूर दल के ३२ अखबारों को बन्द कर दिया गया। उनके सम्पादकों और लेखकों को कठोर सजायें दी गईं। मजदूर-विद्रोह शान्त तो हो गया, पर सरकार के इन अत्याचारों का परिणाम यह हुआ कि गरीब मजदूर लोग रिपब्लिकन दल से सर्वथा विमुख हो गये। फ्रांस दो भागों में विभक्त हो गया—मध्य श्रेणी के लोग और सर्वसाधारण गरीब लोग। इस समय राजसत्ता मध्य श्रेणी के हाथ थी। वे गरीब मजदूरों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। राज्यक्रान्ति ने एकतन्त्र राजसत्ता का तो अन्त कर दिया था, पर अभी शासनसूत्र सर्वसाधारण के हाथ में नहीं

आया था। मनुष्य जाति ने लोकसत्ता की तरफ एक महत्त्वपूर्ण कदम तो उठाया था, पर लोकसत्ता का वास्तविक आदर्श उसकी पहुँच से अभी बहुत काफी दूर था।

नया शासन-विधान—इस प्रकार मजदूरों की समस्या का हल कर राष्ट्रीय महासभा नवीन शासन-विधान तैयार करने के कार्य में व्यापृत हुई। प्रथम प्रश्न यह था कि शासन का प्रकार क्या हो? महासभा में कुछ लोग राजसत्ता के भी पक्षपाती थे। परन्तु उनकी संख्या बहुत कम थी, इसलिये यह बात तो सुगमता से ही निश्चित हो गई कि शासन का प्रकार रिपब्लिक रहेगा। साम्यवादी सिद्धान्तों का निराकरण करने के लिये यह बात भी उद्घोषित की गई कि सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार अक्षुण्ण रखा जावेगा। इसके अतिरिक्त, साम्यवाद का स्पष्टरूप से भी विरोध किया गया। नवीन शासन-विधान में कानून बनाने का कार्य एक राष्ट्रप्रतिनिधि सभा के सुपुर्द किया गया, जिसके सदस्यों की संख्या ७५० रखी गई। प्रतिनिधि सभा के सदस्य तीन वर्ष के लिये चुने जावें, यह व्यवस्था की गई। इस एक सभा को कानून बनाने के सम्पूर्ण अधिकार दिये गये। इसका नियन्त्रण करने के लिये किसी दूसरी सभा की रचना नहीं की गई। शासन-विभाग का अध्यक्ष राष्ट्रपति को बनाया गया, जिसे कि जनता स्वयं वोटों द्वारा ४ वर्ष के लिये निर्वाचित करती थी। क्रान्ति के सिद्धान्तों की फिर उद्घोषणा की गई। दासप्रथा को उड़ाया गया और यह व्यवस्था की गई कि राजनीतिक अपराधों के लिये किसी व्यक्ति को प्राणदण्ड न दिया जा सके।

नवीन शासन-विधान ४ नवम्बर को बनकर तैयार हुआ। अब प्रश्न यह था कि राष्ट्रपति के पद पर किस व्यक्ति को निर्वाचित किया जावे। राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिये १० दिसम्बर १८४८ का दिन निश्चित किया गया। इस महत्त्वपूर्ण पद के लिये प्रमुख उम्मीदवार

तीन व्यक्ति थे—लेद्रु रोलां मजदूर दल का उम्मीदवार था। सेनापति कैविग्नेक रिपब्लिकन दल की तरफ से खड़ा हुआ था, यह वही सेनापति है, जिसने जुलाई के मजदूर-विद्रोह को बड़ी क्रूरता के साथ शान्त किया था। इनके अतिरिक्त, रिपब्लिकन दल की ओर से ही एक अन्य उम्मीदवार था, जिसका नाम था—लुई नैपोलियन। यह प्रसिद्ध विजेता नैपोलियन प्रथम का भतीजा था। निर्वाचन में लुई नैपोलियन को सफलता हुई। उस अकेले को ५४ लाख वोट प्राप्त हुए, जब कि उसके प्रतिद्वन्द्वियों को मिलाकर २० लाख वोट प्राप्त हुए थे। नैपोलियन के नाम में कुछ ऐसा जादू था जो उसकी मृत्यु के एक सन्तति बाद भी उसके भतीजे की इस असाधारण सफलता में इस प्रकार सहायक हुआ था। राष्ट्रपति निर्वाचित होकर लुई नैपोलियन ने रिपब्लिक के प्रति भक्ति की शपथ ली और उद्घोषित किया—"फ्रांस ने जो कुछ इस समय स्थापित किया है, उसे गैर कानूनी तरीकों से परिवर्त्तित करने की जो कोई आदमी कोशिश करेगा, उसे मैं देश का दुश्मन समझूँगा।"

नैपोलियन ने स्वयं किस प्रकार अपनी प्रतिज्ञाओं का पालन किया, इस पर हम आगे चलकर प्रकाश डालेंगे। यहाँ इतना निर्देश कर देना पर्याप्त है, कि अपने सुप्रसिद्ध चचा की तरह उसने भी पहले रिपब्लिक के प्रधान की स्थिति में अपनी वैयक्तिक शक्ति को बढ़ाना प्रारम्भ किया और फिर धीरे-धीरे 'सम्राट्' के पद तक पहुँच गया। १८४८ में वह राष्ट्रपति चुना गया था और १८५२ में वह सम्राट् बन गया। फ्रांस की दूसरी रिपब्लिक पूरे चार वर्ष तक भी कायम नहीं रह सकी। इतने थोड़े से समय में ही रिपब्लिक का अन्त होकर राजसत्ता की स्थापना हो गई। वस्तुतः अभी तक भी फ्रांस की जनता ने रिपब्लिक और लोकसत्तावाद के महत्त्व को पूर्णतया अनुभव नहीं किया था। ये सिद्धान्त उदात्त अवश्य थे; जनता का वास्तविक कल्याण भी

इन्हीं के क्रिया में परिणत होने में था। पर इससे क्या हुआ ? ये सफल तभी हो सकते थे, जब कि जनता—सर्वसाधारण जनता भी इन्हें ऐसा ही समझने लगे। पर वे लोग जो सदियों से राजकीय मामलों को एक ऐसी चीज समझते आये थे, जो कि उनकी पहुँच से बाहर है, जिससे उनका कोई सम्बध नहीं है, वे अब एकदम कैसे बदल सकते थे। नैपोलियन सम्राट् बन गया, रिपब्लिकन दल की क्लबों में इस पर टीका टिप्पणी हो गई, कुछ अखबारों में चर्चा हो गई-पर सर्वसाधारण लोग ? उन्हें इससे क्या प्रयोजन था ? उन्होंने इसकी जरा भी परवाह न की।

पर इसमें सन्देह नहीं कि १८४८ की राज्यक्रान्ति ने फ्रांस को लोकतन्त्र के मार्ग पर बहुत अधिक आगे बढ़ा दिया। इसी क्रान्ति में पहले पहल राजनीतिक क्रान्ति के साथ-साथ आर्थिक और सामाजिक क्रान्तियों का भी सूत्रपात हुआ। फ्रांस में कुछ समय तक साम्यवादी लोगों का जोर रहा। अन्य बहुत से अधिकारों की तरह मनुष्य का यह भी प्राकृतिक अधिकार है कि वह अपनी रोजी कमाने के लिये मजदूरी प्राप्त कर सके—इस सिद्धान्त को पहली बार क्रिया में परिणत किया गया। बेशक, इसके लिये किया गया प्रयत्न बुरी तरह असफल रहा। पर इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? मनुष्य जाति इतनी पुरानी होते हुये भी हमेशा एक बालक की तरह रहती है, जिसे एक नई चीज सीखने के लिये बार-बार गिरना पड़ता है। जैसे बच्चा चलना सीखते हुए बार-बार गिरता है, इसी प्रकार मनुष्य जाति भी नई बात को सीखते हुए बार-बार असफल होती है। राजनीतिक समानता और स्वतन्त्रता मनुष्य जाति के लिये एक नई बात थी—इसे सीखने में उसे कितनी देर लगी। अब तक भी फ्रांस उसे पूर्णतया नहीं सीख सका था। फिर आर्थिक और सामाजिक स्वतन्त्रता तथा समानता का तो प्रश्न ही क्या था ? ये बातें तो लोगों के लिये एक असम्भव तथा अक्रियात्मक कल्पना के सिवा और कुछ नहीं थी।

क्रान्ति की अन्य लहरों के समान १८४८ की राज्यक्रान्ति भी केवल फ्रांस तक ही सीमित नहीं रही। फ्रांस से एक प्रकार का ज्वालामुखी उठा था, जिसकी लपटों ने यूरोप के बड़े भारी हिस्से को व्याप्त कर लिया। इस समय का यूरोप बहुत अधिक उन्नत हो चुका था। व्यावसायिक और व्यापारीय क्रान्तियों ने उसके स्वरूप को बहुत कुछ परिवर्त्तित कर दिया था। इन कारणों से इस समय वह क्रान्ति के लिये अधिक तैयार था। किस प्रकार १८४८ की क्रान्ति की लहर ने यूरोप पर प्रभाव डाला, इस पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

(२) आस्ट्रियन साम्राज्य में क्रान्ति का प्रारम्भ

मध्य यूरोप के सबसे प्राचीन तथा शानदार हाप्सबुर्ग राजवंश के अधीन मुख्यतया तीन प्रदेश थे—आस्ट्रिया, हंगरी और बोहेमिया। इनके अतिरिक्त इटली का बहुत सा प्रदेश भी इसी राज्यवंश के अधीन था। १८४८ की राज्यक्रान्ति इन विस्तृत प्रदेशों पर दावानल के समान प्रकट हुई। कुछ देर के लिये ऐसा प्रतीत होने लगा कि हाप्सबुर्ग वंश का प्राचीन वैभव खाक में मिल जायगा और आस्ट्रियन साम्राज्य की समाप्ति हो जावेगी।

आस्ट्रियन साम्राज्य का स्वरूप—आस्ट्रियन साम्राज्य में क्रान्ति किस प्रकार हुई, इसका वर्णन करने से पूर्व यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि इस अद्भुत साम्राज्य का स्वरूप किस प्रकार का था। आस्ट्रियन साम्राज्य में एक जाति व राष्ट्रीयता का निवास नहीं था, वह बहुत से राष्ट्रों का मिश्रण था। वीएना के पश्चिम के प्रदेश प्रधानतया जर्मन लोगों से आबाद थे। दक्षिण में (कार्निओला, स्टीरिया, कैरिन्थिया, और इस्ट्रिया के प्रदेशों में) स्लाव लोगों का निवास-स्थान था। उत्तर में बोहेमिया और मोरेविया में, चेक लोग बसते थे। रशिया की सीमा पर पोल लोग आबाद थे, यह हिस्सा वस्तुतः पोलैण्ड

में सम्मिलित था। उस अभागे देश के टुकड़े हो जाने के बाद यह आस्ट्रिया के हिस्से में आ गया था। हंगरी के राज्य में—यह राज्य आस्ट्रिया के अधीन न होते हुए भी वहाँ के राजा के आधिपत्य में था—केवल हंगेरियन, या मघयार लोगों का ही निवास नहीं था, उनके अतिरिक्त उसमें रूमानियन, क्रोटियन और सर्वियन लोग भी बसते थे। इस प्रकार आस्ट्रियन साम्राज्य में जर्मन, चेक, स्लाव, हंगेरियन, पोल, क्रोटियन, रूमानियन और सर्वियन—ये विविध प्रकार के लोग आबाद थे। इन सबकी भाषा पृथक्-पृथक् थी। न केवल भाषा, पर संस्कृति, सभ्यता, नसल, जाति, रहन-सहन और इतिहास—सब दृष्टियों से ये लोग एक दूसरे से भिन्न थे। इन विविध जातियों का एक शासन में रह सकना बड़ी अद्भुत बात थी। पुराने जमाने में तो यह बात बिलकुल मामूली थी, उस समय लोगों में राष्ट्रीयता का भाव ही उत्पन्न नहीं हुआ था। पर अब उन्नीसवीं सदी में, नैपोलियन के युद्धों के बाद यूरोपियन जनता में एक नवीन भावना—राष्ट्रीयता की अनुभूति—उत्पन्न हो चुकी थी। अब इन विविध जातियों में स्वभाग्य-निर्णय का विचार प्रबल हो गया था। अब इनके लिये एक विदेशी स्वेच्छाचारी शासन के अधीन रह सकना सम्भव नहीं रहा था। सब प्रदेशों में स्वतन्त्रता की भावना प्रादुर्भूत हो चुकी थी। उदार विचारों के लोग सब स्थानों पर अपना कार्य कर रहे थे।

शासन का प्रकार—आस्ट्रियन साम्राज्य का शासन भी अद्भुत प्रकार का था। आष्ट्रिया में हाप्सबुर्ग राजा फर्डिनन्ड प्रथम का एकतन्त्र स्वेच्छाचारी राज्य था। मन्त्री लोग राजा के प्रति उत्तरदायी थे। राजा जिसे चाहता मन्त्रिपद पर नियुक्त करता, जिसे चाहता बर्खास्त करता। कानून बनाने, नये टैक्स लगाने या राजकीय आमदनी को खर्च करने के लिये जनता की किसी भी प्रकार की अनुमति की आवश्यकता नहीं थी। अखबारों और पुस्तकों पर पुलीस का कठोर

निरीक्षण था। अध्यापक लोग शिक्षणालयों में क्या पढ़ाते हैं, थियेटरों में क्या दृश्य दिखाये जाते हैं—इन सब बातों पर पुलीस कड़ी निगाह रखती थी। सरकार को फ़िकर थी कि कोई नया विचार आस्ट्रिया में प्रवेश न कर जाय। देश से बाहर जाने आने की स्वतन्त्रता नहीं थी। प्रत्येक यात्री के लिये पासपोर्ट लेना आवश्यक था। इन बाधाओं का परिणाम यह था कि आस्ट्रिया के विद्वान् पश्चिमीय यूरोप के संसर्ग से सर्वथा मुक्त थे। फ्रांस और ब्रिटेन में जो नवीन विचार-धारायें चल रही थीं, आस्ट्रिया में उनका प्रवेश रोक दिया गया था। मैटरनिख बड़े अभिमान के साथ कहा करता था कि वैज्ञानिक शैली आस्ट्रिया के विश्वविद्यालयों तक में प्रविष्ट नहीं हो सकी है। मध्यकाल की प्रायः सभी संस्थायें अभी आष्ट्रिया में विद्यमान थीं। कुलीन जमींदारों के अधिकार अक्षुण्ण बने हुए थे। किसानों को कोई स्वतन्त्रता नहीं थी। जमींदार की अनुमति के बिना वे अपना गाँव तक नहीं छोड़ सकते थे। चर्च की अवस्था भी वही थी, जो राज्यक्रान्ति से पूर्व फ्रांस में थी। राजकीय पदों पर केवल रोमन कैथोलिक ही नियत किये जा सकते थे। चर्च का प्रभाव असाधारण था।

हंगरी आस्ट्रिया से पृथक् था। परन्तु इन दोनों का राजा एक ही था। हंगरी में अब तक मध्यकाल की सामन्त पद्धति प्रचलित थी। सम्पूर्ण शासन-शक्ति कुछ कुलीन जमीदारों के हाथ में थीं। ये लोग मनमानी तरीके से देश का शासन करते थे। जनता भी कोई इच्छा रख सकती है, इस बात की इन्हें कल्पना भी नहीं थी। साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि पोल, चैक और स्लाव लोग आस्ट्रिया के राज्य के अन्तर्गत थे और क्रोटियन, रूमानियन और सर्वियन लोग हंगरी के अधीन थे। इन दोनों राज्यों का निर्माण सर्वथा अस्वाभाविक तथा राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के प्रतिकूल था। इन राज्यों में केवल राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का ही खून नहीं हो रहा था, लोकसत्तावाद का तो इनमें निशान तक भी नहीं था।

परन्तु विचार हवा की तरह होते हैं। कृत्रिम तरीकों से उन्हें रोक सकना असम्भव होता है। फर्डिनन्ड और मैटरनिख के सम्पूर्ण उपायों के बावजूद भी समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृभाव के विचार आस्ट्रियन साम्राज्य में पहुँच चुके थे। वहाँ पर भी लोग स्वेच्छाचारी राज्यसत्ता का अन्त कर लोकतन्त्र शासन को स्थापित करने का स्वप्न ले रहे थे। यही कारण है, कि जब १८४८ में क्रान्ति की लहर प्रारम्भ हुई, तो आष्ट्रियन साम्राज्य की विविध जातियों में भी साहस का सञ्चार हुआ। वे भी स्वेच्छाचारी शासन से मुक्त होने के लिये उत्सुक हो उठीं।

मैटरनिख का पतन—जिस समय २२ फरवरी सन् १८४८ की फ्रेंच राज्यक्रान्ति का समाचार मैटरनिख ने सुना, तो वह बहुत चिन्तित हुआ। उसने कहा—"मैं एक बूढ़ा हकीम हूँ। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि साध्य और असाध्य रोगों में क्या भेद होता है। यह बीमारी घातक है।" निस्सन्देह, मैटरनिख ठीक था। १३ मार्च १८४८ को वीएना में एक जुलूस निकला। विद्यार्थी और मजदूर बहुत बड़ी संख्या में इसमें सम्मिलित हुए। ये लोग 'मैटरनिख हाय-हाय' के नारे लगाते जाते थे। आखिर, जुलूस ने मैटरनिख के मकान को घेर लिया। मैटरनिख की उमर ६० साल से ऊपर थी, उसके बाल पक चुके थे। वह समय के रुख को खूब पहचानता था। उसने ताड़ लिया कि अब पदत्याग करके आस्ट्रिया छोड़ जाने के सिवा अन्य कोई उपाय नहीं है। वह ग्रेटब्रिटेन चला गया। उसका पुराना बूढ़ा दोस्त वेलिङ्गटन का ड्यूक उसका स्वागत करने के लिये तैयार था। दोनों बूढ़े मित्रों ने अपनी आयु के शेष दिन शान्ति से व्यतीत किये। दोनों ही अपने जमाने में लोकतन्त्र प्रवृत्तियों के कट्टर दुश्मन रह चुके थे। निस्सन्देह, जिन्दगी के शेष दिनों को व्यतीत करते हुए ये पुराने मित्र 'घोर कलिकाल' को कोसते थे और उन सुन्दर दिनों की याद करते थे, जब उनकी इच्छा के प्रतिकूल पत्ता तक नहीं हिल सकता था।

मैटरनिख के प्रस्थान का उत्सव वीएना में बड़ी धूम-धाम से मनाया गया। पुराने जमाने और स्वेच्छाचार के इस आधारस्तम्भ के पतन का समाचार सुनकर जनता को अपार प्रसन्नता हुई। राजा फर्डिनन्ड प्रथम शासन-सुधार करने के लिये बाधित हुआ। प्रेस का कठोर निरीक्षण हटा लिया गया। सामन्तपद्धति के अवशेषों को नष्ट किया गया। कुलीनों के विशेषाधिकार छीन लिये गये। नवीन शासन-विधान तैयार किया गया, इसमें जनता को पर्याप्त अधिकार दिये गये। पर क्रान्तिकारी लोग इतने से संतुष्ट नहीं थे, वे पूर्ण लोकतन्त्र स्थापित करने को उत्सुक थे। क्रान्तिकारियों के आन्दोलन से राजा घबरा गया। उसकी उमर पक चुकी थी, अंग शिथिल हो गये थे। प्रचण्ड विरोध सह सकने की शक्ति उसमें नहीं रही थी। वह वीएना से भाग कर इन्सब्रुक पहुँच गया और क्रान्तिकारियों को राजधानी में मनमानी करने का अवसर मिल गया।

नवीन शासन-विधान—नवीन शासन-विधान तैयार करने के लिये राष्ट्रीय महासभा बुलाई गई। सम्पूर्ण पुरुषों को इस महासभा के लिये प्रतिनिधि चुनने का हक दिया गया था। हंगरी के अतिरिक्त आस्ट्रियन साम्राज्य के सम्पूर्ण प्रदेशों के प्रतिनिधि इस महासभा में सम्मिलित हुए। २२ जुलाई को वीएना में अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। महासभा में उदार विचार के सदस्यों का बहुमत था। पर राजसत्ता को सर्वथा नष्ट कर देने के पक्ष में बहुत कम सदस्य थे। आखिर, बहस के बाद यह निश्चय किया गया कि आस्ट्रिया में वैध राजसत्ता की स्थापना की जावे। राजा को वापिस लौट आने के लिये निमन्त्रण भेजा गया। अगस्त मास में वह अपनी राजधानी में पहुँच गया। अभी शासन-विधान तैयार करने का कार्य समाप्त नहीं हुआ था, कि हंगरी, बोहेमिया, क्रोटिया और उत्तरीय इटली से क्रान्तियों के समाचार प्राप्त हुए। वीएना के लोग इन समाचारों को पढ़कर भड़क उठे। वे

समझते थे, क्रान्ति को पूर्ण करना चाहिये। ढीली-ढाली कार्यवाही से कुछ न बनेगा। गलियों और बाजारों में मोरचाबन्दी हो गई। सर्वसाधारण जनता हथियार लेकर निकल पड़ी। युद्ध-सचिव को लैम्प के एक खम्भे से बाँधकर कतल कर दिया गया। राजा फर्डिनन्ड फिर भाग खड़ा हुआ। वीएना में दुबारा क्रान्ति हो गई। राष्ट्रीय महासभा जो कार्य कर रही थी, वह बीच में ही रह गया।

यद्यपि राजा वीएना छोड़कर भाग गया था, पर इस बार उसने अधिक साहस प्रदर्शित किया। उसने सेना को हुकुम दिया कि विद्रोहियों को गोली से उड़ा दो। शाही फौज ने वीएना पर हमला किया। विद्रोहियों और फौज में बाकायदा लड़ाई हुई। आखिर, क्रान्तिकारी परास्त हुए। वीएना जीत लिया गया। आस्ट्रियन क्रान्ति असफल हो गई। जनता ने अपने अधिकारों के लिये सिर उठाया था, पर उसे बुरी तरह कुचल दिया गया।

पर यह नहीं समझना चाहिये कि १८४८ की क्रान्ति में आस्ट्रिया के क्रान्तिकारी पूर्णतया असफल रहे। मैटरनिख का अब सदा के लिये पतन हो गया था। यह साधारण बात नहीं थी, क्रान्ति की यह भारी विजय थी। इतना ही नहीं, नवम्बर १८४८ में क्रान्ति को कुचल कर फर्डिनन्ड ने जब दोबारा वीएना में प्रवेश किया, तब उसे आवश्यकता अनुभव हुई कि शासन-विधान की उद्घोषणा की जावे। निस्सन्देह, यह शासन-विधान जनता और क्रान्तिकारियों की इच्छा के अनुरूप नहीं था, पर इससे कम से कम इतना तो हो गया था कि आस्ट्रिया में एक बाकायदा शासन-विधान की स्थापना हो गई थी।

हंगरी का राज्य—आस्ट्रियन साम्राज्य में हंगरी की क्या स्थिति थी, इस बात पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। हंगरी में दो आन्दोलन चल रहे थे। प्रथम—आस्ट्रिया के राजा की अधीनता से

मुक्त हो कर स्वतन्त्र राज्य को स्थापित करने के लिये और दूसरा लोकतन्त्र शासन के लिये। हंगेरियन स्वाधीनता के प्रमुख नेता कॉस्सुथ और डीक थे। सरकार भरसक कोशिश कर रही थी कि नवीन प्रवृत्तियों को कुचल दिया जावे। शासन-सुधार के लिये व्याख्यान देना भी जुर्म समझा जाता था। प्रेस के ऊपर कड़ा निरीक्षण था। पुस्तकों, अखबारों या पर्चों द्वारा किसी भी प्रकार राजनीतिक आन्दोलन नहीं किया जा सकता था। प्रसिद्ध हंगेरियन नेता कॉस्सुथ को इसलिये जेल की सजा दी गई, क्योंकि उसने हस्तलिखित रूप से नवीन राजनीतिक विचारों को फैलाने का प्रयत्न किया था। सरकार के सम्पूर्ण अत्याचारों के बावजूद भी हंगेरियन स्वाधीनता का आन्दोलन निरन्तर उन्नति करता गया। जिस समय मार्च १८४८ में पहली बार वीएना में विद्रोह हुआ, तो हंगेरियन लोगों में भी उत्साह उत्पन्न हुआ। उन्होंने विद्रोह करने का संकल्प किया। आस्ट्रिया के बूढ़े सम्राट् को शासन-सुधार की मांग को स्वीकार करने के लिये बाधित होना पड़ा। हंगरी के लिये पृथक् मन्त्रिमण्डल की रचना की गई। कॉस्सुथ और डीक उसके सदस्य बनाये गये। इतना ही नहीं, सामन्तपद्धति को नष्ट किया गया। कुलीनों के विशेषाधिकार छीन लिये गये। सब लोग कानून की दृष्टि में एक समान कर दिये गये। हंगरी में भी मध्यकाल का अन्त हुआ। क्रान्ति के सिद्धान्त क्रिया में परिणत किये गये। हंगरी की सरकार आस्ट्रिया से सर्वथा पृथक् हो गई। दोनों देशों का राजा ही एक रहा। नवीन शासन-विधान में भाषण, लेखन और मुद्रण की स्वतन्त्रता को स्वीकार किया गया। सब लोगों को यह अधिकार दिया गया कि वे अपने विश्वासों के अनुसार धर्म का अनुसरण कर सकें। राजकीय इमारतों पर हंगरी का अपना राष्ट्रीय झण्डा फहराने लगा। हंगरी की राष्ट्रीय आकांक्षायें पूरी हुईं। क्रान्ति की जो लहर वीएना में असफल हो गई थी, वह हंगरी में बहुत अंशों में सफल हो गई। वहाँ

न केवल उदार शासन व वैधराजसत्ता का प्रारम्भ हुआ, अपितु हंगरी की सरकार आष्ट्रिया से सर्वथा पृथक् भी हो गई।

परन्तु हंगरी के राज्य में अनेक ऐसी जातियाँ भी निवास करती थीं, जो हंगेरियन लोगों से सर्वथा भिन्न थीं। क्रोटियन, रूमानियन और सर्वियन लोगों को हंगरी की स्वतन्त्रता से कोई भी लाभ न था। नये शासन-विधान में इन्हें कोई भी अधिकार नहीं मिले थे। क्रान्ति की लहर ने इन पर भी असर डाला था। ये भी अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये आन्दोलन कर रहे थे। क्रान्ति के इस काल में इन जातियों की ओर से भी अनेक विद्रोह हुए। आस्ट्रियन सरकार इनकी सहायता कर रही थी। हंगरी की स्वाधीनता से आस्ट्रिया को बहुत नुकसान पहुँचा था। इसलिये आस्ट्रियन सरकार का खयाल था कि विद्रोहियों का सहायता करने से हंगरी की हानि होगी। आस्ट्रिया की इस कार्यवाही का परिणाम यह हुआ कि हंगरी ने आस्ट्रिया से पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। अब तक आस्ट्रियन राजा ही हंगरी का भी सम्राट था। अब हंगेरियन लोगों ने अपने को पूर्णतया स्वाधीन उद्घोषित कर रिपब्लिक की स्थापना की और कॉस्सुथ को अपना राष्ट्रपति निर्वाचित किया। इस पर आस्ट्रिया ने हंगरी के विरुद्ध बाकायदा युद्ध की उद्घोषणा कर दी। रशिया ने भी आष्ट्रिया का साथ दिया। इन दो शक्ति-शाली राज्यों का मुकाबला कर सकने की सामर्थ्य हंगरी में नहीं थी। वह परास्त हुआ। कॉस्सुथ टर्की भाग गया। वहाँ से वह ग्रेटब्रिटेन और अमेरिका गया। उसने भरसक कोशिश की कि ये देश हंगरी की सहायता करें। पर वह सफल नहीं हो सका। अपने देश की स्वाधीनता के लिये कोशिश करते करते १८६४ में इटली में उसकी मृत्यु हुई। कोस्सुथ तो हंगरी छोड़कर टर्की भाग जाने में समर्थ हुआ था। पर अन्य बहुत से नेता पकड़ लिये गये थे। उन्हें प्राणदण्ड दिया गया। हंगरी फिर आस्ट्रिया

के अधीन हो गया। वहाँ स्वाधीन शासन को नष्ट कर फिर से आस्ट्रियन शासन की स्थापना की गई। १८४८ में हंगरी में क्रान्ति सफल हुई थी, एक वर्ष बाद ही पुराना जमाना विजयी हो गया। हंगरी की स्वाधीन रिपब्लिक कुछ मास तक ही जीवित रही। वहाँ पर फिर आष्ट्रिया का एकच्छत्र शासन कायम हो गया।

१८४८ की क्रान्ति की लहर ने बोहेमिया पर भी प्रभाव डाला। १५ मार्च के दिन चैक देशभक्त बहुत बड़ी संख्या में प्राग में एकत्रित हुए। उन लोगों ने निश्चय किया कि एक विशाल प्रार्थना पत्र तैयार किया जावे, जिसमें राजनीतिक अधिकारों और शासन-सुधार के लिये सम्राट् से प्रार्थना की जावे। प्रार्थना पत्र तैयार हो गया, और चैक नेताओं की एक मण्डली ने सम्राट् की सेवा में प्रस्थान किया। फर्डिनण्ड् क्रान्तियों से घबरा गया था। उसने चैक लोगों के प्रार्थनापत्र को स्वीकृत कर लिया। परन्तु बोहेमिया की स्वाधीनता की समस्या बहुत जटिल थी। बोहेमिया में केवल चैक लोग ही नहीं बसते, वहाँ जर्मन लोगों की संख्या भी कम नहीं है। ये जर्मन लोग बोहेमिया की स्वतन्त्रता का विरोध करते थे। वे समझते थे, यदि बोहेमिया स्वतन्त्र हो गया, तो चैक लोग हमें कुचल देंगे। जर्मन लोगों के विरोध पर विचार करने तथा चैक स्वराज्य का संगठन करने के लिये प्राग में एक विशाल महासभा बुलाई गई। सम्पूर्ण बोहेमिया से चैक तथा उनसे सम्बद्ध मोरेवियन, रुथेनियन, सर्वियन और क्रोटियन आदि जातियों के प्रतिनिधि इस महासभा में सम्मिलित हुए। अभी इस महासभा ने अपना कार्य समाप्त नहीं किया था, कि कुछ जोशीले नौजवानों ने प्राग में स्थित आस्ट्रियन सेनापति विन्डिशग्रेट्श के खिलाफ आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। वे उसके विरुद्ध नारे लगाने लगे। लोगों को जोश आ गया। चैक जनता भड़क उठी, विद्रोह हो गया। प्राग की गलियों में लड़ाई प्रारम्भ

हो गई। विन्डिशग्रेट्ज़ के मकान पर हमला किया गया। अब विन्डिशग्रेट्ज़ को मौका मिला। उसने विद्रोह को शान्त करने के लिये भयङ्कर उपाय प्रयुक्त किये। शहर पर गोलाबारी की गई। विद्रोही काबू में आ गये। बोहेमिया में क्रान्तिकारियों से बुरी तरह बदला लिया गया। जो शासन-सुधार किये गये थे, उन्हें वापिस ले लिया गया। क्रान्ति असफल हो गई।

इस प्रकार हाप्सबुर्ग सम्राट् के सम्पूर्ण प्रदेशों में—आस्ट्रिया, हंगरी और बोहेमिया में १८४८ में क्रान्तियाँ हुईं। पर कहीं पर भी वे सफल न हो सकीं। आखिरकार, एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन सम्पूर्ण आस्ट्रियन साम्राज्य में कायम रहा। पर इतना निश्चित है, कि १८४८ की इस क्रान्ति की लहर ने सम्पूर्ण आष्ट्रियन साम्राज्य में सामन्त पद्धति तथा अन्य मध्यकालीन संस्थाओं को जबर्दस्त धक्का पहुँचाया। जनता में क्रान्ति की भावना प्रादुर्भूत हो गई थी। नये युग के अभ्युदय की अब स्वाभाविक प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई।

(३) जर्मनी में क्रान्ति का प्रभाव

जर्मन आन्दोलन का स्वरूप—उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में जर्मनी एक राज्य नहीं था। इस काल में जर्मनी में अनेक राज्य थे, जिनमें प्रमुख प्रशिया था। यद्यपि विविध जर्मन राज्य एक संघ में संगठित थे, पर यह राज्यसंघ बहुत ही ढीलाढाला तथा अपूर्ण था। क्रान्ति की लहर जर्मनी में दो प्रकार से प्रभाव डाल रही थी। जर्मन देशभक्त एक तरफ तो अपने अपने राज्यों में स्वेच्छाचारी राजसत्ता का अन्त कर जनता का शासन स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे थे, दूसरी तरफ उनकी आकांक्षा सम्पूर्ण जर्मनी को दृढ़ संगठन में संगठित करने की भी थी। 'जर्मनी एक राष्ट्र है' 'जर्मनी हमारी मातृभूमि है' यह भावना प्रादुर्भूत हो गई थी और जर्मन नवयुवक अपने देश की

राष्ट्रीय एकता और स्वाधीनता के लिये उतावले हो रहे थे। १८४८ से पूर्व ही जर्मनी में नवीन विचारों का प्रवेश हो गया था। परन्तु फ्रांस की तृतीय राज्यक्रान्ति से जब सम्पूर्ण यूरोप में एक नवीन उत्साह और साहस का संचार हुआ, तो जर्मनी भी उसके प्रभाव से वञ्चित नहीं रहा।

प्रशिया में क्रान्ति—आस्ट्रियन प्रधान मन्त्री मेटरनिख के पतन का समाचार बर्लिन में १३ मार्च के दिन पहुँचा। लोगों की खुशी का ठिकाना नहीं रहा। मेटरनिख स्वेच्छाचारी एकतन्त्र शासन का आधार-स्तम्भ था। उसके टूट जाने के समाचार से जर्मन क्रान्तिकारियों का उत्साह द्विगुणित हो गया। लोग इकट्ठे हो गये। जुलूस बन गया। भीड़ राजमहल के चारों ओर एकत्रित हो गई। रिपब्लिकन लोगों में बड़ा जोश था। वे हमले के लिये जनता को भड़का रहे थे। राजा ने हुकुम दिया कि राजप्रासाद को खाली कर दिया जावे। पुलीस ने गोली चला दी। कुछ लोग मारे गये। अब क्या था! जनता जोश में आ गई। रिपब्लिकन लोग हथियार लेकर निकल पड़े। सारे शहर में विद्रोहाग्नि भड़क उठी। लड़ाई प्रारम्भ हो गई। राजा ने जब गदर का समाचार सुना, तो घबरा गया। उसने प्रतिज्ञा की, कि जनता की सम्पूर्ण शिकायतें दूर कर दी जावेंगी और वह स्वयं जर्मनी को एक सूत्र में संगठित करने के लिये प्रत्यन करेगा। इस पर जनता शान्त हो गई। विद्रोह में जो लोग मारे गये थे, उनकी संख्या २०० थी। ये सब शहीद बन गये। सारे बर्लिन शहर में शहीदों का जुलूस निकाला गया। जब जुलूस राजप्रासाद के सम्मुख पहुँचा, तो लोगों ने राजा को कहा—आओ, अपनी फौजों की करतूत देख जाओ। राजा महल के एक झरोखे पर प्रगट हुआ। जनता उत्तेजित हो गई। उन्होंने क्रोध से चिल्लाकर कहा—'अपनी टोपी उतार लो' राजा क्या करता! उस बेचारे ने अपनी टोपी उतार दी। लोग इतने पर

भी संतुष्ट नहीं हुए। उन्होंने फिर चिल्लाकर कहा—'नीचे आओ'। प्रशिया का राजा नीचे उतर आया। जनता के सम्मुख वह असहाय था। उसे मजबूर किया गया कि शहीदों के सम्मुख सिर झुकाये, उनके प्रति सम्मान प्रगट करे। इतना ही नहीं, राजा की तरफ से आज्ञा प्रकाशित की गई, कि 'शहीदों' के कतल के लिये सारे शहर में शोक मचाया जावे।

अन्यत्र क्रान्ति—प्रशिया के अतिरिक्त अन्य जर्मन राज्यों में भी क्रांति के चिह्न प्रगट हुए। १८४८ के मार्च और एप्रिल—इन दो महीनों में जर्मनी के अधिकांश राज्यों में क्रान्तियां हुईं। एकतन्त्र शासन का अन्त कर वैध राजसत्ता की स्थापना की गई। प्रायः सपूर्ण जर्मनी में नवीन शासन-विधान तैयार किये गये। एकदम सम्पूर्ण देश में जागृति सी उत्पन्न हो गई।

फ्रांकफोर्ट की राष्ट्रीय महासभा नवीन विचार के लोग इतने से ही संतुष्ट नहीं थे। वे जनता के अधिकारों के साथ साथ राष्ट्रीय एकता की स्थापना के लिये भी उत्सुक थे। इस उद्देश्य से सम्पूर्ण जर्मनी के उदार नेताओं ने फ्रांकफोर्ट नामक नगर में एक राष्ट्रीय महासभा का संगठन किया। इसमें कुल मिलाकर ५६८ प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। १७ मई १८४८ को फॉन गागर्न नामक राष्ट्रीय नेता के सभापतित्व में महासभा का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। अपने प्रारम्भिक भाषण में फॉन गागर्न ने उद्घोषित किया कि हम लोग यहाँ पर सम्पूर्ण जर्मनी के लिये एक शासन-विधान का निर्माण करने के लिये एकत्रित हुए हैं। राज्य की स्वामित्व शक्ति वस्तुतः जनता में निहित है, और हम लोगों ने राज्य के भाग्यनिर्णय का अधिकार जनता से ही प्राप्त किया है। महासभा के मुख्यतया दो दल थे, एक दल वैध और लोकतन्त्र राजसत्ता का पक्षपाती था और दूसरा दल रिपब्लिक की स्थापना करना चाहता था। शासन-विधान का स्वरूप क्या हो, जनता

के आधारभूत अधिकार कौन से निश्चित किये जावें—इन बातों की बहस में असाधारण देर लग गई। यह विलम्ब जर्मनी में नवीन प्रवृत्तियों की सफलता की दृष्टि से घातक थी। क्रान्ति का जोश ठण्डा पड़ रहा था। ज्यों ज्यों देर होती जाती थी, लोगों की दृष्टि में फ्रांकफोर्ट की राष्ट्रीय महासभा का महत्त्व भी कम होता जाता था। इसके अतिरिक्त, कुछ अन्य प्रश्न थे, जिनका निर्णय कर सकना बहुत कठिन था। अब तक जर्मन राज्यसंघ में सम्पूर्ण आस्ट्रिया सम्मिलित था। पर आस्ट्रियन राज्य में बहुत से ऐसे प्रदेश भी सम्मिलित थे, जिनके निवासी जर्मन जाति के नहीं थे। जर्मन राज्य संघ में उन प्रदेशों को संम्मिलित करना फ्रांकफोर्ट में एकत्रित देशभक्तों को समुचित प्रतीत नहीं होता था। अतः उन्होंने यह निर्णय किया कि नवीन जर्मन राज्य संघ में आष्ट्रिया के केवल उसी प्रदेश को सम्मिलित किया जावे, जिसमें जर्मन लोग बसते हों। यह निर्णय राष्ट्रीयता की दृष्टि से ठीक था, पर बड़ा ही अक्रियात्मक था। आष्ट्रिया का आधा हिस्सा राज्यसंघ में सम्मिलित हो और आधा न हो – यह व्यवस्था कभी काम न दे सकती थी। आष्ट्रिया का राजा भो इससे कभी संतुष्ट नहीं हो सकता था। अगला प्रश्न यह था–संगठित जर्मनी का सम्राट् कौन हो? अधिकांश लोग राजसत्ता के पक्षपाती थे, रिपब्लिक का पक्ष प्रबल नहीं था। अतः यह भी निर्णय करना आवश्यक था कि सम्राट् के पद पर किसे अधिष्ठित किया जावे ? इस ऊँचे पद के लिये दो उम्मीदवार थे—प्रशिया का राजा और आस्ट्रिया का सम्राट्। आस्ट्रिया को नाराज कर, आखिर यह फैसला किया गया कि प्रशिया के राजा को जर्मन राज्यसंघ का सम्राट् बनाया जावे। परन्तु जब यह निर्णय प्रशियन राजा के सम्मुख पेश किया गया, तो वह संतुष्ट नहीं हुआ। उसने क्रोध में भरकर कहा—मैं असली राजमुकुट चाहता हूँ, फ्रांस के लुई फिलिप की तरह गन्दी नाली से उठाकर मुकुट को सिर पर रख लेना मुझे

पसन्द नहीं है।' प्रशिया का राजा नहीं चाहता था, कि जनता के वोटों से, जनता की इच्छा से इस बात का फैसला हो कि वह सम्राट् बने। वह अपने बाहुबल से सम्राट् बनना चाहता था। मध्यकाल की यही गौरवमयी 'वीरता' थी।

असफलता — प्रशिया के राजा ने केवल इतना ही नहीं किया। यदि वह सम्राट् बनने से इन्कार कर देता, तो कोई बड़ी बात न होती। पर उसने क्रांति तथा नई प्रवृत्तियों का खुल्लम-खुल्ला विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। पिछले दिनों प्रशियां में जो नवीन सुधार किये गये थे, वे सब वापिस ले लिये गये। प्रतिक्रिया शुरू हो गई। अन्य जर्मन राज्यों ने प्रशिया का अनुसरण किया। सभी जगह क्रांति को कुचलने का प्रयत्न प्रारम्भ हो गया।

प्रतिक्रिया का प्रारम्भ — फ्रांकफोर्ट की राष्ट्रीय महासभा परेशान थी। बना-बनाया खेल बिगड़ रहा था। साल भर की मेहनत व्यर्थ हो रही थी। क्रांतिकारियों के सम्मुख अब कोई मार्ग न था। जर्मनी में लोकसत्तावाद तथा राष्ट्रीय एकता को स्थापित करने में उन्हें भारी असफलता हो रही थी। निराश होकर उन्होंने विद्रोह का आश्रय लेने का निश्चय किया। अनेक स्थानों पर गदर हुए। पर प्रशिया की सेना उन्हें कुचल देने के लिये उद्यत थी। सेना ने बुरी तरह विद्रोहों को शान्त किया। इतना ही नहीं, प्रशियन सरकार ने हुकुम दिया कि राष्ट्रीय महासभा के प्रशियन प्रतिनिधि वापिस चले आवें। अन्य अनेक राज्यों ने प्रशिया का अनुकरण किया। राष्ट्रीय महासभा टूट गई। केवल १०५ प्रतिनिधि शेष रहे। इन लोगों ने फ्रांकफोर्ट को छोड़कर स्टुटगार्ट में अपना कार्य प्रारम्भ किया। पर वहाँ भी वे आराम से न बैठ सके। वुर्टम्बर्ग के राजा ने अपनी सेना को हुकुम दिया कि इस 'राष्ट्रीय महासभा' को भंग कर दें। १८ जून, १८४८ को 'महासभा' के अवशिष्ट प्रतिनिधियों को भी

तितर-बितर कर दिया गया। जर्मनी की नवीन प्रवृत्तियाँ फ्रांकफोर्ट की राष्ट्रीय महासभा के रूप में संगठित होकर प्रगट हुई थीं। उन्हें बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त हो रही थी। पर पुराना जमाना अभी बहुत प्रबल था। वह विजयी हुआ। प्रशिया का एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन आखिर इन प्रवृत्तियों को नष्ट करने में पूर्णतया सफल हुआ।

१८४८ की क्रान्ति की लहर के बाद भी सम्पूर्ण जर्मनी में एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन कायम रहे। राष्ट्रीय एकता की तरफ जो पग बढ़ाया गया था, वह भी सफल नहीं हुआ। पर इसमें सन्देह नहीं कि नई प्रवृत्तियों की भावी सफलता के लिये मैदान तैयार हो गया। यह नहीं समझना चाहिये कि १८४८ की क्रांति जर्मनी में सर्वथा असफल रही, या फ्रांकफोर्ट की राष्ट्रीय महासभा ने कोई कार्य नहीं किया। हम देखेंगे कि कुछ समय बाद ही जर्मनी राष्ट्रीय दृष्टि से एक हो गया और स्वाधीनता तथा लोकतन्त्र की ओर भी पर्याप्त रूप से अग्रसर हुआ। यह सब इतनी सुगमता से न हो सकता, यदि १८४८ की घटनायें उसके लिये मार्ग साफ न कर देतीं।

(४) इटली में क्रान्ति की लहर

सम्पूर्ण इटली में क्रान्तियाँ—यह बात पहले स्पष्ट की जा चुकी है कि वीएना की कांग्रेस के बाद उत्तरीय इटली के अधिकांश भाग पर आस्ट्रिया का आधिपत्य था। इटालियन लोग न केवल स्वाधीनता के लिये प्रयत्न कर रहे थे, अपितु राष्ट्रीय एकता की स्थापना भी उनका प्रधान उद्देश्य था। मैटरनिख के पतन के बाद इटालियन देशभक्तों में अपूर्व उत्साह और साहस का संचार हुआ। सबसे पहले, मिलन में विद्रोह हुआ। मिलन नगरी से आस्ट्रियन सेना को परास्त कर बाहर निकाल दिया गया। धीरे धीरे सम्पूर्ण लॉम्बार्डी आस्ट्रियन सेनाओं तथा कर्मचारियों से खाली हो गया।

मिलन का अनुसरण वेनिस ने किया। वेनेटियन लोग विद्रोह के लिये सन्नद्ध हो गये। एक बार फिर वेनिस की प्राचीन रिपब्लिक का उद्धार हुआ। सार्डिनिया के राजा चार्ल्स एल्बर्ट ने मिलन और वेनिस के विद्रोहों में क्रान्तिकारियों की सहायता की। क्रांति उत्तरीय इटली तक ही सीमित न रही। धीरे धीरे सम्पूर्ण इटली विद्रोहाग्नि से उद्दीप्त हो गया। नेपल्स, रोम, टस्कनी और पीड्मोन्ट—सब स्थानों पर जनता ने विद्रोह किये। नवीन शासन-विधानों की स्थापना की गई। सर्वत्र वैध राजसत्ता के सिद्धांत की विजय दृष्टिगोचर होने लगी। इतना ही नहीं, राष्ट्रीय एकता के लिये भी उद्योग किया गया। सार्डिनिया के राजा को संगठित इटालियन राष्ट्र का नेता स्वीकृत किया गया। पोप पायस दशम और नेपल्स का बोर्बों वंशी राजा भी राष्ट्रीय भावना की लहर में बहकर सार्डिनिया के राजा को इटली का नेता मानने के लिये उद्यत हो गये। कुछ देर के लिये नजर आने लगा कि इटली की सब राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षायें पूर्ण होकर रहेंगी।

आस्ट्रिया के साथ युद्ध—परन्तु अभी उपयुक्त समय नहीं आया था। पुराना जमाना अभी बहुत प्रबल था। आस्ट्रियन सेनायें कुछ देर के लिये परास्त अवश्य हो गई थीं, पर उत्तरीय इटली से सदा के लिये उन्हें खदेड़ सकना सुगम कार्य नहीं था। आस्ट्रियन सेनापति राडेट्स्की काड्रिलेटरल नामक स्थान पर आश्रय लेकर इटालियन विद्रोह को शान्त करने की तैयारियाँ कर रहा था। यदि इटालियन लोग वस्तुतः मिलकर उसका मुकाबला करते, तो उनकी सफलता निश्चित थी। पर वास्तविक एकता अभी उत्पन्न नहीं हुई थी। सार्डिनिया का राजा चार्ल्स एल्बर्ट अकेला आस्ट्रिया को परास्त नहीं कर सकता था। यद्यपि कुछ समय के लिये ऐसा प्रतीत होता था कि इटली में राष्ट्रीय एकता की स्थापना हो गई है, पर आस्ट्रिया के साथ युद्ध आरम्भ होते ही वह क्षणिक एकता काफूर की तरह उड़ गई। पोप

पायस दशम ने कहा—हमारा काम शान्ति स्थापित करना है, युद्ध नहीं। आस्ट्रिया रोमन कैथोलिक चर्च का सबसे पक्का मित्र है, हम उससे किसी भी दशा में लड़ाई नहीं कर सकते। नेपल्स के राजा ने भी पीठ फेर ली। टस्कनी ने भी सहायता करने से इन्कार कर दिया। अब आस्ट्रिया की शक्तिशाली सेनाओं का मुकाबला करनेवाले रह गये—सार्डिनिया, लाम्बार्डी, वेनेटिया, परमा और मोडेना। इनके लिये आष्ट्रिया का मुकाबला कर सकना सुगम नहीं था। चार्ल्स एल्वर्ट के नेतृत्व में उन्होंने बड़ी वीरता से आष्ट्रिया का मुकाबला किया। आखिर, वे परास्त हुए और एल्वर्ट को सन्धि करने के लिये बाधित होना पड़ा।

रोम में क्रांति—इस बीच में क्रान्ति की प्रवृत्ति इटली में निरन्तर प्रबल होती जाती थी। फ्लोरेन्स में रिपब्लिक की स्थापना की गई। खास रोम में विद्रोह हुआ। पोप का शासनाधिकारी रोस्सी कतल कर दिया गया। पायस दशम भाग खड़ा हुआ। उसे नेपल्स के राजा के यहाँ शरण लेने को बाधित होना पड़ा। १८४९ के फरवरी मास में रोम में राष्ट्रीय महासभा बुलाई गई और पोप के शासन का अन्त कर रिपब्लिक की उद्घोषणा कर दी गई।

असफलता—उधर सार्डिनिया के राजा और आस्ट्रिया में सन्धि देर तक कायम न रह सकी। मार्च १८४९ में फिर युद्ध प्रारम्भ हो गया। पर यह युद्ध देर तक जारी न रहा। ५ दिन में ही फैसला हो गया। २३ मार्च के दिन नोवारा के रणक्षेत्र में एल्बर्ट की बुरी तरह पराजय हुई। उसने निराश होकर अपने लड़के विक्टर एमेनुअल द्वितीय के पक्ष में राजगद्दी का परित्याग कर दिया। भविष्य में यही विक्टर एमेनुअल द्वितीय इटली की राष्ट्रीय एकता का संस्थापक हुआ। पर अब कुछ समय के लिये राष्ट्रीय एकता तथा स्वाधीनता के सब प्रयत्न असफल हुए। विजयी आस्ट्रियन सेनाओं ने सम्पूर्ण

इटली में क्रान्ति का विनाश किया। मिलन, वेनिस, फ्लारेन्स तथा रोम में जिन नवीन रिपब्लिकन राज्यों की स्थापना हुई थी, उन सबको नष्ट कर पुराने एकतन्त्र शासन को स्थापित किया गया। रोम, टस्कनी और वेनिस के पुराने शासनों का पुनरुद्धार हुआ। जिन राज्यों में नवीन शासन-विधान बनाये गये थे, उन सबको नष्ट कर दिया गया। पर आष्ट्रिया की सम्पूर्ण शक्ति विक्टर एमेनुअल द्वितीय के राज्य से नवीन शासन विधान को नष्ट न कर सकी। सार्डिनिया और पीडमौन्ट के इस नये राजा ने नवीन शासन-विधान को कायम रखा। इस राजा ने न केवल नवीन शासन-विधान को नष्ट नहीं किया, पर साथ ही इटली भर के उदार विचारों के लोगों को अपने दरबार में आश्रय प्रदान किया। इसका दरबार उदार तथा नवीन प्रवृत्तियों का एक महत्त्वपूर्ण आश्रय स्थान बन गया। इटालियन देशभक्त आशा करते थे कि यह राजा उनका उद्धार करेगा। निस्सन्देह, वे निराश नहीं हुए। किस प्रकार विक्टर एमेनुअल द्वितीय ने उनकी आशाओं को पूर्ण किया, इस पर हम आगे चलकर प्रकाश डालेंगे।

क्या १८४८ की क्रांति इटली में असफल हो गई? यदि ऊपर से देखा जावे, तो निस्सन्देह वह सफल नहीं हुई। पर यदि गम्भीर दृष्टि से विचार करें, तो उसने इटली की भावी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये मार्ग तैयार कर दिया—यह कोई कम बात न थी।

(५) अन्य देशों पर क्रान्ति का प्रभाव

इङ्गलैण्ड में चार्टिस्ट आन्दोलन—यूरोप का शायद ही कोई देश ऐसा रहा हो, जिस पर १८४८ की क्रान्ति की लहर ने प्रभाव न डाला हो। इङ्गलैण्ड में शासन-सुधार के लिये जो आन्दोलन चल रहा था, १८४८ में उसे बहुत सहायता मिली। १८३२ में जो सुधार

किये गये थे, उनसे केवल मध्य-श्रेणि के लोगों को ही अधिकार प्राप्त हुए थे। सर्वसाधारण जनता—किसानों और मजदूरों को उनसे कोई भी लाभ नहीं पहुँचा था। इसलिये १८४८ से पूर्व ही और अधिक शासन सुधार के लिये आन्दोलन प्रबल हो रहा था। १८३८ में 'चार्टिस्ट आन्दोलन' के नाम से एक नवीन आन्दोलन प्रारम्भ किया गया था। फ्रांसिस प्लेस नामक आदमी ने सुप्रसिद्ध मैग्ना चार्टा के अनुकरण में एक नवीन चार्टर तैयार किया। इस चार्टर में मुख्य रूप से निम्नलिखित बातों की माँग की गई थी—वोट देने का अधिकार सम्पूर्ण पुरुष-जनता को दिया जाय। वोट गुप्त पर्चियों (वेलट) द्वारा दिये जावें। पार्लियामेन्ट के चुनाव के लिये देशों को ऐसे निर्वाचक-मण्डलों में विभक्त किया जावे, जिनसे एक एक प्रतिनिधि निर्वाचित हों। 'हाउस आफ कामन्स' का सदस्य बनने के लिये सम्पत्ति की शर्त उड़ा दी जावे और सदस्यों को निश्चित वेतन दिया जावे। १८३९ में श्रमी लोगों की एक पार्लियामेन्ट लण्डन में हुई। इसमें एक प्रार्थनापत्र तैयार किया गया, जिस पर १२ लाख लोगों के हस्ताक्षर थे। इस प्रार्थनापत्र में देश की पार्लियामेन्ट से प्रार्थना की गई थी कि चार्टर की माँगों को स्वीकृत किया जावे। प्रार्थनापत्र को स्वीकृत करने का प्रश्न तो दूर था, हाउस आफ कामन्स ने उस पर विचार तक नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि सार्वजनिक सभाओं और अखबारों द्वारा चार्टर का आन्दोलन निरन्तर जारी रहा। १८४२ में एक अन्य प्रार्थनापत्र तैयार हुआ, इस पर तीस लाख आदमियों के हस्ताक्षर कराये गये थे। इससे भी कोई फायदा नहीं हुआ।

विशाल प्रार्थनापत्र—यह स्थिति थी, जब १८४८ में फ्रांस से राज्यक्रान्ति की नवीन लहर प्रारम्भ हुई। इङ्गलैण्ड में चार्टिस्ट लोग पहले से ही शासन-सुधार का आन्दोलन कर रहे थे। उनका संगठन बहुत दृढ़ था। सब मिलकर ५०० के लगभग चार्टिस्ट सोसायटियाँ

इङ्गलैण्ड में स्थापित थीं। इनके सदस्यों की संख्या भी ५० हजार के लगभग थी। यूरोप की क्रान्तियों का समाचार सुनकर इनके उत्साह का ठिकाना न रहा। ये लोग भी कुछ कर दिखाने के लिये उतावले हो उठे। बड़ी-बड़ी सभाओं की आयोजना की गई। आन्दोलन को अत्यन्त प्रचण्ड रूप दे दिया गया। १० एप्रिल १८४८ को लण्डन में एक बहुत बड़ी सभा बुलाई गई। कहते हैं, इसमें पाँच लाख आदमी सम्मिलित हुए। एक तीसरा प्रार्थनापत्र तैयार किया गया, उस पर ६० लाख आदमियों के हस्ताक्षर कराये गये। इतने लोगों के हस्ताक्षर करा सकना हँसी मखौल की बात न थी। सारे देश में प्रचण्ड आन्दोलन हो रहा था। लोग समझते थे, पता नहीं क्या होनेवाला है। एक बहुत बड़े जुलूस की योजना की गई। पर उस समय के प्रधान मन्त्री वेलिङ्गटन के ड्यूक ने इसे रोक दिया। सरकार की ओर से अतिरिक्त पुलिस संगठित की गई। विशेष सिपाही भर्ती किये गये। इन सिपाहियों की संख्या १ लाख ७० हजार तक पहुँच गई। सरकार की इस भारी ताकत का मुकाबला कर सकना चार्टिस्ट लोगों के लिये कठिन था। वे घबरा गये। जुलूस नहीं निकल सका। पर तीसरा प्रार्थनापत्र पार्लियामेण्ट के सम्मुख पेश किया गया। कहते हैं, यह प्रार्थनापत्र ६० लाख दस्तखतों के कारण इतना बड़ा हो गया था, कि इसे ढोने के लिये ६ गाड़ियों की जरूरत हुई थी।

असफलता—विवेचना के बाद मालूम हुआ कि प्रार्थनापत्र में बहुत से हस्ताक्षर जाली थे। इससे चार्टिस्ट लोग बहुत बदनाम हो गये। उनका आन्दोलन धीमा पड़ गया। चार्टिस्ट आन्दोलन एक बुलबुले की तरह उठा था, बुलबुले की तरह ही वह फट भी गया। यूरोप के अन्य देशों की तरह इङ्गलैण्ड में भी खून-खराबी नहीं हुई। पर इसमें सन्देह नहीं, कि १८४८ में इङ्गलैण्ड में भी क्रान्ति का भारी तूफान खड़ा हुआ था। सरकार के मजबूत हाथों ने उसे शान्त कर दिया। पर चार्टिस्ट लोगों की जो वास्तविक माँगें थीं, उनका पूर्ण होना

आवश्यक था। कुछ वर्षों बाद ही वे सब क्रिया में परिणत हो गईं। इङ्गलैण्ड के शासन-विधान के विकास पर हम एक पृथक् अध्याय में विशेषरूप से प्रकाश डालेंगे।

हालैण्ड में शासन-सुधार—क्रान्ति की लहर ने हालैण्ड पर भी प्रभाव डाला। जनता की माँग थी कि शासन में सुधार किया जावे। आखिर, राजा विलियम द्वितीय को लोकमत के सम्मुख सिर झुकाने के लिये बाधित होना पड़ा। एक कमीशन नियत किया गया, जिसे शासन में सुधार करने का कार्य सुपुर्द किया गया। इस कमीशन ने जो नवीन शासन-विधान बनाकर तैयार किया, उस द्वारा एकतन्त्र शासन को वैध राजसत्ता के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। इस नये शासन-विधान को जनता से स्वीकृत कराने के लिये राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन बुलाया गया। महासभा ने नवीन शासन-विधान को स्वीकृत कर लिया और नवम्बर १८४८ से वह क्रिया में परिणत भी हो गया। नये शासन-विधान में मन्त्रिमण्डल को राष्ट्रपति-निधिसभा के प्रति उत्तरदायी बनाया गया। धार्मिक विश्वासों और पूजा-पाठ की सब लोगों को स्वतन्त्रता दी गई। जनता के जन्म-सिद्ध अधिकार उद्घोषित किये गये। परिणाम यह हुआ कि हालैण्ड एक लोकतंन्त्र वैध राजसत्ता के रूप में परिवर्त्तित हो गया।

स्विटजरलैण्ड—हालैण्ड की तरह स्विटजरलैण्ड में भी १८४८ में शासन-विधान में महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन किये गये। इससे पूर्व वहाँ पर जो शासन-विधान विद्यमान था, वह १८१५ में बना था। स्विटजरलैण्ड के सम्पूर्ण प्रदेशों (कैन्टनों) में शासनसूत्र कुछ अमीर लोगों के हाथ में था। जनता उससे सर्वथा असंतुष्ट थी। उदार विचारों के लोग उसको परिवर्तित करने के लिये आन्दोलन कर रहे थे। यही नहीं, वहाँ धार्मिक प्रश्न भी बड़ा विकट था। रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट लोगों में सख्त विरोध था। लूसर्न, उरी

और जुग—इन तीन कैन्टनों ने, जिनमें कि रोमन कैथोलिक लोगों की बहुसंख्या थी, शेष देश से पृथक् होकर एक अलग कैथोलिक संघ का संगठन कर लिया था। उदार और राष्ट्रीय विचारों के लोग इससे बहुत चिन्तित थे। आखिर कैथोलिक संघ से लड़ाई करके उसे परास्त किया गया और १८४८ में समस्त देश को नये सिरे से संगठित कर नवीन शासन-विधान की स्थापना की गई। स्विटजरलैण्ड में जो शासन-विधान वर्त्तमान समय में प्रचलित है, उसका प्रधान ढाँचा १८४८ के क्रान्तिकारी साल में ही तैयार किया गया था।

डेन्मार्क—१८४८ की क्रांति की लहर ने डेन्मार्क पर भी प्रभाव डाला। वहाँ पर भी शासन सुधार किये गये और राजसत्ता को अनेक अंशों में लोकमत के अधीन किया गया।

अन्य प्रभाव—स्पेन, पोलैण्ड और आयर्लैंण्ड भी क्रांति की लहर से अछूते नहीं बचे। पोलैण्ड में अनेक स्थानों पर विद्रोह हुए, पर वे बहुत मामूली किस्म के थे। उनसे लोगों की स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। आयर्लैंण्ड में भी विद्रोह हुआ, पर इङ्गलिश लोगों ने उसे बड़ी सुगमता से शान्त कर दिया।

इतना ही नहीं, क्रांति की लहर ने अटलांटिक सागर पार कर अमेरिका पर भी असर डाला। वहाँ दास-प्रथा को अन्त करने के लिये जो आन्दोलन चल रहा था, क्रांति की लहर से वह बहुत प्रचण्ड हो गया।

१८४८ में क्रान्ति की जो लहर उठी थी, वह सम्पूर्ण यूरोप पर एक प्रचण्ड तूफान के रूप में व्याप्त हो गई थी। सारा यूरोप उससे एक भयंकर भूकम्प के समान हिल गया था। शक्तिशाली सम्राटों के राजसिंहासन डावाँडाल हो गये थे, सदियों से दृढ़मूल विशेषाधिकारों और विषमताओं को भारी आघात पहुँचा था। परन्तु फिर भी प्रायः सभी देशों में क्रान्ति असफल रही। पुराने जमाने की संस्थायें और

स्वेच्छाचारी राजशक्ति क्रान्ति को कुचलने में समर्थ रहीं। उस समय के लोग इससे क्या परिणाम निकालते थे? वे समझते थे, कुछ बिगड़े दिमाग हमेशा व्यवस्था और शान्ति को भंग करने के लिये उत्सुक रहते हैं। दुनिया तो हमेशा से ऐसे ही चली आ रही है, कुछ लोगों को शासन करना है, दूसरों को शासन में रहना है। बड़े लोग हमेशा बड़े ही रहेंगे। गरीब मजदूर उनका मुकाबला कैसे कर सकते हैं? पाँचों उँगलियाँ क्या कभी बराबर हो सकती हैं? निस्सन्देह, १८४८ की घटनाओं ने अन्ततोगत्वा इन विचारों को सत्य सिद्ध कर दिया। परन्तु वास्तविकता क्या थी? अब एक सदी गुजर जाने के बाद हम क्या देखते हैं? १८४८ के क्रान्तिकारी जो कुछ चाहते थे, वह सब कुछ तो क्रिया में परिणत हो ही चुका है, दुनिया उससे भी बहुत आगे बढ़ गई है। १८४८ के क्रान्तिकारी विचार आज अनेक अंशों में पिछड़े हुए लोगों के खयाल प्रतीत होते हैं। मानवीय उन्नति का यही क्रम है। १८४८ की क्रान्ति की लहर ने असफल होकर भी लोगों में एक नवीन दृष्टि, नवीन कल्पना और नवीन भावना को उत्पन्न कर दिया था। क्रान्ति का उद्दिष्ट स्थान अभी बहुत दूर था। वहाँ एक दौड़ में नहीं पहुँचा जा सकता था। पर उसके लिये हाथ-पैर हिलाना तो अनिवार्य ही था। १८४८ में एक बार जनता ने पूरी कोशिश के साथ उस ओर भागने की कोशिश की। पर उनके हाथ पैर पुराने जमाने की जंजीरों में जकड़े हुए थे। १७९३ और १८३० की तरह इस बार भी जनता की सम्पूर्ण शक्ति इन जंजीरों को तोड़ने में ही खर्च हो गई। पर क्या इन जंजीरों का तोड़ फेंकना और जरा देर के लिये हाथों-पैरों को खुले तौर पर हिला-डुला सकना साधारण बात थी? नहीं, क्रान्ति की यह भी मामूली सफलता नहीं थी।

चौबीसवाँ अध्याय

नैपोलियन तृतीय का साम्राज्य

(१) सम्राट् नैपोलियन तृतीय का अभ्युदय

लुई नैपोलियन का प्रारम्भिक जीवन—१८४८ की राज्य-क्रान्ति के बाद लुई नैपोलियन बोनापार्ट किस प्रकार फ्रेञ्च रिपब्लिक का राष्ट्रपति निर्वाचित हुआ, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। लुई नैपोलियन का जन्म सन् १८०८ में टुइलर्स के राजप्रासाद में हुआ था। उसका शैशवकाल बहुत ही आनन्द में व्यतीत हुआ था। उस समय में फ्रांस का भाग्यविधाता नैपोलियन बोनापार्ट था। बोनापार्ट परिवार के सब व्यक्ति ऊँचे से ऊँचे राजकीय सम्मान प्राप्त कर रहे थे। लुई नैपोलियन का लालन-पालन भी राजकुमारों के समान हुआ। पर उसके ये सुख-वैभव के दिन देर तक न रहे। वाटर्लू के रणक्षेत्र में परास्त होकर जब नैपोलियन का पतन हुआ; और पुराने बोर्बों राजवंश के आधिपत्य का पुनरुद्धार किया गया—तब बोनापार्ट परिवार के सब व्यक्ति अत्यन्त दुर्दशाग्रस्त हो गये। १८१६ में जब लुई नैपोलियन की आयु केवल ८ वर्ष की थी, उसे फ्रांस छोड़कर विदेशों में भागना पड़ा। उसके यौवन का अधिकांश भाग स्विटजरलैण्ड और जर्मनी में व्यतीत हुआ। अभी नैपोलियन बोनापार्ट का पुत्र "रोम का बादशाह" जीवित था। नैपोलियन के

सम्पूर्ण भक्त उसी को अपना नेता मानते थे । नैपोलियन इस नाम में एक अद्भुत जादू था। बहुत से लोग इस प्रकार के थे, जो फ्रांस में फिर नैपोलियन का आधिपत्य स्थापित करना चाहते थे। वे सब "रोम के बादशाह" को ही अपना नेता मानते थे । पर १८३२ में इस नैपोलियन द्वितीय या "रोम के बादशाह" की मृत्यु हो गई। अब नैपोलियन-दल का नेता और नेता लुई नैपोलियन बना। १८३२ के बाद १६ वर्ष तक वह निरन्तर फ्रांस का भाग्यविधाता बनने के लिये षड्यन्त्र करता रहा। वह बड़ा उत्तम लेखक था। अपने लेखों में वह सदा यही प्रदर्शित करता था कि मैं क्रांति का प्रबल पक्षपाती हूँ। नैपोलियन के नाम में एक अद्भुत जादू तो था ही, उसके अतिरिक्त लुई नैपोलियन के क्रांतिकारी विचारों ने उसे और भी अधिक लोकप्रिय बना दिया था । १८४० में नैपोलियन प्रथम के भौतिक अवशेष सेन्ट हेलेना से पेरिस लाये गये। उस समय सम्पूर्ण फ्रांस में असाधारण रूप से उत्साह तथा जोश का संचार हुआ। जनता वीरों की हमेशा पूजा करती है। नैपोलियन के गौरवमय कृत्यों को फ्रेञ्च लोग कैसे भुला सकते थे। उन्होंने अपने राष्ट्रीय वीर की अस्थियों के प्रति असाधारण सम्मान और श्रद्धा का परिचय दिया । इस दशा में से लुई नैपोलियन का महत्त्व बढ़ गया। प्रथम नैपोलियन की महत्ता से उसके भतीजे ने भी लाभ उठाया। लुई नैपोलियन भी वीरों की तरह पुजने लगा। आखिर, अपने राज्य शासन की रक्षा के लिये उस समय के राजा लुई फिलिप ने यह आवश्यक समझा कि लुई नैपोलियन को जेल में डाल दिया जावे। कैद होने से लुई नैपोलियन का महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया। लोग उसे शहीद समझने लगे। १८४६ में वेश बदलकर वह कैद से भाग निकला और इङ्गलैण्ड जा पहुँचा।

द्वितीय फ्रेञ्च रिपब्लिक का राष्ट्रपति—वहाँ वह उपयुक्त

अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था। १८४८ में जब फ्रांस में राज्यक्रांति हुई, तब वह अपने देश वापिस लौट आया और क्रांतिकारियों में सम्मिलित हो गया। राष्ट्रीय महासभा में वह चार स्थानों से प्रतिनिधि चुना गया था—यह उसकी लोकप्रियता का अच्छा प्रमाण है। राष्ट्रपति के लिये वह उमीदवार खड़ा हुआ। नैपोलियन दल तो उसका समर्थक था ही, रिपब्लिकन दल के बहुत से लोग भी उसी के पक्ष में थे। परिणाम यह हुआ कि निर्वाचन में उसे असाधारण सफलता हुई। अपने सुप्रसिद्ध चचा नैपोलियन बोनापार्ट की तरह वह भी फ्रेञ्च रिपब्लिक का राष्ट्रपति बन गया।

२ दिसम्बर १८५१ का षड्यन्त्र—राष्ट्रपति बनकर नैपोलियन तृतीय अपनी वैयक्तिक स्थिति को सुदृढ़ करना चाहता था। इसके लिये आवश्यक था, कि सब लोगों को संतुष्ट किया जावे। फ्रांस की अधिकांश जनता रोमन कैथोलिक धर्म को माननेवाली थी। इसलिये जब रोम में पोप के विरुद्ध जनता ने विद्रोह किया, तब उसने पोप की सहायता की। इसके अतिरिक्त, कैथोलिक लोगों को संतुष्ट करने के लिये उसने शिक्षा का कार्य पादरियों के सुपुर्द कर दिया। उस समय फ्रांस में मजदूरों का बहुत जोर हो रहा था, अतः उन्हें संतुष्ट किये बिना भी कार्य नहीं चल सकता था। मजदूरों को खुश करने के लिये लुई नैपोलियन ने अनेक विध कानूनों का निर्माण किया। वृद्धावस्था में मजदूरों के लिये पेन्शिन तक की व्यवस्था की गई। मध्यश्रेणी के लोगों को संतुष्ट करने के लिये व्यापार और व्यवसाय के संरक्षण को दृष्टि में रख कर अनेक व्यवस्थायें की गईं। इस प्रकार अपनी स्थिति को मजबूत कर उसने शासन-विधान में ऐसे परिवर्तन कराने का उद्योग प्रारम्भ किया, जिनसे कि वह दुबारा फिर राष्ट्रपति निर्वाचित हो सके। परन्तु राष्ट्रप्रतिनिधि सभा ने इसे स्वीकृत नहीं किया। जब नैपोलियन ने देखा कि अन्य कोई उपाय नहीं है, तब उसने स्वयं

कानून का उल्लंघन कर षड्यन्त्र करने का निश्चय किया। २ दिसम्बर, १८५१ के दिन प्रातःकाल जब लोग सोकर उठे, तो उन्होंने देखा कि पेरिस की सब गलियों में दीवारों पर बड़े-बड़े इश्तिहार लगे हुए हैं, जिनमें कि नैपोलियन तृतीय ने उद्घोषणा की है कि राष्ट्रप्रतिनिधि-सभा को बर्खास्त किया जाता है और वोट देने का अधिकार सब लोगों को दिया जाता है। राष्ट्रप्रतिनिधि सभा के एक कानून ने वोट का अधिकार बहुत सीमित कर दिया था। जो लोग टैक्स देते थे, वे ही वोट का हक रखते थे। इस कानून से सर्वसाधारण जनता में बहुत असन्तोष फैला हुआ था। नैपोलियन ने इसी असन्तोष से लाभ उठाया और सब लोगों को वोट का अधिकार देकर जनता की सहानुभूति को प्राप्त कर लिया। सार्वजनिक मताधिकार की उद्घोषणा के अनन्तर नैपोलियन ने जनता से यह आवेदन किया था, कि नवीन शासन-विधान तैयार करने का कार्य मुझे सुपुर्द किया जावे।

इस इश्तिहार के साथ ही गिरफ्तारियों का सिलसिला प्रारम्भ कर दिया गया। २७ हजार के लगभग रिपब्लिकन नेताओं को गिरफ्तार किया गया या देशनिकाला दिया गया। इस कार्यवाही से जब पेरिस में विद्रोह हुआ, तो सेना को बुलाया गया। विद्रोहियों पर निर्दयता से गोलाबारी की गई। १५० से अधिक आदमी गोली से उड़ा दिये गये। नैपोलियन तृतीय का षड्यन्त्र सफल हो गया। सेना पहले से ही उसके काबू में थी। कोई आदमी उसका विरोध नहीं कर सका। जिसने जरा भी आवाज उठाई, उसे कुचल दिया गया।

इसके बाद नैपोलियन ने जनता के वोट के लिये निम्नलिखित प्रस्ताव उपस्थित किया—फ्रेञ्च जनता की इच्छा है कि लुई नैपोलियन वोनापार्ट का आधिपत्य कायम रहे और जनता उसे अधिकार देती है कि २ दिसम्बर १८५१ की उद्घोषणा के आधार पर नवीन शासन-

विधान का निर्माण करे।" २१ वर्ष से अधिक आयु के प्रत्येक फ्रेञ्च पुरुष को इस प्रस्ताव के पक्ष या विपक्ष में वोट देने का अधिकार दिया गया। ७७ लाख ४० हजार वोट प्रस्ताव के पक्ष में आये और ६ लाख ४६ हजार विरोध में। इस वोट का परिणाम यह हुआ कि लुई नैपोलियन बोनापार्ट फ्रांस का एकमात्र भाग्यविधाता बन गया।

नवीन शासन-विधान का निर्माण—जनवरी १८५२ में नवीन शासन-विधान तैयार हुआ। नैपोलियन को ४ वर्ष के स्थान पर १० वर्ष के लिये राष्ट्रपति नियत किया गया। उसे यह भी अधिकार प्राप्त हुआ कि वह अपना मन्त्रिमण्डल स्वयं नियत करे। व्यवस्थापन विभाग में तीन सभायें रखी गईं—(१) राज्य-परिषद्—इसके सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जावे और यह कानून तैयार करने का काम करें। (२) व्यवस्थापिका सभा इसके सदस्यों की संख्या २५० हो और इन्हें निर्वाचित करने के लिये सम्पूर्ण पुरुष जनता को वोट का अधिकार प्राप्त हो। यह सभा प्रस्तावित कानूनों पर बहस करे और उन पर अपना मत निश्चित करे। (३) सीनेट—इसके सदस्य भी राष्ट्रपति द्वारा जन्म भर के लिये नियत किये जावें और इनका कार्य इस बात का खयाल रखना हो कि कोई कानून शासन-विधान के विरुद्ध स्वीकृत न हो सके। इस शासन-विधान में वास्तविक राज्यशक्ति राष्ट्रपति के हाथों में दे दी गई थी। तीन सभाओं में से दो के सदस्यों की नियुक्ति उसी के अधीन थी। लुई नैपोलियन को अपनी मनमानी करने का पूर्ण अवसर था। दस साल के लिये उसकी गद्दी सुरक्षित थी। उसे पूछनेवाला कोई न था। मन्त्रियों को उसे नियत करना था। अधिकांश व्यवस्थापक उसे नियत करने थे। वह फ्रांस का एकमात्र भाग्य-विधाता बन गया था।

सम्राट् नैपोलियन तृतीय—परन्तु नैपोलियन तृतीय इससे

संतुष्ट नहीं था। अभी एक कसर बाकी थी। अभी वह सम्राट् नहीं बना था। उसकी माता बचपन से ही उसे कहा करती थी—जिस नाम के साथ बोनापार्ट लगा होता है, वह संसार में कोई असाधारण काम कर दिखाने के लिये उत्पन्न होता है। लुई नैपोलियन अपने चचा का अनुकरण करने के लिये उत्सुक था। वह राष्ट्रपति न रहकर सम्राट् बनना चाहता था। वास्तविक शासन शक्ति उसके हाथ में ही आ चुकी थी, एक कदम और शेष था; उसके लिये भी उपयुक्त अवसर प्राप्त होने में देर नहीं लगी।

१८५२ में शासन-सूत्र को अपने हाथों में करके लुई नैपोलियन ने सम्पूर्ण फ्रांस की यात्रा की। सब जगह उसका बड़ी धूमधाम के साथ स्वागत हुआ। अनेक समाचार-पत्रों के संवाददाता उसके साथ थे। यात्रा के समाचार बड़े जोर शोर से अखबारों में छप रहे थे। उसके पक्षपाती संवाददाता बड़े विस्तार में संवाद अखबारों में प्रकाशित करवा रहे थे कि किस प्रकार स्थान स्थान पर लुई नैपोलियन का स्वागत हो रहा है, किस प्रकार जनता 'सम्राट् की जय' के नारों के साथ उसका अभिनन्दन कर रही है। वस्तुतः, 'नैपोलियन बोनापार्ट' इस नाम में ही कोई ऐसा जादू था, जिससे कि वह जहाँ कहीं भी पहुँचता था, लोग उसके दर्शनों के लिये एकत्रित हो जाते थे। असली नैपोलियन अब नहीं था, पर उसकी छाया मौजूद थी। इस यात्रा के बाद १ दिसम्बर १८५२ को नैपोलियन ने सीनेट के सम्मुख भाषण करते हुए कहा कि जनता की वास्तविक इच्छा यह है कि मुझे सम्राट् नियुक्त किया जावे। सीनेट में यह प्रस्ताव स्वीकृत होते देर नहीं लगी। इसके बाद सम्पूर्ण फ्रेञ्च जनता की सम्मति इस प्रस्ताव पर ली गई। ८० लाख से अधिक वोट प्रस्ताव के पक्ष में आये। नैपोलियन की हार्दिक आकांक्षा पूर्ण हुई। फ्रांस में रिपब्लिक के स्थान पर फिर राजसत्ता स्थापित हो गई।

(२) लुई नैपोलियन का शासन

नैपोलियन तृतीय ने १८५२ से १८७० तक राज्य किया। यह काल फ्रांस के इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण है। शान्ति और व्यवस्था की दृष्टि से यह काल अद्वितीय था। फ्रेञ्च लोगों ने इस काल में असाधारण उन्नति की। यद्यपि इस उन्नति और समृद्धि का श्रेय नैपोलियन के कर्तृत्व को प्राप्त नहीं है, तो भी इसमें सन्देह नहीं कि उसके शासन की शान्ति और व्यवस्था ने इस सर्वतोमुखी उन्नति में बहुत कुछ सहायता दी। इस काल में देश का वास्तविक शासन नैपोलियन के अधीन था, पर लोकतन्त्र के शासन का ढोंग कायम रखा गया था। व्यवस्थापिका सभायें मौजूद थीं, लोगों को वोट का अधिकार प्राप्त था। लोकतन्त्र के पक्षपाती तथा उदार विचारों के लोग इससे संतुष्ट थे। पर धीरे-धीरे शासन की वास्तविकता का उन्हें बोध हुआ, वे सुधार के लिये आन्दोलन करने लगे। वे कहते थे, कि मन्त्रिमण्डल को सम्राट् के प्रति उत्तरदायी न होकर पार्लियामेन्ट के प्रति उत्तरदायी होना चाहिये। आखिर, वे अपने आन्दोलन में सफल हुए। नैपोलियन तृतीय के शासन के अन्तिम साल में, १८७० में यह महत्त्वपूर्ण सुधार कर दिया गया और मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी हो गया।

नैपोलियन के शासन में फ्रांस को बहुत उन्नति हुई। अनेक नये बैंक खुले। व्यापार और व्यवसाय बहुत बढ़े। रेल, सड़क, नहर आदि के निर्माण में बहुत से मजदूरों को कार्य मिला। जंगलात में उन्नति हुई। बहुत से नये जंगल लगवाये गये। नदियों पर पुल बनवाये गये। अनेक सार्वजनिक इमारतें खड़ी की गईं। दलदलों को सुखाने की योजना की गई। राजधानी पेरिस को सुन्दर तथा समृद्ध बनाने के लिये अनेक प्रकार से उद्योग किये गये। अनेक पार्कों और उद्यानों

की सृष्टि की गई। कृषि की उन्नति के लिये विशेष रूप से प्रयत्न हुआ। कृषि-सम्बन्धी शिक्षा का प्रसार करने के लिये देहातों में प्रारम्भिक कृषि विद्यालय स्थापित किये गये। अच्छे फल, अनाज और पशुओं के लिये विविध पारितोषिकों की व्यवस्था की गई। लोगों में खेती सम्बन्धी जानकारी को बढ़ाने के लिये अनेक कृषि-सभाओं का संगठन किया गया। इन सब प्रयत्नों का परिणाम यह हुआ कि खेती ने बहुत तरक्की की। किसानों की हालत कुछ से कुछ हो गई। उनके झोंपड़े मनुष्यों के लिये रहने लायक अच्छे नये ढंग के घरों के रूप में परिवर्तित हो गये।

मजदूरों की दशा सुधारने के लिये भी अनेक नियम बनाये गये। श्रमियों को अपने संघ बनाने का अधिकार है, यह बात कानून द्वारा स्वीकृत की गई। इससे पूर्व श्रमियों को अपने संघ तक बनाने का अधिकार प्राप्त न था। साथ ही, श्रमी लोग हड़ताल कर सकते हैं, यह अधिकार भी स्वीकृत किया गया कारखानों में काम करते हुए अगर कोई मजदूर घायल हो जावे, या मर जावे, तो उसके परिवारवालों की सहायता की उत्तरदायिता राज्य को अपने ऊपर लेनी पड़ती थी। मजदूरों में भी सहोद्योग समितियों को संगठित करने का प्रयत्न किया गया।

व्यापार और व्यवसाय की उन्नति के लिये भी प्रयत्न किया गया। सड़कों और रेलवे की उन्नति ने व्यापार में बहुत सहायता पहुँचाई। बैंकों के प्रसार से व्यवसाय के लिये पूँजी प्राप्त कर सकना सुगम हो गया। डाकखानों का विस्तार किया गया। फ्रांस से बाहर जानेवाले निर्यात माल की मात्रा १ अरब रुपये से भी ऊपर पहुँच गई। पेरिस के व्यापारी इस काल को 'व्यापार का सुवर्णिम युग' के नाम से पुकारते थे।

इस प्रकार फ्रांस आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त उन्नति कर रहा था। पर राजनीतिक स्वतन्त्रता की दृष्टि से फ्रांस बहुत पीछे रह गया था। लोगों

को लिखने, बोलने और मुद्रण की स्वतन्त्रता नहीं थी। अखबारों पर कड़ी निगाह रखी जाती थी। विश्वविद्यालय के अध्यापकों को नैपोलियन के प्रति भक्ति की शपथ लेनी पड़ती थी। इतिहास और दर्शनशास्त्र का अध्ययन नैपोलियन को पसन्द नहीं था। अनेक विश्वविद्यालयों में इनका अध्ययन ही बन्द कर दिया था। अध्यापकों को आज्ञा दी गई थी, कि वे अपनी मूँछों को मुँडा कर रखें, ताकि उनकी "शकलों से भी अराजकता का कोई निशान प्रगट न हो सके।" गुप्तचरों की शक्ति की कोई सीमा न रही थी। मनुष्यों का कोई भी कार्य गुप्तचरों से सुरक्षित न था। सरकार और सम्राट् की आलोचना करना भारी अपराध था। दो हजार से अधिक लोगों को केवल इसी अपराध पर कैद किया गया था, क्योंकि उन्होंने सरकार की आलोचना की थी।

नैपोलियन तृतीय ने अमेरिका में अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिये विशेष रूप से प्रयत्न किया था। १८६२ में नैपोलियन द्वारा भेजे हुए ३० हजार सैनिकों ने मैक्सिको पर आक्रमण किया। मैक्सिको जीत लिया गया और उस पर फ्रांस का कब्जा हो गया। पर यह कब्जा देर तक कायम नहीं रह सका। मैक्सिकन लोग मुकाबले के लिये तैयार हो गये और संयुक्त प्रदेश अमेरिका ने 'मुनरो-सिद्धान्त' की दुहाई देकर उसका विरोध किया। परिणाम यह हुआ कि मैक्सिको फ्रेंच अधीनता से स्वतन्त्र हो गया। इस प्रकार यद्यपि अमेरिका में नैपोलियन को असफलता हुई, पर एशिया में उसकी आकांक्षा पूर्ण हुई। कोचीनचायना और अनाम पर फ्रेंच अधिकार स्थापित करने में वह पूर्णतया सफल हुआ (१८५८)। १८६३ में कम्बोडिया को भी वह अपनी संरक्षा में ले आया।

इसमें सन्देह नहीं, कि नैपोलियन तृतीय कुशल और बुद्धिमान् शासक था। अपनी नीति-कुशलता और बुद्धिमत्ता से वह पर्याप्त सफलता के साथ शासन करने में समर्थ हुआ। उसके पतन के प्रधान कारण वैदेशिक युद्ध थे, जिनका हम अभी उल्लेख करेंगे।

(३) विदेशी युद्ध और पतन

जिन विदेशी युद्धों के कारण नैपोलियन तृतीय का पतन हुआ, उनका विशद रूप से वर्णन अगले अध्यायों में होगा। वे सब युद्ध इटली, आस्ट्रिया और जर्मनी के साथ सम्बन्ध रखते हैं और उनका विवरण इन देशों के इतिहास में ही अधिक उपयुक्त रहेगा। पर इस प्रकरण में भी उनका अत्यन्त संक्षेप के साथ उल्लेख कर देना अनुचित नहीं है।

नैपोलियन तृतीय की महत्त्वाकांक्षा थी कि अपने चचा का अनुकरण कर यूरोप के विदेशी मामलों में हस्तक्षेप करे। १८५४-६ के क्रीमियन युद्ध में उसने रशिया के विरुद्ध टर्की की सहायता की। इस युद्ध में फ्रांस के ७५ हजार सैनिक मारे गये, और सवा अरब रुपये खर्च हुए। पर फ्रांस को लाभ क्या हुआ ? कुछ नहीं। नैपोलियन यह गर्व अवश्य कर सकता था कि शान्तिपरिषद् का अधिवेशन उसकी छत्रछाया में पेरिस में हो रहा है। १८५९ में जब उत्तरी इटली ने आस्ट्रियन शासन के विरुद्ध विद्रोह किया, तब नैपोलियन ने इस शर्त पर इटली की सहायता करना स्वीकृत किया कि नीस और सेवाय के प्रदेश फ्रांस को दिये जायेंगे। ये दोनों प्रदेश उसे मिल गये, पर युद्ध की समाप्ति से पूर्व ही नैपोलियन युद्ध से अलग हो गया और परिणाम यह हुआ कि इटली और आस्ट्रिया दोनों ही उसके विरुद्ध हो गये। नैपोलियन तृतीय का मुख्य युद्ध प्रशिया के साथ हुआ। १८७० के इस फ्रेंको-प्रशियन युद्ध का वर्णन हम आगे चलकर विस्तार से करेंगे। यहाँ इतना लिखना पर्याप्त है कि बिस्मार्क के नेतृत्व में प्रशिया जर्मनी का जिस ढंग से संगठन कर रहा था, वह नैपोलियन को बिलकुल भी सह्य नहीं था। राइन नदी के समीपवर्ती प्रदेशों पर प्रशिया जैसे शक्तिशाली राज्य का प्रभाव स्थापित हो जावे,

यह बात नैपोलियन की दृष्टि में फ्रांस के लिये घातक थी। वह युद्ध के लिये उपयुक्त अवसर ढूँढ़ रहा था। जब किसी काम को करने के लिये इरादा बन चुका हो, तो उसके लिये बहाना ढूँढ़ने में देर नहीं लगती। नैपोलियन प्रशिया की बढ़ती हुई शक्ति को नष्ट करने के लिये तुला हुआ था। इसके लिये उसे शीघ्र ही उपयुक्त अवसर प्राप्त हो गया।

स्पेन की स्वेच्छाचारी साम्राज्ञी इसाबेला के विरुद्ध जनता ने विद्रोह कर उसे राज्यच्युत कर दिया था। स्पेनिश लोगों के सम्मुख प्रश्न यह था कि अब राजगद्दी पर किसे बिठाया जाय ? आखिर, उन्होंने प्रशिया के राजा के भाई लियोपोल्ड को इस पद के लिये निर्वाचित किया। ज्योंही नैपोलियन ने इस समाचार को सुना, वह आगबबूला हो गया। प्रशिया और स्पेन—दो शक्तिशाली राज्यों की राजगद्दी पर एक होहेन्टसोलर्न राजवंश का शासन हो—यह बात नैपोलियन कैसे कह सकता था ? उसने इस प्रस्ताव का सख्त विरोध किया। उसने उद्घोषणा की कि फ्रांस इस बात को कभी भी सह न सकेगा। नैपोलियन के विरोध का यह परिणाम हुआ, कि लियोपोल्ड ने स्वयमेव राजगद्दी की उम्मीदवारी का परित्याग कर दिया। पर नैपोलियन तो युद्ध के लिये तुला हुआ था। उसने उद्घोषित किया कि लियोपोल्ड की ओर से उम्मीदवारी का परित्याग कर देना ही मुझे संतुष्ट करने के लिये पर्याप्त नहीं है। प्रशिया को प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि भविष्य में कभी भी होहेन्टसोलर्न वंश का कोई कुमार स्पेन की राजगद्दी का उम्मीदवार नहीं होगा। निस्सन्देह नैपोलियन की यह ज्यादती थी। पर वह तो प्रशिया की शक्ति को नष्ट करने के लिये युद्ध का अवसर ढूँढ़ने को उत्सुक था। यह अवसर उसे प्राप्त हो गया। प्रशिया और फ्रांस—दोनों देशों में युद्ध की तैयारी होने लगी। फ्रेंको-प्रशियन युद्ध प्रारम्भ हो गया। प्रशिया युद्धनीति में बहुत अधिक उन्नति कर

चुका था। उसकी सेनायें बहुत रणकुशल तथा सधी हुई थीं। फ्रांस उनका मुकाबला नहीं कर सकता था। २ सितम्बर १८७० को सीडन के रणक्षेत्र में नैपोलियन तृतीय की बुरी तरह पराजय हुई। दो दिन बाद इस भयंकर पराजय का समाचार पेरिस पहुँचा। लोगों में सनसनी फैल गई। पार्लियामेंट का भवन उत्सुक जनता ने घेर लिया। 'रिपब्लिक की जय' के नारों से आकाश गूँज उठा। व्यवस्थापिका सभा में प्रस्ताव पेश किया गया कि नैपोलियन और उसके वंश को राज्यच्युत किया जावे। प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। गेम्बेटा नाम के रिपब्लिकन नेता के नेतृत्व में लोग एकत्रित हुए और तीसरी बार फ्रांस में रिपब्लिक की स्थापना की गई।

इस बीच में परास्त नैपोलियन तृतीय फ्रांस से भाग कर ग्रेट ब्रिटेन पहुँच गया था। उसका शेष जीवन वहीं पर व्यतीत हुआ।

नैपोलियन तृतीय के पतन के क्या कारण थे? उसका शासन एकतन्त्र और स्वेच्छाचारी था। लोकतन्त्र शासन का ढोंग कायम होते हुए भी यह सर्वथा स्पष्ट था कि जनता का शासन न होकर एक व्यक्ति फ्रांस का शासन कर रहा है। समय को देखते हुए यह बात देर तक सहन नहीं की जा सकती थी। यही कारण है, कि लोगों में असन्तोष के चिह्न प्रगट होने शुरू हो गये थे। इसके अतिरिक्त नैपोलियन तृतीय ने अपनी वैदेशिक नीति में भारी भूलें की थीं। इन्हीं भूलों का परिणाम था कि फ्रैंको-प्रशियन युद्ध में अन्य कोई भी देश उसकी सहायता के लिये अग्रसर नहीं हुआ था।

पच्चीसवाँ अध्याय

इटली की स्वाधीनता

नैपोलियन प्रथम के युद्धों के बाद इटली में राष्ट्रीय एकता की अनुभूति उत्पन्न हो चुकी थी। रोम का प्राचीन गौरव लोग अभी भूले न थे। किसी समय में इटली ने सभ्य ससार पर हुकूमत की थी। विद्या, विज्ञान, कला, संगीत, धर्म आदि सब क्षेत्रों में संसार इटली का सिक्का मानता था। इटालियन देशभक्त अपने इतिहास से भली भाँति परिचित थे। वे एक बार फिर अपने देश को संसार का शिरोमणि देखने को उत्सुक थे। नैपोलियन नें जब सम्पूर्ण इटली को जीतकर एक "इटालियन राज्य" की स्थापना की थी, तब इस विदेशी शासन से अन्य हानियाँ चाहे कितनी हा क्यों न हुई हों, पर यह लाभ भी अवश्य हुआ था कि इटालियन लोग भली भाँति अनुभव करने लग गये थे कि हम सब एक देश के वासी हैं और हम सबको एक राष्ट्र में ही संगठित रहना चाहिये। नैपोलियन के पतन के बाद प्रतिक्रिया का काल प्रारम्भ हुआ। वीएना की कांग्रेस में यूरोप की जिस प्रकार पुनः व्यवस्था की गई, उसमें जनता की इच्छा और राष्ट्रीय भावनाओं पर जरा भी ध्यान नहीं दिया गया। इटली में पुराने राजवंशों का पुनरुद्धार किया गया। उत्तरीय इटली के अधिकांश प्रदेश पर आस्ट्रिया

का शासन स्थापित किया गया। १८२०, १८३० और १८४८ में यूरोप में क्रान्ति की जो लहरें चलीं, उन सब ने इटली पर प्रभाव डाला। स्थान स्थान पर विद्रोह हुए। पर देशभक्त अपने प्रयत्नों में सफल न हो सके। विशेषतया १८४८ की क्रान्ति की असफलता के कारण इटली में बहुत मुर्दानगी छा गई थी। हजारों देशभक्त कैद में पड़े सड़ रहे थे, सैकड़ों तलवार के घाट उतार दिये गये थे। जो किसी प्रकार मृत्यु व जेल से बच सके थे, वे विदेशों में भाग कर अपनी जान बचा रहे थे। विदेशों में रहकर उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करते रहने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग उनके सम्मुख शेष न रहा था। १८४८ की क्रान्ति ने इटली में भयंकर रूप धारण किया था। उसकी असफलता के बाद प्रतिक्रिया भी उतनी ही भयंकर हुई थी।

रिपब्लिकन दल—इटली को किस प्रकार स्वाधीन किया जावे—इस विषय में सब देशभक्त आपस में एकमत न थे। एक दल रिपब्लिक का पक्षपाती था। ये लोग राजसत्ता से तंग हो चुके थे। नेपल्स आदि के राजाओं ने पिछले दिनों में शासन-सुधार की प्रतिज्ञायें करके किस प्रकार उनका उल्लंघन किया था—इस बात की कटु स्मृति इनके सम्मुख थी। रिपब्लिकन दल के लोग समझते थे कि सम्पूर्ण राजवंशों और राजगद्दियों का अन्त कर इटली भर में एक रिपब्लिक स्थापित किये बिना देश का उद्धार नहीं हो सकता। इस दल का सबसे बड़ा नेता मेजिनी था। मेजिनी का जन्म सन् १८०५ में हुआ था। उसका पिता डाक्टर था और फ्रेञ्च राज्यक्रान्ति का बड़ा पक्षपाती था। बचपन में ही मेज़िनी ने अपने पिता से फ्रेञ्च राज्यक्रान्ति और रिपब्लिकन शासन की गौरवमय कथाओं का श्रवण किया था। उसके हृदय में शुरू से ही क्रांतिकारी भाव प्रबल हो गये थे। उस समय इटली में फ्रांस के क्रांतिमय इतिहास का पढ़ना भी भयंकर अपराध था। पर मेज़िनी के पिता ने अपने पुस्तकालय में चिकित्सा-

सम्बन्धी ग्रन्थों के पीछे छिपाकर फ्रांस की क्रान्ति सम्बन्धी पुस्तकें रखी हुई थीं। मेजिनी इन्हें छिप-छिपकर पढ़ा करता था। क्रांतिकारी साहित्य के पढ़ने से मेजिनी में अपने देश को स्वाधीन कराने तथा फ्रेञ्च ढंग की रिपब्लिक स्थापित करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई। वह इटली की प्रसिद्ध क्रांतिकारी गुप्त संस्था 'कार्बोनारी' का सदस्य बन गया। यह संस्था १८१५ में स्थापित हुई थी और इसका उद्देश्य एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन का अन्त कर नवीन युग की स्थापना था। कार्बोनारी की शाखायें यूरोप भर में व्याप्त थीं और इसके सदस्यों की संख्या लाखों तक पहुँची हुई थी। १८३० में मेजिनी गिरफ्तार हो गया और सेवोना के किले में कैद कर दिया गया। यहाँ रहते हुए उसने गुप्तलिपि में स्वतन्त्र क्रांतिकारियों से पत्र-व्यवहार प्रारम्भ किया और जेल में बन्द रहते हुए भी क्रांति के लिए प्रयत्न करना बन्द नहीं किया। सेवोना की कैद में ही मेजिनी ने अनुभव किया कि कार्बोनारी जैसी गुप्त समितियों से देश का उद्धार नहीं हो सकता। यदि वस्तुतः इटली का उन्नति अभीष्ट हो, तो जनता में और विशेषतया नवयुवकों में ऊँचे विचारों और नवीन आदर्शों का संचार करना चाहिये। जब तक लोगों में नवीन विचारों का भली भाँति प्रचार नहीं होगा और इटली के नवयुवक अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये तीव्र आकांक्षा न अनुभव करने लगेंगे, तब तक स्वाधीनता का स्वप्न लेना सर्वथा निरर्थक है। इसी उद्देश्य से, जेल से मुक्त होने के बाद उसने 'युवक इटली' नामक एक नवीन संस्था का संगठन किया। इसमें सन्देह नहीं, कि इस संस्था से इटली में बहुत जागृति हुई। लोग नवीन युग की कल्पना करने लगे और पराधीनता के बंधनों को तोड़कर स्वाधीन इटालियन राष्ट्र के निर्माण के लिये प्रबल उत्सुकता उत्पन्न हुई। मेजिनी के अनुयायी रिपब्लिक के पक्षपाती थे। राजाओं में उन्हें कोई विश्वास न था। मेजिनी चाहता

था कि छोटे छोटे राज्यों का अन्त होकर एक शक्तिशाली इटालियन राष्ट्र की स्थापना हो।

पोप का पक्षपाती दल—इटालियन देशभक्तों का दूसरा दल पोप के नेतृत्व में देश का संगठन करना चाहता था। इस दल के लोग कट्टर रोमन कैथोलिक धर्म को माननेवाले थे। उनका खयाल था कि सम्पूर्ण इटली में केवल एक ही ऐसा व्यक्ति है, जिसके असाधारण प्रभाव और अद्भुत सामर्थ्य के कारण सम्पूर्ण देश की बिखरी हुई शक्तियाँ एक सूत्र में संगठित की जा सकती हैं। वह व्यक्ति है पोप। इस दल का प्रधान नेता जियोबेर्टी नामक महानुभाव था।

वैध राजसत्तावादी दल—परन्तु इटली का भविष्य इन दोनों दलों के हाथ में नहीं था। इनके अतिरिक्त एक तीसरा दल था, जो सार्डिनिया के राजा विक्टर एमेनुअल द्वितीय के नेतृत्व में सम्पूर्ण इटली को संगठित करना चाहता था। सार्डिनिया का यह नवयुवक राजा बहुत प्रतिभाशाली, उन्नत विचारों का तथा साहसी व्यक्ति था। १८४८ में सार्डिनिया के पहले राजा चार्ल्स एल्बर्ट ने आस्ट्रिया के साथ जिस प्रकार लड़ाई लड़ी थी और जिस तरह इटालियन देशभक्तों का साथ दिया था, उससे लोगों को प्रबल आशा हो गई थी कि भविष्य में भी देश का उद्धार इसी राजवंश से हो सकता है। विक्टर एमेनुअल द्वितीय ने वैध राजसत्ता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया था। उसने अपने राज्य में नवीन सिद्धान्तों पर आश्रित शासन-विधान की स्थापना की थी। इसका परिणाम यह था कि उदार विचारों के लोग उसे बहुत मानते थे।

कावूर—इस दल का प्रधान नेता कावूर था। उसका जन्म सन् १८१० में हुआ था। वह पीडमौन्ट का रहनेवाला था। इटली में उस समय जो उदार आन्दोलन चल रहे थे, उनका काबूर पर बचपन में

ही प्रभाव पड़ा था। क्रान्तिकारियों के संसर्ग में आकर वह एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन का कट्टर विरोधी बन गया था। अपना सांसारिक जीवन उसने एक सेनानायक के रूप में प्रारम्भ किया, पर शीघ्र ही सैनिक जीवन से तंग आकर उसका परित्याग कर दिया। इसके बाद उसने अपना अधिकांश समय राजनीतिक और आर्थिक प्रश्नों के अध्ययन में व्यतीत किया। इसी उद्देश्य से उसने ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी की यात्रा की। इन देशों से जब वह वापिस आया, तो अपने देश के उद्धार के लिये भावी कार्यक्रम का निश्चय कर चुका था। यही कारण था, कि पुलीस उसे सन्देह की दृष्टि से देखती थी और हमेशा उस पर कड़ी निगाह रखती थी। ब्रिटिश शासन उसे सबसे अधिक पसन्द था। रिपब्लिक उसे पसन्द नहीं आती थी। वह कहता था, राजा होना चाहिये, पर उसकी शक्ति को सीमित करने के लिये निश्चित शासन-विधान और व्यवस्थापिका सभायें भी साथ होनी चाहियें। धीरे-धीरे उसका प्रभाव बढ़ता गया और १८४८ की क्रान्ति के समय जब पीडमौन्ट में राष्ट्रीय महासभा का संगठन हुआ, तो लोगों ने अनुभव किया कि कावूर मामूली आदमी नहीं है, उसमें राष्ट्र का संचालन करने के लिये नेता के सब गुण विद्यमान हैं। पीडमौन्ट और सार्डिनिया के लिये जो नवीन शासन-विधान १८४८ में बना था, उसके निर्माण में कावूर का बड़ा हिस्सा था। इसमें सन्देह नहीं कि न केवल सर्व-साधारण जनता, पर राजा और राजदरबार के लोग भी धीरे-धीरे यह अनुभव करने लगे थे कि कावूर ही एक ऐसा व्यक्ति है, जो इटली की समस्याओं को सुलझा सकता है।

समस्यायें—१८५२ में कावूर को पीडमौन्ट + सार्डिनिया का प्रधान मन्त्री बनाया गया। उस समय उसकी आयु केवल ४२ वर्ष की थी। विक्टर एमेनुअल द्वितीय को कावूर पर पूरा भरोसा था। योग्य राजा को योग्य मन्त्री मिल गया था। प्रधान मन्त्री के पद पर आते ही

कावूर ने अनुभव किया कि इटली का उद्धार करने के लिये निम्नलिखित समस्याओं का हल किये बिना कार्य न चलेगा—

(१) इटली की एकता और स्वाधीनता के लिये उत्तरीय प्रदेशों से आष्ट्रिया के आधिपत्य को नष्ट करना अवश्यम्भावी है। इस कार्य का नेतृत्व पीडमौन्ट को ही ग्रहण करना होगा। पर पीडमौन्ट अकेला इसे नहीं कर सकता। उसके लिये एक तरफ तो सम्पूर्ण इटालियन राज्यों का सहयोग प्राप्त करना चाहिये और दूसरी तरफ विदेशी सहायता के लिये भी उद्योग करना चाहिये।

(२) आस्ट्रिया को पराजित करने के लिये अन्य इटालियन राज्यों का सहयोग किस प्रकार प्राप्त किया जावे, इस समस्या को हल कर सकना सुगम नहीं था। यद्यपि इटली में राष्ट्रीयता और स्वाधीनता के लिये आन्दोलन चल रहे थे, पर इन आन्दोलनकर्त्ताओं में एकता नहीं थी। सब के कार्यक्रम भिन्न भिन्न थे। साथ ही, विविध राजाओं को एक उद्देश्य से संगठित कर सकना तो असम्भव ही प्रतीत होता था।

(३) आस्ट्रिया यूरोप का अत्यन्त प्रभावशाली तथा शक्तियुक्त राज्य था। उसके विरुद्ध अन्य राष्ट्रों की सहायता प्राप्त कर सकना पीडमौन्ट जैसे मामूली से राज्य के लिये सुगम कार्य न था। साथ ही, विविध राजाओं में जनता की भावनाओं के विरुद्ध एक होकर मुकाबला करने की प्रवृत्ति अब तक नष्ट नहीं हुई थी।

पीडमौन्ट की उन्नति—इन सब कठिनाइयों का सामना कावूर ने बड़ी योग्यता और नीतिकुशलता के साथ किया। अपने राज्य को उन्नत किये बिना किसी भी कार्य में सफलता नहीं हो सकती थी। अतः सब से पहले पीडमौन्ट की उन्नति पर ध्यान दिया गया। व्यापार और व्यवसाय को उन्नत करने के लिये विशेष रूप से प्रयत्न किये गये। मुक्तद्वार वाणिज्य की नीति का अवलम्बन कर विदेशी व्यापार को सहायता पहुँचाई गई। कारखानों को राष्ट्रीय सहायता दी गई।

रेलवे का विस्तार किया गया। दलदलों और ऊजड़ प्रदेशों को हरे भरे खेतों के रूप में परिवर्तित किया गया। शिक्षा की उन्नति की गई। पीडमौन्ट की दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति हुई। देखते देखते पीडमौन्ट कहीं का कहीं पहुँच गया। राजकीय शक्ति और सहायता से देश बात की बात में उन्नति कर जाते हैं। राज्य क्या है? मनुष्यों का अपने हित के लिये सामूहिक प्रयत्न ही तो है। १८वीं सदी तक प्रायः सम्पूर्ण संसार में राज्य थोड़े से शासकों के वैयक्तिक सुख के साधनमात्र होते थे। पर १६वीं सदी में जब राज्यों के स्वरूप में परिवर्तन हुआ, शासकों ने अपनी शक्ति का प्रयोग सचमुच मनुष्यों की सामूहिक उन्नति के लिये करना प्रारम्भ किया, तो सर्वतोमुखी समृद्धि में जिस वेग से सहायता मिली, उसका वर्णन करना असम्भव है। कावूर के प्रयत्न से पीडमौन्ट थोड़े ही समय में कुछ का कुछ हो गया।

सम्पूर्ण इटालियन जनता का सहयोग—पर पीडमौन्ट की अपनी उन्नति से कुछ नहीं हो सकता था। उसकी कुल आबादी ५० लाख से अधिक नहीं थी। इतना छोटा सा राज्य आष्ट्रिया को परास्त नहीं कर सकता था। अतः राष्ट्रीय एकता के इस महान् कार्य के लिये सम्पूर्ण इटली के सहयोग की आवश्यकता थी। राजाओं से यह सहयोग प्राप्त नहीं हो सकता था और न कावूर ने इसके लिये प्रयत्न ही किया। उसने क्रान्तिकारियों के अन्य दलों के साथ बातचीत की, और उन्हें पीडमौन्ट के राजा के द्वारा अपने देश का उद्धार करने के लिये तैयार किया। मेजिनी जैसे रिपब्लिकन तथा गेरिबाल्डी जैसे क्रांतिकारी उसकी सहायता के लिये उद्यत हो गये। यदि राजे और शासकवर्ग देशोद्धार के पवित्र कार्य में कावूर के साथ सम्मिलित नहीं हुए, तो क्या हानि थी? जनता की उससे हार्दिक सहानुभूति थी, क्रांतिकारी दलों का सहयोग उसे प्राप्त था। कावूर की उद्देश्यपूर्ति के लिये यही बहुत काफी था। कर्बोनारी, युवक इटली आदि सब

संस्थाओं ने उसका साथ दिया। सम्पूर्ण इटली के समझदार तथा विचारशील लोग उसके साथ हो गये। कट्टर रोमन कैथोलिक लोगों को अपने पक्ष में करना कठिन था। कावूर ने उनका खुल्लमखुल्ला विरोध किया। अपने राज्य पीडमौन्ट से तो उसने जेसुइट सम्प्रदाय के लोगों को बहिष्कृत तक कर दिया। इस प्रकार, यदि विविध इटालियन शासकों का नहीं, तो कम से कम सम्पूर्ण जनता का सहयोग प्राप्त करने में वह सफल हुआ।

विदेशी सहायता—विदेशी सहायता प्राप्त कर सकना अधिक कठिन कार्य था। पर कावूर ने इसमें भी असाधारण सफलता प्राप्त की। वह भलीभाँति समझता था कि आस्ट्रिया के विरुद्ध यदि किसी अन्य देश की सहायता प्राप्त की जा सकती है, तो वह देश फ्रांस है। वह कहा करता था—'हम चाहे पसन्द करें या न करें, पर यह निश्चित है कि हमारा भाग्य फ्रांस पर आश्रित है।' शीघ्र ही यूरोप के रंगमञ्च पर जो नाटक खेला जावेगा, उसमें हम फ्रांस के साथ होंगे। फ्रांस से मैत्री स्थापित करने के लिये वह बहुत उत्सुक था और इसके लिये उपयुक्त अवसर प्राप्त करने में उसे देर न लगी। १८५४ में प्रसिद्ध क्रीमियन युद्ध प्रारम्भ हुआ। इसमें फ्रांस, टर्की और ब्रिटेन एक तरफ थे और रशिया दूसरी तरफ। १८५५ में कावूर ने क्रीमियन युद्ध में फ्रांस का साथ दिया और अपने १७ हजार सैनिक क्रीमिया के रणक्षेत्र में भेज दिये। क्रीमियन युद्ध की समाप्ति पर सन्धि के लिये पेरिस में जो परिषद् हुई, उसमें पीडमौन्ट की तरफ से कावूर भी सम्मिलित हुआ। यूरोपियन राज्यों से परिचय प्राप्त करने, फ्रांस से मित्रता करने और इटालियन स्वाधीनता के दावे को अन्य लोगों के सम्मुख पेश करने का यह सुवर्णावसर था। कावूर ने इसका भली भाँति प्रयोग किया। उसने सन्धि परिषद् में एकत्रित राजनीतिज्ञों को अच्छी तरह समझाने का प्रयत्न किया कि उत्तरीय इटली पर

आस्ट्रिया का कब्जा यूरोप की शान्ति के लिये बहुत भयंकर बात है। जब तक इटली स्वाधीन नहीं होगा, यूरोप में शान्ति कायम नहीं रह सकती। पेरिस की सन्धि परिषद् में काबूर को अच्छी सफलता हुई। पिडमौन्ट जैसे छोटे से राज्य का प्रतिनिधि यूरोप के अच्छे राजनीतिज्ञों में गिना जाने लगा।

नैपोलियन तृतीय से समझौता—इस समय फ्रांस का सम्राट् नैपोलियन तृतीय था। सम्राट् बनने से पूर्व वह इटली में रह चुका था और स्वयं कार्बोनारी सभा का सदस्य था। १८३० की क्रान्ति में वह क्रान्तिकारी स्वयंसेवक के रूप में पोप के विरुद्ध लड़ चुका था। इटालियन स्वाधीनता के आन्दोलन से उसे सहानुभूति थी। साथ ही, वह यह भी समझता था, कि फ्रांस की राजगद्दी मैंने जबर्दस्ती हस्तगत की है। लोग मेरे सम्राट्-पद को उसी दशा में सहन करेंगे, जब कि मैं भी अपने चचा की तरह गौरवमय विजयों से जनता को चकाचौंध कर दूँ। यदि इटली को स्वाधीन करने के लिये आस्ट्रिया से युद्ध उद्घोषित कर दिया जावे, तो निस्सन्देह फ्रेञ्च लोग उसे पसन्द करेंगे। एक बार फिर फ्रेञ्च सेनायें उत्तरीय इटली में प्रवेश करेंगी। नैपोलियन के बाहुबल के सम्मुख आस्ट्रिया परास्त हो जायगा। इतिहास अपने को दोहरायगा। इटली में जो नवीन संगठन कायम होगा, वह निस्सन्देह फ्रांस का आधिपत्य स्वीकृत करेगा। नैपोलियन तृतीय की इन महत्त्वाकांक्षाओं को किस प्रकार इटली के लाभ के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है, इस बात को काबूर खूब समझता था। पेरिस की सन्धि-परिषद् के समय इन दोनों राजनीतिज्ञों में बातचीत हुई। आखिर, दोनों में समझौता हो गया। नैपोलियन ने कहा, यदि आस्ट्रिया से युद्ध शुरू करने के लिये तुम कोई बहाना ढूंढ लो, तो मैं दो लाख फ्रेञ्च सैनिकों के साथ तुम्हारी सहायता करने के लिये तैयार हूँ। यदि उत्तरीय इटली से आस्ट्रियन शासन

का अन्त हो जावे, तो नीस और सेवाय के प्रदेश—ये फ्रांस और इटली की सीमा पर स्थित थे—फ्रांस को दे दिये जावेंगे। आस्ट्रिया की अधीनता से युद्ध हुए लोम्बार्डी और वेनेटिया पर पीडमौन्ट का कब्जा हो जायगा और अन्य प्रदेशों को पीडमौन्ट के हस्तगत कर लेने में भी फ्रांस को कोई विप्रतिपत्ति न होगा।

विदेशी सहायता भी प्राप्त हो गई। काबूर के सम्मुख जो विकट समस्यायें विद्यमान थीं, सब हल हो गईं। अब केवल उद्देश्य को पूर्ण करना शेष था।

(२) स्वाधीनता-संग्राम का प्रारम्भ

बारूद तैयार हो गया था, अब केवल तीली दिखाने की जरूरत थी। काबूर युद्ध के लिये बहाना ढूँढ़ रहा था। उधर आस्ट्रिया भी लड़ाई के लिए अवसर देख रहा था। पीडमौन्ट की उन्नति उसे शूल की तरह चुभ रही थी। काबूर की चालों से भी वह सर्वथा अपरिचित न था। आस्ट्रियन राजनीतिज्ञ समझते थे, जितनी देर होगी, उतना ही हमारा नुकसान है। इस दशा में युद्ध शुरू होने में क्या देर हो सकती थी? आखिर युद्ध शुरू हो गया।

युद्ध का प्रारम्भ—काबूर के इशारे से लोम्बार्डी और वेनेटिया में विद्रोह हो रहे थे। आस्ट्रिया इनसे बहुत तंग आ गया था। उधर पीडमौन्ट में प्रशिया के ढंग पर बड़े जोर-शोर से सैनिक संगठन हो रहा था। आस्ट्रिया को समझ नहीं पड़ता था कि उसके अपने साम्राज्य में निरन्तर विद्रोहों को किस प्रकार शान्त किया जाय? काबूर के आदमी अपना काम कर रहे थे। उनके सहारे पर लोम्बार्डी और वेनेटिया के क्रान्तिकारियों की हिम्मत बढ़ती जाती थी। आखिर, आस्ट्रिया ने पीडमौन्ट को नोटिस दिया कि तीन दिन के अन्दर अन्दर नई भर्ती हुई सेनाओं को बर्खास्त कर दो। काबूर तो युद्ध

चाहता ही था। उसने आस्ट्रियन नोटिस की कोई परवाह नहीं की। १६ एप्रिल १८५६ के दिन आस्ट्रिया और पीडमौन्ट में युद्ध प्रारम्भ हो गया।

काबूर सब तैयारी पहले ही कर चुका था। समग्र इटली देशभक्ति और राष्ट्रीयता के भावों से प्रदीप्त हो गया। स्वयंसेवक भर्ती होने लगे। स्वाधीनता की लहर ने सम्पूर्ण देश को व्याप्त कर लिया। यूरोप के अन्य देशों की सहानुभूति भी पीडमौन्ट के साथ थी। आस्ट्रिया जैसे शक्तिशाली राज्य का पीडमौन्ट जैसे तुच्छ राज्य पर आक्रमण किसी को भी पसन्द नहीं था। फ्रांस तो पहले से ही तैयार बैठा था। झट नैपोलियन की सेनायें इटली पहुँच गईं। काबूर ने पीडमौन्टकी पार्लियामेण्ट में भाषण करते हुए कहा—अब अगली पार्लियामेण्ट सारे इटली की होगी, केवल पीडमौन्ट की नहीं। निस्सन्देह, यह ठीक था।

यह युद्ध केवल दो मास तक जारी रहा। मेजन्टा और साल्फेरिनों के युद्धों में आस्ट्रियन सेनायें बुरी तरह से परास्त हुईं। विक्टर एमेनुअल द्वितीय ने बड़ी धूमधाम के साथ लोम्बार्डी की राजधानी मिलन में प्रवेश किया। टस्कनी, परमा और मोडेना के हाप्सबुर्ग वंश के राजाओं को राज्यच्युत किया गया। पोप के राज्य के उत्तरीय प्रदेशों ने उद्घोषित किया कि हम पोप के अधीन न रहेंगे। ये सब प्रदेश पीडमौन्ट के राज्य में सम्मिलित होना चाहते थे। जनता की यही इच्छा थी।

नैपोलियन तृतीय का युद्ध से पृथक् होना—इटालियन स्वाधीनता का यह संग्राम इस प्रकार पूर्ण सफलता के साथ चल रहा था, कि सम्पूर्ण यूरोप ने बड़े ही आश्चर्य के साथ यह संवाद सुना कि नैपोलियन तृतीय आस्ट्रिया के साथ सन्धि करने को उद्यत है। बात यह थी कि पीडमौन्ट की असाधारण सफलता से नैपोलियन घबरा

गया था। वह समझता था, कि यदि इटालियन लोग इसी प्रकार सफल होते रहे, तो इटली अत्यन्त शक्तिशाली राज्य बन जावेगा और उसे फ्रांस की संरक्षा की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। इटली की राष्ट्रीय एकता से फ्रांस को कोई लाभ न था। अपने पड़ोस में एक शक्तिशाली स्वतन्त्र राज्य की स्थापना नैपोलियन को पसन्द न थी। इसके अतिरिक्त, युद्ध कितनी भयंकर चीज है, इसका नैपोलियन तृतीय को पहले ख्याल न था। उसके चाचा को युद्ध में वास्तविक आनन्द आता था, पर नैपोलियन तृतीय का हृदय इतना मजबूत न था। वह समझता था, वेनेटिया से आस्ट्रियन लोगों को बाहर निकालने में कम से कम तीन लाख सैनिकों की आवश्यकता होगी। इतने सैनिकों को जुटा सकने का नैपोलियन को उत्साह नहीं था। साथ ही, इस बात की भी खबर थी कि प्रशिया आस्ट्रिया की सहायता के लिये तैयारी कर रहा है और स्वाभाविक रूप से प्रशिया फ्रांस पर ही आक्रमण करेगा। इन सब कारणों से नैपोलियन ने यही उचित समझा कि झटपट आस्ट्रिया से सन्धि कर ली जावे। उसने पीडमोन्ट को सूचना तक देने की आवश्यकता नहीं समझी।

ज्यूरिच की सन्धि—नैपोलियन के इस प्रकार युद्ध से पृथक हो जाने का परिणाम यह हुआ कि पीडमौन्ट को भी आस्ट्रिया से सन्धि करने के लिये बाधित होना पड़ा। यद्यपि काबूर की इच्छा थी कि अकेले ही युद्ध को जारी रखा जावे, पर विक्टर एमेनुअल इससे सहमत नहीं था। वह भली भाँति अनुभव करता था कि फ्रांस की सहायता के बिना आस्ट्रिया को परास्त कर सकना असम्भव है। इसलिये इटली और आस्ट्रिया के युद्ध की समाप्ति हुई और १० नवम्बर १८५९ के दिन ज्यूरिच नामक स्थान पर दोनों राज्यों ने परस्पर सन्धि कर ली। इस सन्धि द्वारा लोम्बार्डी का प्रदेश पीडमौन्ट को प्राप्त हुआ। वेनेटिया आस्ट्रिया के ही अधीन रहा। नीस और

सेवाय फ्रांस को मिले और परमा, मोडेना तथा टस्कनी को पीडमौन्ट ने अपने कब्जे में कर लिया। ज्यूरिच की सन्धि से इटालियन देश-भक्तों की वास्तविक आकांक्षा पूर्ण नहीं हो सकी। वेनेटिया का आस्ट्रिया के अधीन रहना उन्हें शूल की तरह चुभ रहा था। इसके अतिरिक्त, मध्य तथा दक्षिणी इटली अभी राष्ट्रीय एकता के सूत्र में सम्बद्ध नहीं हुए थे। राष्ट्रीय संगठन के आदर्श को पूर्ण करने के लिये अभी एक प्रयत्न की और आवश्यकता थी। इसे सम्पन्न होने में भी बहुत देर नहीं लगी। राष्ट्रीय स्वाधीनता की जिस प्रचण्ड भावना से १८५६ में इटली को असाधारण सफलता प्राप्त हुई थी, वही भविष्य में भी काम आई। शीघ्र ही इटली एक संगठित राष्ट्र बन गया।

(३) राष्ट्रीय एकता की स्थापना

आस्ट्रिया परास्त हो गया था। उत्तरी इटली के अधिकांश प्रदेश पर विक्टर एमेनुअल द्वितीय का आधिपत्य स्थापित हो चुका था। इस समय शेष इटली को पीडमौन्ट के साथ सम्मिलित करने के लिये जो आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, उसमें किसी विदेशी शक्ति की सहायता प्राप्त नहीं की गई। वह इटालियन राष्ट्रीयता की अपनी कृति थी। सम्पूर्ण इटली की एकता में पुराने राजवंश जो बाधा डाल रहे थे, उसे जनता ने अपने आभ्यन्तर प्रयत्न से नष्ट कर दिया। इस नवीन आन्दोलन का प्रधान नेता गेरीबाल्डी था। इसका संक्षिप्त रूप से परिचय देना आवश्यक है।

गेरीबाल्डी—गेरीबाल्डी का जन्म नीस नामक स्थान पर सन् १८०७ में हुआ था। उसे नौसेना की शिक्षा प्राप्त हुई थी। उसकी प्रवृत्तियाँ शुरू से ही रिपब्लिकन थीं। मेजिनी के साथ मिलकर वह सम्पूर्ण इटली में एक रिपब्लिक स्थापित करने का उद्योग कर रहा था। इसी अपराध में सरकार की उस पर कोप-दृष्टि हो गई और उसे

दक्षिणी अमेरिका भाग जाने के लिये बाधित होना पड़ा। वहाँ पर भी वह शान्त नहीं बैठ सका। उन दिनों दक्षिणी अमेरिका में लेटिन-अमेरिकन लोग स्वाधीनता प्राप्त करने के लिये कोशिश कर रहे थे। गेरीवाल्डी उनमें सम्मिलित हो गया। दस वर्ष तक वह निरन्तर अमेरिकन स्वाधीनता-संग्राम में युद्ध करता रहा। इसके बाद वह अपने देश वापस लौट आया। स्वतन्त्रता के लिये जो कोई भी प्रयत्न हो रहा हो, वह सब में सहायता करने को उद्यत था। १८४७ में इटली में यह लहर बड़ी तीव्र थी, कि पोप पायस दशम के नेतृत्व में इटली की राष्ट्रीय एकता स्थापित की जावे। वह स्वयं इससे सहमत नहीं था, पर सच्चे सिपाही के समान उसे यह सोचने की आवश्यकता नहीं थी कि उसकी अपनी सम्मति क्या है। उसके लिये इतनी बात पर्याप्त थी कि इटली की स्वाधीनता तथा राष्ट्रीय एकता के लिये प्रयत्न हो रहा है। वह उसमें सम्मिलित हो गया। अगले वर्ष १८४८ में इटली में क्रान्ति हुई। पीडमौन्ट के नेतृत्व में इटालियन लोग आस्ट्रिया को परास्त करने के लिये सन्नद्ध हो गये। गेरीवाल्डी ने इस युद्ध के लिए ३००० स्वयंसेवक एकत्रित किये। परन्तु १८४८ की क्रान्ति सफल न हो सकी। क्रान्तिकारियों पर भयंकर अत्याचार होने लगे। गेरीवाल्डी फिर अपना देश छोड़कर अमेरिका चला गया। इस बार उसने न्यूयोर्क में कारोबार शुरू किया। कारोबार में उसे अच्छी सफलता हुई। काफी धन कमा कर वह फिर इटली वापस आया और अपने देश के समीप ही कपरेरा नाम का एक टापू खरीद कर उसमें आराम से रहने लगा। गेरीवाल्डी को अब भी शान्ति नहीं थी, वह इटली के आन्दोलनों का बड़े ध्यान से अध्ययन कर रहा था। १८५६ में काबूर की नीतिनिपुणता से जब आस्ट्रिया के साथ युद्ध प्रारम्भ हुआ, तब गेरीवाल्डी उसमें सम्मिलित हो गया। लोम्बार्डी से आस्ट्रियन सेनाओं को बाहर निकालने में उसने बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

सिसली पर आक्रमण—पर गेरीवाल्डी का वास्तविक कार्य १८६० से शुरू होता है। इस समय इटालियन देशभक्तों के सम्मुख सब से बड़ी समस्या दक्षिणी इटली को अपने साथ सम्मिलित करने की थी। दक्षिणीय इटली में—नेपल्स और सिसली में—बोर्बों वंश-का एक पुराने ढंग का राजा राज्य करता था, जो राष्ट्रीय एकता, स्वाधीनता, शासन-सुधार आदि सम्पूर्ण नवीन भावनाओं का कट्टर विरोधी था। नेपल्स के इस राजा को परास्त करना काबूर के सम्मुख सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य था। आखिर गेरीवाल्डी ने यह कार्य अपने हाथ में लिया। एक हजार स्वयंसेवकों के साथ उसने सिसली में प्रवेश किया। ये स्वयंसेवक लाल कुरते पहनते थे, इनका वेश बहुत सादा था। इतिहास में ये लोग 'लाल कुड़ती' के नाम से प्रसिद्ध हैं। मई १८६० में अपनी 'लाल कुड़ती' सेना के साथ गेरीवाल्डी सिसली पहुँच गया। सिसली की जन-संख्या ३० लाख से कम न थी। पर उसका मुकाबला करनेवाला वहाँ कौन था? जनता की सहानुभूति उसके साथ थी, बात की बात में सिसली गेरीवाल्डी के अधीन हो गया।

नेपल्स की अधीनता—गेरीवाल्डी ने उद्घोषित किया कि मैं विक्टर एमेनुअल द्वितीय की तरफ से सिसली का शासन अपने हाथ में लेता हूँ। सिसली की जनता ने उसका साथ दिया। विक्टर एमेनुअल द्वितीय के अधीन होकर उन्हें हार्दिक प्रसन्नता थी। जनता में राष्ट्रीय एकता की जो भावना उत्पन्न हो चुकी थी, वस्तुतः वह अपना कार्य कर रही थी। गेरीवाल्डी तो उसमें निमित्त-मात्र था। सिसली में रहते हुए गेरीवाल्डी के स्वयंसेवकों की संख्या एक हजार से चार हजार पहुँच गई। इस सेना को लेकर उसने नेपल्स में प्रस्थान किया। वहाँ ५० हजार देशभक्त उसके आगमन की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे थे। नेपल्स पर हमला किया गया। बोर्बों राजा फ्रांसिस द्वितीय उसका मुकाबला न कर सका। नेपल्स जीत लिया गया।

फ्रांसिस द्वितीय देश छोड़कर भाग गया। गेरीवाल्डी नेपल्स का भी शासक बन गया।

राष्ट्रीय एकता की स्थापना—गेरीवाल्डी की इच्छा थी कि अब रोम पर आक्रमण कर उसे भी अपने अधीन कर लिया जावे। यदि वह रोम पर आक्रमण करता, तो उसे अवश्य ही सफलता प्राप्त हो जाती। पर कठिनता यह थी, कि फ्रांस इस बात को कभी सहन न कर सकता। फ्रेञ्च लोग रोमन कैथोलिक धर्म को माननेवाले थे। वे पोप की राजधानी का इस प्रकार का 'अपमान' कभी सहन न कर सकते। नैपोलियन तृतीय को इटालियन एकता के मार्ग में रोड़े अटकाने का एक उत्तम अवसर हाथ लग जाता। इसलिये रोम पर आक्रमण का विचार छोड़ दिया गया और विक्टर एमेनुअल द्वितीय ने रोम को छोड़कर पोप के अन्य प्रदेशों को अपने हस्तगत कर लिया। रोम पर पोप का स्वामित्व अक्षुण्ण रहा। परन्तु नेपल्स, सिसली, और पोप का राज्य (रोम को छोड़कर) अब विक्टर एमेनुअल द्वितीय के अधीन हो चुके थे। मध्य और दक्षिणी इटली भी राष्ट्रीय एकता के सूत्र में संगठित हो गये थे।

काबूर की मृत्यु—१८ फरवरी १८६१ के दिन इटली की राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। महासभा के लिये टूरिन नगर चुना गया था। इटली की स्वाभाविक राजधानी रोम अभी तक पोप के अधीन था। इसलिये वहाँ अधिवेशन नहीं किया जा सकता था। १७ मार्च को इस महासभा ने विक्टर एमेनुअल द्वितीय को इटली का राजा स्वीकृत किया। इटली की राष्ट्रीय एकता स्थापित हो गई। काबूर का स्वप्न पूर्ण हो गया। अपने कार्य को पूरा कर १८६१ में उसकी मृत्यु हो गई। वह कार्यभार से बहुत अधिक श्रान्त हो चुका था, पर अपनी आकांक्षा के पूर्ण हो जाने से उसके हृदय में वास्तविक प्रसन्नता थी।

इटली की राष्ट्रीय एकता के पूर्ण होने में अभी दो कमियां शेष थीं। वेनेटिया अभी तक आस्ट्रिया के अधीन था और रोम पर पोप का स्वतन्त्र शासन था। इटालियन देशभक्त इन दोनों प्रदेशों के अभाव में अपने राष्ट्र को पूर्ण नहीं समझते थे। परन्तु इन्हें प्राप्त करने के लिये भी शीघ्र ही अवसर उपस्थित हुए और इटालियन राजनीतिज्ञों ने उनका बड़ी कुशलता से प्रयोग किया।

वेनेटिया की प्राप्ति—१८६६ में आस्ट्रिया और प्रशिया में युद्ध प्रारम्भ हुआ। इटली ने प्रशिया की सहायता की। इटली और प्रशिया—दोनों ने एक साथ आस्ट्रिया पर आक्रमण किया। इटली को परास्त कर सकना आस्ट्रिया के लिये कठिन नहीं था। शीघ्र ही, उसकी सेनायें पराजित होकर लौट आईं। पर आखिरकार, प्रशिया की विजय हुई और आस्ट्रिया परास्त हुआ। सन्धि-परिषद् में इटली भी विजयी प्रशिया के साथ सम्मिलित हुआ और अपनी हार्दिक मनोकामना—वेनेटिया की प्राप्ति—को पूर्ण करने में समर्थ हुआ। आस्ट्रिया के विरुद्ध प्रशिया को सहायता करने का यह अच्छा और न्यायव्य इनाम था। दो छोटे छोटे प्रदेश और थे, जो वेनेटिया के साथ ही आस्ट्रिया के अधीन थे—ट्रेन्ट और ट्रिएस्त। इटली की कोशिश थी कि इन्हें भी इस अवसर पर प्राप्त कर ले। पर इसमें उसे सफलता नहीं हुई। १९१८ तक ये प्रदेश आस्ट्रिया के ही अधीन बने रहे। राष्ट्रीय इटली को यह बात काँटे की तरह चुभती रही। आखिर, १९१४-१८ के यूरोपीय महायुद्ध की समाप्ति पर जब आस्ट्रिया परास्त हुआ, तब इटली इन प्रदेशों को अपने साथ सम्मिलित करने में सफल हुआ।

रोम की प्राप्ति—रोम को अपने साथ मिलाने का अवसर १८७० में उपस्थित हुआ। फ्रांस की ही सहायता से पोप रोम में अपने अधिकार को अक्षुण्ण बना सकने में समर्थ था। नैपोलियन तृतीय की ओर से भेजी हुई एक फ्रेञ्च सेना हमेशा रोम में मौजूद रहती थी और

इटालियन देशभक्तों के सब प्रयत्नों का मुकाबला करती रहती थी; १८७० में फ्रांस और प्रशिया का प्रसिद्ध युद्ध शुरू हुआ। प्रशिया का मुकाबला करने के लिये नैपोलियन को बाधित होना पड़ा कि अपनी सेनाओं को रोम से वापस बुला ले। अब पोप क्या कर सकता था? विक्टर एमेनुअल द्वितीय ने चाहा कि पोप से किसी प्रकार समझौता हो जावे। पर वह तैयार नहीं हुआ। इस पर एक इटालियन सेना ने रोम पर आक्रमण किया। रोमन जनता की सहानुभूति भी आक्रान्ताओं के साथ थी। पोप भाग कर अपने एक राजप्रासाद में छिप गया। रोम पर इटालियन सेना का कब्जा हो गया। रोम-निवासियों से इस प्रश्न पर सम्मति ली गई कि वे इटली के साथ सम्मिलित होना चाहते हैं या नहीं? १ लाख ३० हजार वोट पक्ष में आये और १५०० वोट विरोध में। पोप ने बार बार अपने कैथोलिक भक्तों और अनुयायियों को अपनी सहायता के लिये आवाहन किया, बार बार फतवे (बुल) निकाले—पर किसी का कुछ प्रभाव न हुआ। इटली की अधिकांश जनता कैथोलिक धर्म को माननेवाली थी। पर उसने पोप के फतवों पर कोई ध्यान न दिया। तीन सदी पहले पोप की उँगली के इशारे पर सारा यूरोप युद्ध के लिये तैयार हो सकता था। पर अब वह जमाना गुजर चुका था। धर्म का स्थान अब राष्ट्रीयता ने ले लिया था।

यह सर्वथा स्वाभाविक था कि संगठित इटली की नवीन राजधानी रोम को बनाया जाय। १८७१ में राजा, दरबार और पार्लियामैन्ट—सब रोम चले आये। रोम में पार्लियामेंट का उद्घाटन करते हुए विक्टर एमेनुअल ने कहा—हमारी राष्ट्रीय एकता स्थापित हो गई है, अब हमारा कार्य अपने राष्ट्र को महान् तथा समृद्ध बनाना है। वस्तुतः इटली के सम्मुख अब यही कार्य था। इसमें उसे असाधारण सफलता हुई। शीघ्र ही इटली यूरोप के प्रमुख राज्यों में एक हो गया।

पोप की स्थिति—इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व यह बताना आवश्यक है, कि रोम के अधिगत हो जाने के बाद पोप की क्या स्थिति रह गई। एक हजार वर्ष के लगभग से रोम पर पोप का अबाधित प्रभुत्व था। पर अब उसका यह आधिपत्य नष्ट हो गया। १८७१ के मई मास में इटली की पार्लियामेंट ने एक कानून पास किया, जिसमें यह उद्घोषित किया गया कि पोप को धार्मिक मामलों में पूर्ण स्वाधीनता रहेगी, उसके व्यक्तित्व को राजा के समान पवित्र समझा जावेगा। वह स्वतन्त्र राजाओं के समान शान-शौकत से रह सकेगा। उसे यह भी अधिकार होगा कि विदेशों में अपने दूत भेजे और विदेशी दूत उसके दरबार में आवें। अपने राजप्रासाद तथा उसके चारों ओर के छोटे से प्रदेश में वह स्वतन्त्र राजा के समान रह सके। इटालियन सरकार का कोई कर्मचारी उसके 'राज्य' में प्रवेश न करे। यह भी व्यवस्था की गई कि इटालियन राज्यकोश से पोप को प्रतिवर्ष १६ लाख रुपये पेंशिन के तौर पर दिये जावें। पर पोप इन व्यवस्थाओं से संतुष्ट नहीं हुआ। उसने न केवल पेंशिन लेने से इन्कार किया, पर साथ ही एक उद्घोषणा प्रकाशित की, जिसमें कि इटालियन सरकार के कार्यों का विरोध किया और रोम पर अपना अधिकार साबित किया। परन्तु पोप की इन उद्घोषणाओं की ओर ध्यान देनेवाला अब कोई न रहा था।

छब्बीसवाँ अध्याय

जर्मनी का संगठन

(१) राष्ट्रीय एकता का प्रादुर्भाव

राष्ट्रीयता की भावना—जर्मनी में राष्ट्रीयता की भावना को उत्पन्न करने के लिये जो विविध तत्त्व कार्य कर रहे थे, उन पर ध्यान देने की आवश्यकता है। फ्रेञ्च राज्यक्रान्ति के समय क्रान्ति की नवीन प्रवृत्तियों ने जर्मनी पर बहुत प्रभाव डाला था। विशेषतया, नैपोलियन की विजयों के अनन्तर विविध जर्मन राज्यों में एकता की आवश्यकता अनुभव होने लगी थी। कतिपय राज्यों को मिला नैपोलियन ने जिस संघ का निर्माण किया था, उसमें एक संगठन में रहते हुए जर्मन लोगों को एक होने का अभ्यास भी प्रारम्भ हो गया था। १८१५ में वीएना की कांग्रेस में स्टाइन जैसे देशभक्तों ने इस बात पर बहुत जोर दिया था कि विविध राज्यों को एक सूत्र में संगठित किया जावे। उस समय जर्मन जनता की माँग पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। विविध राजवंशों का पुनरुद्धार किया गया और राजवंशों तथा कुलीन श्रेणी के हितों को दृष्टि में रखकर विविध राज्यों की व्यवस्था की गई। देशभक्तों की इच्छाओं की उपेक्षा कर वीएना में जिस जर्मन राज्य संघ का निर्माण किया गया, उसमें कुल मिलाकर ३८ राज्य सम्मिलित थे। इन राज्यों का संगठन भी सुदृढ़ नहीं था। प्रत्येक राजा पूर्णतया

स्वतन्त्र था। फ्रांकफोर्ट में सबके प्रतिनिधि एक राजसभा में एकत्रित होते थे। ये प्रतिनिधि जनता द्वारा निर्वाचित नहीं होते थे। राजा इन्हें स्वयं चुनते थे। फ्रांकफोर्ट की राजसभा में कोई विषय तब तक स्वीकृत नहीं समझा जाता था, जब तक कि सम्पूर्ण प्रतिनिधि उससे सहमत न हों। यदि किसी एक राज्य का प्रतिनिधि भी किसी प्रस्ताव के विरोध में हो, तो उसे अस्वीकृत समझा जाता था। इस व्यवस्था का परिणाम यह था, कि सुधार व उन्नति की कोई भी बात फ्रांकफोर्ट की राजसभा में पास न हो सकती थी। विविध राजा जर्मनी की राष्ट्रीय एकता और जनता के अधिकार--दोनों के सख्त विरोधी थे। परन्तु जनता में स्वाधीनता और राष्ट्रीयता की प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं। गुप्त समितियाँ इन सिद्धान्तों के प्रचार में विशेष रूप से तत्पर थीं। विश्वविद्यालयों में रात-दिन इनकी चर्चा रहती थी। विद्यार्थियों के दिमागों में नये विचार घर कर गये थे। संगीत, कविता, उपदेश, व्याख्यान, नाटक--सर्वत्र स्वाधीनता और राष्ट्रीयता का प्रचार किया जा रहा था। यही कारण है कि १८३० और १८४८ में जर्मनी में भी अनेक स्थानों पर क्रान्तियाँ हुईं। यद्यपि ये क्रान्तियाँ कहीं पर भी पूर्णतया सफल नहीं हो सकीं, तथापि इनका इतना लाभ अवश्य हुआ कि जनता में बहुत जागृति हो गई। विशेषतया, १८४८ में फ्रांकफोर्ट में राजसभा की सर्वथा उपेक्षा कर जिस राष्ट्रीय महासभा की स्थापना हुई थी, उसने राष्ट्रीय एकता के लिये मैदान तैयार करने में बहुत सहायता दी। एक बार जर्मन लोगों ने अच्छी तरह अनुभव किया था कि हम सब एक हैं और हमारे राष्ट्र को शीघ्र ही संगठित होना चाहिये। राजाओं के विरोध से फ्रांकफोर्ट की महासभा सफल न हो सकी। पर उसने जो कार्य किया था, वह व्यर्थ नहीं गया।

आर्थिक दृष्टि से एकता की आवश्यकता—राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति के अतिरिक्त कुछ आर्थिक कारण भी थे, जो जर्मनी को एक

राष्ट्र बनाने के लिये काम कर रहे थे। जर्मनी के सब राज्य अपने को एक दूसरे से सर्वथा पृथक् समझते थे। इसका परिणाम यह था कि सबके व्यापारिक कानून पृथक्-पृथक् थे। सब में आयात और निर्यात माल पर कर लिये जाते थे। इस बात का असर व्यापार पर क्या होता है, इसे उदारण द्वारा सुगमता से समझा जा सकता है। फूल्डा और आल्टनबुर्ग के बीच की दूरी केवल १२५ मील है। यदि कोई व्यापारी अपना माल लेकर फ़ूल्डा से आल्टनबुर्ग जाता था, तो उसे ३४ राजकीय सीमाओं को पार करना पड़ता था। औसत से प्रत्येक चार मील चल चुकने के अनन्तर उसे नवीन राजकीय सीमा से गुजरना पड़ता था और वहाँ चुंगी आदि तरह तरह की दिक्कतों का सामना करना होता था। व्यापारी लोग इस बात से बहुत तंग थे। १८१६ में व्यापारियों की एक सभा ने फ्रांकफोर्ट की राजसभा से शिकायत की थी, कि हैम्बुर्ग से आस्ट्रिया या बर्लिन से स्विट्जरलैण्ड तक जाने में दस राज्यों को पार करना आवश्यक था और उस व्यापारी को जिसने एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल ले जाना हो दस विविध व्यापारी कानूनों तथा चुंगी के कायदों का अनुशीलन करना होता था। जर्मन व्यापारियों के लिये यह कितनी कठिन बात थी।

व्यापार-संघ—इसी का परिणाम हुआ कि १८३४ में अनेक जर्मन राज्यों ने परस्पर मिलकर व्यापारिक प्रयोजनों के लिये एक व्यापार संघ (ट्शाल फेराइन) का संगठन किया। इसमें १७ राज्य सम्मिलित हुए। इन राज्यों में आन्तरिक व्यापारी माल पर कोई चुंगी नहीं लगती थी, पर जब विदेशों से कोई माल संघ में प्रविष्ट होता था, तब उस पर चुंगी ली जाती थी। धीरे-धीरे अन्य जर्मन राज्य भी इस संघ में सम्मिलित होते गये। वे भली भाँति अनुभव करते थे कि व्यापारी दृष्टि से जर्मन राज्यों का हित इसी बात में है कि मिलकर एक संघ का निर्माण करें। व्यापारी संघ ने जर्मनी की राष्ट्रीय एकता में बहुत

सहायता पहुँचाई। आर्थिक हित मानवीय मामलों में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। जब आर्थिक दृष्टि से जर्मन लोगों को एकता अवश्यम्भावी प्रतीत हो रही थी, तब राजनीतिक तथा राष्ट्रीय एकता की उपयोगिता का अनुभव करना बहुत कठिन नहीं था।

प्रशिया की महत्त्वाकांक्षा—यह पहले प्रदर्शित किया जा चुका है कि १८१५ में बने जर्मन राज्य संघ में दो राज्य सबसे प्रमुख थे—आस्ट्रिया और प्रशिया। इन दोनों में अपनी प्रभुता स्थापित करने के लिये संघर्ष चल रहा था। प्रशिया के अधिकांश निवासी जर्मन जाति के थे। आस्ट्रिया के राज्य में जर्मन लोगों की कमी नहीं थी, पर हाप्सबुर्ग वंश के आस्ट्रियन प्रदेशों में अधिक लोग चैक, पोल, स्लाव आदि गैर जर्मन जातियों के थे। यही कारण था कि राष्ट्रीय दृष्टि से संगठित जर्मन राज्य में आस्ट्रिया का प्राधान्य नहीं हो सकता था। इसलिये आस्ट्रिया चाहता था कि जर्मनी का संगठन बहुत ही कमजोर तथा ढीला-ढाला हो। यदि जर्मनी में राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हो जावे, तो यह सर्वथा स्पष्ट है, कि गैर जर्मन जातियों से युक्त आस्ट्रिया उसमें कभी भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त न कर सकेगा। इस बात को प्रशिया खूब समझता था। जर्मनी में आस्ट्रिया ने जो सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया हुआ था, उसे नष्ट करने का एक अच्छा और सरल उपाय यह भी था कि प्रशिया जर्मन राष्ट्रीयता का पक्षपोषक हो। प्रशिया ने इस उपाय का प्रयोग किया। प्रशिया के उत्कर्ष के लिये जो विविध राजनीतिज्ञ और नेता कार्य कर रहे थे, उन्होंने राष्ट्रीय भावनाओं का साथ दिया। व्यापार-संघ का निर्माण प्रशिया के नेतृत्व में ही हुआ था। आस्ट्रिया इस संघ को घृणा की दृष्टि से देखता था, वह इसमें सम्मिलित तक न हुआ था। प्रशिया इस व्यापार-संघ का प्रमुख प्रवर्त्तक था। फ्रांकफोर्ट की राजसभा के रूप में आस्ट्रिया के नेतृत्व में जिस जर्मन राज्यसंघ का निर्माण हुआ था, जनता उसके सर्वथा

प्रतिकूल थीं। परन्तु प्रशिया के नेतृत्व में संगठित व्यापार-संघ की उपयोगिता में किसी भी देशभक्त को सन्देह नहीं था।

प्रशिया की सेना—सैनिक दृष्टि से प्रशिया जिस प्रकार असाधारण उन्नति कर रहा था, उस पर भी कुछ प्रकाश डालने की आवश्यकता है। नैपोलियन के युद्धों में प्रशिया जिस प्रकार पराजित हुआ था, उससे प्रशियन नेता बहुत उद्विग्न हो गये थे। इसलिये टिलसिट की सन्धि के बाद उन्होंने सेना के पुनः संगठन का उपक्रम किया। शार्नहोर्स्ट की प्रेरणा से बाधित सैनिक सेवा की पद्धति जारी की गई। प्रत्येक आदमी के लिये आवश्यक था कि वह सैनिक शिक्षा प्राप्त करे और कुछ निश्चित समय के लिये सेना में कार्य करे। निश्चित समय के समाप्त हो जाने पर उसे इजाजत थी कि वह अपनी इच्छा से स्वतन्त्र कार्य कर सके, पर निश्चित समय के बाद भी आवश्यकता पड़ने पर उसे सैनिक सेवा के लिये बुलाया जा सकता था। इस पद्धति से देश के सम्पूर्ण युवा सेना में भर्ती रहते थे और सेवा काल के समाप्त हो जाने पर भी आवश्यकता पड़ने पर उन्हें सेना में भर्ती किया जा सकता था। इस प्रकार देश के सैनिक कार्य के योग्य आयु के सम्पूर्ण मनुष्य प्रशियन सेना में सम्मिलित होने के लिये उद्यत रहते थे। इस पद्धति का परिणाम यह हुआ था कि प्रशियन सेना यूरोप भर में सबसे आगे बढ़ गई। आगे चलकर अन्य देशों ने भी प्रशिया का अनुसरण किया और अपने यहाँ बाधित सैनिक सेवा का प्रारम्भ किया। प्रशिया की यह अद्वितीय सेना न केवल अपने देश के लिये युद्ध करने को उद्यत रहती थी, पर प्रशिया के नेतृत्व में इसे जर्मनी के संगठन के लिये भी प्रयुक्त किया जा सकता था। बेशक, यह प्रशियन सेना बहुत ही पुराने ढंग के आदर्शों से संचालित होती थी, पर इसमें भी सन्देह नहीं कि जर्मन देशभक्त अपने देश की राष्ट्रीय एकता के लिये इस पर भरोसा कर सकते थे।

समस्यायें—१८६० में इटली में राष्ट्रीय एकता की स्थापना से जर्मन लोगों में भी उत्साह का संचार हुआ। इटालियन संगठन का कार्य पीडमोन्ट के राजा विक्टर एमेनुआल द्वितीय के नेतृत्व में हुआ था। इससे जर्मन लोगों में यह विचार और भी अधिक प्रबल हो गया कि जर्मनी की राष्ट्रीय एकता भी प्रशिया के नेतृत्व में अधिक सुगमता से सम्पादित की जा सकती है। इस समय जर्मन लोगों के सम्मुख दो कार्य थे—

(१) आष्ट्रिया के प्रभुत्व से छुटकारा पाना और (२) असली जर्मन राज्यों का प्रशिया की संरक्षा में सुदृढ़ संगठन स्थापित करना।

ये दोनों कार्य जर्मनी में किस प्रकार किये गये, इस पर हमें अब विचार करना है।

(२) बिस्मार्क का अभ्युदय

विलियम प्रथम का राज्यारोहण—सन् १८६१ में प्रशिया की राजगद्दी पर विलियम प्रथम आरूढ़ हुआ। राज्यारोहण के समय उसकी आयु ६३ वर्ष की थी। अपनी युवावस्था में वह नैपोलियन प्रथम के विरुद्ध प्रशियन सेना में लड़ाई लड़ चुका था। उसका सम्पूर्ण जीवन सेना में व्यतीत हुआ था। सैनिक जीवन का उसे बड़ा शौक था। उसे विश्वास था कि प्रशिया का भाग्य सेना पर आश्रित है। राजा के दैवीय अधिकार में उसे जरा भी सन्देह नहीं था। वह समझता था, प्रशिया के लिये सर्वोत्तम शासन एकतन्त्र स्वेच्छाचारी राजा का ही हो सकता है। परन्तु साथ ही वह यह भी समझता था कि राजा को जनता का लाभ चाहने वाला, परिश्रमी, दयालु, ईमानदार और बुद्धिमान होना चाहिये। निस्सन्देह, अपने आप उसमें ये सब गुण विद्यमान थे। वह अपने राज्य में एक लोकोपकारी मजबूत राजा के समान राज्य करना

चाहता था। इसमें सन्देह नहीं, कि अपने उद्देश्य में उसे सफलता भी प्राप्त हुई। प्रशिया को उन्नत तथा शक्तिशाली बनाने में विलियम प्रथम ने असाधारण क्षमता से कार्य किया।

सैनिक सुधार—सेना को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिये विलियम प्रथम चाहता था, कि बाधित सैनिक सेवा की पद्धति में कुछ सुधार किये जावें। उसका प्रस्ताव था, कि प्रत्येक आदमी को तीन वर्ष तक आवश्यक रूप से सैनिक सेवा करनी चाहिये। इससे पूर्व बाधित सैनिक सेवा का काल दो वर्ष का था। इसके बाद दो वर्ष तक प्रत्येक आदमी को हर समय सेना में भर्ती के लिये तैयार रहना होता था, यद्यपि छावनी में रहने की आवश्यकता नहीं रहती थी। विलियम इस काल को दो के स्थान पर चार वर्ष कर देना चाहता था। इस प्रकार उसकी योजना के अनुसार प्रत्येक आदमी के लिये अपनी युवावस्था के ७ वर्ष सैनिक सेवा को अर्पित करने पड़ते थे। विलियम प्रथम का खयाल था कि उसकी योजना के अनुसार ४½ लाख प्रशियन सैनिक हमेशा युद्ध के लिये तैयार रहेंगे और इनके अतिरिक्त वह जितने सैनिकों की आवश्यकता समझेगा, उतने भर्ती कर सकना कठिन नहीं होगा। इस सेना का मुकाबला यूरोप का कोई भी देश न कर सकेगा। इन परिवर्तनों का प्रस्ताव प्रशिया की लोकसभा (लाण्डटाग) में पेश किया गया। परन्तु वहाँ वे स्वीकृत न हो सके। परिणाम यह हुआ कि विलियम ने अपनी सहायता के लिये प्रधान मन्त्री के पद पर बिस्मार्क को नियत किया। बिस्मार्क ने जनता की इच्छा की परवाह न कर, लोकसभा तक की उपेक्षा कर विलियम की योजना को क्रिया में परिणत किया। प्रशियन नेतृत्व में जर्मनी के संगठन का मुख्य श्रेय इस बिस्मार्क को ही प्राप्त है। अपने समय में यूरोप का कोई भी राजनीतिज्ञ बिस्मार्क का मुकाबला नहीं कर सकता था। यह बिस्मार्क कौन

था ? इस बात का परिचय देना आवश्यक है। १९वीं सदी में यूरोप ने जो अत्यन्त प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ उत्पन्न किये बिस्मार्क उनमें से एक था।

बिस्मार्क—बिस्मार्क का जन्म उस समय में हुआ था, जब वीएना की कांग्रेस के अधिवेशन हो रहे थे। प्रधान मन्त्री बनने के समय उसकी आयु ४७ वर्ष की थी। वह प्रशिया के एक प्रसिद्ध कुलीन जमींदार घराने में उत्पन्न हुआ था। प्रशिया के कुलीन जमींदार—जो इतिहास में 'जुन्कर' नाम से प्रसिद्ध हैं--जनता के अधिकारों के कट्टर विरोधी थे। जनता भी अपना शासन अपने आप कर सकती है—यह उनकी समझ में ही न आता था। बिस्मार्क के अपने विचार इसी ढंग के थे। वह प्रशियन जुन्करों का अच्छा प्रतिनिधि था। जिस समय वह विश्वविद्यालय में पढ़ता था, उसे पढ़ाई लिखाई का जरा भी ध्यान नहीं था। वह सदा शराब पीने और कुश्ती लड़ने में मस्त रहता था। शिक्षा समाप्त कर वह सरकारी नौकरी में दाखिल हुआ। पर नियन्त्रण उसे वहाँ भी सह्य न था। नियन्त्रण का उल्लंघन करने के अपराध पर उसे नौकरी से बर्खास्त कर दिया गया। इसके बाद उसने अपनी जमींदारी में आराम से रहना प्रारम्भ किया। १८४७ में वह प्रशियन राजसभा (डीट) का सदस्य निर्वाचित हुआ। उदार विचारों के विरोध में पुराने ढंग के कुलीन लोगों का जो दल राजसभा में था, बिस्मार्क उसमें सम्मिलित हो गया और शीघ्र ही उसने इस दल में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। वह 'शासन विधान' को 'रद्दी कागज का टुकड़ा' इस नाम से संबोधन करता था। वह कहा करता था, क्या यह 'रद्दी कागज का टुकड़ा' परमेश्वर द्वारा नियत किये गये शासक और उसकी प्रजा के बीच में मध्यस्थ का कार्य कर सकता है ? वह कहता था, उदार विचारों के लोग सब

बेवकूफ हैं। यदि उन्हें काबू में न रखा जायगा, तो राज्य तबाह हो जायगा। १८४८ में प्रशिया में जब विद्रोह हुआ, तो बिस्मार्क ने राजसत्ता की रक्षा के लिये किसानों की एक फौज संगठित की। बर्लिन के विद्रोह में इस फौज ने खूब काम किया। राजा को अपनी रक्षा करने की जितनी परवाह स्वयं थी, उससे कहीं अधिक बिस्मार्क को थी। फ्रांकफोर्ट की राष्ट्रीय महासभा की असफलता का समाचार जब बिस्मार्क ने सुना, तो उसकी प्रसन्नता की कोई सीमा न रही, वह खुशी से नाच उठा। मैटरनिख और वेलिङ्गटन की तरह बिस्मार्क नई प्रवृत्तियों का कट्टर विरोधी था। उससे एक सन्तति पूर्व यूरोप के प्रायः सभी राजनीतिज्ञ उसीकी तरह के थे। पर अब उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जमाना बदल चुका था और इसीलिये बिस्मार्क के ये विचार बहुत अद्भुत तथा पुराने ढंग के मालूम होते थे। यह नहीं समझना चाहिये कि बिस्मार्क कोई असाधारण रूप से पुराने ढंग का आदमी था। वीएना की कांग्रेस में यूरोप भर के जो प्रतिनिधि एकत्रित हुए थे, वे सब उसी के ढंग के थे। पर अब इतने समय के बाद बिस्मार्क के ये विचार बहुत भद्दे, असामयिक और अनुचित प्रतीत होते थे।

फ्रांकफोर्ट की राष्ट्रीय महासभा की असफलता के अनन्तर १८५१ में फिर से पुरानी जर्मन राजसभा का उद्धार किया गया। विलियम प्रथम ने बिस्मार्क को इस राजसभा में प्रशिया का प्रतिनिधि नियत किया। ८ वर्ष तक वह इसका सदस्य रहा। राष्ट्रीय एकता की भावना जर्मनी में प्रादुर्भूत हो ही चुकी थी। फ्रांकफोर्ट की यह राजसभा चाहे कितने ही पुराने ढंग के लोगों की सभा क्यों न हो, पर राष्ट्रीयता की गूंज इसमें समय समय पर सुनाई दे ही जाती थी। यही राजसभा एक इस प्रकार की संगठित संस्था थी, जिसमें सम्पूर्ण जर्मनी के प्रतिनिधि एकत्रित होते थे और राष्ट्रीय एकता के

प्रश्नों पर विचार होता रहता था। बिस्मार्क को इस सभा में जर्मन एकता की समस्या का अनुशीलन करने का अच्छा अवसर मिला। यहाँ उसका यह विश्वास बहुत दृढ़ हो गया कि जर्मनी में एकता का स्थापन प्रशिया द्वारा ही हो सकता है। इस विश्वास को क्रिया में परिणत करने की प्रबल आकांक्षा भी उसमें यहीं पर उत्पन्न हुई।

१८५६ में बिस्मार्क को रशिया में प्रशियन राजदूत के पद पर नियत किया गया। यहाँ उसे रशियन भाषा सीखने और जार से मित्रता स्थापित करने का अच्छा अवसर हाथ लगा १८६२ में उसे फ्रांस में राजदूत बनाया गया। इन पदों पर कार्य करने के कारण बिस्मार्क यूरोपियन राजनीति का अच्छा पण्डित बन गया था। बड़े बड़े राजनीतिज्ञों से उसने परिचय प्राप्त कर लिया था और वह अच्छी तरह जान गया था कि राजनीति की शतरंज किस प्रकार खेली जाती है।

प्रधान मन्त्री बिस्मार्क—१८६२ में ही, जब कि विलियम प्रथम प्रशियन लोकसभा से अपने सैनिक सुधार सम्बन्धी प्रस्तावों को स्वीकृत कराने में असमर्थ हुआ, उसने पुराने ढंग के विचारों के कट्टर पक्षपाती, स्वेच्छाचारी राजसत्ता के प्रबल समर्थक बिस्मार्क को प्रधान मन्त्री के सर्वोच्च राजकीय पद पर नियत किया। पहले उसने कोशिश की, कि अपनी नीति-चतुरता से लोकसभा में सैनिक सुधार के मसविदे को स्वीकृत करा लिया जावे। पर इस कार्य में उसे असफलता हुई। आखिर, उसने स्वेच्छाचार का आश्रय लिया। लोकसभा की सर्वथा उपेक्षा कर शासन करना उसने अपना ध्येय बना लिया। राजा उसके साथ था। व्यवस्थापन विभाग की अन्यतम सभा—राजसभा, जिसमें कुलीन जमींदार 'जुन्करों' का प्राधान्य था, उसके साथ थी। फिर उसे किस बात की परवाह हो सकती थी ? देश के शासन विधान को उसने सर्वथा उपेक्षा की। लोकसभा उसके बजट

को पास नहीं करती थी। इससे बिस्मार्क का क्या बिगड़ता था? वह कहता था, राज्य की आवश्यकता है, कि टैक्स वसूल होने चाहियें। 'राज्य की आवश्यकता' के नाम पर उसने किसी भी प्रकार की मनमानी करने में संकोच नहीं किया। लोकसभा ने सैनिक सुधार बिल को पास नहीं किया था। पर बिस्मार्क को इस बात की क्या चिन्ता थी। वह कहता था, राज्य की आवश्यकता है, अतः सैनिक संगठन में सुधार होना चाहिये। इसी नाम पर लोकसभा के विरोध की उपेक्षा कर उसने सेना में यथेष्ट सुधार किये। उसके स्वेच्छाचार से राजा, रानी और राजकुमार—सब घबरा गये। वे डरते थे कि बिस्मार्क की नीति से विद्रोह हुए बिना न रहेगा। पर बिस्मार्क उन्हें समझाता था—विद्रोह से क्या डरना है? रणक्षेत्र में मृत्यु हुई, या फाँसी के तख्ते पर। दोनों प्रकार की मृत्यु समान रूप से सम्मानास्पद हैं। बिस्मार्क की इस हिम्मत का ही नतीजा था कि राजा विलियम प्रथम इस प्रकार जनता की उपेक्षा करने के लिये तैयार हो गया। बिस्मार्क इतना सख्त और साहसी था, कि खुले तौर पर उसका विरोध कर सकना सम्भव नहीं था। सब लोग उससे डरते थे।

अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये बिस्मार्क का विश्वास था कि सेना को शक्तिशाली बनाना चाहिये। वह कहा करता था—इस समय के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का निर्णय व्याख्यानों और प्रस्तावों से नहीं होगा। उनका हल करने के लिये खून बहाने की आवश्यकता होगी। इसलिये, सेना को मजबूत करने के लिये वह लोकसभा की जरा भी परवाह नहीं करना चाहता था। उसके राजनैतिक उद्देश्यों का परिगणन इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) प्रशिया की सैनिक शक्ति को अद्वितीय और अजेय बनाना चाहिये।

(२) सैनिक बल का प्रयोग कर प्रशिया का विस्तार किया जावे और राजनीतिक शक्ति में वृद्धि की जावे।
(३) युद्ध द्वारा आस्ट्रिया को जर्मन राज्यसंघ से बाहर निकालना चाहिये।
(४) आस्ट्रिया को बहिष्कृत कर प्रशिया के नेतृत्व में सम्पूर्ण जर्मन राज्यों का नवीन और सुदृढ़ संगठन स्थापित करना चाहिये।
(५) इसके अनन्तर, सैनिक शक्ति में अद्वितीय जर्मनी को सम्पूर्ण यूरोप की प्रमुख शक्ति बना देना चाहिये।

बिस्मार्क ने इन उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिये जिस प्रकार प्रयत्न किया, इस पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

(३) डेन्मार्क के साथ युद्ध

लोकसभा के बहुमत की सर्वथा उपेक्षा कर बिस्मार्क ने बाधित सैनिक सेवा की पद्धति को अधिक विस्तृत कर दिया। रून और मोल्टके जैसे सुयोग्य सेनापतियों की अधीनता में प्रशियन सेना ने बड़ी उन्नति की। शीघ्र ही प्रशियन सेना यूरोप भर में सबसे अधिक शक्तिशाली हो गई। अब बिस्मार्क ने अनुभव किया कि अपने कार्यक्रम को क्रिया में परिणत करने का उपयुक्त समय आ गया है।

हॉल्स्टाइन और श्लेश्विग की समस्या—अपनी शक्ति को प्रदर्शित करने का पहला अवसर डेन्मार्क के साथ युद्ध में उपस्थित हुआ। जर्मनी और डेन्मार्क के बीच में दो प्रदेश थे, जो सदियों से डेन्मार्क के राजा के अधीन चले आते थे। इन के नाम हैं—श्लेश्विग और हॉल्स्टाइन। हॉल्स्टाइन की प्रायः सम्पूर्ण जनता जर्मन जाति की थी। श्लेश्विग में आधे जर्मन बसते थे और आधे डेन। ये दोनों प्रदेश डेन्मार्क के राजा के अधीन थे, पर ये डेन्मार्क के हिस्से न थे। इन सबका राजा ही एक था, अन्य किसी प्रकार की एकता इनमें न थी।

शासन इनका डेन्मार्क से पृथक् था। हॉल्स्टाइन जर्मन राज्य-संघ में भी सम्मिलित था, और इसके राजा की हैसियत से ही डेन्मार्क का राजा उपर्युक्त संघ में अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार रखता था। उन्नीसवीं सदी में यूरोप के अन्य देशों के समान डेन्मार्क में भी राष्ट्रीयता की लहर चल रही थी और डेन लोग अपनी राष्ट्रीय उन्नति के लिये प्रयत्न कर रहे थे। राष्ट्रवादी देशभक्त लोगों की आकांक्षा थी कि हॉल्स्टाइन और श्लेश्विग के प्रदेशों को भी डेन्मार्क में सम्मिलित कर लिया जाय, ताकि उनके देश की शक्ति अधिक बढ़ जाय। पर जर्मन लोग इसके विरोध में थे। न केवल इन प्रदेशों के जर्मन निवासी, पर साथ ही जर्मनी के लोग भी डेन देशभक्तों की इस आकांक्षा का विरोध कर रहे थे। १८६३ में डेन्मार्क के राजा क्रिश्चियन दशम ने अपने राज्य के आन्दोलनों के प्रभाव में आकर उद्घोषणा की कि श्लेश्विग को डेन्मार्क में सम्मिलित कर लिया गया है, और उसके अनुसार शासन विधान में आवश्यक परिवर्तन किये जावेंगे। जर्मन लोग इस उद्घोषणा को नहीं सह सकते थे। प्रशिया ने इसका विरोध किया। बिस्मार्क ने सोचा कि डेन्मार्क से लड़ाई शुरू करने का यह अच्छा मौका है। प्रशिया को इससे बहुत लाभ है। श्लेश्विग और हॉल्स्टाइन के महत्त्वपूर्ण प्रदेशों को हड़पने का इससे अच्छा अवसर फिर हाथ न आयगा। उसने आस्ट्रिया को इन प्रदेशों की समस्या का निपटारा करने में सहायता देने के लिये आमन्त्रित किया।

आस्ट्रिया चाहता था कि विजित प्रदेशों का बँटवारा किस प्रकार होगा, इसका फैसला पहले ही कर लिया जाय। पर बिस्मार्क ने कहा कि यह बात पीछे निश्चित की जा सकेगी। आस्ट्रिया तैयार हो गया और दोनों राज्यों की तरफ से सम्मिलित रूप में डेन्मार्क को अन्तिम सूचना दी गई, कि शीघ्रही नवीन शासन विधान का अन्त कर श्लेश्विग के प्रदेश को पृथक् कर दिया जाय। क्रिश्चियन दशम इसे स्वीकृत करने के

लिये उद्यत न हुआ। आखिर, प्रशिया और आस्ट्रिया की सम्मिलित सेनाओं ने १८६४ में डेन्मार्क पर आक्रमण किया। डेन्मार्क परास्त हो गया। उसके राजा को न केवल श्लेश्विग और हॉल्स्टाइन, पर साथ हो लायनबुर्ग के प्रदेश को भी विजेताओं के सुपुर्द कर देने के लिये बाधित होना पड़ा। प्रशिया और आस्ट्रिया जैसे शक्तिशाली राज्यों के सम्मुख डेन्मार्क की हैसियत ही क्या थी? उसकी बुरी तरह पराजय हुई।

सन्धि—परन्तु लूट के माल के बँटवारे पर विजेताओं में मत भेद हो गया। प्रशिया की इच्छा थी, कि तीनों प्रदेशों को अपने राज्य में मिला लिया जावे। आस्ट्रिया चाहता था कि इन्हें जर्मन राज्यसंघ में स्वतन्त्र रूप से सम्मिलित किया जावे। आखिर दोनों में सन्धि हो गई। बिस्मार्क अनुभव करता था कि अभी आस्ट्रिया से युद्ध शुरू करने का समय नहीं आया है, अतः सन्धि कर लेने में ही उसे फायदा नजर आता था। सन्धि के द्वारा विजित प्रदेशों की जो व्यवस्था हुई, वह इस प्रकार थी—(१) लायनबुर्ग को प्रशिया ने खरीद लिया। क्रय का मूल्य आस्ट्रिया को मिला। (२) श्लेश्विग प्रशिया को प्राप्त हुआ। प्रशिया इसे प्राप्त करने को बहुत उत्सुक था। कील का प्रसिद्ध बन्दरगाह इसमें ही स्थित था। (३) हॉल्स्टाइन पर आस्ट्रिया ने कब्जा जमा लिया।

इस सन्धि में आस्ट्रिया और प्रशिया—दोनों को एक बराबर लाभ हुआ। पर बिस्मार्क इसे केवल क्षणिक समझौता मात्र ही समझ रहा था। आस्ट्रिया को परास्त करने के लिये वह उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में था। यह अवसर उसे शीघ्र ही मिल गया।

(४) आष्ट्रो-प्रशियन युद्ध और उत्तरीय जर्मन राज्यसंघ का निर्माण

युद्ध की तैयारी – बिस्मार्क के सम्मुख अगला कार्य यह था,

कि आस्ट्रिया को परास्त कर उसे जर्मन राज्यसंघ से बहिष्कृत करे। पर यह कार्य डेन्मार्क जैसे छोटे से राज्य को परास्त कर देने के समान सुगम नहीं था। आस्ट्रिया यूरोप के सबसे अधिक शक्तिशाली और प्राचीन राज्यों में से एक था। उसके साथ युद्ध यूरोप के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाल सकता था, अतः बिस्मार्क ने पहले यह उचित समझा कि अन्य राज्यों की नब्ज देख ले। ग्रेट ब्रिटेन आस्ट्रियन युद्ध में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करेगा, इसकी कोई सम्भावना न थी। रशिया के जार एलेक्जण्डर द्वितीय से बिस्मार्क पहले ही मित्रता कर चुका था। फ्रांस का क्या रुख होगा, यह अनिश्चित था। अतः बिस्मार्क स्वयं फ्रांस के सम्राट नैपोलियन तृतीय से मिलने के लिये गया। नैपोलियन को राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की बड़ी धुन थी। कम से कम वह प्रदर्शित तो यही करता था। अतः बिस्मार्क ने उसे समझाया, कि हम लोग जर्मनी में राष्ट्रीय एकता को स्थापित करने के लिये प्रयत्न कर रहे हैं। आस्ट्रिया उसमें सबसे बड़ा विघ्न है। अतः उसे दूर करने के शुभ कार्य में नैपोलियन को प्रशिया की सहायता करनी चाहिये। बिस्मार्क ने केवल शुष्क सिद्धान्तों की ही विवेचना नहीं की। उसने नैपोलियन को ठोस लालच भी दी। जिस प्रकार कावूर ने आस्ट्रिया के विरुद्ध फ्रांस की सहायता प्राप्त करने के लिये नीस और सेवोय के प्रदेश पेश किये थे, इसी प्रकार बिस्मार्क ने बेल्जियम और रहाइन की घाटी के कुछ प्रदेशों को प्रदान करने का जिक्र किया। बिस्मार्क का उद्देश्य केवल इतना था, कि फ्रांस आस्ट्रिया के साथ न मिल जावे। अपने लिये नैपोलियन की सहायता प्राप्त कर सकना उसे असम्भव प्रतीत होता था। आखिर, नैपोलियन उदासीन रहने के लिये तैयार हो गया। उसने सोचा, प्रशिया और आस्ट्रिया आपस में लड़कर बहुत निर्बल हो जावेंगे, और फिर उत्तर दिशा में भी

अपने साम्राज्य का विस्तार कर सकना सुगम हो जायगा। इस विचार से नैपोलियन ने यही निश्चय किया, कि आस्ट्रिया को सहायता न दी जावे। इटली में राष्ट्रीय एकता स्थापित हुए अभी अधिक समय नहीं हुआ था। नवीन इटालियन राज्य वेनेटिया को आस्ट्रिया की अधीनता से मुक्त कराने के लिये उत्सुक था। अतः बिस्मार्क के लिये यह बहुत सुगम था कि इटली की सहायता आस्ट्रिया के विरोध में प्राप्त कर सके। उसने इटली से समझौता किया कि आस्ट्रिया के परास्त होने पर वेनेटिया उसे दे दिया जावेगा और युद्ध शुरू होने पर वह दक्षिण की तरफ से आस्ट्रिया पर आक्रमण करेगा।

युद्ध का प्रारम्भ—सब तैयारी हो चुकी थी, अब युद्ध के लिये कोई उपयुक्त अवसर ढूँढ़ना बाकी था। श्लेश्विग और हॉल्स्टाइन के प्रदेशों के बारे में प्रशिया और आस्ट्रिया की जो सन्धि हुई थी, उसकी शर्तों के सम्बन्ध में कोई झगड़े की बात ढूंढ़ निकालना मुश्किल नहीं था। जून १८६६ में ऐसा मौका मिल गया और प्रशिया ने आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध उद्घोषित कर दिया। अनेक जर्मन राज्यों ने आस्ट्रिया का साथ दिया।

सेडोवा का युद्ध—३ जुलाई के दिन सेडोवा या क्यूनिगग्रेट्ज के रणक्षेत्र में बहुत बड़ी लड़ाई लड़ी गई। इसमें आस्ट्रिया की पराजय हुई। सेडोवा के युद्ध के साथ आष्ट्रो-प्रशियन युद्ध प्रायः समाप्त हो गया। तीन सप्ताह से भी कम समय में बिस्मार्क की सेनाओं ने इस बात का फैसला कर दिया कि प्रशिया और आस्ट्रिया में से किसे जर्मनी का नेतृत्व करना है। इसके बाद एक एक करके उन जर्मन राज्यों पर हमला किया गया, जिन्होंने आस्ट्रिया का साथ दिया था। उन सबको बुरी तरह से परास्त किया गया। आस्ट्रिया की सेनायें इतनी बुरी तरह से परास्त हो गई थीं, कि विलियम प्रथम और अनेक सेनापतियों की यह

इच्छा थी कि आस्ट्रिया की राजधानी वीएना पर हमला किया जाय। पर बिस्मार्क ने इसका विरोध किया। वह इसे जर्मन-संगठन के महत्त्वपूर्ण कार्य में व्यर्थ की बाधा समझता था। उसके विरोध से वीएना पर आक्रमण करने का विचार छोड़ दिया गया।

सन्धि—२३ अगस्त १८६६ को प्राग में आस्ट्रिया और प्रशिया में सन्धि हो गई। इस सन्धि के अनुसार (१) १८१५ में वीएना की कांग्रेस द्वारा आस्ट्रिया के नेतृत्व में जो जर्मन राज्यसंघ बना था, उसे बर्खास्त कर दिया गया। (२) श्लेश्विग और हॉल्स्टाइन—दोनों प्रदेश प्रशिया को दे दिये गये। (३) वेनेटिया इटली को दे दिया गया। (४) आस्ट्रिया हरजाना देने के लिये मजबूर किया गया।

प्रशिया का विस्तार—इतना ही नहीं, आस्ट्रो-प्रशियन युद्ध से प्रशिया को अन्य भी अनेक लाभ हुए। हैनोवर, हैस्से-कैसल, नास्सो और फ्रांकफोर्ट—इन सब राज्यों को प्रशिया ने अपने साथ सम्मिलित कर लिया। इन सबने गत युद्ध में आस्ट्रिया की सहायता की थी। अतः इन्हें अपने साथ मिला लेने में बिस्मार्क को कुछ भी अनौचित्य नजर न आता था। हायनबुर्ग, श्लेश्विग और हॉल्स्टाइन पर तो प्रशिया ने अपना अधिकार जमा ही लिया था। इस प्रकार अब आस्ट्रो-प्रशियन युद्ध के परिणामस्वरूप प्रशिया को जो नवीन प्रदेश प्राप्त हुए थे, उनका क्षेत्रफल हालैण्ड से दुगना था। उनकी आबादी भी ५० लाख से अधिक थी। इन प्रदेशों की प्राप्ति से प्रशिया इतना बड़ा हो गया था, कि सम्पूर्ण जर्मनी का दो-तिहाई प्रदेश और दो-तिहाई जनता उसके अधीन थी। प्रशिया की कुल आबादी २½ करोड़ से अधिक थी। वह यूरोप के प्रमुख राज्यों में एक था। इस स्थिति में शेष जर्मन राज्यों को अपने साथ संगठित करना बहुत कठिन नहीं था। अन्य सब राज्य मिलकर भी प्रशिया के सम्मुख सर्वथा नगण्य थे।

उत्तरीय जर्मन राज्यसंघ—अब अगला प्रश्न जर्मन राज्यों को नये सिरे से संगठित करने का था। प्रशिया की इच्छा थी कि सम्पूर्ण जर्मन राज्यों को मिलाकर जर्मन राज्यसंघ की रचना की जावे। पर अभी यह सम्भव नहीं था। दक्षिणी जर्मनी में चार राज्य थे, जो पर्याप्त शक्तिशाली थे। इनके नाम हैं, बवेरिया, बाडन, वुर्टम्बर्ग और हैस्से-डार्मस्टाट। बिस्मार्क भली भाँति अनुभव करता था, कि अभी इन राज्यों को अपनी इच्छानुसार संघ में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। अतः उसने यही उचित समझा कि इन चार राज्यों को छोड़कर शेष जर्मनी का संगठन बनाया जावे। यही 'उत्तरीय-जर्मन राज्यसंघ' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें प्रशिया के अतिरिक्त २१ अन्य छोटे छोटे राज्य सम्मिलित थे। इस नवीन राज्यसंघ का संगठन किस प्रकार का था, इसे स्पष्ट करने की आवश्यकता है। इसका निर्माण करते हुए तीन बातों का ख्याल रखा गया था—

संगठन—(१) राज्यसंघ के सम्पूर्ण निवासियों को शासन में अधिकार दिये जावें। इसके लिये यह व्यवस्था की गई थी कि संघ की एक व्यवस्थापिका सभा में सम्पूर्ण जनता को अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करने का अधिकार दिया जावे।

(२) प्रशिया की महत्ता को कायम रखा जावे। इसके लिये प्रशिया के राजा को सम्पूर्ण राज्यसंघ का अध्यक्ष बनाया गया और व्यवस्थापन-विभाग में प्रशिया के प्रतिनिधियों की बहुसंख्या कायम रखी गई।

(३) अन्य राज्यों को भी संघ में सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त हो, इसके लिये संघ-सभा में प्रत्येक राज्य का—चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो—कम से कम एक वोट रखा गया।

उत्तरीय जर्मन राज्यसंघ का अध्यक्ष प्रशिया का राजा होता था। वह अपना प्रधान मन्त्री स्वयं चुनता था। प्रधान मन्त्री व्यवस्थापन-

विभाग के प्रति उत्तरदायी नहीं होता था। व्यवस्थापन-विभाग में दो सभायें थी—(१) संघसभा (बुन्डसराट)—इसमें सब राज्यों के राजाओं के प्रतिनिधि सम्मिलित होते थे। प्रत्येक राज्य का कम से कम एक एक प्रतिनिधि अवश्य होता था। (२) लोकसभा (रीशटाग)—सम्पूर्ण जनता इसके लिये प्रतिनिधि निर्वाचित करती थी। वोट का अधिकार सब पुरुषों को प्राप्त था। बिस्मार्क जैसे पुराने विचारों के आदमी के होते हुए भी वोट का यह सुविस्तृत अधिकार वस्तुतः आश्चर्यजनक है। असली बात यह है, कि इतिहास की प्रवृत्तियों को रोक सकना किसी एक व्यक्ति के लिये—चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, कभी सम्भव नहीं होता। निस्सन्देह, बिस्मार्क की शक्ति असाधारण थी। पर समय की लहर बहुत प्रबल थी। जर्मन जनता अपने अधिकारों के लिये अनेक संघर्ष कर चुकी थी। अब उसे रोक सकना सुगम कार्य न था।

उत्तरीय जर्मन राज्यसंघ की रचना इस ढंग से की गई थी, कि बवेरिया आदि दक्षिणीय राज्यों को सम्मिलित करने का जिस समय मौका आये, तो शासन विधान का निर्माण नये सिरे से न करना पड़े। उन्हें अपने अन्दर सम्मिलित करने की गुञ्जाइश पहले से ही कर ली गई थी। कुछ समय के बाद जब इसके लिये अवसर उपस्थित हुआ, तो किसी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के बिना ही वे राज्य जर्मन संघ में सम्मिलित कर लिये गये।

(५) फ्रैंको-प्रशियन युद्ध और संगठित जर्मन साम्राज्य की स्थापना

कारण—नैपोलियन तृतीय का खयाल था, कि आस्ट्रिया और प्रशिया का युद्ध बहुत देर तक चलेगा। दोनों राज्य आपस में लड़कर कमजोर हो जावेंगे और फिर फ्रांस को अपनी शक्ति का विस्तार

करने का अच्छा अवसर प्राप्त होगा। पर उसके सब सुख-स्वप्न मट्टी में मिल गये, जब कि सेडोवा की लड़ाई में आस्ट्रिया परास्त हो गया और प्रशिया की विजय हुई। प्रशिया दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति कर रहा था। उसकी सेना यूरोप में सबसे अधिक शक्तिशाली थी। उसके नेतृत्व में अधिकांश जर्मन राज्यों का संगठन हो चुका था। नैपोलियन अपने पड़ोस में इस प्रकार के शक्तिशाली राष्ट्र का प्रादुर्भाव नहीं सहन कर सकता था। वह चाहता था कि इसे प्रारम्भ में ही नष्ट कर दिया जावे। प्रशिया जिस प्रकार तेजी से उन्नति कर रहा था, उससे यह निश्चित था कि वह फ्रांस का भयंकर प्रतिस्पर्धी हो जायगा। नैपोलियन इस बात को कब सहन कर सकता था? प्रशिया और फ्रांस के हित आपस में टकराते भी थे। बवेरिया, बाडन, वुर्टम्बर्ग और हैस्से-डार्मस्टाट—ये चार दक्षिणीय जर्मन राज्य अभी तक जर्मन राज्यसंघ में सम्मिलित नहीं हुए थे। बिस्मार्क इन्हें भी अपने संघ में मिलाना चाहता था। पर नैपोलियन का हित इस बात में था, कि ये राज्य पृथक् रहें। वह इन्हें अपने प्रभाव में रखने को इच्छुक था। प्रथम नैपोलियन द्वारा स्थापित 'दक्षिणीय जर्मन राज्य-संघ' का स्वप्न लेकर वह इन राज्यों को अपने प्रभाव में, और यदि हो सके तो, संरक्षा में रखने को उत्सुक था। इसके अतिरिक्त, नैपोलियन कुछ कर दिखाने के लिये बहुत उतावला था। शासन-विधान की उपेक्षा कर षड्यंत्र द्वारा वह सम्राट् पद पर पहुँचा था। इस गौरवास्पद पद को कायम रखने के लिये शानदार विजयों की जरूरत थी। मैक्सिको में अपना शासन स्थापित करने के प्रयत्न में उसे भारी निराशा का सामना करना पड़ा था। फ्रेञ्च लोग इस बात से बहुत असंतुष्ट थे। नैपोलियन का प्रभाव बहुत कम हो गया था। अतः वह चाहता था कि नई विजयों द्वारा जनता के हृदय में फिर उसी स्थान को प्राप्त कर ले। इसके अतिरिक्त, नैपोलियन प्रशिया से विशेष रूप से

नाराज था। उसकी इच्छा थी कि हालैण्ड से लुक्सम्बुर्ग नामक प्रदेश को खरीद ले। उसे अपने प्रयत्न में अवश्य सफलता हो जाती, यदि प्रशिया हस्तक्षेप न करता। लुक्सम्बुर्ग को न खरीद सकने के कारण नैपोलियन प्रशिया से बहुत चिढ़ा हुआ था। इन सब कारणों के साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि फ्रांस और प्रशिया—दोनों राज्यों में राष्ट्रीयता की भावना बड़े तीव्र रूप में व्याप्त हो रही थी। राष्ट्रीयता बहुत अच्छी चीज है, पर दुनिया की प्रत्येक अच्छी चीज की तरह इसका अतिशय मात्रा बहुत नुकसान पहुँचाती है। राष्ट्रीयता सिखाती है, कि एक किसम के लोग एक साथ निवास करें, साथ मिल कर अपनी अपनी उन्नति करें। किसी दूसरे किसम के लोगों के अधीन न होकर अपनी इच्छा और आदर्शों के अनुसार अपनी उन्नति करें। यहाँ तक तो ठीक है। पर कुछ आगे और बढ़िये। यदि राष्ट्रीयता को बहुत बढ़ा दिया जावे, तो उसका मतलब यह भी हो जाता है कि दुनिया में हम ही हम रहें, और कोई जीने ही न पावे। फ्रांस और प्रशिया दोनों इसी बीमारी के शिकार थे। पहले किसी जमाने में इन दोनों राज्यों की सरकारें राष्ट्रीयता के खिलाफ थीं। पर अब समय बदल चुका था। अब शासक लोग स्वयं अपने हित के लिये इस लोकप्रिय सिद्धान्त का उपयोग कर रहे थे। दोनों देशों के अखबारों में अपने राष्ट्र के विस्तार के लिये आन्दोलन चल रहा था। प्रशिया कहता था—हमें नीचे दक्षिण की तरफ बढ़ना चाहिये। फ्रांस कहता था—हमें उत्तर में र्हाइन नदी तक तो अवश्य ही पहुँचना चाहिये। फ्रेञ्च अखबार लिखते थे—बर्लिन पर चढ़ चलो। प्रशियन अखबार लिखते थे—पेरिस पर चढ़ चलो। इस दशा में युद्ध शुरू होने में कितनी देर लग सकती थी?

स्पेन की राजगद्दी का मामला—दोनों देश युद्ध के लिये उतावले हो रहे थे। आखिर, उन्हें अपनी आकांक्षा पूर्ण करने का

उपयुक्त अवसर मिल गया। १८६८ में स्पेन की स्वेच्छाचारी साम्राज्ञी इसाबेला के विरुद्ध जनता ने विद्रोह कर उसे राज्यच्युत कर दिया था। अब प्रश्न यह था, कि स्पेन की राजगद्दी पर किसे बिठाया जाय। बिस्मार्क ने बड़ी नीति कुशलता से स्पेनिश नेताओं को इस बात के लिये तैयार किया कि वे प्रशिया के राजा विलियम प्रथम के सम्बन्धी लियोपोल्ड को अपना राजा निर्वाचित करें। नैपोलियन तृतीय इस बात को नहीं सह सका। पेरिस के अखबारनवीसों ने प्रसिया के विरुद्ध जहर उगलना प्रारम्भ किया। प्रशिया के हाहेनट्शोलर्न वंश के इस उत्कर्ष को वे भला कब सहन कर सकते थे। उन्होंने कहना शुरू किया कि लियोपोल्ड के स्पेनिश राज्यसिंहासन पर आरूढ़ हो जाने से स्पेन पर प्रशिया का प्रभुत्व स्थापित हो जायगा और यह बात यूरोप की शान्ति के लिये खतरनाक होगी। फ्रांस के विरोध का परिणाम यह हुआ कि लियोपोल्ड ने स्वयमेव राजगद्दी की उम्मीदवारी का परित्याग कर दिया। पर नैपोलियन को इतने से सन्तोष नहीं था। वह तो युद्ध के लिये तुला हुआ था। उसने उद्घोषित किया कि लियोपोल्ड की तरफ से राजा बनने के लिये उम्मेदवारी का परित्याग कर देना ही फ्रांस के लिये काफी नहीं है। प्रशिया की ओर से प्रामाणिक रूप से उद्घोषणा होनी चाहिये कि भविष्य में होहेनट्शोलर्न वंश का कोई कुमार स्पेन की राजगद्दी के लिये उम्मीदवार नहीं होगा। प्रशिया में स्थित फ्रेञ्च राजदूत ने अपने अपने सम्राट् की यह माँग विलियम प्रथम के सम्मुख उपस्थित की। विलियम ने इसे स्वीकृत करने से इनकार कर दिया। बिस्मार्क ने जान बूझकर इस घटना को प्रशिया के समाचारपत्रों में इस ढंग से प्रकाशित करवाया, ताकि लोग समझें कि फ्रेञ्च राजदूत ने विलियम का अपमान किया है। प्रशियन लोग अपने राजा के अपमान का समाचार पढ़कर भड़क गये। दोनों देश युद्ध के लिये पहले ही तैयार बैठे थे। १६ जुलाई, सन् १८७० को

फ्रांस की राष्ट्र प्रतिनिधि सभा के सम्मुख प्रशिया के विरुद्ध युद्ध उद्घोषित करने का प्रस्ताव उपस्थित किया गया। विरोध में केवल १० वोट आये। उसी दिन युद्ध की उद्घोषणा कर दी गई। दोनों देश एक दूसरे पर आक्रमण करने के लिये सन्नद्ध हो गये।

युद्ध की उद्घोषणा—युद्ध शुरू हो गया। नैपोलियन को आशा थी कि बवेरिया आदि दक्षिणीय जर्मन राज्य उसकी सहायता करेंगे, पर उसे निराश होना पड़ा। जर्मनी में राष्ट्रीयता की भावना बहुत प्रबल हो चुकी थी। सम्पूर्ण जर्मनी हथियार लेकर फ्रांस के खिलाफ उठ खड़ा हुआ। बात की बात में दस लाख जर्मन सैनिक राइन नदी को पार कर फ्रांस पर आक्रमण करने के लिये चल पड़े।

सीडन का युद्ध—जर्मन सेनापतियों की योजना थी कि मेट्ज और स्ट्रास्सबुर्ग के दुर्गों में स्थित फ्रेञ्च सेना को परास्त कर पेरिस पर आक्रमण किया जावेगा। इन दोनों दुर्गों को घेर लिया गया और फ्रांस की बढ़ती हुई सेना का सीडन के रणक्षेत्र में मुकाबला किया गया। १ सितम्बर १८७० को सीडन में फ्रांस और जर्मनी का युद्ध हुआ। फ्रांस की बुरी तरह पराजय हुई। सम्राट् नैपोलियन तृतीय अपने ८१ हजार सैनिकों के साथ जर्मन लोगों के हाथ में कैद हो गया।

पेरिस का आत्मसमर्पण—उधर मेट्ज और स्ट्रास्सबुर्ग के घेरे जारी थे। इन दुर्गों को जीतने की भी प्रतीक्षा न कर जर्मन सेनाओं ने पेरिस पर आक्रमण किया। पेरिस घेर लिया गया। फ्रेञ्च लोगों ने बड़ी वीरता के साथ शत्रुओं का मुकाबला किया। खाद्य पदार्थों की अत्यन्त कमी हो गई, पर फ्रेञ्च लोग घबराये नहीं। उन्होंने कुत्ते, बिल्ली, चूहे और पक्षी सब खा लिये। और तो और रहा, चिड़ियाघर के जानवरों पर भी हाथ साफ कर दिया गया। इस दुरवस्था में भी पेरिस के लोगों ने हिम्मत न हारी। सामयिक सरकार के नेता गैम्बेटा ने बैलून पर बैठकर पेरिस से प्रस्थान किया और बोर्डियो पहुँचकर

पेरिस की रक्षा के लिये सेना एकत्रित करनी प्रारम्भ की। इस बीच में २७ अक्टूबर को मेट्ज परास्त हो चुका था। वहाँ के १ लाख ७३ हजार आदमी आत्मसमर्पण कर चुके थे। कुछ दिनों बाद स्ट्रास्सबुर्ग भी जीत लिया गया था। इस स्थिति में पेरिस के लिये और अधिक मुकाबला करना व्यर्थ था।

फ्रांकफोर्ट की सन्धि—भूख और ठण्ड के कारण लोग तंग आ गये थे। २८ जनवरी, १८७१ के दिन सामयिक सन्धि कर ली गई। फ्रांकफोर्ट में स्थिर सन्धि के लिये परिषद् प्रारम्भ हुई। आखिर, १० मई १८७१ को दोनों देशों में सन्धि हो गई। यह फ्रांकफोर्ट की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी मुख्य मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—

(१) फ्रांस ३ अरब रुपया हरजाने के तौर पर जर्मनी को दे।

(२) जब तक यह हरजाना वसूल न हो, तब तक जर्मन सेना उत्तरीय फ्रांस पर कब्जा कायम रखे।

(३) आल्सेस और लारेन के प्रदेश जर्मनी को दिये जावें।

फ्रांस के लिये ये शर्तें बहुत कठोर थीं। विशेषतया, आल्सेस और लारेन के प्रदेशों का जर्मनी के साथ सम्मिलित किया जाना फ्रेञ्च लोगों को बहुत असह्य था। इन प्रदेशों के अधिकांश निवासी फ्रेञ्च जाति के थे। पुराने जमाने में ये पृथक् राज्य के रूप में थे और पवित्र रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत समझे जाते थे। इस कारण जर्मनी इन पर अपना दावा समझता था। पर अब राष्ट्रीयता के युग में फ्रेञ्च जाति के लोगों का जर्मनी के अन्तर्गत किया जाना बहुत अनुचित तथा न्यायविरुद्ध अनुभव किया जा रहा था। आल्सेस और लारेन के फ्रेञ्च निवासी किसी भी तरह जर्मन लोगों के साथ नहीं रहना चाहते थे। यही कारण है, कि बहुत से लोग अपने घरों का परित्याग कर इस समय फ्रांस आ बसे।

फ्रांकफोर्ट की इस सन्धि का ही परिणाम था कि फ्रांस और जर्मनी में दुश्मनी की जड़ जम गई। हरजाना अदा करने के लिये फ्रेञ्च

लोगों को बड़ी-बड़ी कुरबानियां करनी पड़ीं। उत्तरीय फ्रांस में जर्मन सेना मौजूद थी। उसकी सत्ता को फ्रेञ्च लोग नहीं सह सकते थे। पर वे क्या करते ? वे विवश थे। जब तक हरजाने की सम्पूर्ण रकम वसूल न हो गई, यह सेना फ्रांस से न हटी। फ्रेञ्च लोगों में इन सब बातों का बदला लेने की प्रबल आकांक्षा थी। १९१४-१८ के यूरोपियन महायुद्ध के अनन्तर जर्मनी के पराजित होने पर फ्रांस ने १८७१ की सन्धि का पूरी तरह बदला लिया।

जर्मन-साम्राज्य की स्थापना—फ्रैंको-जर्मन युद्ध अभी समाप्त भी न हुआ था, कि बिस्मार्क ने जर्मन संगठन को पूर्ण करने के लिये प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। दक्षिणीय जर्मनी के चारों राज्यों से पृथक् पृथक् सन्धि की गई। अन्य राज्यों की अपेक्षा उन्हें कुछ अधिक सुभीते दिये गये और वे जर्मन राज्य-संघ में सम्मिलित होने के लिये तैयार हो गये। 'राज्यसंघ' का नाम बदल कर 'साम्राज्य' कर दिया गया, और इस नवीन जर्मन-साम्राज्य के अध्यक्ष को सम्राट् की पदवी दी गई। प्रशिया का राजा अब जर्मन सम्राट् बन गया। पेरिस के आत्मसमर्पण के दस दिन पूर्व १८ जनवरी, १८७१ को वर्साय्य के राजप्रासाद के शीशमहल में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उत्सव की आयोजना की गई। जर्मनी के विविध राजा बड़ी शान से अपने-अपने आसनों पर बैठे थे। बीच में एक ऊँची वेदी पर प्रशिया का राजा विलियम प्रथम विराजमान था। बवेरिया के राज-प्रतिनिधि ने खड़े होकर अपने साथी राज्यों की तरफ से विलियम की सेवा में साम्राज्य का राजमुकुट पेश किया। इसके अनन्तर बिस्मार्क ने जर्मन साम्राज्य के निर्माण का उद्घोषणा-पत्र पढ़ सुनाया। विलियम के राजमुकुट को सिर पर धारण करने के साथ ही पेरिस के चारों ओर मीलों तक तोपों से सलामी दी गई। जर्मन सेना की खुशी का पारावार न रहा। जिस राष्ट्रीय एकता के लिये जर्मन लोग इतने समय से

उत्सुक थे, आखिर प्रशिया के नेतृत्व में और बिस्मार्क के प्रयत्न से वह सम्पन्न हो गई।

उत्तरीय जर्मन राज्य-संघ के संगठन को ही कुछ परिवर्तित कर जर्मन साम्राज्य का संगठन निश्चित किया गया। यह नवीन संगठन १९१८ की जर्मन राज्यक्रान्ति तक कायम रहा। बिस्मार्क साम्राज्य का प्रथम प्रधान-मन्त्री बना।

बिस्मार्क के जीवन की सबसे प्रधान महत्त्वाकांक्षा पूर्ण हो चुकी थी। अब उसके तथा उसके अनुयायियों के सम्मुख यही कार्य शेष बचा था कि जर्मनी को यूरोप का सर्वप्रधान राज्य बनाया जावे और पृथिवी के विविध प्रदेशों में भी जर्मन सत्ता का विस्तार हो। जर्मनी की यही महत्त्वाकांक्षा १९१४-१८ के प्रसिद्ध यूरोपीय महायुद्ध में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारण थी।

Half Exam

सत्ताईसवाँ अध्याय

इङ्गलैण्ड में सुधार का काल

(१) पुराना इङ्गलैण्ड

फ्रांस की राज्यक्रान्ति से पूर्व इङ्गलैण्ड यूरोप में सबसे अधिक उन्नत और प्रगतिशील देश माना जाता था। उदार विचारों के लोग उसकी शासनपद्धति को आदर्श समझते थे। मान्टस्क्यू और वाल्टेयर जैसे उदार और क्रान्तिकारी फ्रेन्च विचारकों ने इङ्गलिश शासनपद्धति की बड़ी प्रशंसा की थी और यूरोप के अत्याचार-पीड़ित लोगों के सम्मुख उसी को आदर्श रूप में पेश किया था। इङ्गलैण्ड में पार्लियामैन्ट की स्थापना हो चुकी थी। हाउस आफ कामन्स के सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होते थे। प्रत्येक कानून पार्लियामैन्ट द्वारा स्वीकृत होने पर ही लागू होता था। कानून के अनुसार ठीक तरह न्याय करने के लिये बाकायदा न्यायालयों का भी संगठन हो चुका था। राजा इङ्गलैण्ड में विद्यमान था, पर पार्लियामैन्ट और स्वतन्त्र न्यायालयों की सत्ता के कारण वह यूरोप के समकालीन राजाओं के समान एकतन्त्र और स्वेच्छाचारी नहीं था। उसकी शक्ति कानूनों द्वारा सीमित थी। इङ्गलैण्ड में वैध राजसत्ता की स्थापना फ्रेञ्च राज्यक्रान्ति से लगभग एक सदी पहले से हो चुकी थी।

इङ्गलिश लोगों ने इस उन्नत शासनविधान को कैसे और कब प्राप्त किया, इसकी कथा बहुत बड़ी है। उसे लिखने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। मध्यकाल से ही वहाँ पार्लियामैन्ट विद्यमान थीं। पर पहले यह पार्लियामैन्ट बड़े बड़े सामन्तों की सभा के अतिरिक्त कोई चीज न थी। राजा इसके कार्य में यथेष्ट रूप से हस्तक्षेप करता था। यह राजा के हाथ में कठपुतली के समान होती थी। सतरहवीं सदी में इङ्गलैण्ड में स्टुअर्ट वंश के राजा राज्य करते थे। ये पूर्णरुप से स्वेच्छाचारी और एकतन्त्र राजा थे। राजा के दैवीय अधिकार में इनका दृढ़ विश्वास था। स्टुअर्ट वंश का पहला राजा जेम्स प्रथम कहा करता था—"ईश्वर क्या कर सकता है, इस पर आशंका करना नास्तिकता और धर्मद्रोह है। इसी प्रकार राजा क्या कर सकता है, इस बात पर विचार करना या यह समझना कि राजा यह काम नहीं कर सकता, राजद्रोह और राजा का अपमान करना है।" जेम्स प्रथम और उसके उत्तराधिकारी स्टुअर्ट राजा अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि समझते थे और अपने ईश्वरविहित अधिकारों में जनता द्वारा किसी भी प्रकार की बाधा व मर्यादा को नहीं सह सकते थे। उनके स्वेच्छाचार का परिणाम यह हुआ, कि सन् १६४२ में जनता ने विद्रोह कर दिया। राजा और जनता में बाकायदा लड़ाई शुरू हो गई। अन्त में राजा परास्त हुआ। उसे गिरफ़्तार कर लिया गया और सन् १६४६ में फाँसी पर चढ़ा दिया गया। जनता द्वारा कतल किये जाने वाले इस राजा का नाम चार्ल्स प्रथम था और यह जेम्स प्रथम के बाद इङ्गलैण्ड का राजा बना था। चार्ल्स प्रथम को कतल कर इङ्गलिश जनता ने रिपब्लिक की स्थापना की। क्रोमवेल इस रिपब्लिक का पहला राष्ट्रपति बना। पर अभी रिपब्लिकों का युग नहीं आया था। कुछ ही वर्षों बाद सन् १६६० में रिपब्लिक की

समाप्ति हो गई और स्टुअर्ट वंश का चार्ल्स द्वितीय फिर इङ्गलैण्ड का राजा बन गया। चार्ल्स द्वितीय भी राजा के दैवीय अधिकारों पर विश्वास रखता था और राज्यकार्य में जनता का किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप सहन नहीं कर सकता था। पर वह बुद्धिमान और कार्यकुशल राजा था। उसने अपने शासनकाल में जनता को खुश करने के लिये अनेक कानून जारी किये। चार्ल्स द्वितीय की मृत्यु के बाद १६८५ में उसका लड़का जेम्स द्वितीय राजगद्दी पर बैठा। उसने अपने पिता की नीति का परित्याग कर फिर स्वेच्छाचारी नीति का आश्रय लिया। परिणाम यह हुआ कि १६८८ में जनता ने विद्रोह किया। जेम्स द्वितीय को राजगद्दी से च्युत कर विलियम तृतीय को इङ्गलैण्ड की राजगद्दी सँभालने के लिये निमन्त्रित किया गया। यह विलियम तृतीय नीदरलैण्ड (हालैण्ड) का राजा था और इसकी धर्मपत्नी मेरी इङ्गलैण्ड के राजवंश की थी। जेम्स द्वितीय विलियम का मुकाबला नहीं कर सका। वह परास्त हो गया और 'जनता की इच्छा से' विलियम तृतीय इङ्गलैण्ड का राजा बना।

इङ्गलिश जनता की यह महान् विजय थी। विलियम तृतीय को जनता ने अपनी इच्छा से राजा बनाया था। वह स्टुअर्ट वंश के राजाओं के समान एकतन्त्र व स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता था। राजा की शक्ति को सीमित करने के लिये पार्लियामैन्ट में इस समय एक विधान पेश किया गया। जिसे 'बिल आफ राइट्स' या 'अधिकार विधान' कहते हैं। इसमें मुख्यतया निम्नलिखित अधिकारों को स्थापित किया गया था—राजा देश के किसी कानून का उल्लंघन न कर सके। पार्लियामैन्ट की स्वीकृति के बिना राजा कोई नया टैक्स न लगा सके। पार्लियामैन्ट में सदस्यों को भाषण की पूर्ण स्वतन्त्रता रहे। क्रूरता से युक्त सजायें न दी जावें, सजा में अत्यधिक जुरमाने भी न किये जावें। प्रत्येक नागरिक को अधिकार हो कि वह राजा के

सम्मुख अपने प्रार्थना-पत्र पेश कर सके। इसी प्रकार के अन्य बहुत से अधिकार इस 'बिल आफ राइटस' द्वारा जनता को दिये गये। विलियम तृतीय ने इन्हें स्वीकृत किया और तभी जनता ने उसे अपना राजा माना।

जेम्स द्वितीय को राज्यच्युत कर अपनी इच्छा से विलियम तृतीय को राजगद्दी पर बिठाकर इङ्गलिश जनता ने सचमुच बड़ा भारी काम कर दिखाया था। इसे इतिहास में इङ्गलिश राज्यक्रान्ति कहते हैं। इस समय से, १६८८ से इङ्गलैण्ड में राजाओं के अपरिमित स्वेच्छाचार का सचमुच अन्त हो गया और पार्लियामैन्ट की शक्ति निरन्तर बढ़ने लगी। इसी बात को दृष्टि में रख कर यूरोप के उदार विचारक और क्रान्तिकारी लोग इङ्गलिश शासन-पद्धति की बड़ी प्रशंसा करते थे और उसे अन्य यूरोपियन राज्यों के लिये अनुकरणीय और आदर्श समझते थे।

यह सब कुछ होते हुए भी उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में इङ्गलैण्ड की शासन-पद्धति लोकतन्त्र व जनता की इच्छा पर आश्रित नहीं थी। वहाँ पार्लियामैन्ट बेशक थी, पर उसके सदस्यों का चुनव जिस ढंग से होता था, उसमें बहुत से दोष थे। वोट का अधिकार भी बहुत कम लोगों को था। देश की आबादी में निरन्तर परिवर्तन आते रहते हैं। अनेक नगर जो किसी जमाने में बड़े समृद्ध और आबाद थे, आगे चलकर उजड़ जाते हैं और अनेक नवीन नगरों का विकास हो जाता है। इसलिये उचित यह है कि समय समय पर निर्वाचन-क्षेत्रों का नये सिरे से संगठन होता रहे। पर इङ्गलैण्ड में पार्लियामेन्ट के चुनाव के लिये इस बात की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। कई सदी पहले से जो निर्वाचन-क्षेत्र चले आते थे, वे ही अब उन्नीसवीं सदी में भी विद्यमान थे। बकिङ्घम में वोटरों की संख्या केवल तेरह थी। गैटन में पाँच, आरफोर्ड में बीस और मिडलहर्स्ट में तेरह वोटर

थे। पर इन पुराने उजड़े हुए नगरों से पार्लियामैन्ट के लिये बाकायदा प्रतिनिधि निर्वाचित होते थे। ओल्ड सेरम में अब कोई भी बाशिन्दा नहीं रहा था, डन्विच नगर तो समुद्र में डूब चुका था, पर फिर भी इनकी ओर से निर्वाचित प्रतिनिधि बाकायदा पालियामैन्ट में पहुँचते थे। इस प्रकार के उजड़े हुए नगरों की संख्या बहुत काफी थी। उनके प्रदेश जिन अमीर लार्डों की जमींदारी में थे, वे ही अपनी तरफ से किन्हीं महानुभाव को नामजद कर पार्लियामैन्ट में भेज देते थे। दूसरी तरफ अनेक नवीन नगरों का विकास हो गया था, जिनसे एक भी प्रतिनिधि निर्वाचित नहीं होता था। व्यावसायिक क्रान्ति के कारण अनेक विशाल नगर इस समय विकसित हो गये थे, जिनकी आबादी लाखों में पहुँच रही थी। मान्चेस्टर, बर्मिङ्घम और लीड्स जैसे नये बसे हुए व्यवसाय-प्रधान नगरों का कोई भी प्रतिनिधि पार्लियामैन्ट में नहीं पहुँचता था। लार्ड जान रसल ने इस दशा को दृष्टि में रखकर एक भाषण में कहा था कि यदि कोई विदेशी यात्री हमारे देश में आये तो उसे यह देखकर कितना आश्चर्य होगा कि यहाँ हरियावल से पूर्ण अनेक मैदान जिनमें वनस्पतियाँ तो बहुत हैं, पर इन्सान का नामोनिशान भी नहीं है, पार्लियामैन्ट के लिये वाकायदा प्रतिनिधि चुनते हैं, और उन विशाल नगरों से जो व्यवसाय व्यापार आदि के महत्त्वपूर्ण केन्द्र हैं एक भी प्रतिनिधि निर्वाचित नहीं होता, यद्यपि पार्लियामैन्ट मनुष्यों के प्रतिनिधियों से बनती है, वनस्पतियों व हरियावल के प्रतिनिधियों से नहीं।

वोट का अधिकार भी बहुत कम लोगों को था। उस समय वोट नागरिकता के लिए कोई आवश्यक अधिकार नहीं माना जाता था। नगरों में केवल अमीर व्यापारियों को ही वोट का अधिकार था। व्यापारी लोग आपस में मिलकर किसी व्यक्ति को पार्लियामैन्ट के लिये चुन देते थे। देहातों में वोट का अधिकार केवल उन लोगों को था, जिनके पास अपनी

मल्कियत में ऐसी जमीन हो, जिसकी आमदनी कम से कम तीस रुपया वार्षिक हो। उस जमाने में तीस रुपया वार्षिक आमदनी की जागीर का मालिक होना कोई मामूली बात नहीं थी। देहातों में ऐसे लोग बहुत कम थे, जो इतनी जमीन के स्वामी हों। इस दशा का परिणाम यह था कि इङ्गलैण्ड में बालिग पुरुषों की जितनी आबादी थी, (स्त्रियों और नाबालिग बच्चों को निकाल कर) उसके केवल ५ फी सदी लोगों को वोट का अधिकार मिला हुआ था। स्काटलैण्ड की कुल आबादी २० लाख से ऊपर थी, पर उसमें वोट का अधिकार केवल तीन हजार आदमियों को था। बूट के ताल्लुके की आबादी १४ हजार थी, पर उसमें वोटर केवल २३ आदमी थे। कई ताल्लुकों में तो वोटर की संख्या केवल एक होती थी।

इतना ही नहीं, निर्वाचन में रिश्वत खूब चलती थी। रिश्वत को कुछ बुरा नहीं समझा जाता था। वह खुले तौर पर ली दी जाती थी। हमारे पक्ष में वोट दो, एक वोट के लिये हम इतनी कीमत प्रदान करेंगे, इस बात का खुला विज्ञापन उम्मीदवार लोग किया करते थे। वोट खुले तौर पर डाले जाते थे। इसका परिणाम यह होता था कि सर्व-साधारण वोटर स्वतन्त्रता के साथ वोट नहीं दे सकते थे। उन्हें इस बात का भय बना रहता था कि उनका जमींदार कहीं उन पर नाराज न हो जावे।

इन सब बातों का परिणाम यह था, कि इङ्गलैण्ड में पार्लियामैन्ट और उसके प्रति उत्तरदायी मन्त्रि-मन्डल के होते हुए भी लोकतंत्र शासन विद्यमान नहीं था। वहाँ की पार्लियामेन्ट की एक सभा हाउस आफ लार्ड्स तो बड़े जमींदारों और कुलीन श्रेणी के लोगों की सभा थी ही। दूसरी सभा हाउस आफ कामन्स पर भी उनका पूरा प्रभाव था। वे जिसे चाहते, प्रतिनिधि चुनवा सकते थे। इस प्रकार हाउस आफ कामन्स भी नाम को ही जनता के प्रतिनिधियों की सभा थी।

वस्तुतः कुलीन और जागीरदार श्रेणी के नामजद किये हुए सदस्यों का ही उसमें प्रभुत्व होता था।

(२) शासन में सुधार

इङ्गलैण्ड की शासन-पद्धति में जो दोष थे, उन्हें वहाँ के अनेक राजनीतिज्ञ अनुभव करते थे। अठारहवीं सदी में ही इन बुराइयों के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ हो गया था। पार्लियामेन्ट के सम्मुख शासन-सुधार के लिये अनेक मसविदे भी पेश किये गये थे। १७७० में लार्ड चैथम और उसके बाद उसके प्रसिद्ध पुत्र पिट ने शासन-सुधार संबंधी प्रस्ताव उपस्थित किये थे। पर अभी इन प्रस्तावों का कोई फैसला नहीं हुआ था कि उधर फ्रांस में राज्यक्रान्ति हो गई। कुछ ही दिनों में क्रान्ति ने भयकर रूप धारण कर लिया और यूरोप भर की सरकारें उसे कुचलने के लिये सन्नद्ध हो गईं। इङ्गलैण्ड ने भी राज्यक्रान्ति के विरुद्ध जिहाद शुरू किया। १८१५ तक इङ्गलैण्ड तथा अन्य यूरोपियन राज्य फ्रेञ्च राज्यक्रान्ति और नैपोलियन के विरुद्ध युद्ध करते रहे। इस समय में इङ्गलैण्ड में किसी भी सुधार-संबंधी प्रस्ताव का स्वीकृत होना असम्भव था। लोग कहते थे, यदि इङ्गलैण्ड में भी जनता को अधिकार दिये जावेंगे, तो उसका वही नतीजा होगा, जो फ्रांस में दृष्टिगोचर हो रहा है। १८१५ में वीएना की कांग्रेस के बाद यूरोप भर में प्रतिक्रिया का काल शुरू हुआ। समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृभाव की नई प्रवृत्तियों का स्थान कुलीनों के विशेषाधिकार और राजा को स्वेच्छाचारी एकतन्त्र शासन ने लिया। यूरोप के अनेक शक्तिशाली राजाओं ने मिलकर एक गुट का निर्माण किया, जिसका उद्देश्य ही क्रान्ति की प्रवृत्तियों और उदार विचारों को कुचलना था। सब जगह एकतन्त्र और स्वेच्छाचारी शासन कायम हो रहे थे। इङ्गलैण्ड में भी अनुदार (टोरी) दल का प्रभुत्व था। ये लोग सब प्रकार के शासन-सुधार के खिलाफ

थे। मैटरनिख का प्रसिद्ध मित्र ड्यूक ग्राफ वैलिङ्गटन इस समय इङ्गलैंड का प्रधान मन्त्री था। उसके रहते हुए सुधार की ग्राशा ही कैसे की जा सकती थी। इस काल में सुधार करने के बजाय ऐसे कानून पास किये गये, जिनका उद्देश्य नवीन विचारों व नई प्रवृत्तियों को कुचलना था। सन् १८१६ में सरकार की ग्रोर से 'सिक्स एक्टस' (छः कानून) पास किये गये, जिनसे जनता को स्वतन्त्र रूप से भाषण करने, लिखने ग्रौर सार्वजनिक सभायें करने में ग्रनेक रुकावटें डाली गई।

१८३० में क्रान्ति की दूसरी लहर शुरू हुई। फ्रांस, इटली, स्पेन ग्रादि विविध देशों में क्रान्ति हुई। इङ्गलैण्ड भी क्रान्ति की इस लहर से ग्रछूता नहीं रहा। नये विचारों के लोग पहले भी ग्रपना कार्य कर रहे थे, ग्रब उनमें नवजीवन ग्रा गया। लोकमत सुधारों के पक्ष में हो गया पार्लियामेण्ट में उदार (ह्विग) दल के लोगों की शक्ति बढ़ गई। ड्यूक ग्राफ वेलिङ्गटन को त्यागपत्र देना पड़ा ग्रौर उसके स्थान पर सुधारवादी उदार दल का प्रधान नेता लार्ड जान रसल प्रधान मन्त्री बना। १८३१ के मार्च मास में रसल ने सुधार के लिये मसविदा पेश किया। हाउस ग्राफ कामन्स में इसका घोर विरोध हुग्रा। पर रसल इससे घबराया नहीं। वह जानता था कि देश का लोकमत उसके साथ है। उसने हाउस ग्राफ कामन्स को बर्खास्त कर दिया ग्रौर नया निर्वाचन कराया। नये हाउस में उदार दल का बहुमत था। ग्रब हाउस ग्राफ कामन्स में इस मसविदे को पास होने में देर न लगी। पर हाउस ग्राफ लार्ड्स में इसे स्वीकृत करा लेना ग्रासान बात न थी। वहाँ कुलीन जमींदारों का प्रभुत्व था। वे लोग सुधारों के प्रबल विरोधी थे। उन्होंने इसे ग्रस्वीकृत कर दिया। ग्रब एक नई समस्या उत्पन्न हुई। जनता सुधार चाहती थी ग्रौर लार्ड लोग उसके मार्ग में रुकावट थे। ग्राखिर, लार्ड रसल ने राजा को इस बात के लिये तैयार कर लिया कि सुधारों के पक्षपाती इतने नये लार्ड बना दिये

जावें, ताकि यह मसविदा हाउस आफ लार्ड्स में पास हो सके। इस दशा में अधिक विरोध निरर्थक था। जून १८३२ में हाउस आफ लार्ड्स ने भी सुधार के मसविदे को स्वीकृत कर लिया।

१८३२ के सुधार-विधान ने इङ्गलैण्ड की शासन-पद्धति के उन दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया, जिनका हम पहले प्रकरण में वर्णन कर चुके हैं। इस विधान के अनुसार ५६ ऐसे नगरों से प्रतिनिधि भेजने का अधिकार छीन लिया गया, जिनकी आबादी दो हजार से भी कम थी। कुछ नगर ऐसे थे, जिनकी आबादी दो हजार से तो अधिक थी, पर चार हजार से कम थी। पहले उनसे भी दो प्रतिनिधि निर्वाचित होते थे। अब उनसे एक एक प्रतिनिधि भेजने की व्यवस्था हुई। ऐसे नगरों की संख्या ३२ थी। ३२ नये नगरों को दो दो प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया। २० नये नगरों को एक एक प्रतिनिधि भेजने का हक मिला। इसी तरह देहातों की भी नये सिरे से व्ययस्था की गई। आबादी के हिसाब से नये निर्वाचन-मण्डलों का विभाग किया गया और यह निर्णय हुआ कि समय-समय पर आबादी की दृष्टि से निर्वाचक-मण्डलों का पुनःसंगठन होता रहे। १८३२ के सुधार-विधान से वोट के अधिकार में भी परिवर्तन किया गया। देहातों में उन सब लोगों को वोट का अधिकार मिला, जो ७५० रु० वार्षिक लगान देते हों, या इतने लगान की भूमि के स्वामी हों। शहरों में वे सब लोग वोटर बना दिये गये, जो १५० रु० वार्षिक किराये के मकान में रहते हों या इतने किराये के मकान के स्वामी हों। इस प्रकार वोट का अधिकार पहले की अपेक्षा कुछ अधिक विस्तृत हो गया। पर यह ध्यान में रखना चाहिये कि १८३२ के इन सुधारों द्वारा वोट का अधिकार बहुत कम लोगों को मिला था। हिसाब लगाया गया है, कि उस समय इङ्गलैण्ड में कुल मिला कर ६०२३७५२ बालिग पुरुष थे, इनमें से केवल ८३९५१६ पुरुषों

को वोट का अधिकार मिला था। सर्वसाधारण किसान व मजदूर इस अधिकार से सर्वथा वञ्चित रखे गये थे। उस जमाने में ७५० रु० वार्षिक लगान देना या शहरों में १५० रु० वार्षिक किराये के मकान में रहना कोई मामूली बात न थी। केवल उच्च मध्यश्रेणी के लोग ही इस सुधार-विधान से लाभ उठा सकते थे। सर्वसाधारण जनता—किसान और मजदूर लोग अब भी राजनीतिक अधिकारों से सर्वथा वञ्चित थे।

सुधार-विधान अभी क्रिया रूप में परिणत होना भी शुरू नहीं हुआ था, कि उसके विरुद्ध आन्दोलन शुरू हो गया। किसान और मजदूर लोगों ने पुरुषमात्र को मताधिकार प्राप्त हो, इसके लिये आन्दोलन शुरू कर दिया। स्थान स्थान पर सार्वजनिक सभाओं का आयोजन किया गया। १८३८ में सर्वसाधारण जनता ने एक उद्घोषणा-पत्र (चार्टर) तैयार किया, जिसमें मुख्य रूप से निम्नलिखित छः माँगें पेश की गई थीं—(१) पुरुष-मात्र को वोट का अधिकार दिया जाय। (२) वोट खुले तौर न लिये जावें, अपितु पर्चियों द्वारा लिये जावें। (३) पार्लियामैन्ट का सदस्य होने के लिये सम्पत्ति की कोई शर्त न रखी जावे (४) पार्लियामैन्ट के सदस्यों को निश्चित वेतन मिले (५) पार्लियामेन्ट का निर्वाचन वार्षिक रूप से हो। (६) निर्वाचक-मण्डलों का फिर से संगठन किया जावे और इसके लिये देश को एक बराबर विभागों में विभक्त किया जावे।

वर्तमान समय में ये माँगें बहुत मामूली प्रतीत होती हैं। इङ्गलैंड में इस समय ये प्रायः स्वीकृत भी हो चुकी हैं। पर उन्नीसवीं सदी के उस मध्य भाग में इन्हें बहुत क्रान्तिकारी समझा जाता था। चार्टिस्ट लोग इनके लिये घनघोर आन्दोलन कर रहे थे। स्थान-स्थान पर सभायें की जाती थीं। जुलूस निकाले जाते थे, जोशीली कवितायें गाई जाती थीं, गरमागरम वक्तृतायें दी जाती थीं। दूसरी तरफ सरकार

इन्हें अत्यन्त खतरनाक समझती थी। उदार और अनुदार, दोनों दलों के लोग इनके खिलाफ थे। वे अपनी सारी शक्ति से इस चार्टिस्ट आन्दोलन को कुचल देने के लिये उत्सुक थे। सन् १८३९ में चार्टर पर लाखों मनुष्यों के हस्ताक्षर कराये गये और उसे पार्लियामैन्ट की सेवा में उपस्थित किया गया। पर वहाँ उसके अस्वीकृत होने में देर नहीं लगी। अधिकांश सदस्य उसके विरोध में थे, वह स्वीकृत न हो सका।

सन् १८४० में 'नैशनल चार्टर एसोशियेन' की स्थापना हुई। इसकी शाखायें इङ्गलैण्ड के प्रायः सभी नगरों में विद्यमान थीं। इस एसोशियेशन की तरफ से चार्टर के लिये प्रचण्ड आन्दोलन शुरू हुआ। कुछ लोग तो हिंसात्मक उपायों के भी पक्षपाती थे, और खुल्लमखुल्ला उनका प्रचार कर रहे थे। कई स्थानों पर दंगे भी हुए, पर पुलिस ने उन्हें बड़ी सुगमता से शान्त कर दिया। सरकार ने जनता के आन्दोलन को शान्त करने के लिये इस समय बड़ा भारी प्रबन्ध किया हुआ था।

सन् १८४८ में फ्रांस में फिर राज्यक्रान्ति हुई। फ्रांस की क्रान्ति का प्रभाव अन्य देशों पर भी पड़ा। सारे यूरोप में क्रान्ति की एक नई लहर व्याप्त हो गई। क्रान्ति की इस नई लहर से चार्टिस्ट-अन्दोलन में नवजीवन का संचार हुआ। एक नया चार्टर तैयार किया गया और उस पर साठ लाख मनुष्यों के हस्ताक्षर कराये गये। इतने हस्ताक्षर प्राप्त करने के लिये सम्पूर्ण देश में बड़ा भारी आन्दोलन किया गया था। इस विशाल चार्टर को हाउस आफ कामन्स की सेवा में प्रस्तुत करने के लिये बहुत बड़ी तैयारी की गई। एक विशाल जुलूस निकालने की योजना की गई, जिसमें पाँच लाख मनुष्य शामिल हों। ६ लाख हस्ताक्षरों से युक्त यह चार्टर इतना बड़ा था, कि ६ गाड़ियों पर आया था। सरकार को इस बात की आशंका थी, कि इस जुलूस के कारण शान्ति-रक्षा सम्भव न रहेगी। अतः जुलूस को गैरकानूनी उद्घोषित

कर दिया गया और एक लाख सत्तर हजार सिपाही लण्डन में विविध स्थानों पर अमन और चैन की रक्षा के लिये नियुक्त किये गये। पुलिस की इतनी तैयारी के कारण चार्टिस्ट लोग गड़बड़ न कर सके। चार्टर पार्लियामैन्ट के सम्मुख पेश किया गया—पर इस बार भी वह स्वीकृत न होसका। जाँच करने पर मालूम हुआ, कि उसमें बहुत से लोगों के हस्ताक्षर जाली थे। इस कारण चार्टिस्ट नेता बदनाम भी होगये और पुलीस की सतर्कता के कारण यह आन्दोलन कुछ ही समय में शान्त हो गया।

यद्यपि चार्टिस्ट आन्दोलन समाप्त हो गया, पर शासन-सुधार की भावना का अन्त नहीं हुआ। चार्टिस्ट अन्दोलन के समय जनता में भारी कार्य हुआ था। चार्टर के सिद्धान्तों का भली भाँति प्रचार हो गया था। प्रत्येक राजनीतिक दल में कुछ न कुछ नेता सुधारों के पक्षपाती हो गये थे। परिणाम यह हुआ, कि समय समय पर विविध नेता पार्लियामैन्ट के सम्मुख शासन-सुधार-सम्बधी मसविदे उपस्थित करने लगे। इन मसविदों का स्वीकृत हो सकना कोई साधारण बात न थी, क्योंकि पार्लियामैन्ट के अधिकांश सदस्य अब भी सुधारों के विरोधी थे। पर इसमें सन्देह नहीं, कि इन मसविदों के कारण सुधारों की माँग निरन्तर अधिक अधिक प्रबल होती जाती थी और धीरे धीरे प्रायः सभी महानुभाव यह मानने लग गये थे कि कुछ न कुछ सुधार आवश्यक हैं।

सन् १८६५ में पार्लियामैन्ट में उदारदल का बहुमत हो गया और लार्ड रसल प्रधानमन्त्री बने। उनके मन्त्रिमंडल में सबसे प्रभावशाली सदस्य श्रीयुत ग्लैडस्टन थे। श्रीयुत ग्लैडस्टन ने सन् १८३२ के बाद के निर्वाचन में पार्लियामैन्ट में प्रवेश किया था। शुरू में वे अनुदार दल के अनुयायी थे। पर धीरे धीरे उनके विचारों में परिवर्तन आने लगा और वे सुधारों के पक्षपाती हो गये। उन्होंने अनु-

फा० २६

दार दल का परित्याग कर दिया और वे शीघ्र ही उदारदल के एक महत्त्वपूर्ण सदस्य बन गये। श्रीयुत ग्लैडस्टन बहुत उच्च कोटि के वक्ता थे और उनकी राजनीतिज्ञता का सिक्का सब लोग मानते थे। लार्ड रसल के प्रधान मन्त्री बनने पर श्रीयुत ग्लैडस्टन ने सन् १८६६ में शासन-सुधार के लिये एक मसविदा पेश किया। इसमें मताधिकार को पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत करने का प्रयत्न किया गया था। अनुदारदल तो इसके विरोध में था ही, पर उदारदल के भी बहुत से महानुभाव इसके विपक्ष में थे। उनकी सम्मति में अभी इस मसविदे के लिये समय नहीं आया था। परिणाम यह हुआ कि पार्लियामैन्ट में यह स्वीकृत नहीं हो सका और लार्ड रसल के मन्त्रिमण्डल को त्याग-पत्र देना पड़ा।

अब अनुदार दल के नेता लार्ड डर्बी प्रधान मन्त्री बने। उनके मन्त्रिमण्डल के सबसे महत्त्वपूर्ण सदस्य श्रीयुत डिजरायली थे। लार्ड डर्बी हाउस आफ लार्डस में थे, अतः हाउस आफ कामन्स का नेतृत्व श्रीयुत डिजरायली ही करते थे। डिजरायली उच्चकोटि के राजनीतिज्ञ थे। अनुदारदल का मन्त्रिमण्डल होने से जनता का स्वाभाविक रूप से खयाल था, कि यह सरकार सुधारों की विरोधी है और इससे शासनसुधार-सम्बन्धी कोई आशा रखना सर्वथा निरर्थक है। इस-लिये सारे देश में सुधार के लिये तीव्र आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। स्थान स्थान पर सभाएँ होने लगीं। पुरुषमात्र को वोट का अधिकार होना चाहिये, इसके लिये प्रस्ताव स्वीकृत होने लगे। एक बार फिर सन् १८३२ के दृश्य दृष्टिगोचर होने लगे। सारे इङ्गलैण्ड में एक प्रकार की हलचल सी मच गई। लोग सरकार की अवज्ञा तक करने के लिए उद्यत हो गये। लण्डन के हाइड पार्क में तो दंगों तक की भी नौबत आ गई। इस दशा को देखकर डिजरायली जैसे चाणाक्ष राजनीतिज्ञ ने यह भली भाँति अनुभव कर लिया, कि शासनसुधार की माँग बहुत

प्रबल है, और इसे स्वीकृत किये बिना काम नहीं चल सकेगा। सन् १८६७ में उसने स्वयं शासनसुधार-सम्बन्धी एक मसविदा पार्लियामेंट के सम्मुख उपस्थित किया। पार्लियामेन्ट में इसका घोर विरोध हुआ। उदारदल के लोग डिजरायली पर हँसते थे और कहते थे कि अब वह उन्हीं सुधारों को स्वयं पेश कर रहा है, जिनका वह जन्म भर विरोध करता रहा है। अनुदारदल के बहुत से सदस्य सुधारों के विरोधी थे ही, वे भी डिजरायली के इस मत-परिवर्तन से बहुत क्रुद्ध थे। पर आखिर डिजरायली का यह शासनसुधार-सम्बन्धी मसविदा बहुमत से स्वीकृत हो गया।

सन् १८६७ के इस सुधारविधान से वोट का अधिकार पहले की अपेक्षा बहुत विस्तृत हो गया था। मतदाताओं की संख्या पहले की अपेक्षा प्रायः दुगनी हो गई थी। इसके अनुसार शहरों में उन सब लोगों को वोट का अधिकार मिल गया था, जिनके शहर की सीमा में अपने मकान हों या जो कम से कम १५० रु० वार्षिक किराये के मकान में रहते हों। देहातों में उन सब लोगों को वोट का अधिकार दिया गया था, जिनकी कम से कम ७५ रु० वार्षिक आमदनी की अपनी जायदाद हो या जो कम से कम १८० रु० वार्षिक लगान देते हों। यद्यपि अब भी वोट के लिये सम्पत्ति की शर्त को कायम रखा गया था, पर इसमें सन्देह नहीं कि पहले की अपेक्षा मतदाताओं की संख्या इससे पर्याप्त बढ़ गई थी। इस विधान द्वारा इङ्गलेण्ड ने लोकतन्त्र शासन की ओर एक बहुत महत्त्वपूर्ण पग बढ़ाया था।

सन् १८६८ में पार्लियामैण्ट में फिर उदार दल का बहुमत हो गया और श्रीयुत ग्लैडस्टन पहली बार प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त हुए। उदारदल के प्रधान नेता बन कर श्रीयुत ग्लैडस्टन ने इङ्गलैण्ड के शासनविधान में बहुत से महत्त्वपूर्ण सुधार किये। सन् १८७२ में एक कानून के अनुसार निर्वाचन के लिये

पर्चियों (बैलट) के तरीके का प्रारम्भ किया गया। इससे पहले निर्वाचन में वोट खुले तौर पर दिये जाते थे और सर्वसाधारण जनता अपने वोट का स्वन्तत्रता के साथ उपयोग नहीं कर सकती थीं। चार्टिस्ट लोगों की यह भी एक बड़ी मांग थी, कि बैलट सिस्टम का प्रारम्भ किया जावे। सन् १८८३ में एक अन्य कानून पास किया गया, जिसके अनुसार मतदाताओं को रिश्वत देना, या उन पर वोट के लिये जोर डालना आदि अपराध बना दिया गया।

श्रीयुत ग्लैडस्टन इन्हीं सुधारों से संतुष्ट नहीं थे, वे इङ्गलैण्ड को लोकतन्त्र के मार्ग पर बहुत आगे बढ़ा देने के लिये उत्सुक थे। सन् १८६७ में वोट का अधिकार इङ्गलैण्ड के बहुत से लोगों को प्राप्त हो गया था, पर अब भी ऐसे लोगों की कमी नहीं थी; जो इस अधिकार से वञ्चित थे। विशेषतया, देहातों के रहनेवाले वे किसान जो ७५ रु० वार्षिक आमदनी की अपनी जायदाद न रखते हों और या १८० रु० लगान न देते हों, मतदाता नहीं बनाये गये थे। ऐसे लोगों की संख्या लाखों में थी। श्रीयुत ग्लैडस्टन चाहते थे कि इन्हें भी वोट का अधिकार प्राप्त हो। इसी उद्देश्य से सन् १८८४ में उन्होंने शासन-सुधार-सम्बन्धी एक और मसविदा पार्लियामेन्ट के सम्मुख उपस्थित किया। इसमें वोट के अधिकार को और भी अधिक विस्तृत करने का प्रस्ताव किया गया था। यह मसविदा स्वीकृत हो गया। इससे पूर्व इङ्गलैण्ड में मतदाताओं की संख्या तीस लाख के लगभग थी, अब वह बढ़कर पचास लाख हो गई। इसके साथ ही अगले वर्ष १८८५ में एक अन्य कानून स्वीकृत हुआ, जिसके अनुसार देश का नये सिरे से निर्वाचक-मण्डलों में विभाग किया गया। व्यावसायिक क्रान्ति से जिन नगरों की आबादी बहुत बढ़ गई थी, उन्हें अधिक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिला और अनेक छोटे छोटे नगर निर्वाचन के लिये देहात में अन्तर्गत कर दिये गये।

इस प्रकार श्रीयुत ग्लैडस्टन के नेतृत्व में इङ्गलैण्ड के सुधार आन्दोलन ने बहुत सफलता प्राप्त कर ली थी, पर अब भी वहाँ के शासन विधान में अनेक दोष रह गये थे। वोट का अधिकार अब तक भी सब पुरुषों को प्राप्त नहीं हुआ था। यद्यपि इस अधिकार को बहुत विस्तृत कर दिया गया था, पर उसका आधार अब तक भी सम्पत्ति ही बनी हुई थी। सम्पत्ति की शर्त के कारण बीस लाख के लगभग पुरुष (जो नाबालिग नहीं थे) अब तक भी वोट के अधिकार से वञ्चित रह गये थे। वोट के अधिकार के लिये सम्पत्ति का आधार होने का एक अन्य भी परिणाम था, वह यह कि अगर किसी मनुष्य की सम्पत्ति एक से अधिक निर्वाचकमण्डल में हो, तो उसे अनेक वोट देने का अधिकार मिल जाता था। जिस जिस निर्वाचकमण्डल में उसकी सम्पत्ति हों, उन सब में वह वोट दे सकता था। इसके कारण सवा पाँच लाख के लगभग मनुष्यों को एक से अधिक वोट प्राप्त थे। कई महानुभावों को तो बीस तक वोट देने का अधिकार मिला हुआ था। लोग इस दशा को अनुचित समझते थे। वे इसमें सुधार चाहते थे। लोगों की माँग थी, कि पुरुष-मात्र को वोट का अधिकार मिलना चाहिये और किसी व्यक्ति को एक से अधिक वोट नहीं मिलना चाहिये।

इसके अतिरिक्त, इङ्गलैण्ड में अब एक अन्य आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ था। अब स्त्रियाँ भी वोट का अधिकार माँगने लगी थीं। व्यावसायिक क्रान्ति के कारण स्त्रियों की सामाजिक दशा में भी परिवर्तन आ रहा था। वे अपना कार्यक्षेत्र केवल घर को ही नहीं समझती थीं। वे घर की चारदीवारी से बाहर निकल कर सार्वजनिक क्षेत्र में भी पदार्पण करना चाहती थीं। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में अनेक विश्वविद्यालयों में उन्हें प्रवेश प्राप्त हो गया था, उनके अनेक कालिज पृथक् रूप से भी खुल गये थे। स्त्रियों में शिक्षा का

प्रचार निरन्तर बढ़ता जा रहा था। शिक्षा की वृद्धि से उनमें राजनीतिक आन्दोलन भी अधिक प्रबल होता जाता था।

इङ्गलैण्ड में इन सब विषयों में कोई सुधार गत यूरोपीय महायुद्ध से पूर्व नहीं हो सका। स्त्रियों को मताधिकार देने के लिये एक मसविदा १६१३ में पार्लियामैन्ट के सम्मुख उपस्थित भी किया गया था। पर वह स्वीकृत नहीं हुआ। इसी प्रकार अन्य सुधारों की माँग भी प्रायः अस्वीकृत ही होती रही। यूरोपीय महायुद्ध के बाद लोकतन्त्र का आन्दोलन एक बार और बहुत प्रबल हुआ और उसके कारण १६१८ में इङ्गलैण्ड के शासन विधान में बहुत से महत्त्वपूर्ण सुधार हुए। इनका उल्लेख हम फिर करेंगे।

(३) इङ्गलैण्ड की शासन पद्धति

शासन सुधार का आन्दोलन किस प्रकार इङ्गलैण्ड में निरन्तर सफलता प्राप्त करता गया, इसका वर्णन हम पहले कर चुके हैं। इङ्गलैण्ड में पहले एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन था, यद्यपि नाममात्र को पार्लियामैन्ट विद्यमान था, पर वस्तुतः वह कुलीन श्रेणी के कुछ लोगों के हाथ में कठपुतली के समान थी। शासन सुधार के इस आन्दोलन ने इस दशा में बहुत परिवर्तन किया और इङ्गलैण्ड में लोकतन्त्र शासन की स्थापना हुई। ऊपर से देखने पर अब भी यही प्रतीत होता है, कि इङ्गलैण्ड में राजा और कुलीन श्रेणी का प्रभुत्व है। हाउस आफ लार्डस के सदस्य अब तक भी वंशक्रमानुगत कुलीन श्रेणी के व्यक्ति होते हैं। इङ्गलैण्ड में राजा अब तक भी 'परमेश्वर की कृपा' से राज्य करता है। प्रत्येक आज्ञा व नियम राजा के नाम पर प्रकाशित होते हैं। न्याय भी राजा के नाम पर होता है। इङ्गलैण्ड का राजा अब भी बड़ी शान शौकत के साथ अपने विशाल राजप्रासाद में निवास करता है। राजकीय आमदनी से उसे एक करोड़ के लग-

भग रुपया वार्षिक रूप में प्राप्त होता है, और उसकी अपनी निजू सम्पत्ति और जायदाद भी बहुत है। पर यह सब कुछ होते हुए भी इङ्गलैण्ड में वास्तविक शासनशक्ति जनता के हाथ में चली गई है। वस्तुतः राजा की वहाँ वही स्थिति है, जो यूनियन, जैक (राष्ट्रीय पताका) की है। यूनियन जैक के समान वह ब्रिटिश साम्राज्य की एकता और संगठन का सूचक है। सारा शासन उसके नाम पर होता है, पर वास्तविक शक्ति उसके हाथ में नहीं है। यही दशा हाउस आफ लार्ड्स की है । उसमें वंशक्रमानुगत कुलीन श्रेणी के लोग अवश्य हैं, पर वास्तविक शासनशक्ति उनके हाथों से निकल चुकी है।

वर्तमान समय में इङ्गलैण्ड का वास्तविक शासन मन्त्रिमंडल द्वारा होता है, जो राजा के प्रति उत्तरदायी न होकर जनता द्वारा निर्वाचित पार्लियामैन्ट के सम्मुख उत्तरदायी है । हाउस आफ कामन्स में जिस दल का बहुमत हो उसके प्रधान नेता को राजा प्रधानमन्त्री नियत करता है, और वह स्वयं अपने मन्त्रिमंडल का निर्माण करता है । यद्यपि नाममात्र को अब भी मन्त्रियों की नियुक्ति राजा द्वारा होती है, पर वस्तुतः वे प्रधानमन्त्री द्वारा अपने दल में से नियत किये जाते हैं। प्रधानमन्त्री पार्लियामैन्ट की दोनों सभाओं में से—हाउस आफ कामन्स और हाउस आफ लार्ड्स—अपने मन्त्री चुनता है। मन्त्रिमंडल के कुल सदस्यों की संख्या ६० के लगभग होती है । ये मन्त्री शासन के विविध विभागों के मुख्य अधिकारी होते हैं। मन्त्रिमण्डल में से कुछ विशेष मन्त्रियों को चुन कर एक अन्य छोटी उपसमिति बनाई जाती है, जिसे कैबिनट कहते हैं। कैबिनट के सदस्यों की संख्या कितनी हो, यह निश्चित नहीं है। आवश्यकतानुसार उनकी संख्या में कमी या वृद्धि होती रहती है। पर प्रायः कैबिनट में बीस के लगभग मन्त्री रखे जाते हैं। कैबिनट

में कौन कौन से मन्त्रियों को स्थान दिया जावे, इसका निश्चय भी प्रधानमन्त्री करता है। शासन-सम्बन्धी सब महत्त्वपूर्ण विषयों और नीति का निर्णय पहले इस कैबिनट में ही किया जाता है।

मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप से पार्लियामैन्ट के प्रति उत्तरदायी होता है। यदि हाउस आफ कामन्स में मन्त्रिमण्डल द्वारा प्रस्तुत कोई महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव व मसविदा अस्वीकृत हो जावे या उसके विरुद्ध पेश किया गया अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकृत हो जावे, तो मन्त्रिमण्डल त्यागपत्र दे देता है। पर यदि मन्त्रिमण्डल का ख्याल हो, कि जनता वस्तुतः उनके साथ है और वर्तमान हाउस आफ कामन्स जनता का सच्चा प्रतिनिधि नहीं है, तो उन्हें अधिकार होता है, कि वह राजा द्वारा उसे बर्खास्त करा दे और नया निर्वाचन करावे। यदि नये निर्वाचित हुए हाउस आफ कामन्स में मन्त्रिमण्डल के पक्ष में बहुमत हो, तब तो वह कायम रहता है, अन्यथा वह त्यागपत्र दे देता है और फिर विरोधी दल के प्रधान नेता को मन्त्रिमण्डल बनाने का अवसर मिलता है। इस प्रकार इङ्गलैण्ड की सरकार सदा जनता के प्रति उत्तरदायी रहती है, और शासन सदा उन लोगों के हाथ में रहता है, लोकमत जिनके साथ में हो।

ब्रिटिश पार्लियामैन्ट में दो सभायें हैं, हाउस आफ लार्डस और हाउस आफ कामन्स। हाउस आफ लार्डस में वंश क्रमानुगत लार्ड, बिशप तथा राजा द्वारा बनाये गये लार्ड लोग सदस्य होते हैं। हाउस आफ कामन्स के सदस्यों की संख्या ७०० के लगभग होती है। सन् १९१८ में उनकी संख्या ७०७ थी। हाउस आफ कामन्स के सदस्य पाँच वर्ष के लिये निर्वाचित होते हैं। प्रत्येक मतदाता को अधिकार है, कि वह हाउस आफ कामन्स के लिये निर्वाचित हो सके। गरीब लोगों को भी उसका सदस्य बनने में अपनी आमदनी की कमी की वजह से रुकावट न हो, इसके लिये यह व्यवस्था है कि उसके सदस्यों

को निश्चित वार्षिक वेतन मिलता रहे, ताकि वे आर्थिक आमदनी की दृष्टि से निश्चिंत होकर अपने सार्वजनिक कर्तव्यों का पालन कर सकें। निर्वाचन में अमीर लोग रुपया बहाकर अपने को निर्वाचित न करा सकें, इसके लिये यह भी निश्चित कर दिया गया है कि कोई उम्मीदवार अधिक से अधिक कितना रुपया निर्वाचन में खर्च कर सके। सन् १९१८ के एक कानून के अनुसार कोई उम्मीदवार निर्वाचन में शहर के मतदाताओं के लिये ७ आना प्रति मतदाता और देहात के मतदाताओं के लिये साढ़े चार आना प्रति मतदाता से अधिक नहीं खर्च कर सकता।

हाउस आफ कामन्स अपने प्रधान को, जिसे 'स्पीकर' कहा जाता है, स्वयं चुनता है। स्पीकर को ७५ हजार रुपया वार्षिक वेतन और रहने को मुफ्त मकान मिलता है। क्लार्क, सार्जेन्ट आदि अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति राज्य की ओर से जन्म भर के लिये की जाती है।

हाउस आफ कामन्स के सदस्य जनता के प्रतिनिधि होते हैं, अतः लोकतन्त्रवाद के विकास के साथ साथ स्वाभाविक रूप से इसका महत्त्व बढ़ता जा रहा है। अब वह समय आ गया है, जबकि यही हाउस वस्तुतः पार्लियामैन्ट बन गया है। हाउस आफ लार्डस की शक्ति अब बहुत क्षीण हो गई है। अब वह हाउस आफ कामन्स के प्रस्तावों को अस्वीकृत करने की हिम्मत नहीं कर सकता। पहले जब कभी लार्ड लोगों का लोकमत से विरोध होता था, और वे हाउस आफ कामन्स द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों को पास करने से इनकार कर देते थे, तब मन्त्रिमण्डल के पास लार्ड लोगों को काबू करने का एक ही उपाय रहता था और वह यह कि वे राजा से इतने काफी नये लार्ड बनवा दें, कि जनता को अभिमत प्रस्ताव सुगमता से हाउस आफ लार्डस में भी स्वीकृत हो जावें। इसी के अनुसार कई बार वस्तुतः नये लार्ड बनाकर या केवल नये लार्ड बनाने की धमकी देकर अनेक

महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव हाउस आफ लार्डस से स्वीकृत भी कराये गये। पर सन् १६११ में एक 'पार्लियामेन्ट एक्ट' स्वीकृत हुआ, जिसके अनुसार हाउस आफ लार्डस की स्थिति ही बदल गई है। इस कानून के अनुसार यदि आय-व्यय-सम्बन्धी कोई प्रस्ताव हाउस आफ कामन्स स्वीकृत करके हाउस आफ लार्डस के पास उसके अधिवेशन की समाप्ति से एक मास पूर्व भेज दे, तो वह स्वीकृत समझा जावेगा, चाहे हाउस आफ लार्डस उसे स्वीकृत न भी करे। आय-व्यय-सम्बन्धी प्रस्तावों के अतिरिक्त अन्य प्रस्तावों के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई है कि यदि हाउस आफ कामन्स किसी प्रस्ताव को एक के बाद एक होनेवाले अपने तीन अधिवेशनों में पास कर दे, तो वह स्वीकृत समझा जावेगा, चाहे हाउस आफ लार्डस ने उसे स्वीकृत न भी किया हो। इन नियमों का परिणाम यह हुआ है कि अब लार्ड लोगों (वंशाक्रमानुगत कुलीन-श्रेणि) की शक्ति बहुत कम हो गई है।

इङ्गलैण्ड की शासनपद्धति में राजनीतिक दलों का बहुत महत्त्व है। पार्लियामेन्ट में जिस दल का बहुमत होता है, शासनशक्ति उसी के हाथ में रहती है, इसलिये वहाँ राजनीतिक दलों का संगठन बहुत पूर्णता तक पहुँच गया है। उन्नीसवीं सदी में इङ्गलैण्ड के प्रधान राजनीतिक दल दो थे, अनुदार (कन्जर्वेटिव) और उदार (लिबरल)। उदार दल लोकतन्त्रवाद की लहर का पक्षपाती था और इङ्गलैण्ड में कुलीन श्रेणि के विशेषाधिकारों को नष्ट कर जनता का शासन स्थापित करना चाहता था। अनुदार दल के लोग परिवर्तन के विरोधी थे। शुरू में वे राजा, कुलीन श्रेणि और चर्च के विशेषाधिकारों को अक्षुण्ण रूप से कायम रखने के पक्ष में थे, पर समय के साथ-साथ धीरे-धीरे उनके मन्तव्यों में परिवर्तन आता गया। पर फिर भी उनकी नीति प्रायः अपरिवर्तनशील ही रही। बीसवीं सदी में एक नये दल का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे मजदूर (लेबर) दल कहते हैं

गत यूरोपीय महायुद्ध (१६१४—१८) के बाद इसकी शक्ति बहुत अधिक बढ़ गई और कुछ समय के लिये यह अपना मन्त्रिमण्डल बनाने में भी समर्थ हुआ।

(४) अन्य सुधार

लोकतन्त्रवाद की सफलता के लिये केवल पार्लियामेन्ट का विकास और उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना ही पर्याप्त नहीं है। उसके लिये कुछ अन्य सुधारों की भी आवश्यकता होती है। जब तक लोगों को भाषण और अपने विचारों को प्रकाशित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं हो, तब तक लोकतन्त्र शासन सफल नहीं हो सकता। उन्नीसवीं सदी से पूर्व इङ्गलैण्ड में प्रेस स्वतन्त्र नहीं था। उस पर अनेक प्रकार की बाधायें विद्यमान थीं। लोग समाचारपत्रों में स्वतन्त्रता-पूर्वक अपने विचारों को प्रगट नहीं कर सकते थे। यद्यपि प्रेस की स्वाधीनता के सिद्धान्त को सन् १६६५ में ही स्वीकृत किया जा चुका था, पर समय समय पर सरकार ऐसे कानून बना देती थी, जिनसे प्रेस पर सरकारी नियन्त्रण बहुत बढ़ जाता था। इसके अतिरिक्त, समाचार पत्रों पर 'स्टाम्प ड्यूटी' लगने के कारण वे बहुत मँहगे बिकते थे। समाचार-पत्रों की प्रत्येक प्रति पर चार आने का स्टाम्प लगता था। इस कारण वे बहुत मँहगे हो जाते थे, और आम तौर पर समाचार-पत्रों का दाम सात आना होता था। लन्डन टाइम्स का दाम तो उन दिनों नौ आने था। स्टाम्प के अतिरिक्त कागज पर सरकार की ओर से विशेष कर लगा हुआ था, उसके कारण भी समाचार-पत्र बहुत मँहगे रहते थे।

जनता इन करों के बहुत खिलाफ थी। समझा जाता था, कि ये कर ज्ञान विस्तार के ऊपर लगाये गये हैं। जो लोग सर्वसाधारण जनता में ज्ञान विस्तार के पक्षपाती थे, वे इनके विरुद्ध प्रबल आंदोलन

कर रहे थे। परिणाम यह हुआ कि सन् १८३६ में स्टाम्प की मात्रा कम कर दी गई और उसके कारण आमतौर पर समाचार-पत्रों की कीमत घटकर पाँच आने हो गई। बीस वर्ष बाद सन् १८५६ में स्टाम्प ड्यूटी सर्वथा हटा दी गई और १८६१ में कागज पर से कर भी हटा दिया गया। इनका परिणाम यह हुआ कि समाचार-पत्र बहुत सस्ते बिकने लगे और सर्वसाधारण जनता के लिये यह सम्भव हो गया कि वह इन सस्ते पत्रों को खरीदकर उनसे लाभ उठा सके।

प्रेस की स्वाधीनता के साथ ही यह भी आवश्यक है, कि लोगों को स्वतन्त्रता के साथ सभायें करने और उनमें खुले तौर पर सरकार की आलोचना करने का अधिकार हो। इङ्गलैण्ड में जनता को पहले ये अधिकार प्राप्त नहीं थे। उन्नीसवीं सदी के मध्यभाग में ही इङ्गलिश जनता ने स्वतन्त्रता के साथ सभायें करने और उनमें खुले तौर पर सरकार की आलोचना करने के अधिकार प्राप्त किये।

उन्नीसवीं सदी में ही इङ्गलैण्ड के दण्ड विधान में बहुत से सुधार हुए। पहले इङ्गलैण्ड का दण्ड-विधान बहुत सख्त था। २५० से अधिक ऐसे अपराध थे, जिनके लिये अपराधियों को प्राणदण्ड मिलता था। हिसाब लगाया गया है कि सन् १८१० से १८४५ तक ३५ वर्षों में १४०० से अधिक अपराधियों को बहुत छोटे-छोटे अगण्य अपराधों पर प्राण दण्ड दिया गया। बहुत से सुधारक इस क्रूर दण्ड विधान में सुधार करने के लिये आन्दोलन कर रहे थे। उन्नीसवीं सदी में ऐसे अपराधों की संख्या निरन्तर कम की जाती रही, जिनमें प्राण दण्ड मिल सके। सन् १८६१ में ऐसे अपराधों की संख्या केवल तीन रह गई।

इसी प्रकार सन् १८३५ में जेलखानों की दशा का भी सुधार करने का प्रयत्न किया गया। पहले जेलखानों की दशा बहुत खराब थी। एक बार जो कोई व्यक्ति जेलखाने चला जाता था, वह

सभ्य जगत् से सर्वथा पृथक् किसी दूसरे ही लोक में पहुँच जाता था। वहाँ से उसका निस्तार हो सकना सम्भव न रहता था। जेलों में कैदियों को भयंकर कष्ट दिये जाते थे और उनके भोजन आच्छादन तक का भी समुचित प्रबन्ध न होता था। १८३५ के बाद इसमें बहुत से सुधार किये गये और जेलखानों को मनुष्य जाति के निवास योग्य बनाने का प्रयत्न किया गया।

(५) धार्मिक स्वतन्त्रता और शिक्षा प्रसार

मध्यकाल में यूरोप के अन्य देशों के समान इङ्गलैण्ड में भी धार्मिक सुधारणा का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ था। इङ्गलिश लोगों ने पोप की अधीनता से मुक्त होकर अपने राष्ट्रीय चर्च की स्थापना की थी। इस चर्च को 'ऐङ्गिलकन चर्च' कहते हैं। यद्यपि धार्मिक मामलों में इङ्गलैण्ड पोप की अधीनता से मुक्त हो गया था, पर जनता को धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हुई थी। जो लोग धार्मिक दृष्टि से स्वतन्त्र विचार रखते थे और एङ्गिलकन चर्च के मन्तव्यों को स्वीकृत नहीं करते थे, उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। वे राजकीय पदों पर नियत नहीं हो सकते थे, और उन्हें ऐङ्गिलकन चर्च को जबरदस्ती चन्दा व कर देना पड़ता था। ऐङ्गिलकन चर्च को न माननेवाले तीन तरह के लोग इङ्गलैण्ड में थे—यहूदी, रोमन-कैथोलिक और डिसेन्टर सम्प्रदायों के अनुयायी। बहुत से लोग जो प्रोटेस्टेन्ट तो थे, पर सरकारी ऐङ्गिलकन चर्च को नहीं मानते थे, डिसेन्टर कहाते थे। इनके अनेक सम्प्रदाय थे। इन सब लोगों को दीवानी व फौजदारी किसी भी प्रकार के राजकीय पद प्राप्त नहीं हो सकते थे। रोमन कैथोलिक लोग तो पार्लियामेन्ट के भी सदस्य नहीं हो सकते थे। उन्नीसवीं सदी में लोकतन्त्रवाद के आन्दोलन की वृद्धि के साथ-साथ यह सर्वथा स्वाभाविक था कि इस धार्मिक असहिष्णुता

को भी नष्ट करने का प्रयत्न किया जावे। विशेषतया, डिसेन्टर सम्प्रदायों के लोग, जो प्रोटेस्टेन्ट थे, सम्पत्ति, विद्या, प्रभाव तथा संख्या में निरन्तर वृद्धि कर रहे थे और उन्हें राजकीय पदों से पृथक् रख सकना सुगम बात न थी। वे लोग पार्लियामेन्ट के सदस्य बन सकते थे। अतः उन्हें इस बात का पूरा अवसर था, कि वहाँ अन्य सदस्यों पर जोर डालकर अपने लिये अधिकार प्राप्त कर सकें। सन् १८२८ में डिसेन्टर लोगों के विरुद्ध जो कानून विद्यमान थे, उन्हें रद्द किया गया और यह स्वीकृत किया गया कि वे अन्य लोगों के समान राजकीय पदों पर नियत हो सकें, बशर्ते कि वे "सच्चे क्रिश्चियन के तौर पर शपथ लें कि अपने राजकीय पद का उपयोग ऐङ्ग्लिकन चर्च को नुकसान पहुँचाने के लिये नहीं करेंगे।" अगले वर्ष १८२६ में कैथोलिक लोगों के लिये भी स्वतन्त्रता कानून (एमेन्सिपेशन एक्ट) पास हुआ। इसके अनुसार रोमन कैथोलिक लोगों को भी पार्लियामेन्ट का सदस्य होने तथा विविध राजकाय पदों पर नियुक्त होने का अधिकार प्राप्त हुआ। पर उनके लिये यह शर्त रखी गई कि वे यह शपथ लें कि हम पोप को धार्मिक विषयों से अतिरिक्त अन्य विषयों में अपना मुखिया नहीं मानते और हम प्रोटेस्टेन्ट धर्म को नुकसान पहुँचाने का कोई प्रयत्न नहीं करेंगे। इन कानूनों से इङ्गलैण्ड में धार्मिक सहिष्णुता बहुत अंशों में स्थापित हो गई और किसी व्यक्ति को केवल अपने धार्मिक विचारों के कारण कोई तकलीफ नहीं रही।

पर अब भी इन लोगों को एक बहुत बड़ी शिकायत थी। ये लोग इङ्गलैण्ड के सरकारी ऐङ्ग्लिकन चर्च पर विश्वास नहीं रखते थे, पर उसके लिये उन्हें टैक्स देने पड़ते थे। ये लोग इसे बहुत अनुचित समझते थे और इसके विरुद्ध आन्दोलन कर रहे थे। बहुत से डिसेन्टर लोगों ने तो कानून का उल्लंघन कर टैक्स देने से भी इनकार करना शुरू किया। कइयों को इसके लिये गिरफ्तार कर सजायें भी दी गईं।

आखिर, यह आन्दोलन इतना बढ़ गया कि पार्लियामैन्ट को बाधित होकर यह स्वीकृत करना पड़ा कि किसी डिसेन्टर को ऐङ्ग्लिकन चर्च के लिये टैक्स न देने पर गिरफ्तार न किया जा सके। पहले आक्सफर्ड और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों में केवल उन्हीं लोगों को डिग्री मिल सकती थी, जो ऐङ्ग्लिकन चर्च के अनुयायी हों। १८७१ में यह बात हटाई गई और दूसरे लोगों को भी इन विश्वविद्यालयों से डिग्रियाँ मिलने लगीं। आयर्लैण्ड के अधिकांश निवासी कैथोलिक धर्म को माननेवाले थे, पर उन्हें ब्रिटेन के सरकारी चर्च के लिये टैक्स देने पड़ते थे। इसी प्रकार स्काटलैण्ड और वेल्स के भी अधिकांश निवासी इस चर्च के माननेवाले न थे। सन् १८६६ में आयरिश लोग चर्च के टैक्सों से मुक्त किये गये। इसी प्रकार आगे चलकर वेल्स और स्काटलैण्ड के निवासियों को भी चर्च के टैक्सों से मुक्ति प्राप्त हुई। पहले जब कोई राजा ब्रिटेन की राजगद्दी पर बैठता था, तो उसे शपथ लेते हुए ऐङ्ग्लिकन चर्च का अनुयायी होने की तो प्रतिज्ञा करनी ही होती थी, पर साथ ही रोमन कैथोलिकधर्म को 'अन्धविश्वासपूर्ण तथा मूर्तिपूजक' भी कहना होता था। जब राजा जार्ज पञ्चम गद्दी पर आरूढ़ हुए, तो पार्लियामेन्ट ने रोमन कैथोलिक धर्म के लिये इन अपमानजनक शब्दों को राजकीय शपथ में से हटा दिया। कई वर्षों से इङ्गलैण्ड में यह आन्दोलन चल रहा है कि किसी भी चर्च को राजकीय न समझा जावे और राज्य की दृष्टि में सब सम्प्रदायों की समान हैसियत हो। यह आन्दोलन अभी तक सफल नहीं हो पाया है, पर इसमें सन्देह नहीं कि अब इङ्गलैण्ड में धार्मिक स्वतन्त्रता प्रायः पूर्णांश में स्थापित हो चुकी है।

उन्नीसवीं सदी में इङ्गलैण्ड में शिक्षा प्रसार के लिये भी बहुत प्रयत्न हुआ। पहले पादरी और कुलीन श्रेणी के लोग सर्वसाधारण जनता में शिक्षा प्रसार के बहुत विरुद्ध थे। उनका खयाल था कि

शिक्षा से जनता नास्तिक, क्रान्तिकारी और सन्तोषशून्य हो जायगी। वे समझते थे कि शिक्षा ही सम्पूर्ण असन्तोष की जड़ होती है। इसी प्रकार उनका खयाल था, कि शिक्षा का कार्य चर्च का है, राज्य का नहीं। राज्य को शिक्षा पर कोई ध्यान नहीं देना चाहिये। इन विचारों का परिणाम यह था कि इङ्गलैण्ड की सर्वसाधारण जनता अशिक्षित थी। १८४३ में ३२ फी सदी पुरुष और ४९ फी सदी स्त्रियां सर्वथा निरक्षर थीं। ५० साल बाद सन् १९०३ में पुरुषों और स्त्रियों में निरक्षरता की मात्रा क्रमशः २ और ३ फी सदी रह गई। शिक्षा का इतना अधिक विस्तार जो इतने थोड़े से समय में हो सका, उसका कारण यह है कि इस बीच में राज्य ने शिक्षा की समस्या पर बहुत अधिक ध्यान दिया।

लोकतन्त्रवाद के आन्दोलन से लोगों का ध्यान स्वाभाविक रूप से शिक्षा की तरफ आकृष्ट होना प्रारम्भ हुआ। लोग कहते थे, जब सर्वसाधारण जनता ही वस्तुतः राज्य की मालिक है, तो राज्य की मालिक जनता के शिक्षित हुए बिना काम नहीं चल सकता। लोकतन्त्रवाद की सफलता के लिये जनता का शिक्षित होना आवश्यक है। इसी दृष्टि से सन् १८७० में जब श्रीयुत ग्लैडस्टन प्रधानमंत्री थे, तो एक कानून पास किया गया, जो 'फोरस्टर एक्ट' के नाम से प्रसिद्ध है। इस कानून के अनुसार इङ्गलैण्ड में पहले पहल सरकारी शिक्षणालय खुलने प्रारम्भ हुए। इससे पहले शिक्षा चर्च व धार्मिक सम्प्रदायों के हाथ में थी। फोरस्टर एक्ट द्वारा चर्च के इन शिक्षणालयों को बन्द नहीं किया गया और न उनकी सरकारी सहायता ही बन्द की गई, पर उनके साथ-साथ जहाँ आवश्यकता समझी गई, सरकार की तरफ से अपने पृथक् शिक्षणालय भी खोले गये। इङ्गलैण्ड को शिक्षणालयों की दृष्टि से नये विभागों में बाँटा गया, और प्रत्येक विभाग में शिक्षणालयों के प्रबन्ध के लिये 'स्कूल बोर्डों' की स्थापना की गई।

इन बोर्डों के सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होते थे और शिक्षणालयों के खर्च का बड़ा भाग स्थानीय (लोकल) टैक्सों से प्राप्त होता था।

यह बिलकुल स्वाभाविक था, कि चर्च और सरकार द्वारा सञ्चालित शिक्षणालयों में विरोध उत्पन्न हो जावे। विशेषतया, सरकारी शिक्षणालयों में धर्मशिक्षा किस रूप में दी जावे, इस समस्या का हल कर सकना सुगम बात न थी। विविध ईसाई सम्प्रदायों के लोग कोशिश करते रहते थे कि स्कूल बोर्ड में निर्वाचित होकर धर्म शिक्षा को अपने सम्प्रदाय के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करें। यह झगड़ा कई सालों तक जारी रहा। आखिर, इसका यह निर्णय किया गया कि सरकारी शिक्षणालयों में धर्मशिक्षा के लिये केवल बाइबल पढ़ाई जावे, किसी सम्प्रदाय विशेष के मन्तव्यों व विधि-विधानों को धर्मशिक्षा में स्थान न दिया जावे।

धीरे-धीरे इङ्गलैण्ड में बाधित शिक्षा पद्धति का भी प्रारम्भ किया गया। सन् १८६६ से १८६६ तक इस प्रकार के अनेक कानून पास किये गये, जिन से १२ वर्ष तक की आयु के बालकों के लिये किसी न किसी शिक्षणालय में शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक तथा बाधित कर दिया गया। बाधित शिक्षा के कारण शिक्षा प्रसार में बहुत सहायता मिली और इसी का परिणाम यह हुआ कि इङ्गलैण्ड में निरक्षरता की मात्रा बहुत कम हो गई।

सन् १६०२ में जब इङ्गलैण्ड में अनुदार दल का शासन था, शिक्षा के सम्बन्ध में एक नया कानून पास हुआ। इसके अनुसार जहाँ शिक्षणालयों के प्रबन्ध तथा सञ्चालन के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये, वहाँ यह भी व्यवस्था की गई, कि सरकारी शिक्षणालयों के साथ-साथ एंगलिकन चर्च के शिक्षणालयों को भी स्थानीय टैक्सों से सहायता प्रदान की जाय। इस बात से जनता में बड़ा असन्तोष हुआ। स्थानीय टैक्स सब लोगों से लिये जाते थे। कैथोलिक तथा डिसेन्टर सम्प्रदायों के लोग भी इन टैक्सों को देते थे। वे कब

सहन कर सकते थे कि उनके रुपये का उपयोग एंग्लिकन चर्च के शिक्षणालयों की सहायता के लिये भी किया जावे। परिणाम यह हुआ कि इन लोगों ने इन स्थानीय टैक्सों को ही देना बन्द कर दिया। बहुत से डिसेन्टर लोग कैद किये गये और बहुतों की सम्पत्ति टैक्स वसूल करने के लिये जब्त कर ली गई। पर डिसेन्टर लोग इन अत्याचारों से घबराये नहीं। उनका आन्दोलन निरन्तर प्रबल होता गया और सन् १९०६ में जब उदार दल का मन्त्रिमण्डल बना, तो उन्होंने शिक्षा के सम्बन्ध में एक नया कानून पेश किया। इसके अनुसार यह व्यवस्था की गई, कि जो शिक्षणालय सीधे सरकार के अधीन हैं, केवल उन्हें ही सरकार की ओर से आर्थिक सहायता दी जावे और शिक्षणालयों में धर्मशिक्षा को आवश्यक विषय न रखा जावे। यह कानून हाउस आफ कामन्स में तो पास हो गया, पर हाउस आफ लार्डस ने इसे स्वीकृत नहीं किया। लार्ड लोगों के विरोध के कारण बीसवीं सदी के प्रारम्भ हो जाने पर भी इङ्गलैण्ड की शिक्षापद्धति धर्म व चर्च के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकी। पर इसके लिये आन्दोलन जारी रहा और अन्त में सन् १९१८ के 'एजुकेशन एक्ट' द्वारा शिक्षा से चर्च का प्रभाव नष्ट हुआ। सन् १९१८ के एजुकेशन एक्ट से १४ वर्ष की आयु तक प्रत्येक बालक के लिये शिक्षणालय में पढ़ना भी आवश्यक कर दिया गया।

(६) मजदूरों की दशा में सुधार

व्यावसायिक क्रान्ति का प्रारम्भ सबसे पहले इङ्गलैण्ड में हुआ था। फैक्टरी सिस्टम और आर्थिक उत्पत्ति के नवीन साधनों ने देश की आर्थिक समृद्धि में चाहे कितनी ही सहायता पहुँचाई हो, पर मजदूरों की दशा में उनसे कोई सुधार नहीं हुआ था। कारखानों में हजारों मजदूर एक साथ काम करते थे। गरीब लोग अपने बाप दादों के समय

के चले आये घरों को सदा के लिये प्रणाम कर शहरों में नौकरी के लिये आते थे और कारखानों में नौकरी प्राप्त हो जावे, इससे संतुष्ट हो अपना जीवन निर्वाह करते थे। कारखानों की इमारत बनाते हुए स्वास्थ्य के नियमों का जरा भी ध्यान नहीं रखा जाता था। न उनमें रोशनी जाती थी, न हवा। स्वास्थ्य के लिये सर्वथा विघातक परिस्थितियों में गरीब मजदूर दिन भर कार्य करते थे। कारखानों में सब कार्य मशीनरी की सहायता से होता था, इसलिये उनमें शारीरिक बल की बहुत आवश्यकता नहीं रहती थी। उनका कार्य स्त्रियाँ और बालक भी बड़ी सुगमता से कर सकते थे। स्त्रियाँ और बालक पुरुषों की अपेक्षा सस्ती मजदूरी पर मिल जाते थे, इसलिये कारखानों के मालिक उन्हें पसन्द करते थे। माँ बाप भी सोचते थे, कि उनके लड़के कारखाने में जाकर काम कर सकते हैं और अपना पेट सुगमता से भर सकते हैं। वे भी उन्हें प्रसन्नतापूर्वक काम पर भेज देते थे। परिणाम यह था, कि कारखानों में बालकों की भरमार थी। जिन बालकों को आगे चलकर राष्ट्र का नागरिक बनना था और जिन्हें इस समय उसके लिये उपयुक्त शिक्षा मिलनी चाहिये थी, वे कारखानों के दूषित वातावरण में अपने शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का विनाश कर रहे थे। इसी प्रकार कारखानों में स्त्रियाँ भी अधिक संख्या में रहती थीं। हिसाब लगाया गया है, कि उन्नीसवीं सदी के शुरू में कारखानों में काम करनेवाले १०० मजदूरों में २० स्त्रियाँ, ४५ लड़के और ३५ पुरुष होते थे। इस दशा के दो परिणाम हुए। एक तो स्त्रियों और पुरुषों के साथ साथ काम करने से नैतिक पतन की सम्भावना अधिक हो गई, और दूसरा बेकारी की समस्या और भी अधिक उग्र रूप धारण करने लगी।

उस समय पार्लियामैन्ट के लिये वोट का अधिकार बहुत कम लोगों को था। मजदूर श्रेणी के लोग तो इस अधिकार से सर्वथा वञ्चित थे। उनमें शिक्षा का भी अभाव था। इसलिये यदि वे अपनी

दशा को सुधारने के लिये आन्दोलन करना चाहते, तो उनके पास साधन ही कौन सा था ? पार्लियामैन्ट में उनकी कोई पूछ नहीं थी और अशिक्षित होने के कारण वे लोकमत को भी अपने अनुकूल नहीं बना सकते थे। उस समय के विचारशील लोग भी उनकी दशा पर कोई ध्यान नहीं देते थे। कारण यह कि उस समय 'व्यक्तिवाद' के सिद्धान्त का बहुत जोर था। समाजशास्त्री लोग यह समझते थे, कि राज्य को आर्थिक मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उनका कहना था कि प्राकृतिक क्षेत्र के समान आर्थिक क्षेत्र में भी कुछ स्वाभाविक नियम कार्य रहे हैं। मनुष्य को उचित है कि उनमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप न कर उन्हें स्वच्छन्द रूप से कार्य करने दे। कारखानों में काम करनेवाले मजदूर कितने समय तक कार्य करें, उन्हें कितना वेतन मिले, उनकी कार्य करने की परिस्थितियाँ किस प्रकार की हों, ये सब बातें इन्हीं प्राकृतिक नियमों से स्वयं निश्चित होती रहती हैं। इनमें मनुष्य को अपनी तरफ से कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। इन सिद्धान्तों का परिणाम यह हुआ कि उस समय की सरकार ने मजदूरों की दशा को सुधारने के लिये कोई भी महत्त्वपूर्ण प्रयत्न नहीं किया।

यद्यपि उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में अधिकांश विचारक आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति को माननेवाले थे, पर धीरे-धीरे ऐसे विचारक भी उत्पन्न होने शुरू हो गये थे, जो कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों और विशेषतया बच्चों की दुर्दशा पर रहम खाते थे और उनकी दशा को सुधारने के लिये उत्सुक थे। इनमें राबर्ट ओवन (१७७१-१८५८) का नाम सबसे प्रसिद्ध है। यह मान्चेस्टर का रहनेवाला था, और स्वयं कपड़े के कारखानों का मालिक था। सबसे पहले उसने मजदूरों के पक्ष में आन्दोलन करना प्रारम्भ किया। १८१५ से १८१६ तक वह निरन्तर इस बात के लिये प्रयत्न करता रहा, कि पार्लियामैन्ट में मजदूरों के पक्ष में कानून

बनवा सके। आखिर, उसे सफलता हुई। उसके प्रयत्न से १८१६ में जो कानून पास हुआ, उसमें ६ साल से कम उमर के बालकों के लिये कपड़े के कारखानों में काम करने की मुमानियत की गई थी और ६ से १६ साल तक की आयु के बालकों के लिये काम करने का समय १२ घण्टा प्रति दिन नियत किया गया था। यदि वर्तमान समय की दृष्टि से इस कानून पर विचार किया जावे, तो यह सचमुच हास्यास्पद प्रतीत होगा। पर उस समय के लिये यह वस्तुतः बड़ी बात थी और रावर्ट ओवन को इसे पास कराने के लिये बड़ी दिक्कतों का सामना करना पड़ा था।

इस बीच में मजदूरों में भी जागृति प्रारम्भ हो गई थी। वे भी अपनी दुर्दशा का अनुभव कर अपने को सङ्गठित करने का प्रयत्न कर रहे थे। पर कानून के अनुसार वे अपने संघ नहीं बना सकते थे। मजदूरों के लिये अपने को संगठित करना एक अपराध समझा जाता था। विवश होकर मजदूरों ने पहले गुप्त समितियाँ बनानी प्रारम्भ कीं। कानून से बचने के लिये वे सामाजिक क्लब बना लेते थे। पर उनका असली उद्देश्य आर्थिक दृष्टि से अपना संगठन करना होता था। पर मजदूरों को अपने हितों की रक्षा करने के लिये संगठन भी न बनाने देना एक अत्यन्त अन्याय की बात थी। लोकमत इसके विरुद्ध हो गया और मजदूरों के संगठन बना सकने के खिलाफ जो कानून थे, वे सब १८२४ में प्रायः रद्द कर दिये गये। इसके बाद मजदूरों के संघ खुले तौर पर बनने लगे और दस वर्ष बाद रावर्ट ओवन के नेतृत्व में मजदूर संघों का एक केन्द्रीय संगठन भी बन गया।

मजदूरों की दशा सुधारने के लिये अनेक विचारक और नेता भी प्रयत्नशील थे। कारखानों की जो दुर्दशा उस समय थी, उसे देखकर इन लोगों के हृदय दहल गये थे और ये मजदूरों के पक्ष में लोकमत उत्पन्न करने का उद्योग करने लगे थे। इन्हीं लोगों के उद्योग

का परिणाम हुआ कि आखिर सन् १८३२ में पार्लियामैन्ट ने मजदूरों की दशा का अध्ययन करने के लिये एक कमीशन नियत किया। इस कमीशन की रिपोर्ट से इङ्गलैण्ड की जनता को यह जानने का अवसर मिला कि उनके अपने भाई कितनी दुर्दशा में हैं, और उनकी तरफ ध्यान देने की कितनी आवश्यकता है। इस कमीशन की सिफारिशों के अनुसार कारखानों का निरीक्षण करने के लिये सरकार की ओर से निरीक्षक नियत किये गये और बालकों के कारखानों में कार्य करने के समय में कुछ और कमी की गई। सन् १८४२ में लार्ड एस्ले के प्रयत्न से एक कानून पास हुआ, जिसके अनुसार खानों में स्त्रियों और बालकों का कार्य करना निषिद्ध कर दिया गया। निस्सन्देह, ये कानून मजदूरों के हित में थे। पर सुधारक लोग इनसे संतुष्ट नहीं हो सकते थे। उन्होंने अपने आन्दोलन को जारी रखा। उनका कहना था कि स्त्रियों और बालकों से कारखानों में प्रतिदिन १० घंटा से अधिक काम नहीं लिया जाना चाहिये। पर लोग इस प्रस्ताव को बड़ा क्रान्तिकारी समझते थे। इस प्रस्ताव पर इङ्गलैण्ड में बड़ी बहस हुई। पर आखिर, १८४७ में यह प्रस्ताव पार्लियामेन्ट में पास हो गया। यद्यपि प्रतिदिन १० घंटा कार्य करने का नियम केवल स्त्रियों और बालकों के लिये बनाया गया था, पर क्रियात्मक रूप से यह सभी लोगों के लिये लागू हो जाता था। कारण यह कि स्त्रियां और बालकों के चले जाने पर कारखानों में काम हो सकना कठिन हो जाता था। हम पहले लिख ही चुके हैं, कि उस समय कारखानों के मजदूरों में स्त्रियों और बालकों की प्रचुरता होती थी।

१८४७ के इस कानून के बाद सुधारकों के लिये मार्ग साफ हो गया। राज्य को आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये, यह सिद्धान्त अब धीरे धीरे हटता जा रहा था, और लोग इस बात को मानते जाते थे कि मजदूरों का हितसाधन राज्य का आवश्यक कर्तव्य

है। इसीलिये उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में इङ्गलैण्ड में बहुत से ऐसे कानून पास किये गये, जिनसे मजदूरों की दशा सुधारने और उनकी हितरक्षा के लिये उद्योग किया गया।

मजदूरों के कार्य करने के समय को निरन्तर कम किया गया और कारखानों की परिस्थितियों को स्वास्थ्यजनक बनाने का प्रयत्न किया गया। पहले मजदूरों को हड़ताल करने का अधिकार नहीं था, वे अपनी शिकायतों को दूर करने के लिये हड़ताल का प्रयोग नहीं कर सकते थे। सन् १८७१ में मजदूरं ने हड़ताल का अधिकार भी प्राप्त किया। मजदूरों के लिये यह अधिकार बहुत महत्त्व रखता है। उनके पास यही अस्त्र है, जिससे वह पूँजीपतियों को नीचा दिखा सकते हैं। १८७१ के बाद इङ्गलैण्ड के मजदूर बहुधा इसका आश्रय लेते रहे हैं। दूसरे मजदूरों को भर्ती करके कारखानों के मालिक अपना कार्य न चला सकें, इसके लिये मजदूर लोगों ने पिकेटिंग (धरना देना) शुरू की। पहले इसे गैर कानूनी समझा गया। पर १९०६ में मजदूरों के इस अधिकार को भी स्वीकृत कर लिया गया और उसके बाद इङ्गलैण्ड के मजदूर अपनी हड़ताल को सफल बनाने के लिये स्वच्छन्द रूप से पिकेटिंग करने लगे।

बीसवीं सदी में इङ्गलैण्ड के मजदूर-आन्दोलन ने और अधिक उन्नति की। मजदूरों के हित के लिये इस काल में बहुत से कानून बने। सन् १९०२ में एक बड़ा फैक्टरी कानून पास हुआ, जिसमें उन्नीसवीं सदी में स्वीकृत सम्पूर्ण फैक्टरी सम्बन्धी कानूनों को एकत्रित करने के साथ साथ अन्य भी कई महत्त्वपूर्ण सुधार किये गये। १९०२ के इस कानून के अनुसार १२ साल से कम उमर के बालकों के लिये कारखानों में कार्य करना निषिद्ध कर दिया गया। १२ से १८ साल तक की आयु के बालकों के लिये कार्य करने के घण्टे कम किये गये, और कारखानों की परिस्थितियों को स्वास्थ्यजनक बनाने के

लिये व्यवस्थायें की गई । सन् १६०८ में खानों में कार्य करनेवाले मजदूर प्रतिदिन आठ घण्टे से अधिक काम न कर सकें, यह कानून पास हुआ ।

पर मजदूरों की समस्या केवल इन कानूनों से हल नहीं हो सकती थी । मजदूरों की वृत्ति की दर बहुत कम थी । उन्हें जो कुछ मिलता था, वह उनके जीवन निर्वाह के लिये भी पर्याप्त न होता था । पर मजदूरों की सबसे बड़ी शिकायत यह थी, कि वे अपनी नौकरी को सुरक्षित नहीं समझ सकते थे । कारखानों में काम करते हुये अगर कोई मजदूर किसी दुर्घटना के कारण अपाहिज हो जावे वा बीमार पड़ जावे, तो उसकी बड़ी दुर्दशा हो जाती थी । उसके लिये अपना पेट पाल सकना भी मुश्किल हो जाता था । इसी तरह बुढ़ापे में मजदूरों की बड़ी दुर्गति होती थी । युवावस्था में उन्हें जो वृत्ति मिलती थी, वह इतनी थोड़ी होती थी कि उससे उन दिनों में भी बड़ी मुश्किल से गुजारा चलता था । फिर यह आशा कैसे की जा सकती थी, कि अपनी कमाई में से कुछ हिस्सा वे बुढ़ापे के लिये बचा सकें । इसी तरह व्यावसायिक और व्यापारिक परिस्थितियों के कारण, जिनसे मजदूरों का कोई ताल्लुक नहीं होता, अगर कारखाने को काम बन्द व कम करना पड़े, तो मजदूर बेकार हो जाते थे । बेकारी की दशा में उन्हें बहुत भयंकर विपत्तियों का सामना करना पड़ता था । बीसवीं सदी में इङ्गलैण्ड में इन समस्याओं को भी हल करने का प्रयत्न किया गया । सन् १६०६ में 'वर्कमेन्स कम्पन्सेशन एक्ट' पास हुआ । इसके अनुसार यह व्यवस्था की गई कि अगर कोई मजदूर काम करते हुए अपाहिज व बीमार हो जावे, तो उसकी क्षतिपूर्ति की जावे । क्षतिपूर्ति के लिये कितनी रकम दी जावे, यह क्षति को दृष्टि में रखकर निश्चित हो । यदि कोई मजदूर अपने कार्य-काल में मर जावे, तो उसके घरवालों को क्षतिपूर्ति की रकम प्राप्त हो । इस कानून के अनुसार यह सिद्धान्त

स्वीकृत किया गया, कि मजदूर व्यावसायिक संगठन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है, और उसकी हितरक्षा की जिम्मेवारी उसके मालिक के ऊपर है। सन् १६०६ का यह कानून कारखानों, खेतों, और जहाजों पर कार्य करनेवाले श्रमियों तथा दफ़्तर के क्लर्कों तथा अन्य नौकरी पेशा लोगों के लिये समान रूप से लागू किया गया था।

सन् १६०८ में 'ओल्ड एज पेन्शन एक्ट' पास हुआ। इसके अनुसार ७० वर्ष की आयु के बाद प्रत्येक मजदूर के लिये राज्यकोष से पेन्शन देने की व्यवस्था की गई। इस कानून के पक्षपातियों का कहना था कि यह राज्य का कर्तव्य है, कि वह उन लोगों की वृद्धावस्था में परवाह करे, जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन देश की व्यावसायिक और आर्थिक सेवा में स्वाहा किया है।

सन् १६०६ में एक अन्य कानून पास हुआ, जिसके अनुसार अनेक व्यवसायों में वृत्ति की दर कम से कम कितनी हो, यह निश्चित किया गया। वृत्ति की न्यूनतम दर निश्चित करने के लिये बोर्डों की व्यवस्था की गई, जिनमें कारखानों के मालिक, मजदूर तथा सरकार तीनों के प्रतिनिधि होते थे।

सन् १६११ में श्रीयुत लायड ज्यार्ज के प्रयत्न से 'नेशनल इन्शुरेन्स एक्ट' पास हुआ। इसके अनुसार यह व्यवस्था की गई, कि मजदूर लोगों का बीमा आवश्यक रूप से किया जावे। बीमे के लिये जो किस्त दी जावे, उसमें मालिक, मजदूर और सरकार तीनों का हिस्सा हो। जब कोई मजदूर बीमार पड़े, तो बीमे के रुपये में से उसकी मदद की जावे और उसकी चिकित्सा का प्रबन्ध मुफ़्त हो।

इस प्रकार विविध कानूनों से इङ्गलैण्ड में मजदूरों की दशा अब पहले की अपेक्षा बहुत उन्नत होगई है। बीसवीं सदी के इङ्गलिश मजदूर अब उन्नीसवीं सदी के अपने पूर्वजों के समान अशिक्षित और असहाय नहीं रहे हैं। अब देश की राजनीति में भी उनका

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। मजदूर दल नाम से एक शक्तिशाली राजनीतिक दल संगठित होगया है, जिसका प्रभाव निरन्तर बढ़ता जा रहा है। इस समय तो मजदूर दल का शासन भी इङ्गलैंड में विद्यमान है। इस दल पर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

(७) व्यापारिक नीति

मध्यकाल में इङ्गलैण्ड संरक्षण नीति का अनुयायी था। विदेशों से जो माल इङ्गलैण्ड में आता था, उस पर भारी टैक्स लगाये जाते थे। विदेशी जहाजों में इङ्गलैण्ड का व्यापारी माल न जाने पावे और विदेशी जहाजों के मुकाबले से अंग्रेजी जहाजों को बचाया जावे, इसके लिये बहुत से कानून बनाये गये थे। पर व्यावसायिक क्रान्ति से इङ्गलैंड की व्यापारिक नीति में भेद आना प्रारम्भ हुआ। इंगलैंड में कल कारखानों की उन्नति बड़ी तेजी के साथ हो रही थी। इंगलैंड के कारखानों में बहुत बड़ी मात्रा में माल तैयार होने लगा था। इस दशा में यह बात इंगलैंड के लाभ की थी, कि वह अपने तैयार माल को अन्य देशों के बाजारों में बेचे और बदले में उनके कच्चे माल को सस्ते दामों में प्राप्त करे। यह तभी सम्भव था, जब कि विदेशी माल पर लगाये गये टैक्सों को हटाकर उन्हें स्वच्छन्दता से इंगलैंड में आने दिया जावे। पर यह बात जमींदारों के लिये हानिकारक थी। यदि विदेशों से कच्चा माल खुले तौर पर इंगलैंड में आने दिया जावे, तो उसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा, कि कच्चा माल सस्ता हो जायगा और उससे जमींदारों को नुकसान होगा। जमींदारों का हित इस बात में था, कि अनाज तथा अन्य कच्चे माल की कीमत बढ़ी रहे और वे अपनी जमीनों की पैदावार का अधिक मूल्य प्राप्त कर सकें।

उन्नीसवीं सदी के शुरू में ही कारखानों के मालिकों ने तट-कर के खिलाफ आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया था। उस समय विदेशों

से आनेवाले अनाज पर भारी कर लगता था। इस कारण इंगलैंड में अनाज की कीमत बहुत बढ़ी रहती थी। कारखानेवालों ने सन् १८३८ में 'एण्टि-कार्न लॉ लीग' नाम से एक संघ की स्थापना की, जिसका उद्देश्य अनाज पर लगनेवाले तट-कर के खिलाफ आन्दोलन करना था। इस संघ के प्रधान नेता रिचर्ड कोलडेन नामक महानुभाव थे। उनके नेतृत्व में यह आन्दोलन निरन्तर प्रचण्ड रूप धारण करता गया। 'एण्टि-कार्न लॉ लीग' की ओर से ३० लाख से भी अधिक रुपया प्रतिवर्ष प्रचार के लिये खर्च किया जाता था। १८४५ में इंगलैंड और आयरलैण्ड में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। उसके कारण अनाज की कीमत बहुत बढ़ गई। सर्वसाधारण जनता को भयंकर मुसीबत का सामना करना पड़ा। बाहर से अनाज आ नहीं सकता था, क्योंकि भारी तटकरों द्वारा उसके खिलाफ एक कृत्रिम दीवार खड़ी हुई थी। इस परिस्थिति से लाभ उठाकर 'एण्टि-कार्न लॉ लीग' ने अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया और आखिर उस समय के प्रधान मन्त्री सर राबर्ट पील भी अनाज पर लगनेवाले इस तटकर के खिलाफ हो गये। सन् १८४६ में राबर्ट पील ने पार्लियामेन्ट में इस तटकर को रद्द करवाने का प्रस्ताव स्वीकृत करा लिया।

अनाज से तटकर के नष्ट होने के बाद अन्य पदार्थों से भी तटकर हटाये गये। सन् १८५२ में श्रीयुत ग्लैडस्टन ने, जो उस समय अर्थ सचिव के पद पर नियुक्त थे, १२३ पदार्थों पर से तटकर को सर्वथा हटा दिया और १३३ पदार्थों से तटकर की मात्रा बहुत कम कर दी। १५ वर्ष बाद सन् १८६७ में जब उदार दल का फिर प्राधान्य हुआ, तो श्रीयुत ग्लैडस्टन ने सम्पूर्ण संरक्षण करों को नष्ट कर दिया। चाय, शराब, कहवा और कुछ अन्य पदार्थों पर केवल राजकीय आमदनी की दृष्टि से कुछ कर कायम रखे गये। इस प्रकार धीरे-धीरे इंगलैंड पूर्ण रूप से मुक्त द्वार वाणिज्य (फ्री ट्रेड) नीति का अनुयायी हो गया।

यह नीति इंगलैंड के लिये लाभदायक भी थी। व्यावसायिक क्रान्ति के कारण इङ्गलैंड में कल कारखानों का जिस तेजी से विकास हो रहा था, उसे दृष्टि में रखते हुए इंगलैंड मुक्त द्वारवाणिज्य की नीति से ही अपने तैयार माल को अन्य देशों में खपा सकता था।

पर कुछ समय बाद परिस्थितियों ने फिर पलटा खाया। इंगलैंड के बाद अन्य देशों में भी व्यावसायिक उन्नति प्रारम्भ हुई। जर्मनी, अमेरिका आदि देशों ने अपने व्यवसायों के हित में संरक्षण कर की नीति का आश्रय लिया। इंगलैंड के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि अपने माल को सुगमता से अन्य देशों में बेच सके। पर दूसरे देश अपना माल इंगलैंड में स्वच्छन्दता से बेच सकते थे। धीरे-धीरे इंगलैंड के राजनीतिज्ञों ने इस अवस्था पर विचार कर अपनी व्यापारिक नीति में परिवर्तन करने के लिये आन्दोलन करना प्रारम्भ किया। इस आन्दोलन के प्रवर्तक श्रीयुत चैम्बरलेन थे। उनके प्रयत्नों से इंगलैंड की व्यावसायिक नीति में जो परिवर्तन आने प्रारम्भ हुए, उन पर हम आगे चलकर प्रकाश डालेंगे।

अठाईसवां अध्याय

आस्ट्रिया-हंगरी का संगठन

१८६१ के शासन सुधार—हाप्सबुर्ग राजवंश के विस्तृत प्रदेशों में १८४८ की क्रान्ति की लहर किस प्रकार असफल हुई थी, इस बात पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। हंगरी के देशभक्त कुछ समय के लिये अपना पृथक् स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर अन्त में फिर आस्ट्रियन सरकार के अधीन रहने के लिये बाधित हुए थे। यही दशा बोहेमिया की थी। आस्ट्रिया में दो बार राजा को वीएना छोड़ कर बाहर भागना पड़ा। पर आखिरकार पुरानी प्रवृत्तियाँ सफल हुईं, और हाप्सबुर्ग वंश का स्वेच्छाचारी शासन स्थापित हो गया। १८५६ में जब इटालियन लोगों ने आस्ट्रिया की अधीनता से मुक्त होने के लिये युद्ध प्रारम्भ किया और लोम्बार्डी का प्रदेश वस्तुतः आस्ट्रियन आधिपत्य से निकल गया, तब सम्राट् फ्रांसिस जोसफ की आँखें खुलीं। इटली का अनुकरण कर अन्य भी अनेक स्थानों पर विद्रोह हुए, और सम्राट् ने गम्भीरता के साथ सुधार का कार्य प्रारम्भ किया। फ्रांसिस जोसफ नवयुवक सम्राट् था। वह १८४८ की क्रान्ति के दिनों में राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ था। उसके चचा फर्डिनन्ड ने क्रान्ति से घबरा कर २ दिसम्बर, १८४८ को राजगद्दी छोड़ देने में ही अपना कल्याण समझा था। यह फ्रांसिस जोसफ ही था, जिसने क्रान्ति की ज्वालाओं

को शान्त कर फिर से एकतन्त्र शासन की स्थापना की थी। अब इसने अनुभव किया, कि जनता को संतुष्ट रखने के लिये सुधार किये बिना काम न चलेगा। उसने मध्यकाल की बहुत सी बुराइयों को नष्ट कर अनेक सुधार किये। इससे लोगों की शिकायतें दूर हुईं। सब से महत्त्वपूर्ण बात यह थी, कि १८६१ में सम्पूर्ण साम्राज्य—आस्ट्रिया, हंगरी और बोहेमिया—के लिये एक शासन विधान की रचना की गई। शासन को वीएना में केन्द्रित किया गया। सम्पूर्ण साम्राज्य के लिये व्यवस्थापन का कार्य दो सभाओं के सुपुर्द हुआ (१) कुलीन सरदारों की सभा—इसमें वंश क्रमानुगत कुलीन सरदार लोग सम्मिलित होते थे। इनके अतिरिक्त सम्राट् की तरफ से जिन्हें बड़े ऊँचे खिताब दिये जाते थे, उन राजसम्मानित लोगों में से भी सरकार कुछ को इस सभा का सदस्य मनोनीत करती थी। (२) दूसरी सभा सर्वसाधारण जनता के प्रतिनिधियों की थी। वोट का अधिकार बहुत विस्तृत नहीं था। पर फिर भी मध्यश्रेणि के प्रतिनिधि इस सभा में सम्मिलित हो सकते थे। १८६१ में आस्ट्रियन साम्राज्य का शासन पूर्णतया एकतन्त्र और स्वेच्छाचारी नहीं रहा था। वह एक प्रकार से वैध राजसत्ता बन गया था। इस अंश में आस्ट्रिया जर्मनी से पर्याप्त आगे था। यद्यपि लोकतन्त्रशासन का कुछ प्रवेश आस्ट्रिया में हो गया था, पर उसकी वास्तविक समस्या अभी हल नहीं हुई थी। आस्ट्रियन साम्राज्य में कोई एक जाति निवास नहीं करती थी। आस्ट्रिया के असली जर्मन लोगों के अतिरिक्त उसमें अन्य बहुत सी जातियों का निवास था। ये सब अपने को स्वाधीन करने का प्रयत्न कर रही थीं। यदि इन जातियों की दृष्टि से देखा जावे, तो १८६१ के सुधार और वैध राजसत्ता वास्तविक असन्तोष को दूर करने में सर्वथा असमर्थ थे।

१८६६ के आन्दोलन—१८६६ में सेडोवा के युद्ध में पराजित होने के अनन्तर आस्ट्रिया जर्मनी से पृथक् हो गया। जर्मन राज्यसंघ की

जटिल समस्याओं से अब उसका कोई सम्बन्ध न रहा। अनेक सदियों से वह जर्मन लोगों का नेतृत्व कर रहा था। पर प्रशिया के अभ्युदय ने उसका अन्त कर दिया और आस्ट्रिया के ८० लाख के लगभग जर्मन लोग अपनी जाति के अन्य लोगों से पृथक् हो गये। १८६६ के बाद हाप्सबुर्ग राजवंश का ध्यान पश्चिम की तरफ से हट कर पूर्व की तरफ जाना शुरू हुआ। आस्ट्रिया की महत्त्वाकांक्षा जर्मनी के स्थान पर बाल्कन प्रायद्वीप में अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिये कार्य करने लगी। १८६६ में ही बेनेटिया का प्रदेश आस्ट्रिया की अधीनता से निकल गया। सेडोवा की पराजय और बेनेटिया की स्वतन्त्रता के कारण विद्रोह की प्रवृत्ति फिर बलवती हो गई। विशेष-तया हंगेरियन लोगों ने १८६१ के शासन विधान का घोर विरोध प्रारम्भ किया। वे पहले भी इसके प्रति अपने असन्तोष को प्रगट कर रहे थे। वे व्यवस्थापिका सभाओं में सम्मिलित ही न होते थे। हंगेरियन लोग स्वयं तो नवीन शासन से असहयोग कर ही रहे थे, साथ में बोहेमियन, पोल और क्रोटियन आदि लोगों को भी अपना अनुसरण करने के लिये भड़का रहे थे। १८६६ में इस आन्दोलन ने बहुत प्रचण्ड रूप धारण कर लिया। हंगेरियन लोग कहते थे कि हमारा देश सदा से एक पृथक् स्वतन्त्र राज्य के रूप में रहता चला आया है। आस्ट्रिया से हमारा सम्बन्ध केवल इतना था, कि दोनों राज्यों का राजा ही एक था। इसके अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध आस्ट्रिया और हंगरी में नहीं था। हंगेरियन लोगों की माँग यही थी, कि १८६१ के शासन विधान का अन्त कर फिर से उनके पृथक् राज्य की स्थापना की जावे।

समझौता (ऑसग्लाइख)—सम्राट् फ्रांसिस जोसफ हंगेरियन देशभक्तों की माँग को स्वीकृत करने के लिये बाधित हुआ। १८६७ में आस्ट्रिया और हंगरी में समझौता हो गया। नवीन शासनविधान की रचना की गई। इतिहास में १८६७ का यह शासनविधान

'समझौते' (ऑसग्लाइख) के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते के अनुसार फ्रांसिस जोसफ ने स्वीकार किया कि मैं दो पृथक् स्वतन्त्र राज्यों का पृथक् रूप से राजा हूँ। वे राज्य निम्नलिखित हैं—

(१) आस्ट्रियन साम्राज्य-जिसमें कुल मिलाकर १७ प्रान्त सम्मिलित थे। असली आस्ट्रिया के अतिरिक्त बोहेमिया, मोरेविया, कैरिन्थिया, कर्निओला आदि अनेक प्रदेश इसमें ऐसे भी शामिल थे, जिनमें अनेक विदेशा जातियाँ निवास करती थीं।

(२) हंगरी का राज्य-इसमें भी हंगेरियन लोगों के अतिरिक्त क्रोटियन और स्लावोनियन जातियों का निवास था।

आस्ट्रियन साम्राज्य की राजधानी वीएना थी और हंगरी की बुडापेस्ट। दोनों राज्यों के शासन-विधान पृथक् पृथक् थे। दोनों की व्यावसायिक सभायें, मन्त्रिमण्डल आदि सर्वथा पृथक् थे। परन्तु कुछ मामले ऐसे भी थे, जिनका शासन सम्मिलित रूप से होता था। विदेशों के साथ सम्बन्ध, सन्धि-विग्रह, सेना, तट-कर आदि उभयनिष्ठ मामलों के लिये दोनों राज्य एक थे। इस सम्मिलित राज्य को आस्ट्रिया-हंगरी कहते थे। आस्ट्रिया-हंगरी की स्थल और जल सेना एक थी। मुद्रा-पद्धति एक थी। तोल, माप आदि के मान एक थे। तट-कर की पद्धति सम्मिलित राज्य की एक थी। यह एक अद्भुत किस्म का संघ था। दो राज्य एक दूसरे से सर्वथा पृथक् होते हुए भी कुछ मामलों के लिये एक बने हुए थे।

सम्मिलित राज्य का शासन—इन सम्मिलित विषयों का शासन करने के लिये आस्ट्रिया-हंगरी का उभयनिष्ठ राजा तीन मन्त्री नियत करता था—परराष्ट्र सचिव, युद्ध सचिव और अर्थ सचिव। ये तीनों मन्त्री एक अद्भुत प्रकार की सम्मिलित पार्लियामेन्ट के प्रति उत्तरदायी होते थे, जिसे कि 'प्रतिनिधिमण्डल' (डैलीगेशन) कहते थे। इस प्रतिनिधिमण्डल का एक हिस्सा आस्ट्रिया की व्यवस्थापिका सभा द्वारा

निर्वाचित होता था। हंगरी की व्यवस्थापिका सभा दूसरा हिस्सा चुनती थी। प्रतिनिधि-मण्डल में कुल मिलाकर १२० सदस्य होते थे। ६० सदस्य आस्ट्रिया चुनता था और ६० हंगरी। प्रतिनिधिमण्डल का अधिवेशन एक बार वीएना में होता था और एक बार बुडापेस्ट में। दोनों राजधानियों में बारी बारी से अधिवेशन होते थे, ताकि दोनों को समान रूप से महत्त्वपूर्ण समझा जावे। प्रतिनिधि-मण्डल के दोनों हिस्सों का अधिवेशन पृथक् पृथक् होता था। आस्ट्रियन प्रतिनिधि-मण्डल अपना कार्य जर्मन भाषा में करते थे, और हंगेरियन प्रतिनिधि-मण्डल हंगेरियन भाषा में। जब कभी दोनों हिस्सों में मतभेद हो जाता था, तब उनका अधिवेशन एक साथ होता था। पर उस समय बहस नहीं होती थी, केवल वोट ही लिये जाते थे। इस प्रकार आस्ट्रिया और हंगरी अपनी स्थिति को एक बराबर रखते हुए अपने सम्मिलित विषयों का सञ्चालन करते थे।

१८६७ के 'समझौते' के बाद आस्ट्रिया और हंगरी दोनों का शासन पृथक् रूप से होता रहा। इनके शासन-विधानों का विस्तार से उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इतना निर्देश पर्याप्त होगा कि आस्ट्रिया में व्यवस्थापन विभाग में दो सभायें थीं। एक सभा में कुलीन सरदार लोग सम्मिलित होते थे और दूसरी में सर्वसाधारण जनता के प्रतिनिधि। पर वोट का अधिकार बहुत कम लोगों को था। मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापन विभाग के प्रति उत्तरदायी था। हंगरी के शासन का ढाँचा भी ठीक इसी प्रकार का था। वहाँ भी वोट का अधिकार बहुत कम लोगों को प्राप्त था। आस्ट्रिया और हंगरी दोनों में उत्तरदायित्वपूर्ण वैध शासन की स्थापना तो हो गई थी, पर वास्तविक जनता को बहुत कम अधिकार प्राप्त थे। वोट का अधिकार जितना अधिक विस्तृत होगा, लोकतन्त्र शासन उतना ही पूर्ण होगा। पर इन राज्यों में यह बात न थी। यही कारण है कि उदार विचारों

के लोग शासन-सुधार के लिये निरन्तर आन्दोलन करते रहे। १९०६ में इस आन्दोलन को बहुत कुछ सफलता प्राप्त हुई और मताधिकार को विस्तृत किया गया।

परन्तु आस्ट्रिया-हंगरी की वास्तविक समस्या लोकतन्त्र शासन स्थापित करने की नहीं थी। इस अद्भुत साम्राज्य में जिन विविध जातियों का निवास था, उनका जिकर अनेक बार पहले किया जा चुका है। राष्ट्रीयता की भावना उन सब जातियों में प्रादुर्भूत हो चुकी थी और वे अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये आन्दोलन कर रही थीं। हंगरी की सफलता के कारण उनकी हिम्मत बहुत बढ़ गई थी। उनका असन्तोष बार बार फूट कर प्रगट होता था। उन्हें किस प्रकार सन्तुष्ट किया जावे, आष्ट्रियन सरकार के सम्मुख यह अत्यन्त विकट समस्या हमेशा उपस्थित रहती थी। इसका वास्तविक इलाज एक ही था, वह यह कि इनकी राष्ट्रीय भावनाओं को स्वीकृत कर लिया जावे और हंगरी के समान इन्हें भी पृथक् राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया जावे। पर हाप्सबुर्ग वंश के सम्राट् तथा आस्ट्रिया के जर्मन निवासियों को यह बात कभी समझ में न आई। वे शक्ति के प्रयोग से इन जातियों को अपनी अधीनता में रखने का प्रयास करते रहे। कुछ समय तक उन्हें सफलता भी प्राप्त होती रही, पर आखिर १९१४-१८ के महायुद्ध के समय इन्हीं जातियों ने आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य का विनाश कर दिया।

बोहेमिया में चैक स्वतन्त्रता का आन्दोलन—आस्ट्रियन साम्राज्य में जो विविध जातियाँ बसती थीं, उनमें सबसे अधिक उन्नतिशील बोहेमिया के चैक लोग थे। १८६८ में उन्होंने यह आन्दोलन करना प्रारम्भ किया, कि हमें भी हंगरी के समान स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिये। वे कहते थे—हम भी एक पृथक् राष्ट्र हैं और आस्ट्रिया के साथ हमारा सम्बन्ध भी केवल इतना ही है कि आस्ट्रिया का राजा

ही हमारा भी राजा है। अतः बोहेमिया को हंगरी के समान ही एक पृथक् राज्य स्वीकृत किया जाना चाहिये और फ्रांसिस जोसेफ का बोहेमिया की राजधानी प्राग में पृथक् राज्याभिषेक होना चाहिये। यह आन्दोलन निरन्तर प्रचण्ड रूप धारण करता गया और आखिर १८७१ में फ्रांसिस जोसेफ ने चैक लोगों के दावे को स्वीकृत कर लिया। परन्तु जर्मन (आस्ट्रियन) और हंगेरियन लोग इस बात को न सह सके। उन्होंने कहा—अन्य जातियाँ बोहेमिया का अनुसरण करेंगी और इस सिलसिले का अन्त कहाँ पर होगा? जर्मन और हंगेरियन लोगों को इन विविध स्लाव जातियों से बड़ी तीव्र घृणा थी। वे इन्हें स्वतन्त्र नहीं देखना चाहते थे। इनके तीव्र विरोध के कारण फ्रांसिस जोसेफ अपने वचन को पूर्ण नहीं कर सका। चैक आन्दोलन को क्रूरता से शान्त किया गया। पर इसमें सन्देह नहीं, कि सब प्रकार के अत्याचारों को सहते हुए भी चैक तथा अन्य लोग अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये निरन्तर प्रयत्न करते रहे। ये जातियाँ अवश्य ही अपने उद्देश्य में सफल हो जातीं, अगर इनमें आपस में विरोध और ईर्षा के भाव न होते। शोचनीय बात यही थी कि ये सब भी आपस में एक न हो सकती थीं। आस्ट्रियन सरकार इन्हें लड़ाती रहती थी। १९वीं सदी में राष्ट्रीयता की भावना के इतने प्रबल होते हुए भी हाप्सबुर्ग शासक अपने शासन में जो इतने सफल हुए, उसका कारण यही राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा और विद्वेष भाव थे। अन्यथा, वे इन विविध जातियों पर कभी शासन न कर सकते। आस्ट्रियन सरकार ने चैक आदि विविध स्लाव जातियों के स्वाधीनता-आन्दोलन को ही कुचलने का प्रयत्न नहीं किया। उसकी यह भी प्रबल आकांक्षा थी, कि इन जातियों को पूर्णतया जर्मन (आस्ट्रियन) रंग में रंग दें। इसी उद्देश्य से १८६९ में सम्पूर्ण साम्राज्य के शिक्षणालयों में जर्मन भाषा का अध्ययन बाधित रूप से जारी किया गया। अन्य प्रकार से भी कोशिश की गई, कि स्लाव लोग जर्मन सभ्यता का अनुसरण

करने में गौरव अनुभव करें। इन जातियों के धार्मिक विश्वासों की भी उपेक्षा की गई। ये प्रायः कैथोलिक धर्म को मानती थीं, पर ऐसे कानून बनाये गये, जिनसे जो अधिकार कैथोलिक लोगों को प्राप्त थे, वे गैर-कैथोलिकों को भी मिल गये। इसी प्रकार हंगरी में स्लाव, रूमानियन आदि जातियों को दबाने तथा उनकी सभ्यता को नष्ट करने के लिये प्रयत्न किये गये। प्रत्येक शिक्षणालय में हंगेरियन भाषा को बाधित रूप से प्रचलित किया गया। जिलों और शहरों के पुराने नामों को बदलकर हंगेरियन भाषा के नये नाम रखे गये। हंगेरियन लोगों की संख्या कुल आबादी के आधे से भी कम थी, पर उनकी पूरी कोशिश इस बात में लगी थी, कि गैर-हंगेरियन लोग व्यवस्थापिका सभा में निर्वाचित न हो सकें। इसी प्रयत्न का यह परिणाम था, कि व्यवस्थापिका सभा में हंगेरियन लोगों का हमेशा प्रभुत्व रहता था। वे जो कुछ चाहते थे, करते थे।

परराष्ट्र नीति—आस्ट्रिया-हंगरी की साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति जर्मनी या इटली की तरफ चरितार्थ नहीं हो सकती थी। जर्मन राज्य-संघ में अब उसके लिये कोई स्थान न था। इटली उसकी अधीनता से मुक्त हो चुका था और अब यह सम्भव नहीं रहा था कि आस्ट्रिया उसे फिर अपने अधीन कर सके। अब उसके सम्मुख एक ही मार्ग था। वह बाल्कन प्रायद्वीप में अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को पूर्ण कर सकता था। वहाँ उसके विस्तार के लिये उपयुक्त क्षेत्र विद्यमान था। परन्तु उधर रशिया भी इसी क्षेत्र में अपने साम्राज्यवाद का जाल फैला रहा था। रशिया विविध स्लाव जातियों को अपनी अधीनता और संरक्षा में संगठित करना चाहता था। इस प्रकार बाल्कन प्रायद्वीप में आस्ट्रिया और रशिया के स्वार्थ आपस में टकरा खाते थे। १९१४-१८ के यूरोपीय महायुद्ध में इन दो राज्यों का यह हित विरोध अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता था, यह बात स्मरण रखनी चाहिये।

उनतीसवाँ अध्याय

फ्रांस में तृतीय रिपब्लिक का शासन

(१) फ्रांस में रिपब्लिक की स्थापना

दो सितम्बर सन् १८७० के दिन सीडन के युद्ध में नैपोलियन तृतीय की पराजय हुई। अगले दिन उसने पेरिस को संवाद भेजा—'सेना परास्त हो गई है, और मैं कैद हो गया हूँ।' यह समाचार बात की बात में सारे पेरिस में फैल गया। लोग इकट्ठे हो गये। २० वर्ष पहले जिस राजसत्ता की स्थापना हुई थी, वह अकस्मात् ही नष्ट हो गई थी। अब क्या होगा—यह प्रश्न सबके मुख पर था। लोग रिपब्लिक के लिये उतावले थे। व्यवस्थापिका सभा का अधिवेशन अभी जारी था। लोगों ने उसे घेर लिया और रिपब्लिक के लिये शोर मचाना प्रारम्भ कर दिया। नैपोलियन को राज्यच्युत करने के लिये प्रस्ताव उपस्थित किया गया। उसे स्वीकृत होते देर नहीं लगी। नैपोलियन तृतीय अब फ्रांस का सम्राट् नहीं रहा। दो सितम्बर को वह सीडन में परास्त हुआ था, तीन सितम्बर को वह फ्रांस के राजसिंहासन से भी च्युत कर दिया गया। उसका अन्त सबको एक उचित तथा स्वाभाविक बात प्रतीत होती थी। कोई उसके 'अधिकार' के लिये आवाज उठानेवाला नहीं था।

चार सितम्बर को व्यवस्थापिका सभा के कुछ सदस्य पेरिस के 'सिटी हॉल' में एकत्रित हुए। गेम्बेटा इनका नेता था। इन्होंने निश्चय किया, कि फ्रांस में रिपब्लिक की स्थापना की जावे। अन्य लोगों ने साथ दिया। पेरिस की अधिकांश जनता रिपब्लिक के पक्ष में थी। अन्य बड़े बड़े नगरों ने भी रिपब्लिक का पक्ष समर्थन किया। सामयिक रूप से प्रायः सभी दल रिपब्लिक के लिये तैयार हो गये। इस समय फ्रांस में मुख्यतया तीन दल थे—

(१) रिपब्लिकन दल—ये लोग रिपब्लिक के पक्ष में थे। परन्तु सर्वसाधारण जनता की इन्हें बहुत चिन्ता नहीं थी। १८४८ में जिस ढंग से मध्य श्रेणि के लोगों के हाथ में राजनीतिक शक्ति रखकर रिपब्लिक बनाई गई थी, ये उसी तरह अब भी चाहते थे।

(२) वैध राजसत्तावादी दल—ये लोग राजसत्ता चाहते थे, पर राजा को निश्चित शासन-विधान के अधीन रखकर सरकार का सञ्चालन करने के पक्ष में थे।

(३) साम्यवादी दल—यह दल साम्यवादी सिद्धान्तों के अनुसार सर्वसाधारण किसान और मजदूर जनता के हाथ में राजनीतिक शक्ति प्रदान कर रिपब्लिक स्थापित करना चाहता था।

इन तीनों दलों की योजनायें पृथक् पृथक् थीं। पर यह समय आपस में झगड़ने का नहीं था। जर्मन सेना निरन्तर आगे बढ़ रही थी। पेरिस पर हमला होने वाला था। अतः इस स्थिति में यही उचित था, कि आपस के मतभेदों को भुला कर सामयिक सरकार की रचना कर ली जावे। आखिर, सब दलों के लोग परस्पर सहमत होकर गेम्बेटा और थीयर्स के नेतृत्व में सरकार बनाने में समर्थ हुए। जर्मन आक्रमण का फ्रांस ने किस प्रकार मुकाबला किया, इसका वर्णन पहले किया जा चुका है। पेरिस के आत्मसमर्पण के बाद भी गेम्बेटा तथा उसके रिपब्लिकन अनुयायियों की यही इच्छा थी, कि जर्मनी के

साथ युद्ध जारी रखा जावे । परन्तु वैध राजसत्तावादी इसके विरुद्ध थे। वे जर्मनी से सन्धि कर लेने में ही अपने देश का कल्याण समझते थे। इस विषय पर मतभेद इतना अधिक बढ़ गया, कि जनता की सम्मति के अनुसार इसका निर्णय करने की आवश्यकता अनुभव की गई। इस प्रश्न का निर्णय एक राष्ट्र प्रतिनिधि सभा पर छोड़ दिया गया, जिसके लिये प्रतिनिधि चुनने का अधिकार सब पुरुषों को दिया गया था। इस सभा में बहुसंख्या वैध राजसत्तावादियों की थी। ७५० में से ५०० प्रतिनिधि राजसत्तावादी दल के थे। इसका कारण यह है, कि जनता शान्ति चाहती थी। हृदय से रिपब्लिक के पक्षपाती होते हुए भी लोगों ने राजसत्तावादी दल को वोट केवल इसलिये दिये थे, क्योंकि इससे शान्ति स्थापित होने की सम्भावना थी। जर्मन आक्रान्ताओं से सन्धि करने का कार्य इस राष्ट्र प्रतिनिधि सभा ने ही किया। शासन के लिये इस सभा ने सामयिक रूप से यह व्यवस्था की, कि थीयर्स को सरकार का मुखिया बनाया जावे और वह अपने मन्त्रियों की नियुक्ति स्वयं करे। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये, कि यह व्यवस्था सामयिक रूप से की गई थी। फ्रांस में रिपब्लिक और राजसत्ता में से किस की स्थापना स्थिर रूप से की जानी है, इसका निर्णय उस समय के लिये छोड़ दिया गया, जब कि जर्मन लोगों से सन्धि हो जायगी। थीयर्स का कहना था, कि इस विकट परिस्थिति में हमें आपस के मतभेदों को भुला कर पहले विदेशी शत्रु से छुटकारा प्राप्त करना चाहिये, इसके बिना हम अपने देश का उद्धार नहीं कर सकते।

१० मई, १८७१ को फ्रांस और जर्मनी में सन्धि हो गई। थीयर्स के नेतृत्व में जो सामयिक सरकार बनी थी, उसका मुख्य उद्देश्य जर्मन आक्रमण की समस्या को हल करना ही था। सामयिक सरकार अपना कार्य कर चुकी थी। अब विविध दलों के पुराने झगड़े

उद्‌बुद्ध हो गये। रिपब्लिकन लोगों की राष्ट्र प्रतिनिधि सभा में अल्प संख्या थी। वे कहने लगे, इसे अब बर्खास्त कर देना चाहिये। पर राजसत्तावादी दल कहता था—नहीं, राष्ट्र प्रतिनिधि सभा को ही नवीन शासन-विधान का निर्माण करना चाहिये और इस बीच में सामयिक सरकार को अपना कार्य यथापूर्व जारी रखना चाहिये। पेरिस की अधिकांश जनता रिपब्लिक चाहती थी, इसलिये रिपब्लिकन दल के सदस्य कहते थे, कि राष्ट्र प्रतिनिधि सभा के अधिवेशन पेरिस में हों। उनका खयाल था, पेरिस के लोगों की मदद से वे प्रतिनिधि सभा को अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने के लिये बाधित कर सकेंगे। पर राजसत्तावादी लोग राष्ट्र प्रतिनिधि सभा को पेरिस के प्रभाव से मुक्त रखने के लिये वर्साय्य में उसके अधिवेशन करना चाहते थे। इस प्रश्न का निर्णय हो सकना सुगम कार्य नहीं था। दोनों दल अपनी अपनी बात पर अड़े हुए थे।

इस बीच में पेरिस में अशान्ति की आग धधकनी शुरू हो गई थी। पेरिस बहुत पहले से क्रान्ति और विद्रोह का केन्द्र बना हुआ था। वहाँ की जनता, विशेषतया कारखानों में काम करनेवाले मजदूर और अन्य बेकार लोग अपनी स्थिति से हमेशा असंतुष्ट रहते थे। जब जर्मन सेनाओं ने पेरिस को घेरा हुआ था, तो वहाँ की गरीब जनता की हालत बहुत शोचनीय हो गई थी। उनका सब कारोबार नष्ट हो गया था। लोग अपने मकानों का किराया तक देने में असमर्थ हो गये थे। उन पर ऋण भी बहुत चढ़ गया था। इस दुर्दशा से गरीब जनता की रक्षा करने के लिये सरकार ने यह व्यवस्था की थी, कि ऋण और किराये की अदायगी को सामायिक रूप से स्थगित कर दिया जावे। परन्तु अब शान्ति के स्थापित हो जाने पर यह सामयिक व्यवस्था हटा दी गई थी। इससे गरीब लोगों पर बहुत बड़ा बोझ आ पड़ा था। वे सरकार से बहुत असंतुष्ट हो गये थे। रिपब्लिकन

दल के नेताओं ने इस स्थिति का खूब उपयोग किया। पेरिस की नगर-सभा ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। इस नगर-सभा में उन लोगों का जोर था, जो कि फ्रांस के शासन में मौलिक परिवर्तन करना चाहते थे। वे कहते थे, कि प्रत्येक स्थान का शासन वहाँ की नगर-सभा (कम्यून) के अधीन होना चाहिये। नगर-सभा में लोगों को शासन-कार्य में पूर्णतया हाथ बटाने का उपयुक्त अवसर हाथ लगेगा और वे सच्चे अर्थों में अपना शासन अपने आप कर सकेंगे। ये नगर-सभायें जिस प्रकार चाहें, शासन करें। अपनी परिस्थितियों को दृष्टि में रख कर जिन सुधारों को चाहें, प्रयोग में लावें। केन्द्रीय सरकार की तरफ से इनमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया जावे। देश की केन्द्रीय सरकार तो इन नगर-सभाओं का संगठन-मात्र हो। ये लोग नगर-सभा व कम्यून पर असाधारण विश्वास रखते थे, इसी लिये इन्हें 'कम्यूनर्ड' नाम से कहा जाता था। पेरिस के कम्यून (नगर-सभा) ने न केवल स्वयं विद्रोह किया, अपितु अन्य नगरों को भी अपना अनुसरण करने के लिये प्रेरित किया। परिणाम यह हुआ, कि कुछ ही दिनों में राष्ट्र प्रतिनिधि सभा और पेरिस की नगर-सभा में खुल्लमखुल्ला युद्ध प्रारम्भ हो गया। राष्ट्र प्रतिनिधिसभा की सेनाओं ने पेरिस पर आक्रमण किया। छः सप्ताह तक पेरिस घिरा रहा। दोनों तरफ से हमले जारी रहे। २१ मई, १८७१ के दिन राष्ट्र प्रतिविधि सभा की सेनायें पेरिस में प्रविष्ट होने में समर्थ हो सकीं। इसके बाद गलियों और बाजारों में लड़ाई शुरू हुई। रिपब्लिकन दल की सहानुभूति कम्यूनर्ड लोगों के साथ थी। प्रतिनिधिसभा के रूप में राजसत्तावादी लोग रिपब्लिकन दल के साथ युद्ध कर रहे थे। कम्यूनर्ड लोग आखिरकार परास्त हुए। प्रतिनिधिसभा ने उनके साथ भयंकर रूप से बदला लिया। जो भी 'कम्यूनर्ड' मिला, उसे गोली से उड़ा दिया गया। हजारों की संख्या में 'कम्यूनर्ड' लोगों को प्राणदण्ड

दिया गया। हजारों आदमी इस समय डर के मारे पेरिस से भाग गये। हिसाब लगाया गया है, कि १७ हजार के लगभग 'कम्यूनर्ड' लोग राष्ट्र प्रतिनिधि सभा के शिकार बने। यह गृह-युद्ध इतना भयंकर था, कि विदेशी आक्रमण से भी पेरिस ने इतना नुकसान कभी नहीं उठाया, जितना कि इस आपस की लड़ाई से। पेरिस की बहुत सी सुन्दर इमारतें इस गृह-कलह में नष्ट हो गईं। किसी भी कम्यूनर्ड को माफ नहीं किया गया। किसी समय थीयर्स स्वयं क्रान्तिकारी था, पर इस समय वह क्रान्ति के पक्षपातियों का इतने भयंकर रूप से विनाश कर रहा था, कि उसकी तुलना अन्यत्र पा सकना बहुत कठिन है। इन्हीं अत्याचारों का यह परिणाम हुआ, कि न केवल कम्यूनर्ड दल पर कोई भी साम्यवादी दल आगे चल कर बहुत देर तक फ्रांस में सिर नहीं उठा सका।

पेरिस के विद्रोह को शान्त कर थीयर्स की सामयिक सरकार ने देश की उन्नति और समृद्धि की तरफ ध्यान देना प्रारम्भ किया। सबसे मुख्य समस्या सन्धि की शर्तों को पूर्ण करने की थी। तीन अरब रुपये हरजाने के तौर पर जर्मनी को प्रदान करने थे। पर थीयर्स की सरकार ने इतनी तत्परता के साथ कार्य किया कि १८७३ के समाप्त होने से पूर्व ही यह भारी रकम अदा कर दी गई और हरजाने को वसूल करने के लिये जो जर्मन सेना फ्रांस में स्थापित की गई थी, वह अपने देश को प्रस्थान कर गई। जनता को सरकार में पूर्ण विश्वास था। लोगों ने दिल खोलकर सरकार की सहायता की। इसी समय फ्रांस में भी बाधित सैनिक सेवा की पद्धति जारी की गई। प्रत्येक नागरिक के लिये ५ वर्ष तक सैनिक सेवा करना आवश्यक कर दिया गया। पेरिस की नये सिरे से किलाबन्दी की गई। जर्मन आक्रमण से अपने देश की रक्षा करने के लिये सीमा पर नये दुर्गों का निर्माण किया गया। इन सब प्रयत्नों का परिणाम यह हुआ, कि फ्रांस की जनता में नवीन

उत्साह का सञ्चार हुआ। लोग १८७१ की पराजय का बदला उतारने की बात करने लगे। फ्रैंको-जर्मन युद्ध से फ्रांस को जो भारी धक्का पहुँचा था, उसका असर नवीन लोकसत्तात्मक सरकार के प्रयत्न से शीघ्र ही दूर हो गया।

इस समय देश का शासन-सूत्र राष्ट्र प्रतिनिधिसभा के हाथ में था। इस सभा का निर्वाचन विशेष परिस्थितियों में हुआ था। लोग युद्ध से तंग आ गये थे, शान्ति चाहते थे। यही कारण है, कि राष्ट्र प्रतिनिधि सभा के सदस्यों की बहुसंख्या राजसत्ता के पक्ष में थी। उस समय राजसत्तावादी लोग जर्मनी से सन्धि करने के पक्षपाती थे और रिपब्लिकन लोग युद्ध के। परन्तु सर्वसाधारण जनता वास्तविक तौर पर राजसत्ता के विरोध में थी। थीयर्स के नेतृत्व में जो सामयिक सरकार बनी थी, उसका ढाँचा रिपब्लिक का था। थीयर्स इस समय फ्रांस का राष्ट्रपति था। पर राष्ट्र प्रतिनिधिसभा में बहुसंख्या राजसत्तावादी लोगों की थी। अब जब शान्ति और व्यवस्था स्थापित हो गई थी, तो इन राजसत्तावादी लोगों ने आन्दोलन करना प्रारम्भ किया कि राजसत्ता का पुनरुद्धार किया जाना चाहिये। थीयर्स पहले स्वयं राजसत्तावादी था, पर अब वह रिपब्लिक का पक्षपाती हो गया था। १८७२ के दिसम्बर मास में उसने स्पष्ट रूप से उद्घोषित किया, कि यदि अब फिर राजसत्ता को स्थापित करने का प्रयत्न किया जावेगा, तो एक बार फिर राज्य-क्रान्ति हो जायगी। इस उद्घोषणा से राजसत्तावादी लोग थीयर्स के खिलाफ हो गये। पर रिपब्लिकन लोगों की सहानुभूति भी उसे प्राप्त नहीं हो सकी। कारण यह कि गेम्बेटा तथा अन्य रिपब्लिकन नेता उसे बहुत नरम विचारों का आदमी समझते थे। परिणाम यह हुआ, कि मई १८७३ में राष्ट्र प्रतिनिधिसभा ने उसके विरुद्ध प्रस्ताव स्वीकृत किया। इस दशा में थीयर्स के लिये राष्ट्रप्रति बने रहना सम्भव न था। उसने त्यागपत्र दे दिया।

अब प्रश्न यह था, कि राष्ट्रपति किसे निर्वाचित किया जावे। राष्ट्र प्रतिनिधि सभा में राजसत्तावादियों का बहुमत था। उन्होंने मार्शल मैक्महोन को राष्ट्रपति निर्वाचित किया। मैक्महोन ने स्पष्ट रूप से उद्घोषणा की, कि मैं राजसत्ता का पक्षपाती हूँ और ज्यों ही कोई व्यक्ति राजा नियत हो जायगा, मैं राष्ट्रपति पद से पृथक् हो जाऊँगा।

राजसत्तावादी लोग इस बात पर तो एकमत थे, कि फ्रांस में रिपब्लिक न होकर राजसत्ता की स्थापना होनी चाहिये, पर राजा कौन हो, इस प्रश्न पर उनमें गहरा मतभेद था। उनमें तीन पक्ष थे—(१) कुछ लोग प्राचीन बोर्बों राजवंश का पुनरुद्धार करना चाहते थे। (२) दूसरे बोर्बों वंश की शाखा ओर्लियन वंश को फ्रांस की राजगद्दी सुपुर्द करने के पक्ष में थे। (३) अन्य लोग नैपोलियन बोनापार्ट के वंशधरों को राजा बनाना चाहते थे। रिपब्लिक का आन्दोलन बड़ी प्रचण्डता से बढ़ रहा था, इस दशा में राजसत्ता की स्थापना तभी सम्भव थी, जब कि विविध राजसत्तावादियों में परस्पर समझौता हो। अन्यथा आपस के विरोध के कारण उन्हें अपनी सफलता की कोई भी सम्भावना नहीं थी। इसी बात को दृष्टि में रखकर बोर्बों और ओर्लियन वंशों के पक्षपातियों ने परस्पर यह समझौता किया, कि बोर्बों वंश के उम्मीदवार शाम्बो के काउण्ट को पहले हेनरी पञ्चम के नाम से राजगद्दी पर बिठाया जाय। पर क्योंकि हेनरी के कोई लड़का नहीं था, अतः उसकी मृत्यु के अनन्तर ओर्लियन वंश का उम्मीदवार राजपद पर प्रतिष्ठित हो। राजसत्तावादियों के दो दलों में यह समझौता तो हो गया, पर समझौता करनेवालों ने यह नहीं सोचा कि उनके भावी राजा शाम्बो के काउण्ट के अपने विचार क्या हैं? उस समय काउण्ट की उमर ५० वर्ष से ऊपर थी। उसके जीवन का अधिक भाग स्काटलैण्ड, जर्मनी, आस्ट्रिया

और इटली आदि विदेशों में व्यतीत हुआ था। उसकी शिक्षा कैथोलिक लोगों की देख-रेख में हुई थी। वह क्रान्ति तथा नई प्रवृत्तियों का कट्टर दुश्मन था। राजा का दैवीय अधिकार—उसके लिये प्रधान राजनीतिक सिद्धान्त था। १९वीं सदी के इस उत्तरार्ध में यह सिद्धान्त पुराना हो चुका था। पर शाम्बो का बूढ़ा काउण्ट अब भी इसी को ढोंढी पीट रहा था। वह नये विचारों से किसी भी प्रकार का समझौता नहीं करना चाहता था। उसने ओर्लियन वंश के पक्षपातियों को स्पष्ट रूप से कह दिया, कि मैं तब तुमसे समझौता करने को तैयार हूँ, जब कि तुम पहले मुझे राजगद्दी का असली और न्याय्य अधिकारी स्वीकृत कर लो। ओर्लियन वंश के पक्षपाती इसके लिये तैयार नहीं हुए। वे समझौते के तौर पर उसे राजा मानने को तैयार थे, पर शाम्बो का काउण्ट यह स्वीकृत नहीं करता था। परिणाम यह हुआ, कि राजसत्तावादियों की सन्धि टूट गई। रिपब्लिकन लोगों को मौका मिला। उन्होंने ओर्लियन वंश के पक्षपातियों को इस बात के लिये तैयार कर लिया कि अभी रिपब्लिक ही कायम रहे। राष्ट्रपति मैक्महोन का शासन-काल सात वर्ष तक बढ़ा दिया गया। अब १८८० तक रिपब्लिक की सत्ता निश्चित हो गई थी।

इस बीच में विविध राजनीतिक दलों में परस्पर विवाद जारी थे। बोर्बों वंश के पक्षपाती कोशिश कर रहे थे, कि मैक्महोन को हटा कर शीघ्र ही शाम्बो के काउण्ट को बाकायदा राजसिंहासन पर आरुढ़ किया जावे। रिपब्लिकन लोग चाहते थे, कि रिपब्लिक का स्थिर रूप से संगठन किया जावे। ओर्लियन वंश और बोनापार्ट के पक्षपाती समय टाल कर अपनी शक्ति को बढ़ाने की चिन्ता में थे। नये शासन-विधान का क्या स्वरूप हो, इस पर भी बहस जारी थी। आखिरकार, २९ जनवरी सन् १८७५ के दिन यह प्रस्ताव स्वीकृत हो गया, कि रिपब्लिक के राष्ट्रपति का निर्वाचन प्रतिनिधि सभा और

सीनेट की सम्मिलित बैठक में बहुमत द्वारा किया जाय। (नये शासन-विधान का जो खाका तैयार हो रहा था, उसमें व्यवस्थापन विभाग इन दो सभाओं द्वारा बनाया गया था।) यह ध्यान में रखना चाहिये कि यह प्रस्ताव केवल एक वोट के बहुमत से पास हुआ था। इस प्रस्ताव द्वारा राष्ट्रप्रतिनिधि सभा ने यह तो अन्तिम रूप से निश्चित कर दिया था, कि फ्रांस में राजसत्ता के स्थापित होने की कोई सम्भावना नहीं है, वहाँ का शासन रिपब्लिकन ही होगा। इसके बाद शासन-विधान का निर्माण किया गया। पर सम्पूर्ण शासन का ढाँचा किसी एक विधान द्वारा निश्चित नहीं किया जा सका। इसके लिये तीन पृथक् पृथक् विधान स्वीकृत किये गये और फ्रांस के नवीन शासन का स्वरूप इन तीनों द्वारा मिलकर निश्चित हुआ।

नवीन शासन-विधान में व्यवस्थापन का कार्य दो सभाओं के सुपुर्द किया गया—सीनेट और प्रतिनिधि सभा। यह व्यवस्था की गई, कि सीनेट के सदस्य ६ वर्ष के लिये निर्वाचित किये जावें। इन्हें निर्वाचित करने के लिये वोट का अधिकार बहुत कम लोगों को दिया गया। प्रतिनिधि सभा के सदस्यों का चुनाव ४ वर्ष के लिये हो और उन्हें सर्वसाधारण जनता निर्वाचित करे। ये दोनों सभायें मिलकर सम्मिलित बैठक में बहुमत द्वारा राष्ट्रपति का निर्वाचन करें। राष्ट्रपति व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों में से अपने मन्त्रि-मण्डल को नियत करे, जो कि शासन का वास्तविक रूप से सञ्चालन करने वाले हों। ये प्रतिनिधि सभा के सम्मुख उत्तरदायी हों और तभी तक अपने पद पर रहें, जब तक कि प्रतिनिधि सभा का बहुमत इनके साथ हो। वास्तविक शासन-सूत्र व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल के सुपुर्द कर दिया गया, और राष्ट्रपति की स्थिति प्रायः वही रखी गई, जो कि वैध राजसत्ता वाले देशों में राजा की होती है।

फ्रांस के लिये नवीन शासन-विधान का निर्माण हो गया। केवल

एक वोट के बहुमत से यह महत्त्वपूर्ण बात निश्चत हुई, कि राजसत्ता की स्थापना न होगी और शासन का ढाँचा रिपब्लिकन रहेगा। ३१ दिसम्बर १८७५ के दिन राष्ट्र प्रतिनिधिसभा अपना कार्य समाप्त कर बर्खास्त हो गई और नये शासन-विधान के अनुसार व्यवस्थापिका सभाओं का निर्वाचन हुआ। प्रतिनिधिसभा में ३६० रिपब्लिकन दल के सदस्य थे और १६० राजसत्तावादी दल के। पर सीनेट में राजसत्तावादियों का बहुमत था। राष्ट्रपति के पद पर मैक्महोन, जो कि राजसत्तावादी दल का था, ही विराजमान था, उसकी नियुक्ति १८८० तक के लिये हो चुकी थी। मैक्महोन ने इस बात की परवाह नहीं की, कि प्रतिनिधिसभा को बहुसंख्या रिपब्लिकन दल की है। उसने अपने राजसत्तावादी मित्रों और साथियों को राज्य में महत्त्वपूर्ण पद दिये। वह स्वेच्छाचारी राजा की तरह फ्रांस का शासन करना चाहता था। पर गैम्बेटा तथा अन्य रिपब्लिकन नेता उसका घोर विरोध कर रहे थे। वे कहते थे कि मन्त्रिमण्डल को प्रतिनिधिसभा के प्रति उत्तरदायी होना चाहिये। मैक्महोन का निजू शासन सर्वथा अनुचित और कानून के विरुद्ध है। प्रतिनिधिसभा में रिपब्लिकन दल का जोर था। उन्होंने मैक्महोन का विरोध करने में कोई कसर उठा न रखी। परिणाम यह हुआ, कि मैक्महोन ने १८७७ में प्रतिनिधिसभा को बर्खास्त कर नया निर्वाचन करने की आज्ञा दी। दोनों दलों की ओर से भरपूर कोशिश की गई। निर्वाचन में फिर रिपब्लिकन दल की विजय हुई। अगले वर्ष १८७८ में सीनेट में भी रिपब्लिकन दल का बहुमत हो गया। अब मैक्महोन के लिये स्वेच्छापूर्वक शासन कर सकना असम्भव था। उसने भली भाँति अनुभव कर लिया था, कि देश मेरे साथ नहीं है। १८७९ के शुरू में मैक्महोन ने त्यागपत्र दे दिया।

सीनेट और प्रतिनिधिसभा की सम्मिलित बैठक में राष्ट्रपति का नवीन निर्वाचन किया गया। रिपब्लिकन दल का उम्मीदवार जूली

ग्रेवी राष्ट्रपति चुना गया। अब फ्रांस का शासन नाम-मात्र को ही रिपब्लिकन नहीं रह गया, उसका सञ्चालन करनेवाले भी वे लोग हो गये, जो कि रिपब्लिक में पूर्ण विश्वास रखते थे। फ्रेञ्च रिपब्लिक की आधारशिला तो १८७० में रखी जा चुकी थी, पर उसकी वास्तविक स्थापना १८७६ में हुई। अब से लेकर देश का शासनसूत्र रिपब्लिकन लोगों के हाथ में चला गया और उन्हें अपने विचारों को क्रिया में परिणत करने का सुवर्णावसर प्राप्त हो गया।

अब से एक सदी के लगभग पूर्व फ्रांस में पहली बार क्रान्ति की चिनगारियाँ प्रगट हुई थीं। कुछ समय के लिये पुराना जमाना नष्ट हो गया था और रिपब्लिक की स्थापना हुई थी। पर यह क्रान्ति देर तक कायम न रह सकी। नैपोलियन के रूप में फिर पुराना जमाना वापिस लौट आया। उसके बाद फिर बोर्बों वश का पुनरुद्धार हुआ। नई और पुरानी-दोनों प्रवृत्तियां परस्पर संघर्ष करती रहीं। १८३० और १८४८ में क्रान्ति ने पुराने जमाने को नष्ट कर नवयुग की स्थापना के लिये असाधारण प्रयत्न किये। पर वे सफल नहीं हो सके। मानवीय इतिहास का यही नियम है। नये विचार और नई प्रवृत्तियाँ एकदम सफल नहीं हो सकतीं। परन्तु साथ ही यह भी निश्चित है, कि इतिहास जिन भावनाओं को उत्पन्न करता है, धीरे-धीरे वे बलवती होती जाती हैं, और आखिरकार क्रिया में परिणत हो जाती हैं। १८७६ में फ्रांस में वे अन्तिम रूप से सफल हो गईं। इसके बाद आज तक फिर कभी वहाँ राजसत्ता की स्थापना नहीं हुई।

(२) रिपब्लिक का शासन

१८७६ के बाद फ्रांस में रिपब्लिक की शक्ति निरन्तर अधिक अधिक बढ़ती गई। विविध राजसत्तावादी दल कमजोर होते गये और रिपब्लिकन दल प्रतिनिधि सभा और सीनेट—दोनों में अपना प्रभाव

बढ़ाता गया। बोनापार्टिस्ट दल का उम्मीदवार नैपोलियन तृतीय का लड़का था। १८७९ में उसकी मृत्यु हो गई। इसके अनन्तर बोनापार्टिस्ट लोगों के पास कोई उपयुक्त व्यक्ति नहीं रह गया, जिसे राजगद्दी पर बिठाने के लिये वे प्रयत्न करते। शाम्बो के काउण्ट की भी १८८३ में मृत्यु हो गई। उसके कोई सन्तान नहीं थी। इस कारण बोर्बों वंश के पक्षपातियों का पक्ष भी सर्वथा शिथिल हो गया। ओर्लियन वंश को राजगद्दी पर बिठाने के पक्षपाती लोग अपने उम्मीदवार पेरिस के काउण्ट के लिये आन्दोलन करते रहे। पर १८६४ में उसकी भी मृत्यु हो गई और राजसत्तावादी पक्ष सर्वथा नष्ट हो गया।

रिपब्लिक की रक्षा करने के लिये १८८४ में यह कानून स्वीकृत किया गया, कि कोई ऐसा विधान व्यवस्थापिका सभाओं में न पेश किया जा सके, जिसका प्रयोजन शासन के रिपब्लिकन प्रकार को परिवर्त्तित करना हो। फ्रेञ्च जनता पूर्णतया रिपब्लिक के पक्ष में थी। रिपब्लिकन सरकार देश की उन्नति और कल्याण के लिये असाधारण रूप से प्रयत्न कर रही थी। १८८१ में प्रत्येक नागरिक को स्वतन्त्र रूप से भाषण, लेखन और मुद्रण का अधिकार प्रदान किया गया। इससे पूर्व जनता को यह स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी। समाचार-पत्रों पर सरकार का कड़ा निरीक्षण था। सरकार की आलोचना करने पर सम्पादकों को सख्त सजायें दी जाती थीं। प्रकाशकों के लिये आवश्यक था कि वे सरकार से पहले लाइसेन्स प्राप्त करें। वे कोई ऐसी चीज प्रकाशित न करें, जिससे सरकार को नुकसान पहुँचने की सम्भावना हो, इसके लिये उनसे जमानत ली जाती थी। १८८१ में ये सब बातें नष्ट कर दी गईं। प्रेस को पूर्ण स्वतन्त्रता दी गई। लोगों को स्वतन्त्रता के साथ एकत्रित होने और सभायें करने का अधिकार दिया गया। मजदूरों के खिलाफ जो विविध प्रकार के कानून बने हुए थे, उन्हें नष्ट किया गया। उन्हें अपने संगठन बनाने की इजाजत

फा० २६

दी गई। शिक्षा के प्रसार पर रिपब्लिक ने विशेष रूप से ध्यान दिया। इससे पूर्व फ्रांस में शिक्षा की बहुत दुर्दशा थी। देहातों में शिक्षा बहुत कम थी। अध्यापक लोग प्रायः अर्धशिक्षित तथा गरीब थे। शिक्षा का कार्य प्रायः चर्च के हाथ में था। पादरी लोग विद्यार्थियों में रपब्लिक तथा नवीन प्रवृत्तियों के विरुद्ध प्रचार करते थे। रोमन कैथोलिक चर्च के प्रभाव में जो विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे, वे नवीन विचारों को स्वीकृत करने में सर्वथा असमर्थ हो जाते थे। इसलिये यह आन्दोलन प्रारम्भ हुआ कि शिक्षा चर्च के हाथ से छीन कर राष्ट्र को अपने हाथों में रखनी चाहिये। पादरियों ने इसका घोर विरोध किया। पर रिपब्लिकन लोग शिक्षा को अपने हाथ में लेने के लिये तुले हुए थे। १८८१ में ऐसे सार्वजनिक शिक्षणालय स्थापित किये गये, जिनका चर्च से कोई सम्बन्ध न था। अगले वर्ष शिक्षा को बाधित रूप से प्रचलित किया गया। १२ वर्ष से कम आयु के बच्चों के लिये शिक्षणालय में पढ़ने के लिये जाना आवश्यक कर दिया गया। चर्च के अधीन स्कूलों को बन्द नहीं किया गया। पर ये साम्प्रदायिक शिक्षणालय जो नुकसान पहुँचा रहे थे, लोग उनसे बहुत तंग थे। इसका परिणाम यह हुआ, कि अनेक कट्टर धार्मिक सभाओं और संस्थाओं के शिक्षणालय बन्द कर दिये गये। धार्मिक शिक्षणालयों का महत्त्व अपने आप कम होता चला गया और राष्ट्रीय शिक्षा का सर्वत्र प्रचार हो गया।

रिपब्लिकन सरकार सार्वजनिक लाभ के लिये जो विवध प्रयत्न कर रही थी, उनसे वह निरन्तर अधिक-अधिक लोकप्रिय होती जाती थी। इसीलिये उसे नष्ट करने के लिये कोई विशेष प्रयत्न नहीं किये गये। परन्तु इस काल के फ्रेञ्च इतिहास में दो घटनायें ऐसी हुईं, जिनसे फ्रेंञ्च रिपब्लिक का जीवन कुछ समय के लिये संकट में पड़ गया। यद्यपि इनसे उसे कोई विशेष हानि नहीं पहुँची, तथापि इनका संक्षेप से उल्लेख करना आवश्यक है।

निस्सन्देह, सरकार सुधार के लिये बहुत कुछ कर रही थी, पर सर्वसाधारण जनता की माँगें बहुत अधिक थीं। विशेषतया, मजदूरों में जो जाग्रति उत्पन्न हो गई थीं, उसके कारण उनकी माँगें बहुत बढ़ी हुई थीं। गेम्बेट्टा चाहता था, कि मजदूरों को अपने साथ रखा जावे, उन्हें संतुष्ट रखने के लिये और अधिक सुधार किये जावें। पर सब रिपब्लिकन लोग इस विषय में उसके साथ नहीं थे। बहुत से रिपब्लिकन लोग इस प्रकार के थे, जो मजदूरों की माँगों के सम्बन्ध में राजसत्तावादियों की तरह ही पुराने विचारों के थे। १८८१ में गेम्बेट्टा की मृत्यु हो गई, इसके बाद तो मजदूरों की दशा सुधारने के प्रति लोगों का ध्यान बहुत कम रह गया। मजदूरों में असन्तोष निरन्तर बढ़ता गया। साथ ही, रिपब्लिकन लोगों में ऊँचे पदों को प्राप्त करने के लिये आपस में हमेशा झगड़े होते रहते थे। अनेक व्यक्ति अपना उद्देश्य पूर्ण करने के लिये नीच उपायों का प्रयोग करने में भी संकोच न करते थे। यह स्थिति थी, जब कि कोई लोकप्रिय व्यक्ति नैपोलियन तृतीय का अनुसरण कर अपने को राजा बनाने के लिये प्रयत्न कर सकता था। सेनापति बोलन्जर ने इस अवसर का उपयोग किया। वह फ्रेञ्च सेना में एक उच्च अधिकारी था। कुछ समय के लिये वह युद्ध-सचिव भी रह चुका था। सेना तथा जनता की सहानुभूति प्राप्त करने के लिये उसने आन्दोलन करना प्रारम्भ किया, कि हमें जर्मनी से बदला उतारना चाहिये। 'जर्मनी से बदला' ये शब्द फ्रेञ्च लोगों को बहुत प्रिय थे। वे उसके साथ हो गये। १८७१ में फ्रेञ्च सेना का जो अपमान जर्मनी द्वारा हुआ था, उसका प्रतिशोध बोलन्जर द्वारा हो सकेगा, इस विचार से सैनिक लोग भी उसके पीछे लग गये। राजसत्तावादी दल ने सोचा कि यह बहुत उत्तम अवसर है। यदि रिपब्लिक का अन्त कर बोलन्जर को एकाधिकारी बना दिया जाय, तो राजसत्ता का पुनरुद्धार कर सकना बहुत

सुगम हो जायगा। कुछ समय के लिये, बोलन्जर का प्रभाव असाधारण रूप से बढ़ गया, वह फ्रांस का सबसे बड़ा नेता बन गया। रिपब्लिकन लोग उसकी बढ़ती हुई शक्ति से बहुत चिन्तित थे, उन्होंने उस पर देशद्रोह का अभियोग लगाया। उसे आजन्म कैद की सजा दी गई। बोलन्जर फ्रांस से भाग निकलने में समर्थ हुआ और १८६१ में आत्महत्या कर उसने अपने जीवन का अन्त कर दिया। उसकी मृत्यु के साथ ही उसका सम्पूर्ण दल टुकड़े टुकड़े हो गया। राजसत्तावादी लोग बहुत बदनाम हो गये। राजसत्ता के पुनरुद्धार के लिये जो प्रयत्न प्रारम्भ हुआ था, वह पूर्णतया निष्फल हो गया।

सेनापति बोलन्जर का मामला अभी समाप्त ही हुआ था, कि फ्रेञ्च रिपब्लिक को एक अन्य अत्यन्त भयंकर मुसीबत का सामना करना पड़ा। यह घटना 'ड्रेयफस का मामला' के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। इससे फ्रेञ्च रिपब्लिक जड़ से हिल गई, और कुछ समय के लिये ऐसा प्रतीत होने लगा कि रिपब्लिक अपने को सँभाल न सकेगी। फ्रांस की सेना में एक अफसर था, जिसका नाम था एल्फ्रेड ड्रेयफस। यह जाति का यहूदी था और रिपब्लिक का पक्षपाती था। इस पर दोष लगाया गया कि यह जर्मनी का गुप्तचर है और फ्रांस के सैनिक रहस्यों की सूचना जर्मन सरकार को देता रहता है। कानून के अनुसार उस पर सैनिक न्यायालय में मुकदमा चलाया गया और आजन्म कैद की सजा दी गई। दक्षिणी अमेरिका के उत्तरीय तट पर एक छोटा सा द्वीप था, जो फ्रेञ्च सरकार के लिये कालापानी के तौर पर काम आता था। वहाँ उसे अपनी कैद की सजा काटने के लिये भेज दिया गया।

यद्यपि ड्रेयफस को सजा दे दी गई थी, पर वह पूरी ईमानदारी के साथ उद्घोषित करता था कि मैं सर्वथा निरपराध हूँ। मुकदमे के समय में उस पर अपराध स्वीकृत करने के लिये सब तरह से जोर दिया

गया था, पर वह किसी भी प्रकार अपने को दोषी मानने को तैयार नहीं हुआ था। परिणाम यह हुआ कि कुछ लोगों को उससे सहानुभूति उत्पन्न हुई और उन्होंने उसे निरापराधी बताना शुरू किया। पर अधिकांश लोग उसके विरोध में थे। रोमन कैथोलिक उससे इसलिये घृणा करते थे, क्योंकि वह यहूदी धर्म का अनुसरण करनेवाला था। राजसत्तावादी कहते थे, 'ड्रेयफस का मामला' इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है, कि रिपब्लिकन शासन सर्वथा निकम्मा और हानिकारक है। वे इस घटना का सहारा लेकर रिपब्लिक को बदनाम करने की भरसक कोशिश कर रहे थे। ड्रेयफस के मामले ने एक अजीब रूप धारण कर लिया था। अखबारों में उस पर खूब लेख लिखे जा रहे थे। सब जगह उसी की चर्चा थी।

इसी बीच में, कर्नल पिकुअर्ट ने कागजात की जाँच कर यह परिणाम निकाला, कि वास्तविक अपराधी ड्रेयफस नहीं था, अपितु एस्टरहेजी नाम का एक अन्य अफसर था। कर्नल पिकुअर्ट एक ईमानदार व्यक्ति था, जो कि सैनिक रहस्यों की संभाल के कार्य पर नियत था। उसने सैनिक कागजों के आधार पर जो परिणाम निकाला था, उसकी सूचना युद्ध सचिव को दे दी। पर सरकार यह साहस न कर सकी, कि राजसत्तावादियों और रोमन कैथोलिक लोगों को नाराज कर ड्रेयफस के मामले पर पुनर्विचार का हुकुम दे। उलटा उन्होंने पिकुअर्ट को ही पदच्युत कर दिया और उसके स्थान पर कर्नल हैनरी को नियत किया। परन्तु पिकुअर्ट ने सत्य की उद्घोषणा करने में संकोच नहीं किया। बहुत से ईमानदार रिपब्लिकन लोगों ने उसका साथ दिया। मजदूर दल और साम्यवादी लोग उसके पक्ष में हो गये। ड्रेयफस का पक्षपोषण करनेवाले अब तक तो कुछ विचारशील साहित्यसेवी ही थे, अब उसके पक्ष में प्रबल आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। जोला नाम के प्रसिद्ध उपन्यासकार ने फ्रांस के राष्ट्रपति के नाम खुली चिट्ठी

प्रकाशित की। यह संसार के सब प्रसिद्ध अखबारों में प्रकाशित हुई। इससे ड्रेयफस का पक्ष बहुत प्रबल हो गया। उसके लिये आन्दोलन पहले ही पर्याप्त प्रचण्ड रूप में हो रहा था, अब उसने और शक्ति प्राप्त की। आखिर सरकार को सिर झुकाना पड़ा। ड्रेयफस के मामले पर पुनर्विचार करने का हुकुम जारी किया गया। १८९९ में मुकदमा शुरू हुआ। अब कर्नल हेनरी ने स्वीकार किया, कि जिन कागजों के आधार पर ड्रेयफस पर जासूस होने का दोष साबित हुआ है, उनमें से एक उसने अपने हाथों से तैयार किया था। स्वयं सजा से बचने के लिये उसने आत्म-हत्या कर ली। मेजर एस्टरहेजी ने भी स्वीकार किया कि मैंने एक जाली कागज ड्रेयफस के खिलाफ तैयार किया था। उसने इङ्गलैण्ड भाग कर अपने प्राण बचाये। १९०६ तक यह मुकदमा जारी रहा। आखिर ड्रेयफस पूर्णतया निरपराध साबित हुआ। सेना में उसकी तरक्की की गई, और उसे अनेक सम्मानों से विभूषित किया गया। इस मुकदमे से पिकुअर्ट भी बहुत चमका। पीछे वह युद्ध-सचिव के महत्त्वपूर्ण पद पर पहुँच गया। ड्रेयफस के मुकदमे के इस परिणाम से राजसत्तावादी लोग बहुत बदनाम हुए। इस मामले को लेकर उन्होंने रिपब्लिक को बदनाम करने की भरसक कोशिश की थी। पर आखिर उन्हें स्वयं नीचा देखना पड़ा। ड्रेयफस का मामला अन्ततोगत्वा रिपब्लिक के लिये लाभकारी सिद्ध हुआ।

वस्तुतः, फ्रांस में रिपब्लिकन शासन की जड़ अब इतनी गहरी जा चुकी थी, कि उसे सुगमता के साथ नष्ट कर सकना सम्भव नहीं रहा था।

(३) चर्च का राज्य से पृथक् होना

फ्रांस की अधिकांश जनता रोमन कैथोलिक धर्म को माननेवाली थी। राज्यक्रान्ति के समय चर्च की बहुत सी सम्पत्ति राज्य ने

हस्तगत कर ली थी। क्रान्तिकारी लोग चर्च के विरोधी थे। जिस समय नैपोलियन फ्रांस का एकाधिकारी बना, तो उसने पोप और चर्च को संतुष्ट करने के लिये उनके साथ एक समझौता (कान्कर्डेट) किया, जिससे चर्च राज्य के अधीन हो गया और पादरियों को वेतन देने की जिम्मेवारी सरकार ने अपने ऊपर ले ली। नैपोलियन के पतन के बाद फ्रांस में अनेक बार क्रान्तियाँ हुईं; पर चर्च-सम्बन्धी इस व्यवस्था में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं आया।

रोमन कैथोलिक पादरी रिपब्लिक के सख्त विरोधी थे। वे खूब समझते थे, कि १८७६ में रिपब्लिकन लोगों की शक्ति जिस प्रकार स्थापित हुई है, उससे उन्हें भारी नुकसान पहुँचेगा। १८६४ में चर्च के मुखिया पोप पायस नवम ने स्पष्ट रूप से उद्घोषित किया था, कि धार्मिक सहिष्णुता, विश्वास की स्वतन्त्रता, लिखने, भाषण करने और प्रेस की स्वाधीनता और शिक्षा को चर्च के प्रभाव से हटाकर राज्य के अधीन करना—ये सब बातें बहुत अनुचित, नाशकारी तथा नुकसान पहुँचानेवाली हैं। न केवल पायस नवम, पर चर्च के सभी नेताओं का यही विश्वास था। दूसरी तरफ रिपब्लिकन लोग इन्हीं सब बातों के लिये संघर्ष कर रहे थे। इस दशा में दोनों में परस्पर विरोध होना सर्वथा स्वाभाविक था। चर्च से जो भी बन पाता था, रिपब्लिक को बदनाम करने के लिये करता था। पादरी लोग विद्यार्थियों के हृदयों में यह भाव भरने की कोशिश करते थे कि रिपब्लिक बहुत बुरी चीज है। रोमन कैथोलिक समाचार-पत्रों में रिपब्लिक के विरुद्ध आन्दोलन जारी रहता था। वे नई प्रवृत्तियों को नास्तिक तथा धर्म-विरुद्ध बताने में जरा भी संकोच न करते थे। पादरी लोग अपनी सम्पूर्ण शक्ति से राजसत्तावादी उम्मीदवारों की सहायता करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि रिपब्लिकन लोग चर्च तथा पादरियों के विरुद्ध हो गये। उन्होंने यह निश्चित रूप से समझ लिया कि पादरी लोग हमारे सबसे बड़े

शत्रु हैं। साम्प्रदायिक लोगों में संकीर्णता बहुत अधिक होती है, वे परिवर्त्तन व नवीनता को कभी पसन्द नहीं करते। दुनिया की संस्थाओं में धर्म व सम्प्रदाय सबसे अधिक संकीर्ण व अपरिवर्त्तनशील है। साथ ही, साम्प्रदायिक लोगों के विचार भी बड़ी कठिनता से परिवर्तित होते हैं। यही कारण है, कि जब फ्रांस की सर्वसाधारण जनता नई प्रवृत्तियों से पूर्णतया आविष्ट हो गई थी, जब लोग एकतन्त्र शासन से हटकर लोकतन्त्र शासन के कायल हो गये थे, तब भी पादरी लोग पुराने जमाने को फिर से स्थापित करने की फिकर में थे।

चर्च और रिपब्लिक का यह संघर्ष निरन्तर बढ़ता ही गया। चर्च के विरोधियों के सम्मुख मुख्य उद्देश्य दो थे—(१) शिक्षणालयों को चर्च के प्रभाव से मुक्त करना, ताकि फ्रांस के बच्चों को पादरियों की शिक्षा खराब न कर दे। (२) चर्च को राज्य से पृथक् करना, ताकि पादरियों को वेतन देने की जो उत्तरदायिता राज्य पर थी, उससे वह मुक्त हो जावे। इन उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिये रिपब्लिक ने पहले ऐसे शिक्षणालयों की संख्या को बढ़ाना शुरू किया, जो कि चर्च के अधीन न होकर राज्य के अधीन थे। स्थान स्थान पर राजकीय शिक्षणालय खोले गये। १८८१-१८८६ में बहुत से ऐसे कानून पास किये गये, जिनसे कि राजकीय स्कूलों को प्रारम्भिक कक्षाओं में शिक्षा को मुफ़्त कर दिया गया। यह निश्चित किया गया कि इन प्रारम्भिक स्कूलों में कोई पादरी अध्यापक नियत न किया जावे। अन्ततोगत्वा, यह भी पास किया गया कि ६ से लेकर १३ वर्ष तक के बालकों के लिये आवश्यक हो कि वे विद्यालयों में जाकर शिक्षा प्राप्त करें। गैर-सरकारी शिक्षणालयों को राज्य के निरीक्षण में लाया गया। इन सब कानूनों का परिणाम यह हुआ कि शिक्षा से—विशेषतया प्रारम्भिक शिक्षा से चर्च का प्रभाव बहुत कुछ हट गया। विद्यार्थी चर्च के प्रभाव से मुक्त होने लगे और राजकीय शिक्षणालय निरन्तर अधिक-अधिक लोकप्रिय होते गये।

फ्रांस में अनेक ऐसी धार्मिक संस्थायें विद्यमान थीं, जो कि रिपब्लिक के सख्त विरोध में थीं। प्रथम राज्यक्रान्ति के समय इनकी सम्पत्ति जब्त कर ली गई थी, पर पीछे से ये संस्थायें दुबारा स्थापित की गई थीं और धीरे-धीरे इन्होंने पर्याप्त सम्पत्ति एकत्रित कर ली थी। ये रिपब्लिक की कट्टर दुश्मन थीं और राजसत्ता को स्थापित करने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहती थीं। इनके भिक्षु और साधु धर्म से उतना सम्बन्ध न रखते, जितना कि राजनीति से। और इनकी राजनीति यही थी कि रिपब्लिक का विनाश किया जावे। ऐसी संस्थाओं में जेसुअट समाज और डोमिनिकन समाज प्रमुख थे। समय-समय पर प्रतिनिधि सभा में यह विचार होता रहता था, कि इन समाजों को काबू में किया जाय। आखिर, सन् १६०० में प्रधान-मन्त्री वाल्डेक रूसो ने 'एसोसियेशन-विधान' पेश किया। इस विधान द्वारा यह व्यवस्था की गई कि कोई संस्था तब तक फ्रांस में कायम नहीं रह सकती, जब तक कि वह व्यवस्थापन विभाग से बाकायदा इजाजत न ले ले और जिन संस्थाओं ने सरकार से अनुमति प्राप्त न की हो, उनका कोई सदस्य न फ्रांस में कोई शिक्षणालय स्वयं चला सके और न किसी शिक्षणालय में अध्यापन कर सके' जिस समय यह विधान पास हुआ, तब विविध धार्मिक संस्थाओं के सदस्यों की कुल संख्या एक लाख साठ हजार थी और ये कुल मिलाकर बीस हजार संस्थाओं का सञ्चालन कर रहे थे। जब विविध संस्थाओं के प्रार्थनापत्र सरकार के सम्मुख पेश किये गये, तो उनमें से अधिकांश को अस्वीकृत कर दिया गया। परिणाम यह हुआ कि बहुत सी संस्थायें टूट गईं। दो साल के अन्दर अन्दर दस हजार से अधिक धार्मिक विद्यालय बन्द हो गये। १६०४ में एक और कानून पास हुआ, जिसके अनुसार यह व्यवस्था की गई, कि दस साल के अन्दर अन्दर सब धार्मिक संस्थायें शिक्षण का कार्य बन्द कर दें, और कोई धार्मिक विद्यालय शेष न बचे। इस कानून

का परिणाम यह हुआ, कि धार्मिक शिक्षणालयों में पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संख्या निरन्तर कम होती गई और सन् १९१० में उनकी संख्या इतनी कम हो गई कि जहाँ सरकारी व अन्य सार्वजनिक शिक्षणालयों में ५० लाख से अधिक विद्यार्थी शिक्षा पाते थे, वहाँ धार्मिक शिक्षणालयों में पढ़ने वालों की संख्या एक लाख से भी कम हो गई। इसके बाद यह संख्या निरन्तर घटती ही गई।

इस प्रकार चर्च के विरोधियों का पहला उद्देश्य पूर्ण हो गया। शिक्षा धर्म के प्रभाव से मुक्त हो गई। अब उनके सम्मुख अगला कार्य यह था कि चर्च को राज्य से सर्वथा पृथक् कर दिया जाये। नैपोलियन द्वारा सन् १८०१ में चर्च के साथ जो समझौता (कान्कर्डेट) किया गया था, वही इस समय तक फ्रांस में चर्च और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध का आधार था। इसके अनुसार पादरियों का वेतन राज्य की तरफ से दिया जाता था। नैपोलियन के पतन के बाद फ्रांस में अनेक बार राजनीतिक परिवर्तन हुए, पर यह समझौता कायम रहा। कारण यह कि फ्रांस के शासक समझते थे कि पादरियों को हम वेतन देते हैं, इसलिये वे हमारे कहने के अनुसार कार्य करेंगे। यह बात ठीक भी थी। १८वाँ लुई, चार्ल्स दशम, लुई फिलिप और नैपोलियन तृतीय—सब चर्च तथा पादरियों को अपना प्रधान सहायक समझते रहे और इसमें भी सन्देह नहीं, कि चर्च ने उनका साथ भी दिया। पर रिपब्लिक की स्थापना से स्थिति बिलकुल बदल गई थी। चर्च की सहानुभूति राजसत्तावादी दल के साथ में थी। रिपब्लिक उन्हें बिलकुल नापसन्द थी। इसलिये रिपब्लिकन दल यह कभी सहन न कर सकता था, कि अपने दुश्मनों को अपने आप वेतन देकर पाला जाय। इसके अतिरिक्त १९वीं और २०वीं सदी के इस सन्धि काल में जनता को धर्म से कोई विशेष स्नेह भी नहीं रह गया था। मध्यकाल में धर्म सबसे अधिक शक्ति रखता था, पर अब अधिकांश जनता उसकी जरा भी परवाह

न करती थी। उसे यह सर्वथा अनुचित प्रतीत होता था कि पादरियों जैसे अनावश्यक लोगों को राज्य की तरफ से वेतन दिया जाय और इस प्रकार सरकार की इतनी भारी रकम व्यर्थ में नष्ट हो। इस कारण चर्च को राज्य से पृथक् कर देने के लिये आन्दोलन प्रारम्भ हुआ और आखिरकार १९०५ में 'पृथक्-करण विधान' पास हो गया। इस विधान के अनुसार (१) यह व्यवस्था की गई कि पादरियों की नियुक्ति राज्य की तरफ से न हो, और न ही राज्य पादरियों को वेतन दे। (२) पुराने पादरियों की पैन्शिनों को जारी रखा गया (३) प्रत्येक ताल्लुके में ऐसे लोगों की प्रबन्धक कमेटियाँ स्थापित की गईं जो स्वयं पादरी न हों और उन कमेटियों को अपने ताल्लुके में विद्यमान मन्दिरों तथा पादरियों के निवासस्थानों के प्रबन्ध का कार्य सुपुर्द कर दिया गया। (४) मन्दिरों और पादरियों के निवासस्थानों के अतिरिक्त चर्च के पास जो अन्य जायदाद थी, उस सबको राज्य ने अपने अधिकार में कर लिया।

यह विधान पास तो हो गया, पर इसे क्रिया में परिणत कर सकना सुगम कार्य न था। चर्च इसका सख्त विरोधी था। पादरी लोग इसका प्रचण्ड रूप से विरोध कर रहे थे। न केवल फ्रांस के रोमन कैथोलिक लोग, पर पोप तथा उसकी सम्पूर्ण शक्ति इसके विरोध में कार्य कर रही थी। पोप पायस दशम ने उद्घोषित किया कि यह सम्पूर्ण विधान अनुचित तथा धर्मविरुद्ध है। परिणात यह हुआ, कि दो वर्ष तक निरन्तर फ्रांस में झगड़े होते रहे। जगह-जगह पर दंगे हुए। जब सरकार के आदमी कानून को क्रिया में परिणत करने के लिये चर्च में प्रवेश करते थे, तो पादरी तथा धर्म-भक्त लोग उन पर हमले करते थे। आखिर, श्री० ब्रियां ने—जो उस समय फ्रांस के धर्म-सचिव थे—१९०७ में रोमन कैथोलिक लोगों से समझौता करने के लिये एक नये कानून का प्रस्ताव किया। इसके अनुसार यह व्यवस्था की गई कि जिन ताल्लुकों में प्रबन्धक

कमेटियाँ न बनी हों, उनमें मन्दिरों तथा पादरियों के निवास-स्थानों का प्रबन्ध पादरी लोग स्वयं कर सकें। और साथ में यह भी उद्घोषित किया गया कि चर्च के मामलों में पादरी लोग पूर्णतया स्वतंत्र हैं। पोप ने इस नये विधान का भी घोर विरोध किया। पर अब जमाना बदल चुका था। पोप के विरोध का कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ। पादरी लोगों को श्री० ब्रियां के प्रस्ताव को मानने के लिये विवश होना पड़ा। १६०५ और १६०७ के इन विधानों द्वारा फ्रांस में चर्च राज्य से सर्वथा पृथक् हो गया है। राज्य से चर्च को अब कोई आर्थिक सहायता नहीं मिलती। पादरियों के वेतन सरकार नहीं देती। शिक्षा पर अब चर्च का जरा भी प्रभाव नहीं रह गया है। पादरी लोग अब सरकारी कर से भी मुक्त नहीं रहे हैं, और बाधित सैनिक सेवा के कानून में भी उन्हें अपवाद नहीं माना जाता। मध्यकाल में चर्च का जो भारी प्रभाव फ्रांस में विद्यमान था, इन विधानों से वह सर्वथा नष्ट हो गया है।

(४) फ्रेञ्च साम्राज्य का विस्तार

१७वीं और १८वीं सदियों में फ्रांस ने अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिये विशेष रूप से प्रयत्न किया था। पर फ्रांस के इस प्रयत्न में उसका सबसे बड़ा विरोधी इङ्गलैंड था। फ्रांस और इंगलैंड का साम्राज्यवाद के क्षेत्र में पारस्परिक संघर्ष इन दो सदियों में निरन्तर जारी रहा। १८१५ में जब नैपोलियन परास्त हो गया, उस समय फ्रांस का साम्राज्य प्रायः क्षीण हो चुका था। भारत, अफ्रीका तथा दक्षिणी अमेरिका के समुद्र-तट पर स्थित कुछ नगर तथा थोड़े से द्वीप ही फ्रांस के विनष्ट साम्राज्य का स्मरण दिलाते थे। १८३० में फ्रांस ने एक बार फिर अपने साम्राज्य का निर्माण प्रारम्भ किया। आज वह समय आ चुका है, जब कि फ्रेञ्च साम्राज्य संसार में दूसरा

स्थान रखता है। एक सदी से भी कम समय में फ्रांस किस प्रकार इतने विशाल साम्राज्य को बनाने में समर्थ हुआ, इस पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालना आवश्यक है।

उत्तरीय अफ्रीका में एक राज्य है, जिसका नाम है अल्जीरिया। १८३० में एक सार्वजनिक स्वागत के अवसर पर वहाँ के शासक ने फ्रेञ्च राजदूत को एक थप्पड़ मार दिया। फ्रांस का यह घोर अपमान था। फ्रेञ्च सरकार ने अल्जीरिया के शासक से इसका जवाब माँगा और अपने राष्ट्रीय अपमान का प्रतिशोध करने के लिये अनेक शर्तें पेश कीं। अल्जीरिया के राजा ने इन्हें स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। परिणाम यह हुआ, कि फ्रांस ने उस पर आक्रमण किया और अनेक युद्धों के अनन्तर उसे अपने अधीन कर लिया। तब से लेकर अल्जीरिया फ्रांस के अधीन है। अफ्रीका में फ्रेञ्च साम्राज्य का सूत्र-पात इसी समय से प्रारम्भ हुआ। अल्जीरिया का राज्य फ्रांस के लगभग बराबर है। वहां की आबादी ५० लाख से कुछ ऊपर है। अल्जीरिया के पूर्व में एक और प्रदेश है, जिसे ट्यूनिस कहते हैं। यहाँ के निवासी नस्ल और धर्म में अल्जीरियन लोगों से मिलते जुलते हैं। अल्जीरिया की सरहद पर प्रायः लड़ाई झगड़े और दंगे होते रहते थे। फ्रेञ्च सरकार ने उद्घोषित किया कि ये दंगे ट्यूनिस द्वारा उकसाये जाते हैं और इनके लिये ट्यूनिस उत्तरदायी है। इसी आधार पर १८८१ में फ्रेञ्च सेनाओं ने ट्यूनिस पर आक्रमण किया और थोड़ी बहुत लड़ाई के अनन्तर उस पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। तब से ट्यूनिस भी फ्रांस के अधीन है।

इस प्रकार जब कि फ्रेञ्च लोग उत्तरीय अफ्रीका के इन प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर रहे थे, उसी समय पश्चिमीय अफ्रीका में भी एक भिन्न प्रक्रिया द्वारा फ्रेञ्च शासन कायम हो रहा था। अफ्रीका के पश्चिमीय तट पर एक प्रदेश है, जिसका नाम है सेने-

गल। १६३७ से यह प्रदेश फ्रांस के अधिकार में था। पर यह आधिपत्य केवल नाम को ही था और यहाँ अथवा आस-पास के प्रदेशों पर अपना असली कब्जा कायम करने का प्रयत्न फ्रेञ्च लोगों ने नहीं किया था। १८३० में जब अल्जीरिया अधीन हो गया, तो फ्रेञ्च लोगों को यह ख्याल आया, कि सेनेगल और अल्जीरिया को परस्पर मिलाकर यदि बीच के सम्पूर्ण प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित किया जाय, तो निस्सन्देह यह एक शानदार साम्राज्य बन जायगा। इसी बात को दृष्टि में रखकर १९सदीं के उत्तरार्ध में कोशिश शुरू की गई और १८९४ में तिम्बुक्टू नामक प्रदेश को अपने अधिकार में ले लिया गया।

गेबून नदी (जो मध्य अफ्रीका के पश्चिमीय भाग में बहती है) के मुहाने पर एक छोटे से प्रदेश को फ्रेञ्च सरकार ने १८३९ में क्रय कर लिया। इसे अपना आधार बनाकर दु शैय्यु और द ब्रज्जा नामक साहसी पुरुषों ने अफ्रीका के आभ्यन्तर प्रदेशों में प्रवेश करना प्रारम्भ किया। ये प्रदेश उस समय सघन जङ्गलों द्वारा आवृत थे और इनमें प्रायः जङ्गली जातियाँ निवास करती थीं। फ्रेञ्च लोगों ने इन दो वीर साहसी पुरुषों के नेतृत्व में इन प्रदेशों में बहुत दूर तक प्रवेश किया और मूल निवासियों से युद्ध कर सुविस्तृत प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। यह विशाल प्रदेश फ्रेञ्च कोङ्गो के नाम से प्रसिद्ध है। इसका विस्तार फ्रांस की अपेक्षा दुगना है। इसी समय फ्रांस ने सेनेगल के दक्षिण में कुछ अन्य प्रदेशों पर भी अपना अधिकार कायम किया। ये प्रदेश वर्तमान समय में फ्रेञ्च गायना तथा इवोरी कोस्ट (हाथीदाँती का किनारा) के नाम से प्रसिद्ध हैं। अफ्रीका के पूर्वीय तट पर अपना साम्राज्य विस्तृत करने के लिये फ्रेञ्च लोगों ने विशेष प्रयत्न नहीं किया। परन्तु १८६२ में ओबोक नामक स्थान वहाँ के पुराने राजा से क्रय कर लिया गया

और यहाँ से फ्रेञ्च अधीनता में विद्यमान एक अच्छे बड़े प्रदेश का सूत्रपात हुआ। यह प्रदेश फ्रेञ्च सोमालीलैंड के नाम से प्रसिद्ध है और इसका विस्तार ६००० वर्गमील है।

अफ्रीका के दक्षिण-पूर्वी तट के समीप ही मैडेगास्कर नाम का एक सुविशाल द्वीप है। फ्रांस के अनेक पादरियों तथा व्यापारियों ने इसमें आना जाना प्रारम्भ किया। उनके बहुत से घर भी वहाँ बस गये। मैडेगास्कर में बसे हुए कुछ फ्रेञ्च नागरिक वहाँ के लोगों द्वारा मार दिये गये, इस बात को निमित्त बनाकर फ्रेञ्च सेनाओं ने इस द्वीप पर आक्रमण किया। १८८२ से १८८५ तक वहाँ लड़ाई जारी रही, जिसका परिणाम यह हुआ कि मैडेगास्कर फ्रेञ्च लोगों की संरक्षा में आ गया। पर फ्रेञ्च-सरकार इतने से ही संतुष्ट नहीं रह सकती थी। वह इस द्वीप को पूर्णतया अपने अधीन करना चाहती थी। मैडेगास्कर की शासिका रानी रानावलोना तृतीय पर यह दोष लगाया गया, कि उसने फ्रेञ्च सरकार से धोखा किया है और वह लूटमार को बन्द कर सकने में असमर्थ है। इस निमित्त से १८९५ में मैडेगास्कर से फिर लड़ाई छेड़ दी गई और रानी को बहिष्कृत कर उस सुविशाल द्वीप को अपने अधीन कर लिया गया। तब से मैडेगास्कर फ्रांस के अधीन है।

इस काल में विविध यूरोपियन देशों के अनेक लोग अफ्रीका के विविध प्रदेशों का आलोडन कर रहे थे। यूरोपियन लोगों ने इस विशाल महाद्वीप में प्रथम बार प्रवेश किया था। जिस स्थान पर कोई यूरोपियन पहुँच जाता था, अपने देश का राष्ट्रीय झण्डा गाड़कर उसे अपने देश की अधीनता में ले आता था। अफ्रीका के बहुत से प्रदेश तो गैर आबाद पड़े थे, और जहाँ मूल जातियाँ निवास करती थीं, वे यूरोपियन लोगों की बारुद का मुकाबला कर सकने में सर्वथा असमर्थ थीं। १८९८ में मार्शां नाम का फ्रेञ्च व्यक्ति पश्चिम की तरफ से

सहारा के मरुस्थल को पार कर सूडान पहुँचने में समर्थ हुआ और वहाँ फेशोडा नामक स्थान पर उसने फ्रेञ्च झंडा फहरा दिया। इंगलिश लोग भी उत्तर की तरफ से इस प्रदेश में प्रवेश कर रहे थे और इस पर अपना कब्जा समझते थे। इंगलिश सैनिकों ने मार्शां को बाधित किया कि फ्रेञ्च झंडा नीचे उतार दे। फ्रांस ने समझा, यह हमारा राष्ट्रीय अपमान है। कुछ समय के लिये ऐसा प्रतीत होने लगा कि दोनों देशों में युद्ध छिड़े बिना न रहेगा। पर आखिरकार, उनमें समझौता हो गया और फ्रेञ्च तथा इंगलिश प्रदेशों की सीमा आपस की बातचीत द्वारा तय कर ली गई। इंगलैंड तथा फ्रांस में इस समय जो समझौता हुआ, उसमें यह तय हुआ कि इजिप्ट और सूडान में फ्रांस अपना दावा छोड़ दे और मोरक्को (जो अल्जीरिया के पश्चिम में स्थित है) में इंगलिश लोग हस्तक्षेप न करें, उसमें फ्रांस को अपनी मनमानी करने का पूरा हक हो। यह समझौता फ्रांस के लिये बहुत हितकर सिद्ध हुआ। उत्तर-पश्चिमीय अफ्रीका में अपना एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित करने के लिये उसका मार्ग अब एकदम साफ हो गया। कोङ्गो से लेकर अल्जीरिया तक उसका अबाधित शासन कायम हो गया। फ्रांस का यह साम्राज्य कितना विस्तृत तथा विशाल था, इसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है, कि इसका विस्तार फ्रांस की अपेक्षा आठ गुना था, यद्यपि इसकी आबादी एक तिहाई के लगभग थी। फ्रेञ्च लोगों को उपनिवेश बसाने के लिये यह एक अद्वितीय अवसर था।

केवल अफ्रीका में ही नहीं, एशिया में भी फ्रेञ्च लोग अपने साम्राज्य का विस्तार करने में लगे थे। फ्रेञ्च पादरी और व्यापारी बहुत समय से अपने देश के आधिपत्य को स्थापित करने के लिये मैदान तैयार कर रहे थे। १८५० में अनाम में कुछ फ्रेञ्च लोग मारे गये। इसको निमित्त बनाकर १८५७ में नैपोलियन तृतीय ने अनाम के

विरुद्ध युद्ध उद्घोषित कर दिया और वहाँ के राजा को विवश किया कि अपने राज्य का कुछ प्रदेश फ्रांस के सुपुर्द कर दे और हरजाने के तौर पर एक भारी रकम अदा करे। इस प्रकार अनाम में फ्रांस का प्रवेश हो गया और वहाँ वेग के साथ फ्रेञ्च आधिपत्य का विस्तार होने लगा। १८६४ में कम्बोडिया फ्रांस के संरक्षण में आ गया। १८६७ में कोचीन चायना पर फ्रांस का अधिकार स्थापित हो गया। १८७३ में फ्रेञ्च लोगों ने टोन्किन की लाल नदी में नौकानयन के अधिकार प्राप्त करने चाहे, इस प्रश्न पर वहाँ के राजा से लड़ाई छिड़ गई। परिणाम यह हुआ कि टोन्किन फ्रेञ्च लोगों के अधीन हो गया। टोन्किन अनाम का एक सूबा था। उस पर कब्जा कर लेने पर अनाम ने फ्रेञ्च लोगों से युद्ध छेड़ दिया। इसी युद्ध के सिलसिले में १८८४ में सम्पूर्ण अनाम पर फ्रेञ्च आधिपत्य स्थापित हो गया और कोचीन चायना तथा अनाम के प्रदेशों को मिला कर इन्डो-चायना नाम से फ्रेञ्च आधीनता में नवीन राज्य की सृष्टि हुई। १८०७ में सियाम के भी कुछ हिस्सों पर फ्रांस अपना आधिपत्य स्थापित करने में समर्थ हुआ। इस प्रकार दक्षिण-पूर्वीय एशिया के अच्छे बड़े भाग पर फ्रांस का शासन कायम हो गया।

१९१४-१९१८ के महायुद्ध में जर्मनी के परास्त हो जाने पर उसके अफ्रीकन-प्रदेशों के अनेक भागों पर फ्रांस का कब्जा हो गया है। १९२३ में फ्रांस का साम्राज्य इतना विशाल हो चुका था कि उसके अधीन प्रदेशों का विस्तार फ्रांस की अपेक्षा २० गुना था। इस सुविस्तृत साम्राज्य ने फ्रांस के विदेशी व्यापार को बहुत अधिक बढ़ा दिया है। १७८९ में फ्रांस का अपने उपनिवेशों के साथ वार्षिक व्यापार २१ करोड़ रुपये का था, १९२४ में वही बढ़ कर एक अरब बीस करोड़ हो गया था और १९२४ में उसकी मात्रा एक अरब अस्सी करोड़ रुपये तक पहुँच गई थी। फ्रेञ्च पूँजीपतियों ने करोड़ों रुपये अपने

उपनिवेशों तथा अधीनस्थ राज्यों में विविध व्यवसायों में लगा दिये हैं। इनसे सूद तथा मुनाफे की शकल में करोड़ों रुपया प्रतिवर्ष फ्रांस पहुँचता है। फ्रांस की सम्पूर्ण जनता अपने इस सफल साम्राज्य से अत्यन्त खुश है। रोमन कैथोलिक लोगों को अपने धर्म प्रचार का सुवर्णावसर मिल गया है। पूँजीपति अपनी पूँजी के लिये नया क्षेत्र पाकर अत्यधिक प्रसन्न है। राष्ट्रीय देशभक्त लोग इस विशाल साम्राज्य में अपना राष्ट्रीय गौरव अनुभव करते हैं। फ्रेञ्च झंडे को दुनिया के प्रत्येक भाग में फहराता देख कर उनके आनन्द की कोई सीमा नहीं रहती। रिपब्लिकन तथा साम्यवादी लोग सिद्धान्ततः साम्राज्यवाद के कितने ही विरोध में क्यों न हों, पर पिछड़ी हुई जातियों को अपनी उत्कृष्ट सभ्यता का सन्देश पहुँचाने के बहाने से वे भी अपनी आत्मा को संतुष्ट कर लेते हैं। वर्तमान समय में फ्रांस का यह साम्राज्य खूब फल फूल रहा है। फ्रेञ्च लोगों ने इन प्रदेशों में रेल, तार आदि का बहुत विस्तार किया है। नई उपजाऊ जमीनों में वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करने से कृषि असाधारण उन्नति कर रही है, और फ्रेञ्च व्यवसायपतियों को अपने माल के लिये बड़े बढ़िया बाजार प्राप्त हो रहे हैं। इस समय फ्रेञ्च साम्राज्य उन्नति पथ पर भली भाँति आरूढ़ है।

(५) रिपब्लिक का शासन-विधान और राजनीतिक दल

सन् १८७१ में फ्रांस में जो रिपब्लिक स्थापित हुई थी, वह अब तक कायम है। उस समय देश के लिये जो शासन-विधान बना था, वही अब तक भी विद्यमान हैं। उसमें कुछ परिवर्तन तो हुऐ हैं, पर ढांचा प्रायः वही है। अतः उस पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है।

फ्रांस का शासन-विधान संयुक्तराज्य अमेरिका की तरह रिपब्लिकन है, पर उसमें ग्रेट ब्रिटेन की तरह पार्लियामैण्ट का शासन

स्थापित है। राज्य की सम्पूर्ण शासन-शक्ति पार्लियामैण्ट में निहित है। पार्लियामैण्ट में दो सभायें हैं—सीनेट और प्रतिनिधिसभा। ये सभायें ही कानून बनाती हैं। कानूनों को क्रिया में परिणत कौन करे, इसका निश्चय करती हैं। शासक वर्ग इनके प्रति उत्तरदायी होता है। मूल शासन विधान में परिवर्तन करने का अधिकार भी इन दोनों सभाओं को ही है। फ्रांस में शासन, व्यवस्थापन और न्याय—ये तीनों शक्तियाँ अमेरिका के शासन की भाँति एक दूसरे से सर्वथा पृथक् नहीं है।

राष्ट्रपति का निर्वाचन सात वर्ष के लिये होता है। उसे चुनने के लिये सीनेट और प्रतिनिधिसभा दोनों की सम्मिलित बैठक होती है। इस सम्मिलित सभा को ही 'राष्ट्र प्रतिनिधिसभा' के नाम से कहा जाता है। राष्ट्रपति का निर्वाचन करने के लिये राष्ट्र प्रतिनिधिसभा की बैठक पेरिस के स्थान पर वर्साय्य में होती है। फ्रांस में राष्ट्रपति का निर्वाचन कोई बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं। जिस प्रकार अमेरिका में राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिये भारी आन्दोलन होते हैं, विविध दलों की तरफ से उम्मीदवार खड़े किये जाते हैं और उनके लिये वोट प्राप्त करने को देश भर में कोशिश की जाती है, वैसा फ्रांस में नहीं होता। पुराने राजवंशों के व्यक्ति राष्ट्रपति के लिये उम्मीदवार नहीं हो सकते। फ्रेञ्च लोगों को डर है, कि कहीं फिर राजसत्ता की स्थापना न हो जावे। कानून ठीक प्रकार से क्रिया में परिणत किये जा रहे हैं या नहीं, इसका खयाल रखना राष्ट्रपति का कार्य है। वह अनेक राजकर्मचारियों को नियत करता है। विदेशी राजदूतों से बातचीत करना, पार्लियामैण्ट की सहमति से सन्धियाँ व अन्य समझौते करना उसका कार्य है। वह जल तथा स्थल सेनाओं का बराय नाम मुखिया भी समझा जाता है। क्षमा प्रदान करने का भी उसे अधिकार है। फ्रांस के राष्ट्रपति के विषय में कहा जाता है, कि न तो

वह अमेरिकन राष्ट्रपति के समान शासन का वास्तविक मुखिया है और न ही इङ्गलैण्ड के राजा के समान उसकी शान ही है। वह जहाँ भी हस्ताक्षर करे, वहाँ उसके साथ उस विभाग के मन्त्री के हस्ताक्षरों का होना भी आवश्यक है। इससे उसके हस्ताक्षरों का कोई विशेष महत्त्व नहीं रह जाता। पार्लियामैन्ट को बर्खास्त कर नये निर्वाचन का हुक्म देने का उसे अधिकार तो है, पर १८७७ के बाद कभी इस अधिकार का प्रयोग नहीं किया गया। फ्रांस में कोई उप राष्ट्र-पति नहीं होता। यदि राष्ट्रपति त्यागपत्र दे दे या उसकी मृत्यु हो जावे, तो राष्ट्रप्रति-निधिसभा नये राष्ट्रपति का निर्वाचन कर देती है।

फ्रांस में वास्तविक शासन-शक्ति मन्त्रिमण्डल के हाथ में होती है। इङ्गलैण्ड के मन्त्रिमण्डल की तरह फ्रांस का मन्त्रिमण्डल भी वास्तविक रूप से शासन का संचालन करता है। राष्ट्रपति तो इङ्गलिश राजा की तरह केवल नाम को ही होता है। उसका शासन में कोई विशेष कार्य नहीं होता। मन्त्रिमण्डल ही नीति का निश्चय करता है, महत्त्वपूर्ण राजनीतिक मामलों का फैसला करता है, कानून प्रस्तावित करता है, राजपदाधिकारियों और कर्मचारियों को नियुक्त करता है, सन्धि विग्रह का प्रयोग करता है, कानूनों को क्रिया में परिणत करता है, और जल तथा स्थल सेनाओं का नियन्त्रण वा सञ्चालन करता है। प्रतिनिधि-सभा के किसी ऐसे प्रभावशाली सदस्य को, जो सदस्यों की बहुसंख्या को अपने साथ रखने में समर्थ हो, राष्ट्रप्रति प्रधानमन्त्री के पद पर नियत करता है और फिर प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल के शेष सदस्यों का निश्चय स्वयं करता है। इसके बाद प्रधानमन्त्री ही यह निश्चय करता है, कि वह स्वयं तथा मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्य किस-किस राजकीय विभाग का सञ्चालन करें। यह आवश्यक नहीं, कि सब मन्त्री प्रतिनिधिसभा के ही सदस्य हों, वे सीनेट के सदस्य भी हो सकते हैं। पर उन्हें यह अधिकार होता है कि वे पार्लियामैन्ट की दोनों सभाओं में

से किसी के भी अधिवेशन में उपस्थित हो सकें तथा भाषण कर सकें। परन्तु वोट देने का अधिकार उन्हें उसी सभा में होता है, जिस के वे स्वयं सदस्य हों। यदि प्रतिनिधिसभा में किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर मन्त्रिमण्डल परास्त हो जावे, तो सब मन्त्री एक साथ त्यागपत्र देदेते हैं। फ्रांस की पार्लियामैण्ट में बहुत से छोटे छोटे दल हैं। इसका परिणाम यह है, कि मन्त्रिमण्डल बहुधा बदलते रहते हैं। १८७३ से १९१४ तक ग्रेट ब्रिटेन में कुल मिलाकर ११ मन्त्रिमण्डलों ने शासन किया। पर इसी काल में फ्रांस में ५० मन्त्रिमण्डल आये और गये। पार्लियामैन्ट में बहुत से छोटे-छोटे दलों का यह परिणाम होता है, कि जिन दलों को साथ में लेकर मन्त्रिमण्डल अपना कार्य कर रहा होता है, यदि उनमें से एक दो भी सरकार की नीति से असंतुष्ट हो जावें, तो कार्य चल सकना असम्भव हो जाता है। वे विरोधी दल में मिल जाते हैं और मन्त्रिमण्डल फेल हो जाता है।

पार्लियामैन्ट में दो सभायें होती हैं—सीनेट और प्रतिनिधिसभा। सीनेट में कुल मिलाकर ३०० सदस्य होते हैं। प्रत्येक सदस्य ९ साल के लिये चुना जाता है। ऐसी व्यवस्था की गई है, जिससे १०० सदस्य प्रति तीसरे वर्ष बदल जावें। इसका परिणाम यह है कि सीनेट में नवीन विचारों के लोग लगातार आते रहते हैं। यद्यपि सीनेट के सदस्य ९ वर्ष के लिये चुने जाते हैं, पर प्रति तीन वर्ष में सीनेट का स्वरूप बदलता रहता है। प्रतिनिधिसभा के सदस्यों की संख्या ५८४ है। ये ४ वर्ष के लिये चुने जाते हैं। पुरुषमात्र को प्रतिनिधिसभा के लिये वोट देने का अधिकार प्राप्त है। स्त्रियों को यह अधिकार इसलिये नहीं दिया गया, क्योंकि रिपब्लिकन लोग समझते थे कि स्त्रियों में धार्मिक भावना अधिक होती है और इस कारण उन को पादरी लोग सुगमता से अपने पंजे में फंसा सकते हैं। नवीन प्रस्ताव व मसविदे किसी भी सभा में पेश किये जा सकते हैं, पर उन्हें स्वीकृत तभी समझा जाता

है, जब वे दोनों सभाओं में पास हो जावें। अर्थ-सम्बन्धी प्रस्ताव व मसविदों के विषय में यह व्यवस्था है, कि वे पहले प्रतिनिधिसभा में ही पेश हों, सीनेट में नहीं। सीनेट और प्रतिनिधिसभा-दोनों के सदस्यों को ६००० रुपया वार्षिक वेतन मिलता है। राष्ट्रपति के निर्वाचन तथा शासन विधान में परिवर्तन करने के लिये दोनों सभाओं की सम्मिलित बैठक होती है। उस अवस्था में उसे राष्ट्र-प्रतिनिधिसभा कहते हैं। शासन-विधान में परिवर्तन करना फ्रांस में बहुत जटिल कार्य नहीं है। फ्रेञ्च लोगों ने अपना शासन-विधान अमेरिका की तरह अत्यन्त अपरिवर्त्तनीय नहीं बनाया है।

फ्रांस के शासन में राजनीतिक दलों का बहुत महत्त्व है, अतः इन पर भी संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालना उपयोगी होगा। ग्रेट ब्रिटेन तथा अमेरिका की तरह फ्रांस में दो व तीन सुसंगठित तथा शक्तिशाली राजनीतिक दल नहीं हैं। वहाँ दलों की संख्या बहुत अधिक है। १८७६ के बाद भी फ्रांस में राजसत्तावादी दलों का सर्वथा लोप नहीं हो गया। अब तक भी प्रतिनिधिसभा में अनेक सदस्य इस प्रकार के चुने जाते हैं, जो रिपब्लिक का अन्त कर बोनापार्ट, बोर्बों या ओर्लियन वंशों में से किसी एक को राजगद्दी पर बिठाने में ही देश का कल्याण समझते हैं। १९२४ के निर्वाचन में इनकी संख्या ११ थी। इससे पूर्व ये इससे भी बहुत अधिक संख्या में रह चुके थे। इन राजसत्तावादियों के अतिरिक्त अन्य सब सदस्य रिपब्लिक के पक्षपाती हैं। इस बात पर सहमत होते हुए भी कि फ्रांस में रिपब्लिक रहनी चाहिये, अन्य प्रश्नों पर उनमें गहरे मतभेद हैं। कुछ लोग वर्तमान समाज-संगठन से संतुष्ट हैं, पर अनेक दल ऐसे हैं, जो समाज की रचना सर्वथा नवीन सिद्धान्तों के अनुसार करना चाहते हैं। फ्रांस के रिपब्लिकन लोग मुख्यतया दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं—

सामान्य रिपब्लिकन दल और साम्यवादी दल। हम पहले साम्यवादी दल पर प्रकाश डालेंगे।

१८४८ की राज्यक्रान्ति के समय साम्यवादी दल बहुत प्रबल था। कुछ समय के लिये उसे अपने विचारों तथा स्कीमों को क्रिया में परिणत करने का भी अपूर्व अवसर उपलब्ध हो गया था। किस प्रकार ये साम्यवादी योजनायें असफल हुईं, इस पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। १८७१ में रिपब्लिक की पुनः स्थापना के अनन्तर साम्यवादी दल फिर प्रबल होने लगा। १८७६ में मार्सेय्य में साम्यवादी लोगों की कांग्रेस बड़ी धूमधाम से हुई। साम्यवादी दल का कार्य-क्रम निश्चित किया गया और कुछ समय बाद ही पेरिस में मजदूरों की एक विशाल सभा संगठित की गई। इसमें कार्लमार्क्स के सिद्धान्तों को फ्रेञ्च साम्यवाद का आधार स्वीकृत किया गया। साम्यवाद का क्या उद्देश्य है, इस विषय पर तो सब लोग सहमत थे, पर उन्हें पूर्ण करने के लिये किन उपायों का अवलम्बन किया जावे, इस पर उनमें बहुत मतभेद थे। मुख्यतया फ्रेञ्च साम्यवादी दो भागों में विभक्त रहे हैं—(१) मार्क्स के अनुयायी—इनकी सम्मति में मजदूरों और किसानों को अपनी हुकूमत स्थापित करने के लिये एक और क्रान्ति की आवश्यकता होगी। जिस प्रकार पिछली क्रान्तियों से राजशक्ति कुलीन श्रेणियों के हाथ से निकलकर मध्यश्रेणी के पास चली आई, उसी प्रकार अगली क्रान्ति में वास्तविक शासन-शक्ति मजदूरों के हाथ में आ जायगी। (२) नरम साम्यवादी—ये लोग समझते हैं, कि साम्यवादी सिद्धान्तों को क्रिया में परिणत करने के लिये किसी अन्य क्रान्ति की आवश्यकता नहीं है। राज्य धीरे-धीरे एक एक करके सम्पूर्ण व्यवसायों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सकता है। साम्यवादियों को अपना कार्य-क्रम पूर्ण करने के लिये वैध उपायों तथा कानून की सहायता लेनी चाहिये। यद्यपि साम्यवादियों के ये दो मुख्य सम्प्रदाय हैं, पर इनके अन्दर फिर

अनेक भेद और उपभेद हैं, और इसी कारण साम्यवादियों के कभी ६ और कभी ७ दल प्रतिनिधि सभा में रहते हैं।

१८९३ में जब प्रतिनिधि सभा का निर्वाचन हुआ, तो साम्यवादी दलों ने अपने उम्मीदवारों के लिये भारी कोशिश की। उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई और ५० के लगभग साम्यवादी सदस्य निर्वाचित हो गये। इसके बाद फ्रेञ्च पार्लियामेन्ट में साम्यवादियों की शक्ति निरन्तर बढ़ती गई, यहाँ तक कि १८९९ में प्रधानमन्त्री वाल्डेक रूसो को मिलेरां नाम के साम्यवादी नेता को अपने मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित करने के लिये विवश होना पड़ा। साम्यवादियों के पास प्रतिनिधि सभा के इतने काफी वोट थे, कि सरकार उनकी सहायता के बिना कार्य नहीं चला सकती थी। १९०५ के निर्वाचन में सब साम्यवादी दलों ने मिलकर कार्य किया और 'सम्मिलित साम्यवादी दल' नाम से एक नये दल की रचना की गई। यह दल अपने १०२ सदस्यों को निर्वाचित कराने में समर्थ हुआ। १९२४ के निर्वाचन में साम्यवादी दलों के सदस्यों की संख्या २५७ हो गई। इनमें से मार्क्स के अनुयायी या गरम साम्यवादी १२७ थे और नरम साम्यवादी १३०। साम्यवादी दलों की यह उन्नति वस्तुतः आश्चर्यजनक है। अब तक फ्रांस में अनेक ऐसे मन्त्रिमण्डल शासन कर चुके हैं, जिनके अधिकांश सदस्य साम्यवादी दल के थे।

रिपब्लिकन लोगों में (जो साम्यवादी नहीं हैं) मुख्यतया तीन दल हैं—(१) वे लोग जो रोमन कैथोलिक चर्च के विरोधी नहीं हैं, ये उन कानूनों के विरुद्ध हैं, जो चर्च के खिलाफ पास किये गये हैं। (२) उन्नतिशील रिपब्लिकन दल के सदस्य प्रायः कुलीन, अमीर और उच्च मध्य-श्रेणि के लोग हैं, ये सामाजिक सुधारों के सम्बन्ध में बहुत तेजी से कार्य नहीं करना चाहते। इनका खयाल यह है, कि परिवर्त्तन धीरे-धीरे होने चाहियें (३) राष्ट्रीय रिपब्लिकन दल—इसके सदस्यों के

मत में रिपब्लिक की सुरक्षितता का प्रश्न सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, और ये लोग उन्नतिशील रिपब्लिकन दल की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से परिवर्तनों के पक्षपाती हैं।

इन विविध प्रमुख दलों में भी कई छोटे-छोटे अन्य दल हैं, जो किसी प्रभावशाली व्यक्ति के नेतृत्व में अपनी पृथक् सत्ता रखते हैं। परिणाम यह होता है, कि इन छोटे-छोटे विभागों के कारण फ्रांस में राजनीतिक दलों का संगठन बहुधा बदलता रहता है और उसी के कारण मन्त्रिमण्डल में भी जल्दी-जल्दी परिवर्त्तन होते रहते हैं।

गत विश्वसंग्राम (१६३६-४५) के समय से फ्रांस की राजनीति में बहुत परिवर्तन आ गया है। कुछ समय के लिये तो फ्रांस से रिपब्लिकन शासन का ही अन्त हो गया था, और विश्वसंग्राम की समाप्ति पर वहाँ चतुर्थ रिपब्लिक के रूप में फिर से लोकतन्त्र शासन का पुनरुद्धार किया गया। इस पर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

तीसवाँ अध्याय

जर्मन साम्राज्य की प्रगति

(१) जर्मन साम्राज्य का शासन-विधान

यह पहले प्रदर्शित किया जा चुका है, कि फ्रैंको-प्रशियन युद्ध की समाप्ति पर सन् १८७१ में बाडेन, बवेरिया, हैस्से और बुर्टम्बुर्ग—ये चारों दक्षिणीय जर्मन राज्य भी उत्तरीय जर्मन राज्यसंघ में सम्मिलित हो गये और इस प्रकार जर्मन-साम्राज्य की स्थापना हुई। जर्मनी के अगले इतिहास को भली भाँति समझने के लिये आवश्यक है, कि जर्मन-साम्राज्य के शासन-विधान पर संक्षेप के साथ प्रकाश डाला जावे। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये, कि इस जर्मन साम्राज्य में प्रशिया सबसे प्रधान राज्य था। १९१४ में जर्मनी की कुल आबादी ६ करोड़ ७० लाख थी। इनमें से ४ करोड़ से अधिक आदमी प्रशिया में बसते थे। इसी प्रकार जर्मनी का दो तिहाई के लगभग प्रदेश प्रशिया के अन्तर्गत था। इसलिये स्वाभाविक रूप से जर्मन साम्राज्य में प्रशिया का बहुत महत्त्व था। प्रशिया जो कुछ चाहता था, वही जर्मनी करता था। अतः जर्मन साम्राज्य के शासन-विधान पर प्रकाश डालने से पूर्व यह आवश्यक है कि प्रशिया के शासन विधान का उल्लेख किया जावे।

प्रशिया का शासन-विधान—पार्लियामैण्ट—प्रशिया की पार्लियामैन्ट (Landtag) दो सभाओं द्वारा बनी हुई थी। कुलीनों की

सभा (Herrenhaus) और प्रतिनिधि सभा (Abgeordnetenhaus)। कुलीनों की सभा में ३०० सदस्य होते थे। इसमें राजपरिवार के प्रमुख व्यक्ति, पुराने राजवंशों के मुख्य पुरुष, बड़े-बड़े जमींदार और कुलीन लोग वंश क्रमानुगत रूप से सदस्य समझे जाते थे। साथ में कुछ सदस्यों को राजा मनोनीत करता था, पर वे सब भी उच्च कुलीन घरानों के महानुभाव ही होते थे। इस कुलीनों की सभा में नवीन विचारों, नई प्रवृत्तियों और क्रान्ति तथा सुधार की भावनाओं की छाया भी नहीं पड़ सकती थी। यह पुराने जमाने की सभा थी, जो नये युग के प्रभाव से सर्वथा पृथक् थी। प्रतिनिधि सभा में ४४३ सदस्य होते थे। इनके निर्वाचन का ढंग बड़ा अद्भुत होता था। २५ साल से अधिक आयु के प्रत्येक पुरुष को वोट का अधिकार प्राप्त था। इतने विस्तृत मताधिकार का परिणाम तो यह होना चाहिये था, कि प्रतिनिधिसभा में जनता के वास्तविक प्रतिनिधि निर्वाचित हो सकें। पर चुनाव के विशेष ढंग से यह बात सर्वथा असम्भव हो गई थी। प्रत्येक निर्वाचन-मण्डल में मतदाताओं को तीन भागों में बाँटा जाता था। (१) वे लोग जो सबसे अधिक टैक्स राज्य को देते हों, और जिनके टैक्स कुल मिलाकर उस प्रदेश से वसूल होने वाले कुल टैक्स के एक तिहाई के बराबर हों। ऐसे लोग ३ फीसदी से अधिक न होते थे। (२) वे लोग जो मध्यम श्रेणि के अमीर हों, और जो कुल टैक्स का एक तिहाई देते हों। ऐसे लोगों की संख्या प्रायः १० फीसदी के लगभग होती थी। (३) सर्वसाधारण जनता, जो सारी मिलकर शेष तिहाई टैक्स राज्य को देती हो। शेष ८७ फीसदी लोग इस विभाग में होते थे। प्रतिनिधि सभा के सदस्य चुनने के लिये प्रत्येक निर्वाचन-मण्डल में एक निर्वाचक सभा चुनी जाती थी, जिसके लिये इन तीनों विभागों में से प्रत्येक एक तिहाई सदस्य चुनता था। इस प्रकार निर्वाचक सभा में दो तिहाई सदस्य उन अमीर लोगों

द्वारा चुने जाते थे, जिनकी संख्या १३ फीसदी से अधिक न थी। किसी निर्वाचन-मण्डल में कोई एक व्यक्ति इतना अमीर हो सकता था, जो अकेला $\frac{1}{3}$ टैक्स सरकार को प्रदान करता हो, और इस प्रकार उस मण्डल की निर्वाचक सभा में $\frac{1}{3}$ सदस्य चुनने का अधिकार उस अकेले व्यक्ति को होता था। इस व्यवस्था का परिणाम यह था, कि प्रतिनिधि सभा में अमीर लोगों के ही प्रतिनिधि सदस्य बन सकते थे। यही नहीं निर्वाचन के समय प्रत्येक वोटर को मुख से बोल कर अपना वोट देना पड़ता था। गुप्त पर्चा (बैलट) का तरीका प्रशिया में प्रयुक्त नहीं, किया जाता था। इस कारण लोग अपना वोट स्वतन्त्रता के साथ नहीं दे सकते थे। उन्हें अपने जमींदार या सरकारी अफसर का हमेशा खयाल रखना पड़ता था। सरकार की तरफ से निर्वाचन में खुले तरीके से हस्तक्षेप किया जाता था। सर्वसाधारण जनता को वोट का अधिकार प्राप्त होने पर भी उनके उम्मीदवारों को निर्वाचित होने का कोई अवसर न था। इससे स्पष्ट है, कि प्रशियन पार्लियामेंट की दूसरी सभा में भी सर्वसाधारण जनता या लोकसत्तावाद की प्रवृत्तियों को कोई स्थान प्राप्त न था। प्रतिनिधि सभा पर भी कुलीन तथा अमीर लोगों का इतना भारी कब्जा था कि सर्वसाधारण जनता की आवाज वहाँ तक नहीं पहुँच सकती थी।

राजा के अधिकार—प्रतिनिधि सभा यदि कुछ करना चाहे, तब भी कर नहीं सकती थी। कुलीनों की सभा पर राजा का पूरा अधिकार था। यदि प्रतिनिधि सभा कोई ऐसा प्रस्ताव पास करे, जो राजा को अभीष्ट न हो, तो कुलीनों की सभा में वह सुगमता से अस्वीकृत कराया जा सकता था। इसके अतिरिक्त पार्लियामेन्ट (Land tag) के सब निश्चयों पर निषेध (वीटो) का अधिकार राजा को प्राप्त था। इङ्गलैंड की तरह प्रशिया में ऐसा कोई प्रचलित रिवाज नहीं

था, कि राजा पार्लियामैन्ट के निश्चयों में हस्तक्षेप न करे। वहाँ का राजा अपने इस अधिकार का बहुधा प्रयोग किया करता था। प्रतिनिधि सभा खाली कह सकती थी, जनता के नेता उसमें केवल व्याख्यान दे सकते थे। अपनी इच्छाओं को क्रिया में परिणत करने की उनमें शक्ति नहीं थी। प्रशिया का शासन एक अत्यन्त सुसंगठित नौकरशाही के हाथ में था। इस नौकरशाही के आदमी प्रायः सैनिक तथा कुलीन श्रेणि के लोग थे। नवीन विचार इन्हें छू तक नहीं गये थे। राजा की इच्छानुसार तथा अपनी परम्परागत प्रथाओं को दृष्टि में रखकर प्रशियन शासन का ये संचालन करते थे। राजा की शक्ति असीम थी। यद्यपि १८५० में प्रशिया में नवीन प्रवृत्तियों ने विजय पाई थी और शासन विधान की स्थापना हुई थी, पर वह शासन विधान—जिसका उल्लेख अभी ऊपर किया गया है—इतना अधूरा तथा दोष युक्त था, कि पुरुष मात्र को मताधिकार प्राप्त होते हुए भी जनता की शक्ति न के बराबर थी। वस्तुतः प्रशिया में अभी तक भी राजतन्त्र शासन प्रचलित था। लोकतन्त्र का ढाँचा कायम रहते हुए भी वहाँ के शासन में जनसाधारण की शक्ति बहुत कम थी। २०वीं सदी के प्रारम्भ के बाद भी प्रशिया में 'राजा का दैवीय अधिकार' का सिद्धान्त मानने वाले लोगों का अभाव नहीं था। प्रशिया का राजा इस समय तक भी मध्यकाल के एकतन्त्र राजाओं का अनेक अंशों में स्मरण दिलाता था।

जर्मन साम्राज्य का शासन-विधान—इस प्रकार के पुराने ढंग के प्रशिया का जर्मन साम्राज्य में असाधारण प्रभाव था। निस्संदेह जर्मन साम्राज्य में अनेक ऐसे राज्य सम्मिलित थे, जिनके शासन अधिक उदार और लोकसत्तात्मक थे। कई राज्यों में तो रिपब्लिकन शासन भी विद्यमान थे। परन्तु प्रशिया के अतुल प्रभाव के कारण उनकी शक्ति बहुत न्यून थी। प्रशिया के शासन का उल्लेख करने

के बाद अब जर्मन साम्राज्य के शासन-विधान पर प्रकाश डालना सुगम हो जायगा।

पार्लियामैन्ट, संघसभा—जर्मन साम्राज्य की पार्लियामैन्ट में दो सभायें होती थीं। संघसभा (बुन्डसराट) और लोकसभा (रीष्टाग) संघसभा के सदस्यों की संख्या ६१ होती थी। इन्हें विविध राज्यों की सरकारें चुनती थीं। प्रशिया के १७ प्रतिनिधि होते थे, बवेरिया के ६, सैक्सनी के ४, बुर्टम्बुर्ग के ४ और अन्य राज्यों के १ से लेकर ३ तक। आल्सेस-लारेन के ३ प्रतिनिधि होते थे। ये प्रदेश प्रशिया के कब्जे में थे, अतः वस्तुतः २० सदस्य प्रशियन सरकार के अधीन थे। संघसभा के सदस्य अपनी स्वतन्त्र सम्मति नहीं दे सकते थे, उन्हें वही सम्मति देनी होती थी, जो उनकी सरकार उन्हें आदिष्ट करे। संघसभा पूर्णतया विविध सरकारों के प्रतिनिधियों की सभा थी, जनता के साथ उसका कोई सम्बन्ध न था। यह सभा न केवल कानून प्रस्तावित कर सकती थी, पर विशेष अवस्थाओं में आर्डिनान्स भी जारी कर सकती थी, जो कि कानून की ही शक्ति रखते थे। साम्राज्य के अन्तर्गत विविध राज्यों के पारस्परिक झगड़ों में यह संघसभा न्यायालय का कार्य करती थी। यदि साम्राज्य के शासन-विधान में कोई परिवर्त्तन प्रस्तावित हो, तो वह तब भी पास नहीं हो सकता था, यदि संघसभा के १४ सदस्य उसके विरोध में हो। अकेले प्रशिया के प्रतिनिधि ही १७ थे, अतः यदि प्रशिया किसी परिवर्त्तन के विरुद्ध हो, तो उसके स्वीकृत होने की कोई भी सम्भावना नहीं थी। संघसभा की रचना ही इस ढंग की थी, कि यह लोकसत्तावाद तथा नई प्रवृत्तियों के सदा विरोध में रहती थी।

लोकसभा—लोकसभा के सदस्यों की संख्या ३६७ थी। इनका विभाग आबादी के अनुसार विविध राज्यों में किया गया था। प्रतिनिधि पाँच वर्ष के लिये चुने जाते थे। सम्पूर्ण जर्मन साम्राज्य में वह लोकसभा

ही एक ऐसी संस्था थी, जिसे हम सच्चे अर्थों में लोकतन्त्र सिद्धान्तों के अनुकूल समझ सकते हैं। पर कठिनता यह थी, कि इस लोकसभा को वह शक्ति प्राप्त न थी, जो कि ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका की लोकसभाओं के पास थी। इसका मुख्य कार्य परामर्श देना और आलोचना करना ही था। मन्त्रिमण्डल इसके प्रति उत्तरदायी न होता था। यदि जर्मन मन्त्रिमण्डल भी इसके प्रति उत्तरदायी होता, तब तो इसकी शक्ति भी अन्य लोकसत्तात्मक लोकसभाओं के समान ही होती। पर इसी भेद के कारण यह सर्वथा शक्तिहीन हो गई थी। सम्राट् को हक था, कि संघ सभा की सम्मति से इसे बर्खास्त कर सके। यदि कभी लोकसभा के सदस्य सम्राट् के प्रतिकूल तीव्र आलोचना करने लगें, तो वह अपने इस अधिकार का सुगमता से प्रयोग कर सकता था।

जर्मन साम्राज्य की पार्लियामैन्ट की रचना इस प्रकार थी—

राज्य का नाम	आबादी (१९१० में)	संघसभा के सदस्य	लोकसभा के सदस्य
प्रशिया	४०,१००,०००	१७	२३६
बवेरिया	६,८००,०००	६	४८
सैक्सनी	४,८००,०००	४	२३
वुर्टम्बुर्ग	२,४००,०००	४	१७
बाडेन	२,१००,०००	३	१४
हैस्से	१,२००,०००	३	९
मैक्लनबुर्ग-श्वेरिन	६३९,०००	२	६
साक्स-वाइमर	४१७,०००	१	३
मैक्लनबुर्ग-स्टरलिट्ज	१०६,०००	१	१
ओल्डन बुर्ग	४८२,०००	१	३
ब्रुन्स्विक	४९४,०००	२	३
साक्स-माइनिङ्गन	२७८,०००	१	२

साक्स-आल्टन बुर्ग	२१६,०००	१	१
साक्स-कोबुर्ग-गोथा	२५७,०००	१	२
अन्हाल्ट	३३१,०००	१	२
श्वार्ट्सबुर्ग-सॉन्डर्सहॉसन	८६,०००	१	१
श्वार्ट्सबुर्ग-सडोल्स्टाट	१००,०००	१	१
वाल्डेक	६१,०००	१	१
रॉस (बड़ा घराना)	७२,०००	१	१
रॉस (छोटा घराना)	१५२,०००	१	१
शॉम्बुर्ग-लिप्पे	४६,०००	१	१
लिप्पे	१५०,०००	१	१
ल्युबेक का स्वतंत्र नगर	११६,०००	१	१
बेमन का स्वतन्त्र नगर	२६८,०००	१	१
हाम्बुर्ग का स्वतन्त्र नगर	१,०१५,०००	१	३
आल्सेस लारेन	१,८००,०००	३	१५
सर्वयोग	६४,५१६,०००	६	३६७

प्रशिया का राजा जर्मन साम्राज्य का सम्राट् होता था। शासन-विधान में यह व्यवस्था की गई थी, कि प्रशिया के हाहेनूट्शोलर्न वंश के वंश क्रमानुगत राजा ही जर्मन साम्राज्य के सम्राट् पद पर आरुढ़ हों। साम्राज्य की पार्लियामैन्ट के कृत्यों पर निषेध (वीटों) का अधिकार सम्राट् को नहीं होता था, पर पार्लियामैन्ट के कार्य पर पानी फेर देने के लिये उसके पास उपायों की कमी न थी। वह किसी भी मामले के सम्बन्ध में यह उद्घोषित कर सकता था, कि यह शासन-विधान के साथ ताल्लुक रखता है। शासन-विधान सम्बन्धी मामले तब तक पास नहीं समझे जाते थे, यदि संघ सभा में १४ सदस्य भी उसके विरुद्ध हों और प्रशिया के १७ वोट हमेशा सम्राट् के हुकुम में रहते थे। इनके बल पर वह अपनी मनमानी कर सकने में सदा समर्थ रहता था। यह ध्यान में रखना चाहिये कि जर्मन सम्राट् साम्राज्य का अधिपति नहीं समझा जाता था, उसकी स्थिति एक अध्यक्ष की ही थी। कारण यह कि बवेरिया आदि के राजा उसे अपना 'अधिपति'

(Sovereign) मानने के लिये कदापि तैयार नहीं हो सकते थे। इससे उनके आत्मसम्मान में बाधा पड़ती थी।

साम्राज्य के प्रधान मन्त्री को 'चान्सलर' कहते थे। संघ सभा में विद्यमान प्रशियन प्रतिनिधियों में से किसी एक को सम्राट् इस पद पर नियत करता था। चान्सलर को नियत करना या निकाल देना सम्राट् की इच्छा पर ही आश्रित था। लोकसभा उसके साथ है या नहीं, इस बात की जरा भी परवाह न की जाती थी। लोकसभा के प्रस्ताव उसके विरुद्ध हैं या पक्ष में, लोकसभा की बहुसंख्या उसके पक्ष में है या विरोध में—यह बात चान्सलर की स्थिति पर जरा भी असर न रखती थी। चान्सलर पूर्णतया सम्राट् की कृपा पर आश्रित रहता था। संघसभा के अधिवेशनों का सभापति चान्सलर ही होता था। साम्राज्य के प्रधान कर्मचारियों की नियुक्ति उसी के हाथ में थी। साम्राज्य के शासन का वास्तविक सञ्चालन उसी द्वारा होता था। जर्मनी में मन्त्रिमण्डल की पद्धति का सर्वथा अभाव था। मन्त्री लोग पार्लियामैन्ट के प्रति उत्तरदायी न होते थे। पार्लियामैन्ट का कार्य तो केवल शासन की आलोचना करना ही होता था। शासन का वास्तविक सञ्चालन वह नहीं करती थी। प्रायः प्रशिया के प्रधानमन्त्री को ही सम्राट् साम्राज्य के चान्सलर पद पर भी नियत कर देता था। इसका परिणाम यह था, कि प्रशियन शासन के सिद्धान्त साम्राज्य में भी प्रयुक्त किये जाते थे और प्रशिया जिस ढंग से नई प्रवृत्तियों का विरोधी तथा पुराने विचारों का समर्थक बना हुआ था, वैसा ही साम्राज्य के शासन में भी होता था।

जर्मन राजनीति का मुख्य आधार सैनिकवाद का सिद्धान्त था। प्रशिया की सम्पूर्ण शक्ति का मूल यही सैनिकवाद था। इसी का आश्रय लेकर प्रशियन राज्य का इतना विस्तार किया गया था। इसी से आस्ट्रिया और फ्रांस को शिकस्त दी गई थी। इसी के प्रभाव से

फा० ३१

प्रशिया के नेतृत्व में जर्मन साम्राज्य का संगठन हुआ था। लोगों का यह विश्वास था कि मातृभूमि की रक्षा और उन्नति का एकमात्र उपाय सेना की वृद्धि तथा उन्नति है। जर्मन बच्चों को शुरू से ही सैनिक नियन्त्रण में रहना सिखाया जाता था और सैनिकवाद के सिद्धान्त उनमें कूट कूट कर भरे जाते थे। इस सैनिकवाद ने भी जर्मनी को लोकतन्त्र की दौड़ में बहुत पीछे डाल दिया था। यदि जनता का कोई भाग अपने अधिकारों के लिये और लोकतन्त्र शासन की स्थापना के लिये संघर्ष करता, तो सम्राट् की आज्ञा को आँख मीच कर मानने वाली जर्मन सेना उसे कुचल डालने के लिये हर समय उद्यत रहती थी।

जर्मन साम्रज्य के सम्बन्ध में इन सब बातों का परिज्ञान उसके अगले इतिहास को भली भाँति समझने के लिये बहुत आवश्यक है। यह ध्यान में रखना चाहिये कि जिस समय क्रान्ति और नई प्रवृत्तियों की लहर ने फ्रांस के स्वरूप में एक मौलिक परिवर्तन ला दिया था, उसी समय में जर्मनी में पुराने ढंग का स्वेच्छाचारी शासन कायम था। १६१४—१६१८ के महायुद्ध में जर्मनी और आस्ट्रिया हंगरी के विरुद्ध प्रायः सम्पूर्ण संसार के नवीन भावनाओं से आविष्ट राष्ट्र जो इस प्रकार संगठित होकर उठ खड़े हुए, उसमें यह भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है। राष्ट्रीयता की भावना जर्मनी में बहुत अंशों में सफलता प्राप्त कर चुकी थी। पर लोकसत्तावाद की लहर ? वह जर्मन तट से अभी काफी दूर थी।

(२) विस्मार्क का कार्य-काल

(१८७१ से १८६० तक)

प्रिंस विस्मार्क ने किस प्रकार जर्मन साम्राज्य का निर्माण किया, इसका वर्णन पहले किया जा चुका है। परन्तु उसका कार्य यहीं

समाप्त नहीं हो गया। अभी उसके सम्मुख और भी अधिक महत्त्व-पूर्ण कार्य विद्यमान था, और वह था नवीन साम्राज्य को संगठित करना तथा उसकी विविधताओं को नष्ट कर एक राष्ट्र का प्रादुर्भाव करना। जर्मनी के २५ राज्य एक दूसरे से सर्वथा पृथक् थे, उनके कानून भिन्न भिन्न थे, उनके आर्थिक हितों में भी परस्पर विरोध था, उनके राजाओं में यह भाव बहुत काफी प्रबल था, कि हम पृथक् स्वतन्त्र राजा हैं और हमने स्वाधीन रूप से ही रहना है। बिस्मार्क इस भाव को नष्ट कर संगठित जर्मन राष्ट्र का निर्माण करना चाहता था। सम्पूर्ण साम्राज्य में भाषा, नसल और संस्कृति की एकता थी, जर्मन लोग वस्तुतः एक राष्ट्र थे, अतः विस्मार्क का यह कार्य समय की प्रवृत्तियों के सर्वथा अनुकूल था।

अपने उद्देश्य को पूर्ण करने के लिये बिस्मार्क ने केन्द्रीय सरकार की शक्ति को बढ़ाना प्रारम्भ किया। १८७३ में एक कानून पास किया गया, जिसके अनुसार सम्पूर्ण जर्मन साम्राज्य में एक मुद्रा-पद्धति जारी की गई। इससे पूर्व सब राज्यों में अपनी पृथक् मुद्रायें जारी थीं, उन सब को हटा कर मार्क (१२ आने के लगभग) का सर्वत्र प्रचलन किया गया। नये मार्क सिक्के पर सम्राट् विलियम प्रथम की तसवीर रखी गई थी। १८७१ में सम्पूर्ण जर्मनी के लिये एक फौजदारी कानून का निर्माण किया गया। सम्पूर्ण राष्ट्र के लिये राष्ट्रीय न्यायालयों की स्थापना की गई। सरकारी रेलवे, टैलीग्राफ और टेलीफोन को केन्द्रीय सरकार ने अपने हाथों में ले लिया। विविध राज्यों के बैंकों को एक केन्द्रीय इम्पीरियल बैंक द्वारा संगठित किया गया। इन सब बातों से राष्ट्रीय एकता में बहुत अधिक सहायता मिली। १८८७ में साम्राज्य भर के लिये दीवानी कानून को भी एक बनाने के लिये कमीशन की नियुक्ति की गई। यह कमीशन १६०० तक अपना कार्य करता रहा।

बिस्मार्क के इन प्रयत्नों को सम्पूर्ण जर्मन लोग सहानुभूति की दृष्टि से नहीं देखते थे। बहुत से लोग विविध राज्यों की पृथक् सत्ता व अधिकार के पक्ष में थे, वे बिस्मार्क के इन कृत्यों के विरुद्ध थे। राष्ट्रीय एकता और केन्द्रीय सरकार को शक्तिशाली बनाने के प्रयत्न में बिस्मार्क के सब से बड़े विरोधी रोमन कैथोलिक लोग थे। जर्मनी की अधिकांश जनता प्रोटेस्टैण्ट धर्म को मानने वाली थी। प्रशिया में तो प्रायः सभी लोग इसी धर्म के अनुयायी थे। पर अनेक राज्य ऐसे भी थे, जिन में आबादी का बड़ा भाग रोमन कैथोलिक था। यदि केन्द्रीय सरकार कमजोर हो और पृथक् राज्य शक्तिशाली हों, तब तो अपने राज्यों में इन रोमन कैथोलिक लोगों को भी धार्मिक दृष्टि से अपनी मनमानी करने का पूरा अवसर था। पर इसके विपरीत, यदि केन्द्रीय सरकार अधिक शक्तिशाली हो जावे और पृथक् राज्यों का महत्त्व अधिक न रहे, तो सम्पूर्ण राष्ट्र में प्रोटेस्टैण्ट लोगों का जोर हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। उस दशा में रोमन कैथोलिक लोगों को भय था कि केन्द्रीय सरकार—जिसमें प्रोटेस्टैण्ट लोगों का जोर है—हमारे खिलाफ कानून पास करेगी और हम सदा घाटे में रहेंगे। इस कारण वे बिस्मार्क के प्रयत्नों का विरोध करने में सदा तत्पर रहते थे। १८७१ के निर्वाचन में ६३ रोमन कैथोलिक सदस्य लोक सभा में निर्वाचित हो कर आये। इतनी बड़ी संख्या में रोमन कैथोलिक लोगों को सदस्य बने देख कर बिस्मार्क की चिन्ता की सीमा न रही। उसने समझा कि चर्च राज्य की शक्ति को नष्ट करने के लिये साजिश कर रहा है। लोक सभा के इन कैथोलिक सदस्यों ने अपनी नीति को स्पष्ट करते हुए उद्घोषणा की थी कि हम पोप के आधिपत्य को पुनः स्थापित करने के पक्ष में हैं। जिस प्रकार मध्यकाल में पोप सम्पूर्ण क्रिश्चियन दुनिया का आधिपति था, उसी तरह अब भी होना चाहिये। सन् १८६४ में पोप पायस नवम ने एक विज्ञप्ति प्रका-

शित की थी, जिसमें कि अर्वाचीन काल की भयंकर भूलों का प्रदर्शन किया गया था। उसमें उसने कहा था कि कैथोलिक लोगों के अतिरिक्त किसी भी अन्य धार्मिक सम्प्रदाय के प्रति सहिष्णुता नहीं प्रदर्शित करनी चाहिये और चर्च को राज्य के अधीन रखना बहुत ही अनुचित तथा धर्म विरुद्ध है। लोक-सभा के ये ६३ कैथोलिक सदस्य पायस नवम की इस विज्ञप्ति का खुले तौर पर समर्थन करते थे। १८७० में चर्च की एक कौंसिल में इस बात के लिये आन्दोलन प्रारम्भ हुआ था कि चर्च के मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार किसी बाहर के आदमी को नहीं है। चर्च के मामलों में सर्वसाधारण ईसाइयों के साथ पोप का जो सम्बन्ध है, उसमें सरकार को किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। जर्मनी का यह नवीन कैथोलिक दल इस आन्दोलन का भी प्रबल पक्षपोषक था। प्रोटेस्टैण्ट लोग इस कैथोलिक आन्दोलन से बहुत भयभीत हुए। उन्होंने समझा कि कैथोलिक दल जर्मनी की राष्ट्रीयता का विरोधी है। राज्य की बढ़ती हुई शक्ति को नष्ट करना तथा चर्च के प्रभाव का पुनरुद्धार करना ही इस दल का उद्देश्य है। इसलिए बिस्मार्क ने कैथोलिक लोगों के विरुद्ध संघर्ष करना प्रारम्भ कर दिया। यही संघर्ष जर्मन इतिहास में 'संस्कृति विषयक युद्ध' (कुल्टुर काम्फ) के नाम से प्रसिद्ध है। इस युद्ध का संक्षिप्त वर्णन बहुत उपयोगी है। रोमन कैथोलिक दल की उद्घोषणा का विरोध न केवल प्रोटेस्टैण्ट लोगों ने किया, पर कैथोलिक लोगों में भी कुछ ऐसे थे, जो उसके विरुद्ध थे। ये 'पुराने कैथोलिक' नाम से कहे जाते हैं। चर्च पुराने कैथोलिक लोगों पर बहुत क्रुद्ध हुआ। उन्हें 'धर्म बहिष्कृत' कर दिया गया और धार्मिक शिक्षणालयों तथा चर्च सम्बन्धी अन्य स्थानों पर जो पुराने कैथोलिक कार्य करते थे, उन सबको निकाल दिया गया। इतना ही नहीं, चर्च ने यह भी माँग की कि सरकारी शिक्षणालयों से भी पुराने कैथोलिकों को पृथक् कर दिया जावे। राज्य इसे

मानने को उद्यत नहीं हुआ। इस पर कैथोलिक चर्च ने सरकार पर आक्षेप करने प्रारम्भ किये। अब सरकार के लिये भी आवश्यक हो गया कि कैथोलिक लोगों का मुकाबला करे। संस्कृति विषयक युद्ध प्रारम्भ हो गया।

साम्राज्य की पार्लियामैन्ट ने कैथोलिक लोगों के विरुद्ध अनेक कानून पास किये। सरकार की आलोचना करना अपराध निश्चित किया गया। धार्मिक संस्थायें शिक्षा का कार्य न कर सकें, इसके लिये कानून बनाये गये। जेसुएट समाज को जर्मनी से बाहर निकाल दिया गया। प्रशिया तो इतना आगे बढ़ गया, कि कैथोलिक पादरियों के लिये भी यह व्यवस्था की गई कि वे सरकारी शिक्षणालयों में शिक्षा प्राप्त करें। बिस्मार्क इन सब कानूनों का पक्ष समर्थक था। वह कहता था कि राष्ट्रीय एकता की स्थापना के लिये कैथोलिक आन्दोलन को नष्ट करना अत्यन्त आवश्यक है। पोप ने इन कानूनों का विरोध किया। उसने कैथोलिक लोगों को आदेश दिया, कि इन कानूनों की उपेक्षा करो, उनके अनुसार काय मत करो। पर राज्य की सम्पूर्ण शक्ति उनके विरोध में थी। बिस्मार्क कैद, जुर्माने आदि विविध उपायों का प्रयोग कर पादरियों पर दबाव दे रहा था। कैथोलिक चर्च बन्द किये जा रहे थे, उनकी जायदादें जब्त हो रही थीं। सरकार की इस ज्यादती का परिणाम यह हुआ, कि कैथोलिक आन्दोलन और अधिक प्रचण्ड हो गया। १८७७ के निर्वाचन में ९२ कैथोलिक लोक सभा के सदस्य निर्वाचित हुए। उनके अतिरिक्त अनेक गैर-कैथोलिक लोग भी सरकार की नीति का विरोध करने लगे। सरकार जिस प्रकार कैथोलिकों पर अत्याचार कर रही थी, उससे अन्य लोग भी असंतुष्ट थे। परिणाम यह हुआ, कि बिस्मार्क को दबना पड़ा। वह बहुत बुद्धिमान् राजनीतिज्ञ था। समय की गति को वह खूब पहचानता था। वह समझ गया कि कैथोलिक लोगों को इस प्रकार कुचल सकना सर्वथा असम्भव है। साथ

ही, इस समय जर्मनी में साम्यवादी आन्दोलन बहुत प्रचण्ड रूप धारण कर रहा था। बिस्मार्क उसका मुकाबला करने के लिये कैथोलिक लोगों की—जो स्वभावतः ही पुराने विचारों के थे और नई प्रवृत्तियों का विरोध करने के लिये सदा उद्यत रहते थे—सहायता प्राप्त करना चाहता था। उसने यही उचित समझा कि कैथोलिकों के साथ सुलह कर ली जावे। पोप की गद्दी पर १८७८ में लिओ १३ वाँ नियत हुआ। वह बहुत ही नरम तथा सुलह की तबियत का आदमी था। इस दशा में बिस्मार्क के लिये चर्च से सन्धि करना और भी सुगम हो गया। कैथोलिक लोगों के विरुद्ध जो कानून पास हुए थे, प्रायः उन सबको रद्द कर दिया गया। इस प्रकार संस्कृति के युद्ध की समाप्ति हुई। निस्सन्देह, शस्त्र युद्ध में बिस्मार्क कभी पराजित नहीं हुआ था, पर इस संस्कृति विषयक युद्ध में वह विजयी नहीं हो सका।

१८७० में जर्मनी की आबादी ४ करोड़ के लगभग थी। अधिकांश लोग खेती से अपना गुजारा करते थे। दो तिहाई से अधिक जनता देहातों में निवास करती थी। सम्पूर्ण जर्मनी में केवल ८ नगर इस प्रकार के थे, जिनकी आबादी एक लाख से अधिक थी। शहरों में कल-कारखानों का विकास बहुत कम हुआ था। देश का शिल्प मुख्यतया गृहव्यवसायों और छोटे कारीगरों के हाथ में था। विदेशी व्यापार में निर्यात माल कम था, आयात अधिक। मुक्तद्वार वाणिज्य की नीति का अनुसरण किया जाता था और अपने देश के व्यवसायों का किसी प्रकार से संरक्षण नहीं किया जाता था। राजनीतिक क्रान्ति की तरह व्यावसायिक क्रान्ति ने भी अभी जर्मनी में बहुत कम प्रभाव उत्पन्न किया था। ग्रेटब्रिटेन के मुकाबले में व्यावसायिक दृष्टि से जर्मनी बहुत पीछे था। देश की गरीबी का यह हाल था, कि एक लाख से अधिक आदमी हर साल अपनी मातृभूमि का परित्याग कर नवीन उपनिवेशों में जा बसते थे। यह स्थिति थी, जब कि जर्मन साम्राज्य की सरकार

ने अपने देश की व्यावसायिक उन्नति पर ध्यान देना प्रारम्भ किया। बिस्मार्क भली भाँति समझता था, कि व्यावसायिक उन्नति के बिना जर्मनी यूरोप का अगुआ नहीं बन सकता। सरकारी सहायता से व्यवसायों को असाधारण उत्तेजना मिली। पाँच वर्ष के बाद जर्मनी का स्वरूप ही बदल गया। मानों कोई जादू हो गया हो। सैकड़ों की संख्या में कारखाने खोले गये। लाखों किसान देहात छोड़कर इन नई फैक्टरियों में काम करने के लिये शहरों में आ बसे। सड़कें और रेलवे बनाई गईं। खानें खुदवाई गईं। संरक्षण की नीति के प्रयोग से जर्मन फैक्टरियाँ न केवल विदेशी माल का सफलता से मुकाबला करने लगीं, पर साथ ही दुनिया के बाजारों में भी जर्मन माल दृष्टिगोचर होने लगा। जर्मन व्यवसायों को उन्नत करने के लिये जो भी सम्भव था, बिस्मार्क ने किया। कारखानों को आर्थिक सहायता दी गई, संरक्षण-कर लगाये गये, व्यापारिक सन्धियों द्वारा जर्मन माल के लिये बाजार तैयार किये गये, यह नियम बनाया गया कि जर्मन समुद्रतट का व्यापार जर्मन जहाजों द्वारा ही किया जावे। इसी प्रकार के अनेक कानूनों से व्यावसायिक उन्नति के लिये असाधारण कोशिश की गई। देखते देखते जर्मनी का विदेशी व्यापार कहीं से कहीं पहुँच गया।

व्यवसायों की यह तीव्र उन्नति जर्मन विचारकों के सम्मुख एक नई समस्या को उपस्थित कर रही थी। कल-कारखानों के बड़े बड़े केन्द्रों में जो हजारों लाखों मजदूर एकत्रित हो गये थे, वह जर्मन इतिहास में सर्वथा नई बात थी। मजदूरों की समस्याओं का यहाँ उल्लेख करना आवश्यक नहीं है। इतना निर्देश करना पर्याप्त है, कि इन कल-कारखानों के कारण मानवीय समाज के संगठन में एक भारी परिवर्तन आ रहा था और उसके कारण पूँजीपतियों और मजदूरों का पारस्परिक संघर्ष शुरू हो गया था। इस काल में अनेक साम्यवादी सम्प्रदाय इसी समस्या का हल करने के लिये उत्पन्न हुए थे। साम्यवाद का प्रसिद्ध

आचार्य कार्ल मार्क्स जर्मनी में का ही रहने वाला था। ये साम्यवादी लोग जर्मन मजदूरों में नवीन जागृति उत्पन्न कर रहे थे। वे उन्हें कहते थे, आर्थिक उत्पत्ति तुम करते हो और उस पर अधिकार होता है पूँजी-पति का। यह कितनी अस्वाभाविक और अनुचित बात है। उत्पत्ति के साधनों पर पूँजीपतियों का अधिकार नहीं होना चाहिये। सम्पूर्ण आर्थिक उत्पत्ति राज्य के नियन्त्रण में रहनी चाहिये और उसका सञ्चालन करना चाहिये मजदूरों को, जो कि वास्तविक रूप से उत्पादक होते हैं। साम्यवादियों की विचार सरणी ही सर्वथा नवीन थी। कार्ल मार्क्स के बाद लासाल के नेतृत्व में सन् १८६३ में जर्मन मजदूरों की प्रथम कांग्रेस लाइपजिग में हुई। अगले ही वर्ष लासाल की मृत्यु हो गई, पर उससे मजदूरों के संगठन का कार्य रुका नहीं। साम्यवादियों की शक्ति निरन्तर बढ़ती ही गई। १८७५ में गोथा नामक नगर में मजदूरों की एक और काँग्रेस हुई, इसमें साम्यवादी दल का कार्यक्रम निश्चित किया गया और लोक सभा के निर्वाचन के लिये अपने दल का उद्घोषणापत्र तैयार किया गया। निर्वाचन में साम्यवादी दल के उम्मीदवारों को ३४०००० वोट प्राप्त हुए। यह साधारण बात नहीं थी। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जर्मन निर्वाचकों की इतनी बड़ी संख्या साम्यवादी दल का पक्षपोषण करने-वाली थी।

साम्यवादी दल की इस शक्ति को देखकर बिस्मार्क बहुत चिन्तित हुआ। वह साम्यवादियों को व्यवस्था, अमन, कानून और साम्राज्य का कट्टर शत्रु समझता था। उनका सबसे बड़ा अपराध यह था कि वे स्वेच्छाचारी राजसत्ता का अन्त कर सच्चे लोकसत्तात्मक शासन की स्थापना करना चाहते थे। इसीलिये उन्हें कुचलने के लिये बिस्मार्क की प्रेरणा से अनेक कानून बनाये गये। इन कानूनों द्वारा यह व्यवस्था की गई, कि "साम्यवादी प्रवृत्तियों" का प्रचार करने तथा वर्तमान

"सामाजिक संगठन" को नष्ट करने के लिये जर्मनी में कोई सभा न हो सके, और कोई संस्था कायम न हो सके और कोई समाचारपत्र कार्य न कर सके। पुलिस को अधिकार दिया गया, कि वे साम्य-वादियों को गिरफ्तार कर सकें और देश के सामान्य न्यायालयों में मुकदमा चलाये बिना ही उन्हें देश से बाहर निकाल सकें। ये कानून १८७८ में पास हुए और १२ वर्ष तक जारी रहे। इस बीच में १००० से अधिक पर्चों को जब्त किया गया; १५०० आदमी कैद हुए और ६०० को देश निकाला दिया गया। परन्तु इन उपायों से साम्यवादी आन्दोलन दबा नहीं, वह और भी अधिक फैलता गया। साम्यवादी लोग पुलिस से बचने के लिये अनेक उपायों का प्रयोग करते थे। उन्होंने अन्य अनेक रूपों में अपनी सभायें बनाई हुई थीं। संगीत समाज, व्यायाम संघ, क्रीडा-सभा और क्लब आदि का संगठन कर वे अपना कार्य आसानी से चला लेते थे। उनके समाचार पत्र स्विट्जरलैण्ड में छपते थे और वहाँ से जर्मनी लाकर उन्हें गुप्त रूप से सर्वत्र पहुँचाया जाता था। साम्यवादी दल की प्रगति का अनुमान इसी बात से किया जा सकता है, कि १८६० में लोकसभा के निर्वाचन में उन्हें १५ लाख वोट प्राप्त हुए। १५ साल के अन्दर अन्दर ही उनके मतदाताओं की संख्या ३½ लाख से १५ लाख पहुँच गई और वह भी ऐसे समय में जब कि उन्हें कुचलने के लिये सरकार भरपूर कोशिश कर रही थी।

साम्यवाद की इस असाधारण उन्नति को देखकर बिस्मार्क ने समझ लिया कि अत्याचार व दबाव द्वारा इस आन्दोलन को नष्ट कर सकना असम्भव है। उसने विचार किया कि मजदूरों को साम्य-वाद के प्रभाव से बचा रखने का एक सरल उपाय यह है, कि राज्य स्वयमेव उनकी दशा को उन्नत करने का प्रयत्न करे। इससे वे भली-भाँति समझ जावेंगे कि सम्राट् और सरकार ही हमारे वास्तविक हितचिन्तक हैं। बिस्मार्क अनुभव करता था, कि व्यवसाय-प्रधान

देशों में तब तक शान्ति और व्यवस्था कायम नहीं रह सकती, जब तक कि मजदूर लोग संतुष्ट तथा समृद्ध न हों। अतः मजदूरों का हित-साधन करने में राज्य का अपना भी हित था। केवल बिस्मार्क ही नहीं, जर्मनी के अन्य भी बहुत से विचारक इसी ढंग से विचार कर रहे थे। वे कहते थे, मजदूरों को साम्यवादियों के पंजे से बचाने का एक ही तरीका है और वह यह कि राज्य साम्यवाद की अनेक योजनाओं को स्वीकृत कर स्वयं उनका प्रयोग करे और इस प्रकार मजदूरों के असन्तोष को दूर करे। उनके विचारों का सार निम्नलिखित है—मजदूरों की बेकारी को दूर करने की उत्तरदायिता सरकार के ऊपर है। कार्य करने के घण्टों को कम करना सरकार का काम है। फैक्टरियों को स्वास्थ्य का विघातक न बनने देना तथा उनके नैतिक वातावरण को पवित्र रखना भी सरकार का कर्त्तव्य है। स्त्रियों और बच्चों के श्रम को सीमित करना सरकार का कार्य है। आकस्मिक दुर्घटनाओं तथा बीमारी के समय मजदूर की रक्षा तथा सहायता करना सरकार के लिये आवश्यक है। मजदूरों के हित के लिये ये सब बातें तो राज्य को करनी ही चाहियें, पर साथ ही सम्पत्ति की विषमता को दूर करने के लिये यह भी आवश्यक है कि सूद, किराये तथा सट्टे से जो लोग आमदनी प्राप्त करें, उन पर भारी सरकारी कर लगाये जावें; और रेलवे, नहर, आवागमन के साधन, तार, डाक, पानी, रोशनी, बीमा, बैंक आदि सार्वजनिक हित के साथ सम्बन्ध रखने वाले व्यवसायों पर राज्य का स्वामित्व हो। इन पर राज्य के स्वामित्व का उद्देश्य यह था कि इन सबका सञ्चालन वैयक्तिक हित को दृष्टि में रखकर न हो, अपितु सार्वजनिक हित के उद्देश्य से ही इनका सञ्चालन किया जावे। इस सिद्धान्त को "राजकीय साम्यवाद" का नाम दिया गया है। साम्यवादियों के मुकाबले में ये 'राजकीय साम्यवादी' जर्मनी में अपने सिद्धान्तों का बड़े वेग के साथ प्रचार कर रहे थे। बिस्मार्क इनके

सिद्धान्तों से बहुत प्रभावित हुआ था। इन्हीं को दृष्टि में रखकर उसने मजदूरों की स्थिति को सुधारने के लिये अनेक सुधार पेश किये। बिस्मार्क जो सुधार करना चाहता था, वे निम्नलिखित हैं– (१) आकस्मिक दुर्घटना तथा बीमारी के लिये मजदूरों का बीमा कराया जावे। (२) कारखानों में काम करनेवाली स्त्रियों तथा बच्चों को वहाँ के बुरे प्रभावों से बचाया जावे। (३) मजदूरों के लिये वृद्धावस्था में तथा अपाहिज हो जाने की दशा में पेन्शिन का प्रबन्ध किया जावे। इन उद्देश्यों से उसने जो सुधार स्वीकृत कराये, उनका उल्लेख करना आवश्यक है।

जिन मजदूरों की आमदनी १५०० रु० वार्षिक से कम थी, उनके लिये बीमारी का बीमा कराना आवश्यक था। बीमे के लिये जो किस्तें (प्रीमियम) दी जाती थीं, उनका एक तिहाई हिस्सा मजदूरों को देना होता था और दो तिहाई उसके मालिक को। बीमारी की दशा में २६ सप्ताह तक मजदूरों को आधा वेतन मिलता रहता था। उसका इलाज भी मुफ़्त कराया जाता था। अगर वह मर जावे, तो उसके मृतक संस्कार का खर्च भी उसी निधि से मिलता था। इस कानून के अनुसार कितने मजदूरों का बीमा कराया गया, इस बात का अनुमान इससे किया जा सकता है, कि सन् १९१३ में १४५००००० मजदूरों का बीमा हुआ था और ३२१०००००० रु० विविध मजदूरों को बीमारी आदि के समय में दिया गया था। ये संख्यायें साधारण नहीं हैं। १$\frac{१}{२}$ करोड़ के लगभग गरीब मजदूरों को अपने आर्थिक भविष्य से निश्चिन्त कर देना मामूली बात नहीं है। इसके अतिरिक्त, आकस्मिक दुर्घटना के लिये प्रत्येक मजदूर का बीमा करना भी कानून के अनुसार आवश्यक था। इसका सब खर्च मालिकों के सिर पड़ता था। यदि कारखाने में काम करते हुए आकस्मिक दुर्घटना से किसी मजदूर की मृत्यु हो जावे, तो उसके परिवार को उसके वार्षिक वेतन

का २० फी सदी हरजाने के रूप में प्रदान किया जाता था। सन् १९१३ में इस कानून के अनुसार जिन मजदूरों का बीमा हुआ था, उनकी संख्या २६,०००,००० थी। वृद्धावस्था में आदमी कमाने लायक नहीं रहता। उस समय उसे भूखा न मरना पड़े और निश्चिन्तता के साथ पेंशिन मिलती रहे, इस उद्देश्य से यह कानून बनाया गया था कि जिन मजदूरों की वार्षिक आमदनी १२०० रु० से कम है, उन्हें आवश्यक रूप से बीमा कराना पड़े। इस के लिये मजदूर, मालिक और राज्य — तीनों को बराबर बराबर हिस्सा बँटाना होता था। ६५ साल की उमर में पेंशिन मिलनी शुरू हो जाती थी। इस पेंशिन की रकम ६० रुपये से १८० रु० वार्षिक तक होती थी। १९१३ में १,६५,००,००० मजदूरों का वृद्धावस्था के लिये बीमा हुआ था और १६००००००० रु० पेंशिनों में मजदूरों को मिल रहा था।

शुरू शुरू में कारखानों के मालिकों ने इन कानूनों का भयंकर रूप से विरोध किया। परन्तु कुछ समय बाद ही उन्हें स्वयं समझ आ गया कि इनसे उनका अपना लाभ है। यदि मजदूर लोगों की दशा सुधरती है, तो उससे उनकी कार्यक्षमता बढ़ती है और इससे कारखानों को लाभ पहुँचता है। इसमें सन्देह नहीं, कि बिस्मार्क द्वारा राजकीय साम्यवाद की नीति का अवलम्बन करने से जर्मनी में मजदूरों की दशा बहुत उन्नत हो गई है। जर्मनी की असाधारण व्यावसायिक उन्नति में यह भी एक प्रधान कारण है।

विदेशी मामलों में भी बिस्मार्क को आश्चर्यजनक सफलता हुई। १८७१ में फ्रांस को परास्त करने के बाद बिस्मार्क को यह चिन्ता रहती थी, कि कहीं फ्रांस जर्मनी से बदला न ले। इसके लिये वह फ्रांस के अन्दरूनी झगड़ों को हमेशा प्रोत्साहित करता रहता था। जर्मनी की स्थिति को सुरक्षित करने के लिये उसने रशिया और आस्ट्रिया के साथ सन्धि कर त्रिगुट का निर्माण किया। बिस्मार्क समझता था, कि इन

तीन शक्तिशाली राज्यों के साथ रहने से जर्मनी को किसी विदेशी राज्य का भय न रहेगा। परन्तु १८७८ में बाल्कन प्रायद्वीप के मामलों में आस्ट्रिया और रशिया में झगड़ा हो गया। इस झगड़े का विस्तृत वर्णन हम आगे चलकर करेंगे। इसमें जर्मनी ने आस्ट्रिया का साथ दिया। त्रिगुट टूट गया और रशिया उससे पृथक् हो गया। पर बिस्मार्क की नीतिकुशलता से शीघ्र ही १८८२ में इटली आस्ट्रिया और जर्मनी के साथ मिल गया। नये त्रिगुट का निर्माण हुआ। १९१४ के महायुद्ध तक यह त्रिगुट कायम रहा। जर्मनी जिस ढंग से बाल्कन प्रायद्वीप के मामलों में आस्ट्रिया का साथ दे रहा था, वह भी गत यूरोपीय महायुद्ध का एक महत्त्वपूर्ण कारण है। जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली—इन तीनों राज्यों को परस्पर गुट में सम्मिलित करना बिस्मार्क की राजनीति का ही परिणाम था।

बिस्मार्क के कर्तृत्व को समाप्त करने से पूर्व हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि जिस समय उसने प्रशिया का राजसूत्र अपने हाथों में लिया था, तब प्रशिया एक मामूली सा राज्य था, जर्मनी सर्वथा असंगठित तथा अस्त-व्यस्त था। बिस्मार्क की नीति-कुशलता का ही यह परिणाम हुआ कि न केवल प्रशिया ही यूरोप का एक शक्तिशाली राज्य बन गया, पर जर्मन साम्राज्य का भी प्रादुर्भाव हुआ। जर्मनी की असाधारण शक्ति और उन्नति में बिस्मार्क का बड़ा हाथ है। यह ठीक है, कि उसने जो कुछ किया, समय उसी की तरफ ले जा रहा था। पर फिर भी जिस व्यक्ति के नेतृत्व में वह स्वाभाविक प्रक्रिया सम्पन्न हुई, उसे भी उसका श्रेय देना सर्वथा उचित और न्याय्य है।

(३) विलियम द्वितीय का शासन काल

(१८८८ से १९१८ तक)

सम्राट् विलियम प्रथम की १८८८ में मृत्यु हो गई। मरने के समय

उसकी आयु ६१ साल की थी। वह बिस्मार्क की कार्य नीति से सर्वथा संतुष्ट था। यही कारण है, कि उसके शासन काल में बिस्मार्क को पूर्ण स्वतन्त्रता मिली हुई थी। उसके समय में जर्मनी की जो भी उन्नति हुई, उसका मुख्य श्रेय बिस्मार्क को ही है। विलियम प्रथम के बाद उसका लड़का फ्रेडरिक तृतीय राजगद्दी पर बैठा। पर वह बीमार रहता था, स्वयं राज्य कार्य करने में असमर्थ था। तीन महीने बाद ही उसकी मृत्यु हो गई और प्रसिद्ध सम्राट् विलियम द्वितीय राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उस समय उसकी आयु केवल २६ वर्ष की थी। यूरोप के आधुनिक इतिहास में जो सबसे अधिक शक्तिशाली, जबर्दस्त और अभिमानी राजा हुए हैं, विलियम द्वितीय उनमें से एक था। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम हिस्से में राजगद्दी पर बैठते हुए भी वह राजा के दैवीय अधिकार में विश्वास रखता था। राज्याभिषेक के अवसर पर भी उसने अपने इस विश्वास को प्रगट किया था। विलियम द्वितीय में जर्मनी को उन्नत करने की तीव्र आकांक्षा विद्यमान थी। वह अपने देश को न केवल यूरोप परन्तु सम्पूर्ण संसार में सबसे अधिक उन्नत और शक्तिशाली बना देने के लिये उत्सुक था। गरीब मजदूरों के साथ भी उसे सहानुभूति थी। राजा प्रजा का पिता है, इस पुराने विचार को दृष्टि में रखकर सर्वसाधारण के लाभ के लिये जो कुछ भी अपनी समझ में आवे, उसे कर देने में उसे वास्तविक प्रसन्नता होती थी। यदि ऐसा राजा १६वीं वा १७ वीं सदी में उत्पन्न होता, तो अपने देश के लिये बहुत लाभकारक होता। पर अब जमाना बदल चुका था। स्वतन्त्रता और लोकसत्तावाद के विचारों ने राजसत्ता के पुराने सिद्धान्त को बहुत पीछे छोड़ दिया था। विलियम द्वितीय इन नवीन भावनाओं का विरोधी था। अपने देश की वास्तविक उन्नति करने की प्रबल अभिलाषा रखते हुए भी उसे यह समझ नहीं आता था कि जनता के अधिकारों का क्या अभिप्राय है? वह जर्मनी के कुलीन जमींदारों और

सैनिक अफसरों के प्रभाव में था। इसी का यह परिणाम हुआ कि विलियम द्वितीय जर्मनी के कल्याण का कारण न बन उसके विनाश का निमित्त हुआ।

विलियम द्वितीय राज्य के सम्पूर्ण मामलों में हस्ताक्षेप करता था। वह सब विषयों को अपनी देख रेख में ले आना चाहता था। बिस्मार्क यह सहन न कर सका, कि २६ साल का एक अनुभव-शून्य नौजवान उस पर हुकुम चलावे। १८६० के मार्च मास में उसने त्यागपत्र दे दिया। विलियम ने इस त्यागपत्र को देखकर कहा—"मुझे इसका उतना ही दुःख है, जितना कि अपने दादा की मृत्यु के समाचार से हुआ था। पर ईश्वर की इच्छा के सम्मुख मनुष्य क्या कर सकता है? यदि हमें उसके लिये मरना भी पड़े, तो भी हमारा क्या वस है? राज्यरूपी जहाज के कप्तान का कार्यभार अब मेरे सिर पर आ पड़ा है। मार्ग वही है—पूरे जोर के साथ आगे बढ़ते जाओ।"

विलियम द्वितीय के शासन काल में जर्मन व्यवसायों ने असाधारण उन्नति की। बात की बात में जर्मन व्यापार ब्रिटेन और अमेरिका का मुकाबला करने लगा। १९१४ तक उसके व्यवसाय इतने अधिक उन्नत हो चुके थे, कि कोयले के लिहाज से वह दुनिया के राज्यों में तीसरा स्थान रखता था। ब्रिटेन की अपेक्षा जर्मनी अधिक लोहा पैदा करता था। लोहे में केवल अमेरिका ही उससे आगे था। फौलाद जर्मनी में ब्रिटेन की अपेक्षा दुगना तैयार होता था। २५ वर्ष पहले जितनी मशीनरी जर्मनी से बाहर भेजी जाती थी, १९१४ में वह १२ गुना बढ़ गई थी। १८८८ में जर्मनी के जहाज ब्रिटेन के बन्दरगाहों में तैयार होते थे। परन्तु १९१४ में शायद ही कोई ऐसा जहाज हो, जो कि जर्मनी का अपना बना हुआ न हो। जर्मनी के जहाज इस समय संसार के सर्वोत्तम जहाजों में समझे जाते थे। बिजली का सामान और

रासायनिक पदार्थ जर्मनी में इतने अच्छे और इतने अधिक बनते थे कि अन्य कोई देश उसका मुकाबला नहीं कर सकता था। संसार भर में जितना रंग बनता था, उसका ८० फी सदी जर्मनी में तैयार होता था। केवल व्यवसायों में ही नहीं, कृषि और जंगलात में भी जर्मनी बहुत आगे बढ़ा हुआ था। १८७० में जर्मनी का विदेशी व्यापार ३ अरब रुपये का था, १९१४ में वह बढ़कर १५ अरब तक पहुँच गया था। यह आश्चर्यजनक आर्थिक उन्नति राज्य के निरन्तर प्रयत्न और सहायता से ही सम्भव हो सकी थी।

बिस्मार्क ने जिस 'राजकीय साम्यवाद' की नीति का अनुसरण किया था, विलियम द्वितीय उससे सहमत था। राज्य की तरफ से यदि मजदूरों की दशा को सुधारने के लिये प्रयत्न होता रहे, तो साम्यवाद उनमें कभी नहीं फैल सकता—इसी विश्वास से बिस्मार्क ने अनेक कानून स्वीकृत कराये थे। विलियम द्वितीय भी यही समझता था। पर बिस्मार्क और विलियम—दोनों भूल में थे। जर्मनी में साम्यवाद बड़े वेग से उन्नति कर रहा था। साम्राज्य की लोकसभा में साम्यवादी सदस्यों की संख्या निरन्तर बढ़ती जाती थी। १८८७ में लोकसभा में उनकी संख्या केवल ११ थी, १८९० में वह बढ़कर ३६ हो गई थी। विलियम द्वितीय साम्यवाद की इस वृद्धि से बहुत चिन्तित हुआ। वह कहता था—साम्यवाद एक ऐसा कीड़ा है, जो राज्यरूपी वृक्ष की जड़ में लगकर उसे कभी फूलने-फलने नहीं दे सकता। उसने साम्यवाद को नष्ट करने के लिये भरपूर कोशिश की। साम्यवादियों पर राज्यद्रोह के अभियोग लगाये गये। सैनिकों को उसने इस बात के लिये तैयार किया कि यदि आवश्यकता हो, तो अपने बन्धु-बान्धवों पर गोली चलाने के लिये उद्यत रहें। परन्तु साम्यवाद की प्रवृत्ति को रोक सकना विलियम द्वितीय के लिये असम्भव था। उसके सब विरोध के बावजूद भी १९१२ के निर्वाचन में लोकसभा में साम्यवादी दल के

सदस्यों की संख्या अन्य किसी भी दल की अपेक्षा अधिक थी। जर्मनी में निर्वाचन का ढंग इस प्रकार का था, कि प्रतिनिधि जनता के वास्तविक मत को प्रगट नहीं करते थे। १९०७ के निर्वाचन में साम्यवादी दल के उम्मीदवारों को ३२,५०,००० वोट प्राप्त हुए, उनमें से जो निर्वाचित हो सके, उनकी संख्या ४३ थी। दूसरी तरफ अनुदार दल को प्राप्त वोटों की संख्या केवल १५,००,००० थी, पर वे ८३ सदस्य निर्वाचित कराने में समर्थ हुए। १९१२ के चुनाव में साम्यवादी दल को ४२,५०,३०० वोट मिले और उनके ११० सदस्य निर्वाचित हुए।

सेना की उन्नति पर जर्मन सरकार ने विशेष ध्यान दिया। १७ साल की आयु के प्रत्येक युवक के लिये आवश्यक था, कि वह तीन साल तक सैनिक सेवा करे। इसी का परिणाम था, कि १९१४ में जर्मनी में सैनिक सेवा के योग्य व्यक्तियों की संख्या चालीस लाख थी। जर्मन युवक सैनिक का पद प्राप्त कर वास्तविक गौरव अनुभव करते थे। विश्वविद्यालयों के प्रोफेसर, न्यायालयों के न्यायाधीश और कारखानों के मालिक—सब सैनिक पोशाकों में खास तरह का आनन्द तथा गर्व अनुभव करते थे। सेना में उदार विचारों का प्रवेश भी न हो सकता था। सैनिकों के लिये आवश्यक था कि अपने अफसरों की आज्ञाओं का आँख मींचकर पालन करें। यदि कोई अफसर उदार विचार रखता था, तो उसे अपने पद से बर्खास्त कर दिया जाता था। इस सबका परिणाम यह था, कि जर्मन सेना में कमाल का नियन्त्रण और आज्ञापालन का भाव उत्पन्न हो गया था।

केवल स्थलसेना ही नहीं, जलसेना की दृष्टि से भी जर्मनी ने असाधारण उन्नति की थी। विलियम द्वितीय ने जङ्गी जहाजों और सैनिक बन्दरगाहों के निर्माण के लिये विशेष रूप से प्रयत्न किया था। जर्मनी का समुद्र तट दो भागों में विभक्त था—उत्तरीय सागर (North Sea) और बाल्टिक सागर। इनके बीच में डेन्मार्क का प्रायद्वीप

था। विलियम द्वितीय ने सोचा कि इन दोनों सागरों को नहर द्वारा मिला देने से जर्मनी का सामुद्रिक तट बहुत उन्नत हो जायगा। इस दृष्टि से १८६६ में कील के बन्दरगाह से एल्ब नदी के मुहाने तक ६१ मील लम्बी नहर का निर्माण किया गया। इसके बाद दस जङ्गी जहाजों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। क्रुइजर के बाद क्रुइजर और ड्रेडनॉट के बाद ड्रेडनॉट बनाये जाने लगे। १९१४ में जर्मन नौ सेना इतनी उन्नति कर चुकी थी, कि वह संसार में दूसरा स्थान रखती थी। पहला स्थान ग्रेट ब्रिटेन की नौ सेना का था।

जर्मनी जिस असाधारण गति से अपनी व्यावसायिक और व्यापारिक उन्नति कर रहा था, उसके लिये आवश्यक था कि अपने देश से बाहर महत्त्वपूर्ण बाजारों पर उसका अधिकार हो। जर्मनी का माल कहीं बिकना चाहिये था। अपने देश के लिये जितने माल की जरूरत थी, उससे बहुत अधिक जर्मनी में उत्पन्न होता था। अतिरिक्त माल की बिक्री के लिये बाजार प्राप्त किये बिना उसका काम नहीं चल सकता था। इसीलिये बिस्मार्क के समय में ही उपनिवेश विस्तार की तरफ जर्मन सरकार का ध्यान गया था। १८८४ में डा० गुस्टव नाख्टिगल को इस उद्देश्य से अफ्रीका भेजा गया कि वह पश्चिमीय अफ्रीकन तट पर जर्मनी का अधिकार स्थापित करे। डा० नाख्टिगल को अपने उद्देश्य में सफलता हुई। उत्तरीय गायना के एक प्रदेश टोगोलैण्ड तथा कामेरन (फ्रेञ्च कोन्ग के समीपवर्त्ती) पर जर्मन अधिकार स्थापित हो गया। इन दोनों प्रदेशों का विस्तार दो लाख वर्गमील से भी अधिक था। १८८४ में ही बिस्मार्क की प्रेरणा से हेरल्यूडरिट्स नामक व्यापारी ने दक्षिणीय अफ्रीका की तरफ प्रस्थान किया। गुडहोप के अन्तरीप के समीप ही एन्ग्रापेक्केना नामक स्थान पर उसने जर्मन झण्डा फहरा दिया और यह प्रदेश जर्मन लोगों के अधीन हो गया। एन्ग्रापेक्केना को अपना अड्डा बनाकर जर्मन लोग निरन्तर अपनी शक्ति

का विस्तार करते रहे और कुछ ही समय में ३ लाख २० हजार वर्ग मील से अधिक प्रदेश उनके कब्जे में आ गया। यही प्रदेश जर्मन दक्षिणी पूर्वीय अफ्रीका कहाता था। जिस समय पश्चिमीय तथा दक्षिणीय अफ्रीका में जर्मन लोग अपने साम्राज्य की नींव डाल रहे थे, उसी समय जर्मन-उपनिवेश-विस्तार सभा नाम की संस्था पूर्वीय अफ्रीका में उपनिवेश स्थापना के उद्योग में थी। १८८४ में इस सभा की तरफ से डा० कार्ल पीटर्स को पूर्वी अफ्रीका भेजा गया। १८८८ में उसने जन्जीबार के सुलतान से ६०० मील लम्बा एक प्रदेश पट्टे पर प्राप्त किया। दो वर्ष बाद इसे ३० लाख रुपये में खरीद लिया गया। यह प्रदेश बहुत ही उपजाऊ था। जर्मन लोगों ने इस पर अपने उपनिवेश बसाने प्रारम्भ किये। काफी, कोकोआ, चाय, खांड, खजूर, तम्बाकू आदि विविध वस्तुओं की यहाँ खेती प्रारम्भ हुई, और कुछ ही समय में यह प्रदेश जर्मन लोगों के लिये अत्यन्त लाभदायक हो गया।

केवल अफ्रीका में ही नहीं प्रशान्त महासागर में भी जर्मन लोग अपनी शक्ति का विस्तार कर रहे थे। इसी समय के लगभग न्यू गायना में एक प्रदेश पर जर्मन लोगों ने अपना अधिकार स्थापित किया। उसका नाम रक्खा गया—सम्राट् विल्हिलम का प्रदेश। कैरोलाइन तथा सोलोमन द्वीपसमूहों को भी जर्मनी के अधीन किया गया। इन सब विविध प्रदेशों पर अधिकार का परिणाम यह हुआ, कि जर्मन लोगों के व्यापार के लिये नये मार्ग खुलते जाते थे और उसकी सामुद्रिक शक्ति बड़ी तीव्र गति से बढ़ती जाती थी। व्यावसायिक उन्नति से जर्मनी को कितना लाभ पहुँच रहा था, इसका अनुमान केवल इस बात से किया जा सकता है, कि १८७० में उसकी आबादी ४ करोड़ थी, १९१४ में वह बढ़ कर ६ करोड़ ८० लाख हो गई थी। इतनी भारी आबादी का पालन जर्मनी के लिये इसी कारण सम्भव था, क्योंकि अपने माल के लिये बाजार उसने उत्पन्न कर लिये थे।

इसी असाधारण उन्नति का परिणाम था कि जर्मन सरकार ने विदेशी मामलों में बहुत प्रचण्ड नीति का अनुसरण प्रारम्भ किया। सम्राट् विलियम द्वितीय जर्मनी को न केवल यूरोप अपितु सम्पूर्ण संसार में सबसे शक्तिशाली राज्य बनाने के लिये कृत निश्चय था। यह पहले प्रदर्शित किया जा चुका है कि बिस्मार्क ने आस्ट्रिया के साथ मिलकर गुट का निर्माण किया था। आस्ट्रिया बाल्कन राज्यों पर अपना अधिकार स्थापित करना चाहता था। इस प्रयत्न में जर्मनी उसका सहायक था। विलियम चाहता था कि बाल्कन प्रायद्वीप पर उसका मित्र आस्ट्रिया अपना आधिपत्य स्थापित कर ले और इस प्रकार नार्थ सी (उत्तरीय सागर) से लेकर ब्लैक सी (काला सागर) तक सम्पूर्ण मध्य यूरोप पर जर्मनी व आस्ट्रिया का कब्जा हो जावे। इतना ही नहीं, विलियम की आकांक्षा थी, कि एशिया में भी अपने साम्राज्य का विस्तार किया जावे। एशिया के सीधे और सुगम मार्ग—भूमध्य सागर, स्वेज की नहर और फिर रेड सी (लाल सागर)—पर ग्रेट ब्रिटेन का कब्जा था। जर्मनी इस मार्ग से एशिया का आधिपत्य प्राप्त नहीं कर सकता था। उसने एक नवीन मार्ग की कल्पना की। यदि टर्की का सुलतान उसके गुट में शामिल हो जावे, और आस्ट्रिया के समान उस पर भी जर्मनी का प्रभाव हो, तो एक नये मार्ग से (जर्मनी से आस्ट्रिया, वहाँ से बाल्कन प्रायद्वीप, जो कि आस्ट्रिया के कब्जे में हो और वहाँ से टर्की, और फिर मैसोपोटामिया, जो उस समय टर्की के अधीन था, होकर पर्शियन खाड़ी में पहुँचा जावे) एशिया पहुँचा जा सकेगा। इस कल्पना से विलियम ने टर्की के साथ मित्रता स्थापित करनी प्रारम्भ की। जर्मन अफसरों ने टर्की की सेना का पुनः संगठन किया। टर्की के सैनिक अफसरों को शिक्षा के लिये जर्मन सैनिक विद्यालयों में भेजा गया। विलियम द्वितीय ने स्वयं दो बार टर्की की यात्रा की और अपने को सम्पूर्ण

मुसलमानों का जबर्दस्त दोस्त उद्घोषित किया। टर्की की विदेशी राजनीति का सञ्चालन जर्मन राजनीतिज्ञ करने लगे। कोन्स्टेन्टिनोपल से बगदाद तक टर्की के साम्राज्य में रेलवे बनाने का कार्य जर्मन पूँजीपतियों ने अपने हाथ में लिया। विलियम द्वितीय का खयाल था, कि पीछे से इस रेलवे को बर्लिन के साथ यूरोप में मिला दिया जावेगा और इस प्रकार बर्लिन से बगदाद तक सीधी रेल जर्मन प्रभाव में चलनी प्रारम्भ हो जावेगी। एशिया के लिये यह नया मार्ग जर्मन आधिपत्य की स्थापना में बहुत ही सहायक होगा। ब्रिटिश लोग जर्मनी की इन योजनाओं को बड़ी चिन्ता के साथ देख रहे थे। गत यूरोपीय महायुद्ध में यह भी एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

यूरोप के बड़े भाग पर जर्मन लोगों का कब्जा स्थापित करने के लिये १८९४ में पान-जर्मन लीग की स्थापना हुई। इस संघ का कथन था कि हालैण्ड, नार्वे, स्वीडन व आस्ट्रिया में, और रशिया, स्विट्जरलैण्ड तथा बेल्जियम के कुछ प्रदेशों में जर्मन जाति के लोग निवास करते हैं। पान-जर्मन लीग चाहती थी, कि जिस प्रकार भी सम्भव हो, चाहे शान्ति से या युद्ध से, इन सब लोगों को मिलाकर एक विशाल शक्तिशाली जर्मन साम्राज्य की रचना की जानी चाहिये। बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में यह लीग बहुत प्रबल हो गई। समाचार पत्रों और सार्वजनिक सभाओं में इसके लिये प्रचण्ड रूप से आन्दोलन होने लगा। इस आन्दोलन से यूरोप के अन्य राष्ट्र बहुत चिन्तित हुए। जर्मनी यूरोप की शान्ति में बाधक है, इस विचार के विस्तार में इस लीग ने बहुत सहायता पहुँचाई।

फ्रांस उत्तरीय अफ्रीका में जिस प्रकार अपना आधिपत्य स्थापित कर रहा था, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। जब फ्रांस और ब्रिटेन के पारस्परिक समझौते के अनुसार मोरक्को में फ्रेञ्च लोगों ने अपना अधिकार बढ़ाना प्रारम्भ किया, तो जर्मनी ने उसमें बाधा

उपस्थित की। जर्मन सरकार नहीं चाहती थी, कि मोरक्को में फ्रांस का शासन कायम हो जावे। इसी झगड़े को निबटाने के लिये १६०६ और १६०८ में दो बड़े अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुए। आखिर, जर्मनी को नीचा देखना पड़ा। मोरक्को पर फ्रांस का कब्जा हो गया। इस मामले में नीचा देखकर जर्मनी ने अपनी सैनिक शक्ति को और तेजी से बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। १६१३ में एक कानून पास हुआ, जिसके अनुसार जर्मनी की स्थिर सेना ६५६००० से बढ़कर ८७८००० हो गई। फ्रांस और जर्मनी न केवल यूरोप में, अपितु अफ्रीका में भी एक दूसरे के उत्कर्ष को देखकर जल रहे थे। विदेशी राजनीति में आस्ट्रिया, टर्की और इटली को साथ मिलाकर एक शक्तिशाली गुट बनाने में जर्मनी को जो सफलता हुई थी, फ्रांस उसे सहन नहीं कर सकता था। इस सिलसिले में इन दोनों राज्यों में जो दाँव पेंच चल रहे थे, उनका उल्लेख हम गत यूरोपीय महायुद्ध (१६१४-१८) के प्रकरण में आगे चलकर करेंगे।

इकतीसवाँ अध्याय

इटालियन राष्ट्र की प्रगति

शासन-विधान—कावूर और विक्टर एमेनुअल द्वितीय ने विविध इटालियन राज्यों को परस्पर मिला कर किस प्रकार एक संगठित इटालियन राष्ट्र का निर्माण किया, यह पहले प्रदर्शित किया जा चुका है। इस नवीन इटालियन राष्ट्र के शासन के लिये एक निश्चित शासन-विधान स्वीकृत किया गया था। पार्लियामैन्ट दो सभाओं से बनी थी—सीनेट और प्रतिनिधि सभा। सीनेट में ३८१ सदस्य होते थे, जिन्हें राजा जीवन भर के लिये मनोनीत करता था। प्रतिनिधि सभा के सदस्यों की संख्या ५०८ होती थी, इन्हें सर्वसाधारण जनता ५ वर्ष के लिये चुनती थी। १६१२ के बाद सदस्यों को ३६०० रु० वार्षिक वेतन भी मिलना शुरू हो गया था, इससे गरीब लोग भी प्रतिनिधि सभा में उपस्थित होने के लिये समय निकाल सकते थे। मन्त्रिमण्डल को राजा नियुक्त करता था, पर वह अपने कार्यों के लिये प्रतिनिधि सभा के सम्मुख उत्तरदायी होता था। शासन विधान में नागरिकों के अधिकारों की उद्घोषणा को प्रमुख स्थान दिया गया था। कानून की दृष्टि में सब नागरिक एक समान हैं, लिखने, बोलने, सभायें करने तथा अपने विचारों को प्रकाशित करने का सब नागरिकों को स्वतन्त्र रूप से अधिकार है, और कोई टैक्स पार्लियामैन्ट की

सहमति के बिना नहीं लगाया जा सकता, ये व इसी प्रकार के अन्य अनेक अधिकारों का इसमें उल्लेख किया गया था। संगठित इटली का प्रथम राजा विक्टर एमेनुअल द्वितीय हुआ। उसके बाद १८७८ में उसका लड़का हुम्बर्ट राजगद्दी पर बैठा। १९०० में विक्टर एमेनुअल तृतीय राजा बना।

पोप की समस्या—इटली में पोप तथा चर्च की स्थिति अद्भुत थी। १८७० तक पोप जहाँ रोमन कैथोलिक चर्च का अधिपति था, वहाँ साथ ही अन्य अनेक इटालियन राजाओं के समान इटली के एक राज्य का राजा भी था। रोम और वेनिस के बीच के प्रदेश पर उसका अपना राज्य स्थापित था। विक्टर एमेनुअल द्वितीय ने इटली को सगठित करते हुए इस राज्य पर भी आक्रमण किया और पोप के राज्य को अपने अधीन कर रोम को इटली की राजधानी बना दिया। इस दशा में पोप की क्या स्थिति हो गई, यह ध्यान में रखने योग्य बात है। इटालियन सरकार ने पोप के प्रभाव तथा रोब को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये उसे 'स्वतन्त्र राजा' के रूप में स्वीकृत किया। वह अपने राजदूत विदेशों में भेज सके और विदेशी राज्यों के दूत उसके यहाँ रह सकें—यह अधिकार भी स्वीकृत किया गया। पोप जिस प्रासाद में रहता था, उस पर उसका अक्षुण्ण अबाधित शासन कायम रखा गया। वहाँ उसका राजकीय झण्डा फहराता था। इस प्रासाद रूपी राज्य का वह पूर्ण सम्राट् बना रहा। जो प्रदेश पोप से छीन लिये गये थे, उनके बदले में उसे १९३५००० रु० वार्षिक पैंशिन इटालियन राज्यकोष से देते रहने की व्यवस्था की गई। साथ ही, वह रेलवे, तारघर और पोस्ट आफिस का मुफ्त में इस्तेमाल कर सके, यह अधिकार भी दिया गया। परन्तु पोप इनसे संतुष्ट नहीं हुआ। पोप न तो यह पैंशिन स्वीकार करते हैं और न अन्य रियायतों का प्रयोग करते हैं। उनकी पैंशिन राज्यकोष में सुरक्षित रूप से इकट्ठी हो रही है।

इटालियन सरकार उसे अपने काम में नहीं लाती। पोप अपने को 'कैदी' समझते हैं, और इटालियन सरकार को स्वीकृत करने के लिये तैयार नहीं होते। वे रोमन कैथोलिक शासकों से अपील भी करते रहे हैं, कि हमें कैद से मुक्त कर फिर पुरानी शानदार स्थिति में ला दो। इतना ही नहीं, वे रोमन कैथोलिक जनता को यह भी कहते रहे हैं कि इटालियन सरकार का बायकाट करें और प्रतिनिधि सभा के निर्वाचन में हिस्सा न लें।

चर्च—चर्च और राज्य इटली में पृथक् नहीं हुए। इटालियन राष्ट्र के संगठन के बाद भी सरकार पादरियों को राज्यकोष से वेतन देती है और चर्च के पदाधिकारियों की नियुक्ति में हाथ रखती है। धार्मिक शिक्षा भी इटली में निषिद्ध नहीं है। जहाँ चर्च को अपने शिक्षणालय खोलने का अधिकार है, वहाँ सरकारी व सार्वजनिक शिक्षणालयों में भी धार्मिक शिक्षा को बहिष्कृत नहीं किया गया है।

मताधिकार—१८८२ तक इटली में वोट देने का अधिकार बहुत कम लोगों को प्राप्त था। वोटर होने के लिये सम्पत्ति तथा टैक्स आदि की अनेक शर्तें लगी हुई थीं, जिनके कारण २½ फी सदी जनता ही वोट का अधिकार रखती थी। १८८२ में मताधिकार को अधिक विस्तृत किया गया। सम्पत्ति की शर्त को ढीला किया गया और साथ ही प्रत्येक पुरुष को जो लिख-पढ़ सकता हो, वोट का अधिकार दिया गया। इस सुधार का परिणाम यह हुआ कि वोटरों की संख्या ६ लाख ८० हजार से बढ़कर २० लाख हो गई। परन्तु जनता इतने से भी संतुष्ट नहीं हुई। इस बात के लिये आन्दोलन होता रहा, कि पुरुष मात्र को वोट का अधिकार प्राप्त होना चाहिये। आखिर, १९१२ में यह व्यवस्था की गई कि ३० वर्ष से अधिक आयु के प्रत्येक पुरुष को वोट देने का हक हो, बशर्ते कि वह पढ़ना लिखना

जानता हो। ३० वर्ष से अधिक आयु के पुरुषों के लिये यह पढ़-लिख सकने की शर्त भी हटा दी गई। इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप वोटरों की संख्या ९० लाख हो गईं। इस समय में इटली की कुल आबादी ३$\frac{1}{2}$ करोड़ थी। स्त्रियों तथा बालकों को वोट का अधिकार न था। १९२० में मताधिकार के कानून में फिर सुधार किया गया, जिससे कि २० वर्ष से अधिक आयु के प्रत्येक पुरुष तथा स्त्री को वोट का अधिकार प्राप्त हुआ। सम्पत्ति व शिक्षा की सब शर्तें हटा दी गईं। इस प्रकार, धीरे धीरे इटली में पूर्णरूप से लोकतन्त्र शासन को स्थापित करने की ओर पग बढ़ाया गया।

इटली एक राष्ट्र तो बन चुका था, पर उसके निवासियों में राष्ट्रीयता की भावना अभी पूर्णतया विकसित नहीं हुई थी। सदियों तक इटली के विविध प्रदेशों के वासी अपने को टस्कन, रोमन, वेनेटियन, निओपोलिटन, पीडमौन्टीज़ आदि समझते आये थे। इटली के निवासियों में से इन संकीर्ण तथा प्रादेशिक भावों को निकाल सकना सुगम कार्य न था। इसमें सन्देह नहीं, कि सम्पूर्ण इटालियन लोगों में राष्ट्रीयता की भावना का कुछ कुछ विकास हो चुका था। नैपोलियन के एकच्छत्र शासन ने उन्हें राष्ट्रीयता का पाठ भली भाँति पढ़ा दिया था। बहुत से राज्यों ने मिलकर आस्ट्रिया का मुकाबला भी किया था। इससे भी उनमें परस्पर एकता का भाव उत्पन्न हो गया था। पर एक राष्ट्र के बनते ही फिर पुराने भेद प्रगट होने शुरू हो गये। इन प्रादेशिक भावों को इटली में बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ और धीरे धीरे नष्ट किया गया। इटालियन सरकार ने जिस ढंग से सम्पूर्ण देश का शासन किया, उससे सब लोगों ने अनुभव कर लिया कि एक संगठित राष्ट्र में रहने से ही सबका भला है। इटली में कौन कौन सी समस्यायें विद्यमान थीं और सरकार ने उन्हें सुलझाने का किस प्रकार प्रयत्न किया—इस विषय पर संक्षिप्त विचार जहाँ इटली की आधुनिक प्रगति

पर प्रकाश डालेगा, वहाँ यह भी स्पष्ट करेगा कि इस देश में राष्ट्रीय भावनायें किस प्रकार उन्नत तथा स्थिर हो गई हैं।

१८७० में इटली में ७० फी सदी लोग ऐसे थे, जो न पढ़ सकते थे और न लिख सकते थे। देशभक्त लोग भली भाँति अनुभव करते थे कि यह निरक्षरता नवीन इटालियन राष्ट्र पर एक बड़ा कलङ्क है। इस कलङ्क को दूर करने के लिये १८७७ में ठोस प्रयत्न प्रारम्भ हुआ। एक कानून पास किया गया, जिसके अनुसार ९ वर्ष की आयु तक के बालकों के लिये शिक्षा बाधित कर दी गई। पर शिक्षा को बाधित कर देने का कानून पास कर देने से ही काम नहीं चल सकता था। उस समय इटली में शिक्षणालयों की बहुत कमी थी, अध्यापक बहुत थोड़े थे और जो थे भी, उन्हें वेतन बहुत कम मिलता था। बाधित तथा मुफ्त शिक्षा जारी करने के लिये आवश्यक था कि रुपया प्राप्त किया जावे। पर लोग शिक्षा के प्रसार के लिये नये टैक्स लगवाना नहीं चाहते थे। इन सब दिक्कतों के बावजूद भी १९०१ में अशिक्षितों की संख्या ७० फी सदी से घटकर ५८ फी सदी रह गई। १९०४ में एक और कानून पास हुआ, जिसके अनुसार प्रत्येक ताल्लुके (Commune) में कम से कम एक शिक्षणालय जरूर हो—यह व्यवस्था की गई। साथ ही, बड़ी उमर के लोगों को पढ़ना-लिखना सिखाने के लिये ५००० रात्रि पाठशालायें खोली गईं। सिपाहियों को बाधित किया गया कि वे इन रात्रि पाठशालाओं में जाकर शिक्षा प्राप्त करें। १९०६ में ३००० नई इमारतें पाठशालाओं के लिये बनवाई गई। इन प्रयत्नों का परिणाम यह हुआ कि १९१४ में अशिक्षितों की संख्या केवल २५ फी सदी रह गई। १९१४ में इटली में कुल २१ विश्वविद्यालय थे, जिनमें २५ हजार विद्यार्थी उच्च शिक्षा प्राप्त करते थे। सरकारी बजट में १०½ करोड़ रुपया शिक्षा पर खर्च किया जाता था। अखबारों और पत्रिकाओं की दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि हो रही थी। १८००

से अधिक पुस्तकालय इटली में स्थापित थे। इस प्रकार इटली निरक्ष-रतारूपी कलङ्क को दूर करता हुआ अपने निवासियों को लोकतन्त्र शासन के योग्य बना रहा था।

इटली चाहता था कि यूरोपियन राज्यों में वह भी सम्मानास्पद स्थान प्राप्त करे। १६ वीं सदी में किसी देश के लिये सम्मानास्पद स्थान प्राप्त करने का अभिप्राय यही था कि उसकी सैनिक शक्ति बहुत उन्नत हो, अन्य देश उसका सिक्का मानें और वह विदेशी राजनीति-रूपी शतरंज में सफलता के साथ चालें चल सके। इसके लिये इटली में भी बाधित सैनिक सेवा की पद्धति को जारी किया गया। सेना का पुनः संगठन किया गया। नये जङ्गी जहाज बनाये गये। हथियारों से इटली को सुसज्जित करने के लिये जो कुछ भी सम्भव था, किया गया। इन सब उपायों द्वारा इटली को यूरोप में महत्त्वपूर्ण स्थान तो प्राप्त हो गया, पर इसके लिये उसे बड़ी महँगी कीमत देनी पड़ी। इटली का खर्च बहुत बढ़ गया। राष्ट्रीय बजट में घाटा रहने लगा। १८८७ में यह घाटा २५ करोड़ रुपये के लगभग पहुँच गया था। इसके बाद इस घाटे में निरन्तर वृद्धि ही होती गई।

सैनिक उन्नति तथा शिक्षा आदि अन्य कार्यों पर सरकार का इतना अधिक खर्च होने लगा कि उसे सामान्य करों द्वारा पूरा कर सकना असम्भव था। इटली ने राष्ट्रीय ऋण का आश्रय लिया। निर-न्तर नये नये ऋण लिये गये। परिणाम यह हुआ कि इटली का राष्ट्रीय ऋण असाधारण रूप से बढ़ गया। १६१४ में राष्ट्रीय ऋण की दृष्टि से इटली का सम्पूर्ण यूरोप में चौथा स्थान था। उसका ऋण अमेरिका की अपेक्षा ३½ गुना अधिक था। इस भारी राष्ट्रीय ऋण का सूद प्रति वर्ष सरकार को अदा करना पड़ता था। इस सूद को अदा करने के लिये, सरकार का सञ्चालन करने लिये, सेना की उन्नति तथा शिक्षा के प्रसार के लिये रुपया कहाँ से आता ? आखिर, सरकार ने

टैक्स बढ़ाने का निश्चय किया। कर के जो कोई भी साधन सम्भव थे, उन सबको प्रयोग में लाया गया। और तो और रहा, जीवन के लिये अनिवार्य वस्तुओं पर भी टैक्स लगाये गये। रोटी, खाँड, पनीर, तमाखू, नमक—कोई भी कर से न बच सका। इनके टैक्स का ज्यादा बोझ गरीब लोगों पर पड़ता था। जनता में असन्तोष बढ़ने लगा। आर्थिक उन्नति की दृष्टि से इटली अभी बहुत उन्नत नहीं था। व्यवसायों का विकास अभी बहुत कम हुआ था। अब इन नये करों के बोझ से जनता बहुत उद्विग्न हो गई। उनके पास आमदनी तो थी नहीं, कर उन्हें देने ही पड़ते थे। लोग निराश होकर क्रान्तिकारी उपायों का प्रयोग करने के लिये उद्यत हो गये। बहुत सी गुप्त समितियाँ संगठित हो गईं। सेना की उन्नति के लिये इटली की सरकार जो भारी रकम प्रति-वर्ष खर्च कर रही थी, वह देश की आर्थिक दशा को देखते हुए सर्वथा अनुचित थी। उस जमाने के देशभक्त तथा राजनीतिज्ञ लोकतन्त्र शासन तथा नई प्रवृत्तियों के प्रबल पक्षपाती होते हुए भी युद्ध के उपकरणों को बढ़ाने में ही अपने देश का कल्याण समझते थे। सरकार जनता के असन्तोष को दूर करने में समर्थ न हो सकी। क्रान्तिकारियों का जोर बढ़ता गया। २९ जुलाई, १९०० को इटली का राजा हुम्बर्ट प्रथम एक सार्वजनिक सभा में पारितोषिक वितरण कर रहा था, उस पर हमला किया गया। हुम्बर्ट मारा गया। जनता में असन्तोष कितना प्रचण्ड रूप धारण कर चुका था, यह इसका अच्छा उदाहरण है। आर्थिक दुर्दशा और असाधारण करों का एक, अन्य भी परिणाम हुआ। बहुत से लोग इटली छोड़कर विदेशों में जाकर बसने लगे। प्रतिवर्ष हजारों आदमी अमेरिका और अफ्रीका में जाने लगे। मनुष्यों का यह निर्यात कितना अधिक था, इसका अनुमान इससे हो सकता है कि १८७८ में ९६००० आदमी इटली छोड़कर बाहर चले गये। इसके बाद यह संख्या निरन्तर बढ़ती गई। १९०६ में ७८८००० आदमी

इटली से बाहर गये। हिसाब लगाया गया है, कि १६१० में ६० लाख इटालियन विदेशों में बसे हुए थे। इटालियन लोगों के इस प्रकार इतनी बड़ी संख्या में बाहर जाकर बस जाने से इटली को अनेक लाभ हुए। इटली का व्यापार इससे बहुत बढ़ा। बाहर गये हुए इटालियन लोग स्वाभाविक रूप से अपने देश का माल खरीदना पसन्द करते थे। ये लोग न केवल अपने देश का माल खरीद कर उसे लाभ पहुँचाते थे, पर साथ ही अपनी कमाई का बड़ा हिस्सा अपने परिवारों के पास इटली में भेजते रहते थे। करोड़ों रुपया प्रतिवर्ष इस ढंग से इटली पहुँचता था। इटली की आबादी भी इससे कम हो गई थी। जो लोग शेष रहे थे, वे अधिक मजदूरी प्राप्त करने में समर्थ हो गये। विदेशों में रहकर जो इटालियन वापिस लौटते थे, वे अपने साथ नवीन विचार, नवीन रहन-सहन तथा नये ढंगों को ले आते थे। इससे इटली को बहुत लाभ पहुँच रहा था। परन्तु जहाँ इस प्रकार इन बाहर गये आदमियों से इटली का फायदा हो रहा था, वहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि इससे सरकार की समस्या भी बढ़ती जाती थी। ये लोग नये विचारों को लेकर अपने देश को वापिस लौटते थे, अपने देश की आर्थिक दुर्दशा का अन्य देशों की उन्नति से मुकाबला करते थे। इनके कारण जनता में अपनी दुर्दशा का अनुभव होता था। सरकार इस बढ़ते हुए असन्तोष से बहुत अधिक चिन्तित रहती थी। साथ ही, इतने लोगों का अपने देश से बाहर चले जाना राष्ट्रीय दृष्टि से बहुत हानिकारक था। सेना को इससे हानि होती थी। आखिर, सरकार ने अनुभव किया कि अपने देश की व्यावसायिक उन्नति की ओर ध्यान दिये बिना काम न चलेगा। अगर इटालियन लोगों को अपने ही देश में उपयुक्त काम मिल जावे और लोग स्वदेश में ही सन्तोष के साथ निवास करें, तभी राष्ट्र की असली उन्नति होगी। इस बात को दृष्टि में रखकर इटालियन सरकार ने व्यावसायिक

उन्नति के लिये विशेष उद्योग किया। कल-कारखानों की वृद्धि की गई। व्यवसायों को सरकारी सहायता तथा प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। १८९७ से १९१४ तक कुल १७ वर्षों में इटली से बाहर जानेवाली व्यापारिक वस्तुओं की मात्रा तीन गुना बढ़ गई। देखते देखते इटली भी यूरोप के व्यवसायप्रधान देशों में गिना जाने लगा। रेशम की उत्पत्ति में इटली ने विशेष उन्नति की। संसार भर में कुल मिलाकर जितना रेशम पैदा होता था, उसका आधा अकेले इटली में होने लगा।

इस व्यावसायिक उन्नति का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि पूँजी और श्रम सम्बन्धी झगड़े इटली में भी प्रादुर्भूत हो गये। आर्थिक उत्पत्ति का प्रधान भाग पूँजीपति प्राप्त करते थे, श्रमियों की बहुत दुर्दशा थी। खानों तक में स्त्रियाँ और बच्चे कार्य करते थे। श्रमियों की इस दुर्दशा के कारण साम्यवादी आन्दोलकों ने अपना कार्य प्रारम्भ किया। मजदूरों के संगठन कायम किये गये। सरकार को बाधित होना पड़ा, कि मजदूरों की दशा को उन्नत करने के लिये उपायों का अवलम्बन करे। बीमारी, आकस्मिक दुर्घटना, वृद्धावस्था आदि में मजदूरों का आर्थिक प्रबन्ध करने के लिये बीमा कराने की व्यवस्था की गई। सहोद्योग समितियों को प्रोत्साहन दिया गया। मजदूरों के लाभ के लिये ये सब उपाय सरकार ने किये, पर इससे भी उनका असन्तोष दूर नहीं हुआ। कारण यह कि उनकी आमदनी बहुत कम थी, टैक्सों के कारण वे बहुत तंग थे। खाद्य पदार्थों पर टैक्स होने के कारण उनकी कीमत बहुत बढ़ी रहती थी, इससे गरीब मजदूर लोग और भी कष्ट पाते थे। ऐसी दशा में साम्यवाद का प्रसार बिलकुल स्वाभाविक और अवश्यम्भावी था। साम्यवादियों की प्रेरणा से स्थान स्थान पर मजदूरों ने विद्रोह किये। १८९८ में मिलान में भारी विद्रोह हुआ। दोनों तरफ से गलियों और बाजारों में बाकायदा लड़ाई हुई। बड़ी कठिनता से सेना का प्रयोग कर इस विद्रोह को शान्त किया गया।

मिलान की तरह अन्य व्यावसायिक केन्द्रों में भी समय समय पर दंगे होते रहे। बायकाट और हड़ताल का आश्रय लेकर मजदूर लोग निरन्तर अपने असन्तोष को प्रगट करते रहे। प्रतिनिधि सभा में भी साम्यवादियों का जोर बढ़ता गया। १९१३ में प्रतिनिधि सभा के सदस्यों में १९६ साम्यवादी दल के थे। १९१४ में मजदूर लोगों ने इटली भर में हड़ताल की उद्घोषणा की। दो दिन तक सारे देश का सम्पूर्ण कारोबार बन्द रहा। यह हड़ताल इतनी सफलता से हुई, कि पूँजीपति और पुराने ढंग के विचारक लोग घबरा गये। साम्यवाद और मजदूर आन्दोलन कितना गम्भीर रूप धारण कर चुका है, इसका उन्हें भली भाँति परिज्ञान हो गया। १९१४-१८ के यूरोपीय महायुद्ध ने इस साम्यवादी आन्दोलन को कुछ समय के लिये अन्यथासिद्ध सा कर दिया। पर महायुद्ध के समाप्त होते ही साम्यवादियों ने फिर सिर ऊँचा किया। इटली के आधुनिक इतिहास को भली भाँति समझने के लिये इस साम्यवादी आन्दोलन के प्रादुर्भाव पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है। इटली की आर्थिक दुर्दशा, सैनिक व्यय तथा भारी कर ही इसके विकास के प्रधान कारण थे।

इटली न केवल आन्तरिक दृष्टि से इस काल में निरन्तर उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा था, पर विदेशी राजनीति के क्षेत्र में भी उसका पर्याप्त प्रभाव था। इटली की विदेशी नीति को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—(१) इटली के जो प्रदेश अभी तक अन्य देशों के अधीन हैं, उन्हें अपनी अधीनता में लाना, और (२) औपनिवेशिक साम्राज्य की स्थापना। हम दोनों पर क्रमशः विचार करेंगे—

१८६० में इटली का संगठन भली भांति स्थापित हो चुका था। पर वह अभी पूर्ण नहीं हुआ था। अभी तक भी दस लाख के लगभग इटालियन ऐसे थे, जो अन्य विदेशी राज्यों के अधीन थे। नीस, सेवॉय और कोर्सीका के प्रदेश फ्रांस के अधीन थे। टिकिनो स्विट्जरलैण्ड के

अन्तर्गत था। ट्रेन्टीनो, ट्रिएस्ट, फियूम और डाल्मेटिया पर आस्ट्रिया-हंगरी का कब्जा था। माल्टा ब्रिटेन के अधीन था। इन सब प्रदेशों की जनता इटालियन जाति की थी और इटली की यह स्वाभाविक तथा समुचित आकांक्षा थी कि इन्हें अपने साथ सम्मिलित कर लिया जावे। इटालियन राष्ट्रवादी लोग युद्ध व शान्ति, जिस प्रकार भी संभव हो, इन प्रदेशों पर अपना आधिपत्य कायम करने के लिये कटिबद्ध थे। प्रत्येक राजनीतिक निर्वाचन के समय यह प्रश्न तीव्र रूप धारण कर लेता था और अनेक राजनीतिक दल इन प्रदेशों को इटली की अधीनता में लाने के प्रयत्न को अपने कार्यक्रम के रूप में जनता के सम्मुख पेश करते थे। गत यूरोपीय महायुद्ध के बाद इटली की यह आकांक्षा अनेक अंशों में पूर्ण हुई और ८६०० वर्गमील प्रदेश—जिसमें ६६ लाख के लगभग आदमी निवास करते थे—उसे प्राप्त हुए। अब राष्ट्रीयता की दृष्टि से इटली प्रायः पूर्ण राष्ट्र बन चुका है, और यूरोप के प्रायः सब इटालियन निवासी एक राष्ट्र में संगठित हो गये हैं।

इटालियन देशभक्त अपनी जाति के सब लोगों को ही एक सूत्र में नहीं बाँधना चाहते थे, अपितु साम्राज्य-विस्तार की भी वे प्रबल आकांक्षा रखते थे। इस जमाने में यूरोप के सभी उन्नतिशील राज्य साम्राज्य-वाद की बीमारी के शिकार थे। फ्रांस, जर्मनी और ब्रिटेन के समान इटली भी अफ्रीका में अपना विस्तार करने की चिन्ता में था। इटली के ठीक सामने भूमध्य सागर के पार ट्यूनिस का प्रदेश था। इटली की इस पर देर से आँख थी। पर फ्रांस भी इसे हड़प लेने की फिक्र में था। १८८२ में फ्रांस ने इस पर अपना कब्जा कर लिया, इटली देखता ही रह गया। इटली को यह बात बहुत बुरी लगी। फ्रांस के प्रति उसका विरोध बहुत बढ़ गया। इसी विरोध का फायदा उठा कर बिस्मार्क ने इटली को अपने साथ मिला लिया और जर्मनी,

आस्ट्रिया-हंगरी तथा इटली के प्रसिद्ध त्रिगुट का निर्माण हुआ। यह त्रिगुट १९१४ तक कायम रहा।

ट्यूनिस के मामले में इटली को नीचा देखना पड़ा, पर इससे वह निराश नहीं हुआ। अफ्रीका जैसे विशाल महाद्वीप में अन्य अनेक प्रदेश ऐसे विद्यमान थे, जिन पर वह सुगमता से अपना कब्जा कायम कर सका। १८९३ में एरेट्रिया और सोमालिलैण्ड के प्रदेश इटली के अधिकार में आ गये। १९११ में इटली ने ट्रिपोली पर कब्जा किया। यह प्रदेश पहले टर्की के अधीन था। टर्की से युद्ध करके यह प्रदेश प्राप्त किया गया। अफ्रीका के अतिरिक्त एशिया में भी इटली अपना प्रभाव बढ़ा रहा था। १९०० में बक्सर युद्ध के अनन्तर इटली ने भी चीन में अपना प्रभावक्षेत्र उत्पन्न किया। इस प्रकार साम्राज्यवाद के क्षेत्र में इटली भी पर्याप्त प्रयत्नशील था। इसी का परिणाम हुआ कि आगे चलकर इटली का औपनिवेशिक साम्राज्य उसके अपने परिमाण से छः गुणा बड़ा हो गया और संसार के साम्राज्यों में चौथा स्थान उसे प्राप्त हुआ।

बत्तीसवाँ अध्याय

रशिया में नवयुग का प्रारम्भ

(१) एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन

अलेक्जराडर प्रथम—नैपोलियन के पतन में रशिया के जार अलेक्जराडर प्रथम का बड़ा हाथ था। वीएना की कांग्रेस में यूरोप के जो महान् राजनीतिज्ञ इकट्ठे हुए थे, अलेक्जराडर उनमें बहुत ऊँचा स्थान रखता था और 'पवित्र मित्रमराडल' का विचार उसी के दिमाग से उत्पन्न हुआ था। इसमें सन्देह नहीं, कि शुरू में अलेक्जराडर उदार विचारों का पक्षपाती था। उसकी शिक्षा ला हार्प नामक उदार स्विस विद्वान की संरक्षा में हुई थी और फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने उस पर बहुत प्रभाव डाला था। नैपोलियन का वह बड़ा आदर करता था। यदि अलेक्जराडर अपने विचारों को क्रिया में परिणत कर सकता, तो रशिया अब से बहुत पहले एक उन्नत देश बन जाता। पर अलेक्जराडर में एक बड़ी कमजोरी थी। उसकी प्रकृति स्थिर नहीं थी। धीरे-धीरे उस पर मेटरनिख के जादू ने असर करना शुरू किया और वह अपने उदार विचारों को सर्वथा भूल कर स्वेच्छाचारी शासन का बड़ा भारी पक्षपाती बन गया। सन् १८२० में अलेक्जराडर की फौज में एक मामूली सा विद्रोह हुआ। इससे वह इतना परेशान हुआ, कि अपने उदार विचारों का प्रचराड विरोधी बन गया। उसका यह दृढ़ विश्वास

हो गया कि स्वतन्त्रता और उदार विचार धर्म, व्यवस्था और समाज के घोर शत्रु हैं और संसार में शान्ति कायम रखने का एकमात्र उपाय यही है कि स्वतन्त्रता के भावों को कुचलने के लिये कोई भी कसर बाकी न रखी जावे। इसके बाद से अलेक्जएडर क्रान्ति की भावनाओं को कुचलने में मेटरनिख का प्रधान सहायक हो गया।

रशिया की समस्यायें—अलेक्जएडर के विशाल रशियन साम्राज्य में किसी एक जाति का निवास न था। उसमें विविध भाषाओं को बोलने वाले अनेक जातियों के लोग बसते थे। रशियन लोगों के अतिरिक्त उसमें मुख्यतया फिन, जर्मन, पोल, यहूदी, तार्तार, आर्मीनियन, ज्यार्जियन और मंगोलियन जातियाँ निवास करती थीं। इस प्रकार रशिया में भी दो मुख्य समस्यायें थीं। एक राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की और दूसरी लोकतन्त्र शासन स्थापित करने की। फिन, जर्मन, पोल आदि जातियों में राष्ट्रीय भावना उत्पन्न हो रही थी और वे इस बात को अनुभव करने लगी थीं, कि रशियन लोग विदेशी हैं और हमें विदेशियों के शासन में नहीं रहना चाहिये। विशाल रशियन साम्राज्य में रशियन भाषा ही सर्वत्र प्रयुक्त होती थी, शिक्षणालयों में सब जगह रशियन भाषा पढ़ाई जाती थी। इस बात को अन्य जातियों के लोग सहन नहीं कर सकते थे। फ्रांस की राज्यक्रान्ति द्वारा राष्ट्रीय भावना की जो लहर शुरू हुई थी, वह रशियन साम्राज्य में बसने वाली इन विविध जातियों पर भी प्रभाव डाल रही थी, और ये भी अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये हाथ पैर पटकने लगी थीं। दूसरी समस्या लोकतन्त्र शासन स्थापित करने की थी। रशिया का शासन पूर्णतया एकतन्त्र और स्वेच्छाचार से युक्त था। राजा (जार) जो चाहता था, करता था। वह जिसे चाहता, मन्त्री व राजकर्मचारी बनाता, जिसे चाहता अपने पद से बर्खास्त कर देता। कोई लोकसभा या प्रतिनिधि सभा उस समय रशिया में नहीं थी। रशिया के बहुत से देशभक्त इस दुर्दशा का अनुभव

कर रहे थे और अपने देश में भी लोकतन्त्र शासन स्थापित कर जनता को स्वतन्त्र करने का स्वप्न ले रहे थे। जार ने इन नये उदार विचारों को कुचलने के लिये शक्ति भर कोशिश की। अखबारों पर कड़ी निगाह रखी गई। यूनिवर्सिटियों में नवीन विज्ञानों का पढ़ाना रोक दिया गया। जो प्रोफेसर उदार व स्वतन्त्र विचारों के पक्षपाती थे, उन्हें निकाल दिया गया।

गुप्तसमितियों का प्रारम्भ—पर इन सब उपायों के प्रयुक्त करने पर भी रशियन साम्राज्य में उदार विचारों का प्रवेश रुका नहीं। धीरे-धीरे रशिया में अनेक स्थानों पर गुप्तसमितियों का संगठन शुरू हुआ। जब रशियन देशभक्तों के लिये खुले तौर पर कार्य कर सकना सम्भव न रहा, तो उन्होंने गुप्त उपायों का आश्रय लिया और वे षड्यन्त्र तैयार करने में लग गये।

प्रथम विद्रोह—एक दिसम्बर सन् १८२५ को अलेक्जण्डर प्रथम (१८०१-१८२५) की मृत्यु हुई। क्रान्तिकारी गुप्तसमितियों ने इस अवसर का पूर्णतया उपयोग किया। अलेक्जण्डर के मरते ही उन्होंने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। अनेक स्थानों पर जनता ने विद्रोह किया। पर क्रान्तिकारियों की शक्ति अभी बहुत न्यून थी। उन्हें कुचलने में जरा भी समय न लगा। अनेक क्रांतिकारी नेताओं को प्राण दण्ड मिला और जनता में आतंक जमाने के लिये अनेकविध उपायों को प्रयोग में लाया गया।

निकोलस प्रथम और उसकी नीति—अलेक्जण्डर के बाद उसका लड़का निकोलस प्रथम रशियन साम्राज्य का जार (सम्राट्) बना। राजगद्दी पर बैठते ही जो विद्रोह हुआ था, उसके कारण निकोलस प्रथम की नीति बहुत कठोर तथा क्रूर हो गई थी। उसका यह दृढ़ विश्वास हो गया था, कि पश्चिमी यूरोप की स्वतन्त्रतायुक्त वायु का प्रवेश रशिया में किसी भी भाँति न होना चाहिये। इसके

लिये उसने बड़े कठोर उपायों का आश्रय लिया। उसने आज्ञा दी कि कोई भी यात्री बाहर से रशिया में प्रवेश न कर सके। इसी तरह कोई भी रशियन नागरिक अनुमति के बिना देश से बाहर यात्रा, व्यापार, अध्ययन या अन्य किसी कार्य पर न जा सके। जो पुस्तकें बाहर से रशिया में आती थीं, उनके निरीक्षण का पूरा प्रबन्ध किया गया। जिनमें नवीन विचारों या विज्ञानों का आभास भी पाया जाता था, उन्हें रशिया में प्रविष्ट न होने दिया जाता था। बहुत से गुप्तचर यूनिवर्सिटी, अखबार, प्रेस, थियेटर आदि का निरीक्षण करने के लिये विशेषरूप से नियत किये गये, ताकि उनमें कहीं नवीन विचार प्रविष्ट न हो जावें। गुप्तचरों को इस बात का पूरा अधिकार दे दिया गया, कि वे जिस व्यक्ति को चाहें गिरफ्तार कर सकें।

पोल विद्रोह—निकोलस प्रथम ने अपने विशाल साम्राज्य में क्रान्ति की प्रवृत्तियों को कुचलने के लिये जो कुछ भी सम्भव था, किया। पर उसे पूर्णतया सफलता नहीं हुई। सन् १८३० में जब फ्रांस से क्रान्ति की लहर एक बार फिर प्रारम्भ हुई, तो उसका असर रशिया पर भी पड़ा। पोल लोगों ने वारसा में विद्रोह कर दिया। रशियन कर्मचारी निकाल कर बाहर कर दिये गये। वारसा पर क्रान्तिकारियों का कब्जा हो गया। सामयिक सरकार की स्थापना कर ली गई और पोल लोगों ने २५ जनवरी १८३१ को अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को उद्घोषित कर दिया। पर पोलैण्ड अपनी स्वाधीनता को देर तक कायम नहीं रख सका। शीघ्र ही रशियन सेनाओं ने उस पर आक्रमण किया। पोल लोग शक्तिशाली रशियन सेना का मुकाबला नहीं कर सके। वे परास्त हो गये। पोल लोगों पर भयंकर अत्याचार किये गये। ४५ हजार पोल परिवारों को अपने देश से बहिष्कृत कर कोकेशस के पहाड़ों पर केवल इसलिये भेज दिया गया, ताकि पोल लोगों में अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का स्वप्न ही नष्ट हो जावे। नवीन भावनाओं ने जो दूसरा प्रयत्न

रशिया के विशाल साम्राज्य में किया, वह भी निकोलस के हाथों द्वारा बुरी तरह कुचल दिया गया।

रशियन चर्च—जार के एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन में रशिया का चर्च उसका प्रधान सहायक था। रशियन साम्राज्य में ईसाई धर्म का प्रचार कोन्स्टेन्टिनोपल के पादरियों द्वारा हुआ था। मध्य काल में ईसाई धर्म के दो मुख्य संगठन थे। एक रोमन कैथोलिक चर्च, जिसका केन्द्र रोम था, दूसरा ग्रीक कैथोलिक चर्च, जिसका केन्द्र कोन्स्टेन्टिनोपल था। क्योंकि रशिया में ईसाइयत का प्रचार कोन्स्टेन्टिनोपल के पादरियों द्वारा हुआ था, अतः यह स्वाभाविक था कि वह ग्रीक कैथोलिक चर्च के संगठन के अन्तर्गत रहे। कई सदियों तक यह अवस्था कायम रही और रशिया के ईसाई कोन्स्टेन्टिनोपल के पेट्रिआर्क को अपना धार्मिक नेता मानते रहे। जिस प्रकार रोमन कैथोलिक चर्च के मुखिया को पोप कहते थे, उसी तरह ग्रीक कैथोलिक चर्च के मुखिया को पेट्रिआर्क कहा जाता था। पन्द्रहवीं सदी में कोन्स्टेन्टिनोपल को तुर्क आक्रान्ताओं ने जीत लिया। तुर्क लोग मुसलमान थे। उस समय से ग्रीक कैथोलिक चर्च का केन्द्र कोन्स्टेन्टिनोपल नहीं रह सका। रशिया के सम्राटों को खयाल आया कि ग्रीक कैथोलिक चर्च में जो स्थान पहले कोन्स्टेन्टिनोपल के पेट्रिआर्क का था, वह अब हमारा होना चाहिये। उस समय से रशिया के जार ही वहाँ चर्च के भी अधिपति हो गये। चर्च राज्य का ही एक अंग बन गया। इस समय जब सम्पूर्ण यूरोप में स्वतन्त्रता की लहर चल रही थी, और लोग धार्मिक मामलों में भी अपने विचारों को स्वाधीन रखना चाहते थे, यह सर्वथा स्वाभाविक था कि रशियन लोगों में भी धार्मिक स्वतन्त्रता के भाव उत्पन्न हों और वे अपने को सरकारी चर्च की अधीनता से मुक्त करने का प्रयत्न करें। ज़ार इस प्रवृत्ति को बड़ी चिन्ता की निगाह से देखता था। उसका यह विश्वास था, कि रशिया में एकता स्थापित रखने के लिये यह आवश्यक है, कि

रशियन चर्च की भी रक्षा की जाय और उसके सब मन्तव्यों को अक्षुएण रखा जाय। इसलिये निकोलस प्रथम ने रोमन कैथोलिक, प्रोटेस्टेन्ट, यहूदी आदि विधर्मियों पर कठोर अत्याचार किये। जो आदमी रशियन चर्च को छोड़ता था, उसे दण्ड दिया जाता था और अनेक प्रकार से इस बात का प्रयत्न किया जाता था, कि सरकारी चर्च का प्राधान्य अक्षुएण रूप से बना रहे और उसके विरुद्ध कोई विद्रोह न हो।

क्रीमियन युद्ध—निकोलस प्रथम ने जहाँ अपने साम्राज्य में नवीन भावनाओं को कुचलने का पूरा प्रयत्न किया, वहाँ अपनी शक्ति को बढ़ाने की तरफ भी पूरा ध्यान दिया। वह प्रबल साम्राज्यवादी था। उसने बालकन प्रायद्वीप की ईसाई जनता का पक्ष लेकर तुर्की साम्राज्य के मामलों में हस्तक्षेप करना शुरू किया। उसकी इस नीति को ग्रेट ब्रिटेन न सह सका। परिणाम यह हुआ कि दोनों राज्यों में युद्ध शुरू हो गया, जो इतिहास में क्रीमियन युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। इस युद्ध पर हम एक अन्य अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

अभी क्रीमियन युद्ध समाप्त नहीं हुआ था, कि सन् १८५५ में निकोलस प्रथम की मृत्यु हो गई।

(२) सुधारों का प्रारम्भ

निकोलस प्रथम के बाद अलेक्जएडर द्वितीय रूस का सम्राट् बना। उसका शासन काल १८५५ से १८८१ तक है। जब वह राजगद्दी पर बैठा, तो क्रीमियन युद्ध जारी था और उसमें रशिया की निरन्तर पराजय हो रही थी। लोग इस बात को बड़ी तीव्रता से अनुभव कर रहे थे कि जारशाही का एकतन्त्र और स्वेच्छाचारी शासन कितना विकृत और दोषपूर्ण है। सुधारों की आवश्यकता सर्वत्र अनुभव की जा रही थी। जार अलेक्जएडर द्वितीय भी अपने साम्राज्य की असली हालत से

अपरिचित न था। वह बहुत समझदार तथा चाणाक्ष आदमी था। उसने इस बात को भली भाँति समझ लिया कि सुधारों के बिना रशिया का उद्धार सम्भव नहीं है। उसने अपनी सहायता के लिये जो मन्त्री नियत किये, वे भी बुद्धिमान् और समय के अनुसार कार्य करने वाले थे। यही कारण है, कि अलेक्जगडर द्वितीय के शासन काल में रशिया में बहुत से महत्त्वपूर्ण सुधार हुए, जिनके कारण उसकी दशा में बहुत परिवर्तन आ गया।

रशियन साम्राज्य में सर्वसाधारण जनता की दशा बहुत शोचनीय थी। यूरोप के अन्य देशों में इस समय तक दासप्रथा या भूमिदास प्रथा (Serfdom) का अन्त हो चुका था। पर रशिया के आधे के लगभग निवासी उन्नीसवीं सदी में भी इन प्रथाओं के शिकार थे। एक लेखक ने हिसाब लगाया है कि सन् १८६० में रशिया में भूमिदासों की संख्या चार करोड़ सत्तर लाख थी। रशिया की सम्पूर्ण भूमि जार या अन्य कुलीन सरदारों की मल्कियत थी। इन जमीनों पर खेती का काम स्वतन्त्र किसान लोग नहीं करते थे। स्वतन्त्र किसान उस समय रशिया में थे ही नहीं। जमींदारों की जागीरें दो भागों में बटी होती थीं, एक, जिसकी पैदावार पर जमींदार का हक होता था और दूसरी जिसकी पैदावार से किसान (जो स्वतन्त्र न होकर भूमिदास के रूप में रहता था) अपना गुजारा करता था। जमींदार के हिस्से वाली जमीन को किसान लोग बिलकुल मुफ्त में जोतते बोते थे। सप्ताह में तीन दिन उन्हें अपने जमींदार की जमीन की खेती पर लगाने पड़ते थे। इस श्रम के बदले में उन्हें कुछ भी उजरत नहीं दी जाती थी। किसान लोग अपने मालिक की जमीन को छोड़कर कहीं अन्यत्र नहीं जा सकते थे। जब जमींदार अपनी जमीन को बेचता, तो उसके साथ ही उसके किसानों को भी बेच देता था, जैसे कि जमीन पर बने हुए मकान साथ में ही बेच दिये जाते हैं। किसान की स्त्री,

बच्चे, पशु आदि पर भी जमींदार का अपरिमित अधिकार होता था। जमींदार जब चाहे अपने किसानों को पीट सकता था, उन पर कोड़े बरसा सकता था। जमींदार के सम्मुख वे बिलकुल बेबस होते थे। रूस के किसानों की दशा दासों से कुछ ही अच्छी थी। वे अभी अर्ध-दास के रूप में विद्यमान थे।

रशिया के किसान अपनी इस दुर्दशा को सहन नहीं कर सकते थे। अनेक बार उन्होंने विद्रोह किये। निकोलस प्रथम के समय में ५०० से ज्यादा किसान-विद्रोह हुए। उन्हें बड़ी क्रूरता के साथ कुचला गया। पर अत्याचारों से किसान-विद्रोह घटने के स्थान पर निरन्तर बढ़ते ही जा रहे थे। अलेक्जण्डर द्वितीय के समय में किसानों की समस्या इतना विकट रूप धारण कर चुकी थी, कि उसे बाधित होकर उनकी तरफ ध्यान देना पड़ा। इसी समय अमेरिका में दास प्रथा का अन्त करने के लिये घोर आन्दोलन चल रहा था। १८६१ में दास प्रथा के प्रश्न पर ही वहाँ गृह कलह का प्रारम्भ हुआ, जिसके द्वारा अब्राहम लिन्कन ने इस घृणित प्रथा की समाप्ति की। रशिया में अलेक्जण्डर द्वितीय ने वही कार्य किया, जो अब्राहम लिन्कन ने अमेरिका में किया था। तीन मार्च १८६१ के दिन उसने एक उद्घोषणा प्रकाशित की, जिसके द्वारा किसानों को दासता से मुक्त किया गया। इस उद्घोषणा द्वारा यह व्यवस्था की गई, कि जमींदारों की जमीनों का एक हिस्सा तो उनकी ही मल्कियत रहे, पर दूसरा हिस्सा उनकी मल्कियत में न रहकर किसानों के पास चला जावे। इसके लिये जमींदारों को कीमत अदा करने की व्यवस्था की गई, क्योंकि जार जमींदारों को नाराज नहीं करना चाहता था। उस समय तो जमीन की कीमत सरकार की ओर से अदा कर दी गई, पर यह व्यवस्था की गई कि इस कीमत को वार्षिक किस्तों में किसानों से वसूल किया जावे। किसानों को अपनी जमीनों की मालगुजारी तो देनी ही थी, अब उसके साथ में

जमीन की कीमत की वार्षिक किस्त और देनी पड़ी। इससे उन पर टैक्स का बोझ बहुत बढ़ गया। उन्हें अपनी स्वतन्त्रता की कीमत स्वयं अदा करनी पड़ी। स्वतन्त्रता की यह कीमत किसानों के लिये बहुत महँगी पड़ी। वे टैक्सों के बोझ से बहुत बुरी तरह दब गये।

जमींदारों से जो जमीनें किसानों के लिये ली गई थीं, वे वैयक्तिक रूप से किसानों के सुपुर्द नहीं कर दी गई थीं। उसे ग्राम पञ्चायतों के, जिन्हें रूस में 'मीर' कहा जाता था, अधीन किया गया था। मीर में विविध परिवारों के मुखिया सम्मिलित होते थे। जमींदारों से कीमत द्वारा खरीदी गई जमीनें मीर के अधीन कर दी गई थीं और पञ्चायतें ही इस बात का फैसला करती थीं कि अपनी जमीनों को किसानों में किस तरह बाँटा जावे, उनमें क्या फसलें बोई जावें या अन्य व्यवस्थायें किस प्रकार की जावें। पञ्चायत द्वारा जो जमीन जिस किसान को मिलती थी, वह उसकी मालगुजारी के अतिरिक्त उसकी कीमत की वार्षिक किस्त भी साथ में अदा करता था।

अलेक्जण्डर द्वितीय ने रशिया के शासन में और भी बहुत से महत्त्वपूर्ण सुधार किये। न्याय-विभाग को बाकायदा संगठित किया गया। नवीन दण्ड-विधान तैयार कर यह व्यवस्था की गई, कि सम्पूर्ण न्यायालयों में उसी के अनुसार निर्णय किये जावें। अखबार, प्रेस, यूनिवर्सिटी आदि पर जो कठोर निरीक्षण था, उसे भी ढीला किया गया। शिक्षा के विस्तार के लिये भी कोशिश की गई। अलेक्जण्डर द्वितीय के इन प्रयत्नों से ऐसा प्रतीत होता था, कि रशिया शीघ्र ही अन्य यूरोपियन देशों का समकक्ष हो जावेगा।

पर अलेक्जण्डर द्वितीय देर तक अपनी इस उदार और उन्नतिशील नीति पर दृढ़ नहीं रहा। सन् १८६३ में पोलैण्ड में फिर विद्रोह हुआ। इस बार भी विद्रोहियों को अपने प्रयत्न में सफलता न हो सकी। यद्यपि पोल देशभक्त तो अपनी आकांक्षा में सफल नहीं हुए, पर उनके

विद्रोह का अलेक्जराडर द्वितीय की नीति पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसके विचारों में बड़ा भारी परिवर्तन हुआ और उसे यह विश्वास हो गया कि उदार नीति का अवलम्बन करने से क्रान्ति की प्रवृत्तियों को उत्तेजना मिलती है। उसने अपनी उदार नीति का परित्याग कर निकोलस प्रथम का अनुसरण किया और जनता पर घोर अत्याचार करने प्रारम्भ किये। रूस में फिर से गुप्तचरों का बोलबाला हो गया। शिक्षणालयों, पुस्तकों और अखबारों पर फिर कड़ा निरीक्षण शुरू हुआ। जिन लोगों पर राजनीतिक आन्दोलनों में शामिल होने का सन्देह होता था, उन्हें फिर हजारों की संख्या में गिरफ्तार किया जाने लगा।

इस समय रशिया में सर्वसाधारण जनता के अन्दर बहुत से आन्दोलन चल रहे थे। यद्यपि जारशाही के कर्मचारी नये विचारों को रोकने के लिये जी जान से कोशिश में लगे थे, पर नवीन विचार हवा की तरह होते हैं, जिन्हें रोक सकना बहुत कठिन होता है। फ्रांस में राज्यक्रान्ति से पहले जिस तरह अनेक सुधारक और विचारक जनता के विचारों में परिवर्तन ला रहे थे, इसी तरह अब रशिया में भी अनेक लोग नये विचारों को फैला रहे थे। रशिया में इन नवीन विचारकों को निहिलिस्ट कहते थे। निहिलिस्ट लोग रशिया में जहाँ कहीं भी अन्याय, अत्याचार और कुरीतियों को देखते थे, वहीं उसके खिलाफ आवाज उठाते थे। राज्य का स्वेच्छाचारी शासन, चर्च का धर्मान्ध स्वरूप और पुराणी प्रथाओं की अनुचित दासता उन्हें समानरूप से असह्य थीं। वे रशिया में नवयुग लाना चाहते थे। वे मनुष्यों को कहते थे, अपनी अकल से काम लो और समाज की रचना बुद्धि पूर्वक सोच समझ कर करो।

शुरू शुरू में निहिलिस्ट आन्दोलन बिलकुल शान्तिमय था। पर जारशाही के कर्मचारी इस क्रान्तिकारी आन्दोलन को सहन नहीं कर सकते थे। उन्होंने निहिलिस्ट नेताओं को गिरफ्तार करना शुरू किया।

शीघ्र ही रशिया की जेलें निहिलिस्ट लोगों से भर गईं। बहुत से लोगों को साइबीरिया भी भेजा गया। जार और उसके कर्मचारी किसी भी तरह की उन्नति व किसी भी प्रकार के नवीन विचार को सहन नहीं कर सकते थे। नया विचार या नवीन भावना उनकी निगाह में उतना ही भयंकर अपराध था, जैसा कि किसी को कतल करना। रशियन सरकार के इन अत्याचारों का यह परिणाम हुआ कि शान्तिमय आन्दोलन सफल न हो सका। निराश होकर लोगों ने गुप्त उपायों का प्रयोग करना शुरू किया। जिस समय शक्ति से उन्मत्त सरकार जनता को शान्ति के साथ उन्नति नहीं करने देती, तो यह होना बिलकुल स्वाभाविक होता है। रशिया के बहुत से नययुवकों को अब यह विश्वास हो गया, कि सरकारी आतंक का मुकाबला आतंक से ही करना चाहिये। जनता में सुधार और लोकतन्त्र शासन के लिये कितनी उत्कट आकांक्षा विद्यमान है, इसे प्रदर्शित करने का एक ही उपाय लोगों के पास रह गया, और वह यह कि वे खूनखराबी, हिंसा और शारीरिक शक्ति का प्रयोग करें और इस तरह सरकार तथा संसार का ध्यान अपनी ओर खींचे। रशिया के सैकड़ों नवयुवक आतंकवाद और खूनखराबी की तरफ इस समय जो इतनी तेजी से खिंचने लगे, उसका कारण यह नहीं था कि उन्हें खून बहाने का शौक था या उन्हें मनुष्य जाति से घृणा थी। इसका एकमात्र कारण यह था, कि उनकी सम्मति में अपनी मातृभूमि को बन्धनों और अत्याचारों से मुक्त करने का अन्य कोई उपाय न था। वे अपनी ओर से अपने देश की उन्नति के लिये बड़ी से बड़ी कुर्बानी कर रहे थे।

उधर सरकार क्रान्तिकारी लोगों पर भयंकर अत्याचार कर रही थी, इधर क्रान्तिकारी भी चुप नहीं बैठे थे। जार को मारने के लिये अनेक प्रयत्न किये गये। जार की स्पेशल ट्रेन को उड़ाने की कोशिश की गई। सेएट पीटर्सबुर्ग में जिस प्रासाद में जार रहता था, उसे एक

क्रान्तिकारी ने बारूद से उड़ा दिया। यह क्रान्तिकारी तरखान के रूप में राजप्रासाद में नौकरी करता था, और मौका पाकर उसने यह भयंकर काण्ड किया था। पर जार को कतल करने के ये सब प्रयत्न व्यर्थ गये। क्रान्तिकारियों का संगठन बड़ा दृढ़ था। हथियार तैयार करने के उनके अपने कारखाने थे। वे अपने पृथक् गुप्तचर रखते थे। क्रान्तिकारी दल के प्रत्येक सदस्य को अपने अधिकारियों की आज्ञाओं का आँख मींचकर पालन करना आवश्यक था। अपने दृढ़ संगठन के कारण उन्हें अनेक स्थानों पर सफलता भी हुई। कुछ ही समय में जार के छः उच्च पदाधिकारी और नौ सरकारी गुप्तचर क्रान्तिकारियों द्वारा कतल कर दिये गये। इन कतलों के कारण रशिया में बड़ी हलचल मची। आखिर, जार को विवश होकर यह स्वीकृत करना पड़ा कि शासन व्यवस्था में सुधार किये बिना कार्य चल सकना असम्भव है। एक नवीन शासन-विधान तैयार किया गया, जिसमें जनता को अनेक महत्त्वपूर्ण अधिकार दिये गये। जार ने अभी इस नये शासन-विधान पर हस्ताक्षर किये ही थे, कि १३ मार्च १८८१ के दिन क्रान्तिकारियों ने उसे भी कतल कर दिया।

अलेक्जण्डर द्वितीय की मृत्यु के बाद उसका लड़का अलेक्जण्डर तृतीय रशिया का जार बना। उसका शासन काल १८८१ से १८९४ तक है। अलेक्जण्डर द्वितीय के कतल से वे सुधार, जिन पर उसने अपनी कतल से कुछ घण्टे पहले ही हस्ताक्षर किये थे, ऐसे ही रखे रह गये। उन्हें क्रिया में परिणत नहीं किया गया। अलेक्जण्डर तृतीय के शासन में भी क्रान्तिकारियों को कुचलने के लिये भरपूर कोशिश की गई। जनता पर कठोर से कठोर अत्याचार किये गये। रशिया की जेलें सदा राजनीतिक कैदियों से पूर्ण रहती थीं। सैकड़ों हजारों क्रान्तिकारियों को साइबीरिया भेज दिया गया था। लोगों पर कोड़े भी इस समय खुले तौर निर्दयता के साथ लगाये जाते थे।

अलेक्जण्डर तृतीय भी निकोलस प्रथम का अनुयायी था। उसका मन्तव्य था कि स्वतन्त्रता और नई भावनाओं का एक ही परिणाम हो सकता है, और वह यह कि राष्ट्र नष्ट हो जावे।

उन्नीसवीं सदी में रशिया में राजा और प्रजा का यह भयंकर संघर्ष निरन्तर जारी रहा। यदि रशिया के शासक जनता के साथ कुछ भी सहानुभूति का बर्ताव करते और लोगों की माँगों को इस प्रकार निर्दयता पूर्वक न कुचलते, तो क्रान्तिकारी आतंकवादी दल वहाँ इतना प्रबल कभी न होने पाता। रशिया के नवयुवकों के सम्मुख अपनी शिकायतों को पेश करने का जब अन्य कोई उपाय न रहा, तो उन्होंने विवश होकर इन उपायों का अवलम्बन किया। उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता के लिये जो भयंकर कष्ट उठाये, वे इतिहास में वस्तुतः अद्वितीय हैं।

इस काल में रशिया में बहुत से ऐसे साहित्यसेवी और लेखक उत्पन्न हुए, जिन्होंने देश में नवीन भावनाओं का प्रसार करने में बड़ी सहायता की। तुर्गनेव, पुशकिन, टोल्सटाय और दोस्तोईवस्की इनमें सबसे मुख्य हैं। तुर्गनेव बड़ा भारी उपन्यास लेखक था। उसने अपने उपन्यासों में रशियन किसानों की दुर्दशा का जो मार्मिक वर्णन किया है, उससे विचारशील लोगों का ध्यान उनकी तरफ आकृष्ट हुआ। किसानों को दासता से मुक्त करने के लिये जो कानून अलेक्जण्डर द्वितीय के समय में बने, उनमें तुर्गनेव के उपन्यास बहुत सहायक हुए। पुशकिन बड़ा भारी कवि था। उसकी कविताओं ने रशिया में नवजीवन का संचार किया। दोस्तोईवस्की क्रान्तिकारी दल का एक नेता था। उसे आजन्म साइबीरिया निवास का दण्ड मिला था। उसने अपने ग्रन्थों में रशिया की आत्मा को संसार के सम्मुख रखा है। रशिया की समस्याओं का जितना सुन्दर वर्णन उसके ग्रन्थों में मिलता है, उतना अन्यत्र मिलना कठिन है। लिओ टोल्सटाय अपने समय के

सबसे बड़े साहित्यसेवियों में एक था। सारा संसार उसकी प्रतिभा का सिक्का मानता है। उसने अपनी कहानियों और उपन्यासों में निष्क्रिय प्रतिरोध के सिद्धान्त का बड़ी प्रबलता के साथ प्रतिपादन किया है। उसने अपने ग्रन्थों के द्वारा एक नवीन विचार सरणी भी दुनिया के सम्मुख रखी है।

यद्यपि रशिया में अभी शासन-सुधार नहीं हुए थे, वहाँ की राजनीतिक संस्थायें अभी सोलहवीं सदी से आगे नहीं बढ़ी थीं; पर इन लेखकों और क्रान्तिकारियों के प्रयत्नों से रशिया की जनता बहुत आगे बढ़ चुकी थी।

(३) स्वाधीनता के लिये घोर संघर्ष

अलेक्जण्डर तृतीय की मृत्यु के पश्चात् उसका लड़का निकोलस द्वितीय रशिया का सम्राट् बना। राजगद्दी पर बैठते समय उसकी आयु केवल २६ साल की थी। उसे उत्तम शिक्षा दी गई थी और वह सारे संसार का भ्रमण कर चुका था। लोगों को आशा थी कि वह अपने पिता और पितामह की नीति का अनुसरण न कर समय की गति पर ध्यान देगा और रशिया की समस्याओं पर उदार दृष्टि से विचार करेगा। पर शीघ्र ही निकोलस द्वितीय ने लोगों के भ्रम को दूर कर दिया। राजगद्दी पर बैठने के कुछ दिन बाद ही उसने एक विज्ञप्ति प्रकाशित की, जिसमें उद्घोषित किया गया कि "सब को यह भलीभाँति समझ लेना चाहिये, कि मैं अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को जनता की भलाई के लिये लगाऊँगा, पर एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन के सिद्धान्त का मैं वैसे ही दृढ़ता के साथ अनुसरण करूँगा, जैसे कि मेरे पूर्वज करते आये हैं।"

निकोलस द्वितीय ने एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन के सिद्धान्त का दृढ़ता के साथ अनुसरण करने के लिये प्रेस और पुस्तकों पर सरकारी

निरीक्षण और भी कठोर कर दिया। जिन पुस्तकों में उदार विचारों की जरा भी गन्ध आती थी, उन्हें जब्त करने का हुकुम जारी किया गया। अकेली एक विज्ञप्ति द्वारा दो सौ से अधिक पुस्तकें जब्त की गईं, जिनमें मिल का अर्थशास्त्र, ग्रीन का इङ्गलैण्ड का इतिहास और ब्राइस का अमेरिकन कामनवेल्थ जैसी पुस्तकें भी शामिल की गई थीं। अध्यापक लोग स्कूलों और कालेजों में क्या पढ़ाते हैं, इस पर कड़ी निगाह रखी गई। पुस्तकालय, विद्यालय, कालेज, क्लब आदि को गुप्तचरों से भर दिया गया। विद्यार्थियों, लेखकों और विद्वानों के साथ साथ छाया की तरह गुप्तचर फिरने लगे। सरकार के बारे में बात करना भी गुनाह बना दिया गया। जिस किसी पर जरा भी सन्देह होता था, उसे गिरफ्तार कर जेलखाने में डाल दिया जाता था, या साइबीरिया में निवास के लिये भेज देता था। इस समय निकोलस द्वितीय का सबसे बड़ा सहायक फान लेह्व नाम का कर्मचारी था, जो अपने अत्याचारों और कठोर नीति के लिये सर्वत्र प्रसिद्ध था।

इन भयंकर अत्याचारों का परिणाम यह हुआ, कि रशिया की सम्पूर्ण जनता स्वाधीनता के संघर्ष के लिये उद्यत हो गई। रशियन सरकार का यह खयाल बिलकुल गलत था, कि थोड़े से मार्गभ्रष्ट नवयुवक ही सरकार से असंतुष्ट हैं और सुधार चाहते हैं। वास्तविक बात यह थी कि रशिया के प्रायः सभी निवासी अपनी दशा से असंतुष्ट थे और लोकतन्त्र शासन को स्थापित करने के लिये उत्सुक थे। कार्य करने की विधि में मतभेद अवश्य था, पर सब समान रूप से जार के एकतन्त्र शासन का अन्त करने के लिये इच्छुक थे। रशिया में इस समय निम्नलिखित दल विद्यमान थे—

(१) उदार या वैध राजसत्तावादी दल—इस दल में प्रायः उन्नतिशील जमींदार, पूँजीपति और मध्यश्रेणी के लोग सम्मिलित थे। इनका विचार था कि अन्य यूरोपियन देशों के समान रशिया में भी

पार्लियामैन्ट की स्थापना होनी चाहिये, जिसका निर्वाचन जनता द्वारा हो। यह पार्लियामैन्ट कानून बनाने और टैक्स लगाने में जार के साथ सहयोग किया करे। इस दल के लोगों की यह भी माँग थी कि बोलने, लिखने और प्रेस की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। लोगों को हक होना चाहिये कि वे स्वतन्त्रता के साथ सार्वजनिक सभायें कर सकें और उनमें सार्वजनिक प्रश्नों पर खुले तौर पर विचार हो सके। गुप्तचरों का जो जाल इस समय रशिया में बिछा हुआ था, और जिस किसी को भी सन्देह पर गिरफ्तार कर लिया जा सकता था, इसके भी ये उदारदल के लोग विरोधी थे। उनका यह भी कहना था कि मजदूरों और किसानों के असन्तोष को दूर करने के लिये उनकी दशा में धीरे-धीरे उन्नति करनी चाहिये और ऐसे कानून पास करने चाहियें, जिनसे रशिया के गरीब लोग अपनी दशा का सुधार कर सकें।

(२) **साम्यवादी लोकतन्त्र दल**—इस दल में शहरों में काम करने वाले मजदूर लोग मुख्य रूप से सम्मिलित थे। मजदूर लोग न केवल जार के एकतन्त्र शासन से असंतुष्ट थे, पर अपनी सामाजिक दशा भी उन्हें पसन्द न थी। वे वर्तमान सामाजिक संगठन को दोषपूर्ण समझते थे और उसे बदल कर मजदूरों की हुकूमत स्थापित करने के लिये कोशिश करते थे। कार्लमार्क्स के सिद्धान्त रशिया में भी बड़ी तेजी के साथ फैल रहे थे और साम्यवादी लोकतन्त्र दल के लोग उसी के विचारों को अपने देश में भी क्रियारूप में परिणत करना चाहते थे। पर इस दल के लोग आतंकवादी व खूनखराबी के पक्षपाती न थे। वे उस समय की प्रतीक्षा में थे, जब कि मजदूर लोग इतने शक्तिशाली और संगठित हो जावेंगे, कि सरकार पर कब्जा कर लेना उनके लिये बहुत सुगम हो जावेगा और मजदूर लोग शक्ति प्राप्त करके राज्य, कारखाने, खानें और खेती आदि का सञ्चालन सर्वसाधारण जनता के हितों को दृष्टि में रखकर करेंगे।

(३) साम्यवादी क्रान्तिकारी दल—उदार दल और साम्यवादी लोकतन्त्र दलों के लोग शान्तिमय तथा वैध उपायों का अनुसरण करते थे। पर उनके अतिरिक्त एक तीसरा दल था, जो अपने को साम्यवादी क्रान्तिकारी दल कहता था। इसके सदस्य हिंसा और आंतकवाद में विश्वास रखते थे। उनका यह विश्वास था, कि जो सरकार जनता पर तरह तरह के अत्याचार करती है और जो अपने बेईमान कर्मचारियों का पेट भरने के लिये लोगों पर अन्याययुक्त टैक्स लगाती है, उसके साथ युद्ध करने में कोई हर्ज नहीं है। ये लोग सरकारी कर्मचारियों को कतल करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। इनका संगठन बड़ा दृढ़ और गुप्त था। खुले तौर पर तो ये लोग काम कर ही नहीं सकते थे। अतः इन्होंने बहुत सी गुप्त समितियाँ बनाई हुई थीं, जो कतल के लिये उन अफसरों को चुनती थीं, जो अपनी क्रूरता और अत्याचारों के कारण बदनाम होते थे। कतल के लिये चुने गये अफसरों की सूची खुले तौर पर प्रकाशित कर दी जाती थी और साथ ही यह भी लिख दिया जाता था, कि क्रान्तिकारी दल ने किन अपराधों के कारण इन्हें कतल के लिये चुना है। यह ध्यान में रखना चाहिये कि साम्यवादी क्रान्तिकारी दल के लोग खून के प्यासे नर पशु नहीं थे। उनमें प्रायः सभी सुशिक्षित और सदाचारी नवयुवक थे, जो देशभक्ति की तीव्र भावना से प्रेरित होकर इस मार्ग के अनुगामी बने थे। क्रान्तिकारी दल की शक्ति निरन्तर बढ़ती जाती थी और अन्य उपायों से निराश होकर लोग इस दल में अधिक से अधिक संख्या में सम्मिलित होते जाते थे।

विशाल रशियन साम्राज्य की सरकार के खिलाफ जहाँ ये विविध राजनीतिक दल निरन्तर कार्य कर रहे थे, वहाँ साम्राज्य के अन्तर्गत विविध जातियाँ भी अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये निरन्तर प्रयत्नशील थीं। ये जातियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) **पोल जाति**—इसकी कुल आबादी ८० लाख थी। धर्म, भाषा, जाति आदि की दृष्टि से ये रशियन लोगों से भिन्न थे। पोल लोग रोमन कैथोलिक धर्म को माननेवाले थे। ग्रीक व रशियन कैथोलिक चर्च में इनका विश्वास नहीं था। इनकी अपनी भाषा थी, जिसे नष्ट करने के लिये रशियन लोग सब प्रकार से प्रयत्न कर रहे थे। पोलैण्ड के शिक्षणालयों में रशियन भाषा पढ़ाई जाती थी। पोल लोग यह बात भूले न थे कि किसी समय उनका राष्ट्र सर्वथा स्वतन्त्र था। वे स्वतन्त्रता के लिये बहुत उत्सुक थे और अपने देश से रशियन शासन को नष्ट करने के लिये निरन्तर प्रयत्न कर रहे थे।

(२) **एस्थोनिया, लिवोनिया और कोरलैण्ड के प्रदेश**—रशियन साम्राज्य के अन्तर्गत थे। इनके देहातों में मुख्यतया एस्थ और लेट लोग बसते थे, जो धर्म, भाषा आदि की दृष्टि से रशियन लोगों से भिन्न थे। इन प्रदेशों के नगरों में प्रायः जर्मन लोगों का निवास था। रशियन सरकार इन प्रदेशों पर रशियन रंग चढ़ाने के लिये भरसक कोशिश कर रही थी, जो इनके निवासियों को बिलकुल पसन्द नहीं था।

(३) **फिन लोग**—ये फिनलैण्ड के निवासी थे। १८०६ में अलेक्जण्डर प्रथम ने इस प्रदेश को रशियन साम्राज्य के साथ मिला लिया था। पर अलेक्जण्डर प्रथम ने इस प्रदेश की आन्तरिक स्वतन्त्रता को नष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया। फिनलैण्ड की अपनी पार्लियामैन्ट और अपनी सरकार कायम रही, यद्यपि वे लोग रशियन के जार को अपना राजा अवश्य मानते रहे। पर निकोलस द्वितीय फिनलैण्ड का नाममात्र का राजा होना पसन्द नहीं करता था। उसने १८६६ में फिनलैण्ड को पूर्णतया अपने अधीन करने और उस पर रशियन रंग चढ़ाने का खुल्लमखुल्ला प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। फिनलैण्ड की पार्लियामैन्ट के प्रायः सभी अधिकार छीन लिये गये। वहाँ की सेना को

रशिया के युद्धमन्त्री के अधीन कर दिया गया। रशियन भाषा सर्वत्र जारी की गई। यह स्वाभाविक था, कि फिन लोग इन परिवर्तनों का घोर विरोध करें। पर इसके लिये निकोलस द्वितीय ने पहले ही सब तैयारी कर ली थी। वहाँ का शासन करने के लिये चुन चुन कर ऐसे अफसरों को भेजा गया, जो अपनी क्रूरता के लिये प्रसिद्ध थे। फान प्लेह्व को भी वहाँ शासन करने के लिये नियत किया गया। इन कारणों से निकोलस द्वितीय के समय में फिनलैण्ड क्रान्ति, अशान्ति और विद्रोह का बड़ा भारी केन्द्र बन गया।

(४) **यहूदी लोग**—रशियन साम्राज्य में यहूदियों की संख्या ५० लाख के लगभग थी। ये प्रायः पश्चिमी रशिया में निवास करते थे। धर्म भेद के कारण रशियन लोग इनसे बड़ा द्वेष करते थे। वे जमीन के मालिक नहीं बन सकते थे। व्यापार और व्यवसाय करने में भी इन्हें बहुत सी रुकावटें थीं। स्कूलों और यूनिवर्सिटियों में पढ़ने की भी उन्हें स्वतन्त्रता न थी। बहुत कम यहूदी शिक्षणालयों में प्रवेश पा सकते थे। स्थानीय स्वशासन में उन्हें वोट का भी अधिकार प्राप्त नहीं था। यहूदी लोग अपनी दुर्दशा का भली-भाँति अनुभव करते थे और स्वाभाविक रूप से उनकी सहानुभूति क्रान्तिकारियों के साथ थी। रशिया के एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन का अन्त करने के लिये जो बहुत सी शक्तियाँ काम कर रही थीं, यहूदी लोग भी उनमें से एक थे।

रशियन सरकार विद्रोह के इन विविध तत्त्वों का क्रूरता के साथ मुकाबला कर रही थी। जहाँ एक तरफ विविध राजनीतिक दलों को नष्ट करने का प्रयत्न हो रहा था, वहाँ दूसरी तरफ स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्नशील इन जातियों को कुचलने की कोशिश भी जारी थी। पर ज्यों ज्यों फान प्लेह्व और उसके कर्मचारी स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र शासन की इन भावनाओं को कुचलने का प्रयत्न करते थे, त्यों त्यों ये और भी बढ़ती जाती थीं।

इसी बीच में सन् १९०४ के फरवरी महीने में रशिया का जापान के साथ युद्ध शुरू हुआ। यह युद्ध रशिया और जापान के परस्पर विरोधी साम्राज्यवाद का परिणाम था। इस युद्ध पर हम आगे एक अन्य अध्याय में प्रकाश डालेंगे। यहाँ इतना लिखना पर्याप्त है, कि इस युद्ध में रशिया को सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। जापान ने बड़ी शीघ्रता के साथ रशिया पर आक्रमण किया और अनेक युद्धों में शक्तिशाली विशाल रशियन साम्राज्य छोटे से जापान से परास्त हो गया। इसका कारण यह था कि रशिया की जनता की सहानुभूति युद्ध के साथ नहीं थी। जनता इससे कोई लाभ नहीं समझती थी कि रशियन साम्राज्य में, जो पहले ही इतना विशाल है, कुछ प्रदेश और सम्मिलित हो जावें। उनके लिये अधिक जरूरी प्रश्न अपनी स्वतन्त्रता और अधिकारों की प्राप्ति का था। बहुत से लोगों की तो दिल से जापान के साथ सहानुभूति थी और वे रशिया की पराजय का वृत्तान्त जानकर दिल दिल में खुश हो रहे थे। जनता के इस प्रकार खिलाफ होने पर यह कैसे आशा की जा सकती थी, कि रशियन सरकार जापान को परास्त कर सके। इसके अतिरिक्त, एक बात यह है कि रशियन सरकार की हालत बहुत खराब थी। उसके बहुत से अफसर बेईमान और स्वार्थी थी। शत्रु के साथ युद्ध के समय भी उन्हें अपनी कमाई की फिकर थी। सेना के लिये सामान पहुँचाने के जो ठेके दिये जाते थे, उसमें वे खूब रिश्वत लेते थे और अनेक ठेके खुद लेकर उनमें खूब रुपया मारते थे। इस राष्ट्रीय संकट के समय में भी इन अफसरों को स्वार्थ साधन की चिन्ता थी। जनता के विरोध और सरकार के आन्तरिक पतन का परिणाम यह हुआ, कि रशिया जापान से निरन्तर पराजित होने लगा। १ जनवरी १९०५ के दिन पोर्ट आर्थर के प्रसिद्ध दुर्ग पर जापानी सेनाओं का अधिकार होगया। अन्य भी अनेक प्रदेश रशिया के हाथ से निकल गये।

रशिया की इन पराजयों से जनता को स्वतन्त्र होने का अच्छा

अवसर हाथ लगा। एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन के जो भी तत्त्व विरोध में थे, वे सब सम्मिलित होकर उसका विरोध करने के लिये कटिबद्ध हो गये। क्रान्तिकारी दल की शक्ति बहुत बढ़ गई। बड़ी तेजी के साथ अत्याचारी अफसरों पर बॉम्ब और पिस्तौलों से आक्रमण होने लगे। सरकारी आतंकवाद के मूर्तिमान रूप फान प्लेह्व का तो पहले ही अन्त किया जा चुका था। २८ जुलाई १६०४ को मास्को विश्वविद्यालय के एक विद्यार्थी ने बॉम्ब द्वारा उसकी गाड़ी को उड़ा दिया था। अब अन्य अफसरों पर भी तेजी से हमले शुरू हुए। केवल क्रान्तिकारी दल ही नहीं, अन्य राजनीतिक दलों ने भी बड़े जोर से आन्दोलन करना प्रारम्भ किया। 'एकतन्त्र शासन को नष्ट कर दो।' 'युद्ध को समाप्त कर दो' 'क्रान्ति की जय' आदि के नारों से वारसा, मास्को, सेण्टपीटर्सबुर्ग आदि के बाजार गूँजने लगे। नरम दल के लोगों ने जार की सेवा में प्रार्थनापत्र भेजने शुरू किये, जिनमें लोकतंत्र शासन स्थापित करने के लिये आवेदन किया गया था। अनेक स्थानों पर सार्वजनिक सभाओं में भी सुधार के लिये प्रस्ताव पास किये गये। सारे रशिया में जागृति सी उत्पन्न हो गई।

जिस समय रशिया के शिक्षित और नरम दल के लोग प्रार्थनापत्र तैयार करने और सार्वजनिक सभाओं में सुधार के लिये प्रस्ताव पास करने में लगे थे और क्रान्तिकारी लोग गुप्त रूप से अफसरों के कतल में व्यापृत थे, उस समय किसान और मजदूर भी शान्त नहीं बैठे थे। उन लोगों ने अपने ढंग से कार्य प्रारम्भ किया हुआ था। किसानों ने कुलीन जमींदारों पर आक्रमण कर उनके प्रासादों को भस्मसात् करना शुरू कर दिया था। मजदूर लोग अपने कारखानों में हड़ताल कर बाजारों में गस्त लगाते फिरते थे। सब ओर क्रान्ति के चिह्न प्रगट होने लग गये थे। रशिया की जनता में क्रान्ति की जो आग धीरे धीरे सुलग रही थी, वह जापान के साथ युद्ध का लाभ उठाकर इस समय

प्रचण्ड ज्वालाओं के रूप में उद्दीप्त हो उठी थी। रशिया की अधीनता में पोल, लिथुएनियन, फिन, जर्मन आदि जातियों के जो लोग निवास करते थे, वे भी इस सुअवसर का लाभ उठा कर खुल्लमखुल्ला विद्रोह के लिये तैयार होगये थे। रशियन सरकार को जहाँ एक तरफ जापान जैसे प्रबल शत्रु का मुकाबला करना था, वहाँ अपने साम्राज्य की इस क्रान्ति को भी शान्त करना था।

जार निकोलस द्वितीय ने इस विकट परिस्थिति में बड़े दुराग्रह से कार्य किया। उसने इस समय में ट्रेपोफ़्फ़ नामक एक सेनापति को पुलीस का प्रधान कर्मचारी नियत कर उसे सम्पूर्ण शक्तियाँ प्रदान कर दीं। ट्रेपोफ़्फ़ स्वेच्छाचारी शासन का प्रबल पक्षपाती था। उसने क्रान्ति को कुचलने के लिये भरसक कोशिश की। यूनिवर्सिटियों को बन्द कर दिया गया, क्योंकि उनमें नवीन विचारों को पनपने का अवसर मिलता था। सब जगह फौजी कानून जारी कर दिया गया। हजारों पुरुषों और स्त्रियों को गिरफ़्तार कर उन पर क्रूर से क्रूर अत्याचार किये गये। देहातों में किसानों को बुरी तरह कुचला गया। रशिया के जंगली सिपाही उन्हें बड़ी निर्दयता के साथ मारते पीटते थे। पर इन सब अत्याचारों से क्रान्ति की भावना को नष्ट कर सकना सम्भव नहीं था।

२२ जनवरी १९०५ के दिन एक बड़ी वीभत्स घटना हुई। सेण्ट पीटर्सबुर्ग के मजदूरों ने जार की सेवा में एक प्रार्थनापत्र भेजा, और निवेदन किया कि २२ जनवरी रविवार के दिन हम लोग आपकी सेवा में उपस्थित होकर अपनी दुःख गाथा सुनावेंगे। हमें सरकार के अफ़सरों के प्रति जरा भी विश्वास नहीं है, अतः हम आपकी सेवा में उपस्थित होकर अपनी शिकायतें पेश करना चाहते हैं। २२ जनवरी को बहुत से मजदूर गैपन के नेतृत्व में एकत्रित हुए और उन्होंने जार के राजप्रासाद की तरफ प्रस्थान किया। ये मजदूर बिलकुल शान्त थे। इनके पास एक भी हथियार नहीं था। पर ज्यों ही ये

राजप्रासाद के समीप पहुँचे, रशियन सैनिकों ने उन पर आक्रमण किया। सैकड़ों निहत्थे मजदूर सरकारी सैनिकों की गोलियों से भून डाले गये। हजारों बुरी तरह घायल हुए। इस घटना से सम्पूर्ण सभ्य संसार में सनसनी फैल गई। रशियन सरकार कितनी निर्दय और स्वेच्छाचारी है, इसका इससे अधिक ठोस प्रमाण और क्या हो सकता था? रशिया के नरम दल के लोग भी इससे बहुत उद्विग्न हुए और सेण्ट पीटर्सबुर्ग के प्रायः सभी प्रतिष्ठित और सुशिक्षित लोगों के हस्ताक्षर से एक उद्घोषणा २२ जनवरी के इस हत्याकाण्ड के सम्बन्ध में प्रकाशित हुई। इसमें निम्नलिखित वाक्य थे—"जनता को यह भली भाँति समझ लेना चाहिये कि सरकार ने सम्पूर्ण रशियन जनता के विरुद्ध युद्ध उद्घोषित कर दिया है। इस सम्बन्ध में अब कोई भी सन्देह नहीं रह गया है। जो सरकार किरचों और बन्दूकों के अतिरिक्त अन्य किसी साधन से जनता के साथ सम्बन्ध नहीं रख सकती, उसकी जितनी निन्दा की जाये, कम है। हम रशियन जनता की सम्पूर्ण जीवित जागृत शक्तियों को इस बात के लिये निमन्त्रण देते हैं, कि वे मजदूरों की सहायता के लिये आगे बढ़ें, क्योंकि मजदूरों ने जो संघर्ष शुरू किया है, वह रशिया के सम्पूर्ण निवासियों के कल्याण के लिये है।"

२२ जनवरी, १९०५ के इस हत्याकाण्ड के बाद रशिया में खुल्लमखुल्ला क्रान्ति प्रारम्भ हो गई। वारसा में पोल लोगों ने विद्रोह कर दिया। दो लाख आदमियों का जुलूस वारसा की गलियों में चक्कर काटने लगा। सब तरफ पोल राष्ट्रीय झण्डे फहराने लगे। गलियों में मोरचाबन्दी कर ली गई। फिनलैण्ड के लोगों ने स्वाधीनता की घोषणा कर दी। बाल्टिक सागर के तट पर विद्यमान लिथुएनिया आदि प्रदेशों ने भी अपने को स्वतन्त्र उद्घोषित कर दिया। आर्मीनियन और ज्योर्जियन लोगों ने भी विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। मजदूर लोग सब जगह हड़ताल की तैयारी करने लगे।

आखिर, जार निकोलस द्वितीय की आँखें खुलीं। जब उसने देखा कि स्थिति काबू से बाहर हो रही है, तब वह जनता को संतुष्ट करने के लिये सुधार करने को तैयार हुआ। सुधारों के लिये अनुकूल वातावरण उत्पन्न करने के लिये पहले ट्रेपोफ़ आदि अत्याचारी अफ़सरों को बर्खास्त कर दिया गया। यह उद्घोषित किया गया, कि रशिया में सब लोगों को धार्मिक स्वतन्त्रता दी जाती है, जो आदमी जिस धर्म का चाहे अनुसरण कर सकता है। धर्म के कारण किसी व्यक्ति से कोई अधिकार नहीं छीना जावेगा। पोल, फिन आदि जातियों को अपनी भाषा का पूरा अधिकार रहेगा और न्यायालय में बाक़ायदा मुक़दमा चलाये बिना किसी व्यक्ति को कोई दण्ड नहीं दिया जावेगा। साथ ही, जापान के साथ युद्ध का भी सन्धि द्वारा शीघ्र ही अन्त कर दिया गया।

३० अक्टूबर १९०५ को जार निकोलस द्वितीय ने एक उद्घोषणा-पत्र द्वारा रशिया में शासन सुधारों को प्रकाशित किया। इस उद्घोषणापत्र द्वारा निम्नलिखित सुधारों की मुख्य रूप से प्रतिज्ञा की गई थी—(१) रशिया में ड्यूमा (पार्लियामैण्ट) की स्थापना की जावेगी। ड्यूमा के सदस्यों का निर्वाचन सर्वसाधारण जनता की सम्मति से होगा। (२) कानूनों के निर्माण के लिये ड्यूमा की स्वीकृति आवश्यक होगी। (३) सरकारी कर्मचारी अपना कार्य लोकमत को दृष्टि में रख कर ही करेंगे और (४) लिखने, बोलने और सार्वजनिक रूप से सभायें करने का अधिकार जनता को प्राप्त होगा।

निस्सन्देह, यह जनता की बड़ी भारी विजय थी। जार को लोकमत के सम्मुख सिर झुकाना पड़ा था। क्रान्ति सफल हो गई थी। रशिया का शासन अब एकतन्त्र व स्वेच्छाचारी नहीं रहा था, अब वहाँ वैध राजसत्ता का प्रारम्भ हो गया था।

(४) रशिया में वैध राजसत्ता का विफल प्रयत्न

३० अक्टूबर १६०५ की उद्घोषणा से सर्वसाधारण जनता को बहुत सन्तोष हुआ। लोगों ने समझा, अब सचमुच स्वराज्य की स्थापना हो गई है। इसलिये क्रान्ति का तूफान धीरे धीरे स्वयं शान्त होने लग गया।

डूमा का पहला निर्वाचन एप्रिल १६०६ में हुआ। सरकारी अफसरों और पुलीस ने पूरी कोशिश की, कि ऐसे ही लोग डूमा के लिये निर्वाचित हों, जो जार के पक्षपाती हों। पर उन्हें सफलता न हुई और डूमा के ५२४ सदस्यों में से आधे से अधिक ऐसे थे, जो जनता के अधिकारों के पक्षपाती और एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन के विरोधी थे। १६ मई १६०६ को डूमा का पहला अधिवेशन हुआ। शुरू में जार का भाषण हुआ, जिसमें जनता के प्रतिनिधियों को शान्ति और व्यवस्था के नाम पर बहुत से उपदेश दिये गये थे। पर डूमा के सदस्य जार की हाँ में हाँ मिलाने वाले न थे। उन्होंने माँग पेश की, कि सब राजनीतिक कैदियों को मुक्त कर दिया जावे। जापान के साथ युद्ध में सरकारी अफसरों ने जो बेईमानियाँ और रुपये का गबन किया था, उसकी जाँच के लिये कमीशन नियत किया जावे। इस प्रकार की बात को जार के स्वेच्छाचारी शासक व मन्त्री कब स्वीकार कर सकते थे? डूमा ने जब मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध प्रस्ताव स्वीकृत किये, तो उन्होंने उनकी परवाह नहीं की। उन्होंने डूमा के बहुमत को अपने विरुद्ध होने पर भी त्यागपत्र देने से इन्कार कर दिया। मन्त्रिमण्डल और डूमा में खूब विरोध हुआ। आखिर २१ जुलाई को जार निकोलस द्वितीय ने उद्घोषित किया, कि डूमा की गति विधि को देखकर हमें घोर निराशा हुई है। उसके सदस्य अपने अधिकारों से बहुत आगे बढ़ गये हैं। उन्हें अपनी मर्यादा की कोई

परवाह नहीं रही। अतः इस ड्यूमा को बर्खास्त किया जाता है, और अब नये सिरे से ड्यूमा का निर्वाचन होगा।

५ मार्च १९०७ को दूसरी ड्यूमा का अधिवेशन शुरू हुआ। इस बार गरम दल और विविध क्रान्तिकारी दलों के लोग बहुत बड़ी संख्या में निर्वाचित होकर आये थे। इस बार ड्यूमा ने और भी 'भयंकर' प्रस्ताव स्वीकृत करने प्रारम्भ किये। उसने पास किया कि सब बड़ी जागीरों और जायदादों को जब्त कर लिया जावे, फौजी न्यायालयों को नष्ट कर दिया जावे और मन्त्रिमण्डल को ड्यूमा के प्रति उत्तरदायी बनाया जावे। ड्यूमा के इस रुख को देखकर सरकार बहुत घबराई। आखिर, यही उचित समझा गया कि इस ड्यूमा को भी बर्खास्त कर दिया जावे और आगे के लिये ऐसी व्यवस्था की जाय कि वोट का अधिकार बहुत कम लोगों को रह जावे, ताकि ऐसे ही लोग निर्वाचित हो सकें, जो राजा और उसके एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन के हक में हों। तीसरी ड्यूमा में राजा के पक्षपातियों की संख्या यथेष्ट थी, अतः सरकार को उससे कोई भय न था। इस समय ड्यूमा को सर्वथा निस्तेज कर दिया गया था। १९०५ की राज्यक्रान्ति द्वारा जनता ने जो अधिकार प्राप्त किये थे, वे प्रायः सब उससे छीन लिये गये थे। ड्यूमा का ढाँचा तो रह गया था—पर उसके पास शक्ति कुछ न थी।

इस दशा में रशिया का शासन फिर एकतन्त्र और स्वेच्छाचारी हो गया। इस समय प्रधान मन्त्री के पद पर स्टोलिपिन नामक महानुभाव विद्यमान थे। वे बड़े क्रूर और अत्याचारी थे। ड्यूमा को पालतू और अपने हाथ की कठपुतली बनाकर उन्होंने अब राजनीतिक अशान्ति के अन्य सब चिन्हों को भी कुचलना प्रारम्भ किया। फिर पुराने दमनकारी कानून जारी किये गये। गुप्तचरों का जाल सर्वत्र बिछा दिया गया। नये विचारों को दबाने के लिये यत्न शुरू हो गये। पर क्रान्ति की भावना को नष्ट कर सकना सुगम काम न था। जब रशिया

के देशभक्त लोगों ने देखा कि वैध उपायों से अधिकारों की प्राप्ति सम्भव नहीं रही है, तो उन्होंने फिर क्रान्ति और आतंकवाद के उपायों का आश्रय लिया। एक बार फिर रशिया में गुप्तसमितियों का जोर हो गया। निराश नवयुवक खूनखराबी और कतल के लिये उद्यत हो गये। सन् १९०७ में ४१३१ सरकारी कर्मचारियों पर हमले किये गये। १९०८ में १००९ सरकारी आदमी क्रान्तिकारियों द्वारा मारे गये या बुरी तरह घायल हुए। उधर स्टोलिपिन भी शान्त नहीं बैठा था। उसने १९०७ में १८०० और १९०८ में ८०० क्रान्तिकारियों को प्राणदण्ड दिया और इन दो सालों में १४००० क्रान्तिकारी साइबीरिया भेजे गये। सरकार और क्रान्तिकारियों का युद्ध पूरे जोर के साथ जारी रहा। आखिर १९१५ में स्टोलिपिन को भी कतल करने में क्रान्तिकारी लोग सफल हुए।

सरकार और क्रान्तिकारियों के इस संघर्ष के समय रशिया में डूमा के अधिवेशन बाकायदा होते थे। ऊपर से देखने से प्रतीत होता था, कि रशिया के शासन में जनता के प्रतिनिधियों का हाथ विद्यमान है। पर वस्तुतः यह बात न थी। यद्यपि शुरू में जार ने जो उद्घोषणा प्रकाशित की थी, उसमें वास्तविक रूप से लोकतन्त्र शासन का श्रीगणेश किया गया था, पर कुछ ही समय में उसने अपनी नीति में परिवर्तन कर दिया था और डूमा के कायम रहते हुए भी रशिया में पहले जैसा एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन ही जारी हो गया था। १९०५ की क्रान्ति एक प्रकार से असफल हो गई थी। वह रशिया में उत्तरदायित्वपूर्ण वैध राजसत्ता की स्थापना नहीं कर सकी थी। जार के विशाल साम्राज्य का आधार बीसवीं सदी के प्रारम्भ हो जाने के बाद भी लोकतन्त्र नहीं बना था। वह अब भी भृति प्राप्त करके कार्य करने वाली सेनाओं, पुराने ढर्रे के धर्मान्ध और संकीर्ण पादरियों, स्वार्थसाधन में तत्पर राजकर्मचारियों और कुलीन श्रेणी के संकुचित स्वार्थों की सहायता पर आश्रित था।

अपने आर्थिक कोष के लिये भी रशियन सरकार जनता की सहायता का भरोसा नहीं रख सकती थी। रशिया को सरकार रुपये पैसे के लिये विदेशी महाजनों और परदेसी सरकारों पर आश्रित थी। उनसे उसे भरपूर आर्थिक सहायता मिलती रहती थी।

यद्यपि रशिया की जनता में जागृति उत्पन्न हो चुकी थी और अनेक बार वहाँ के निवासी सरकार की स्वेच्छाचारिता को नष्ट करने के लिये प्रयत्न भी कर चुके थे, पर कुछ ऐसी रुकावटें थीं, जिनके कारण वे अभी बहुत शक्तिशाली नहीं बन सके थे। रशिया बहुत बड़ा देश था। इतने बड़े देश को संगठित कर एक सूत्र में बाँध सकना सुगम कार्य नहीं था। फिर उसमें अनेक जातियों के लोग बसते थे, जो भाषा, धर्म, संस्कृति आदि की दृष्टि से एक दूसरे से बहुत भिन्न थे। रशियन सरकार के लिये यह बहुत सुगम था कि वह इन्हें आपस में लड़ाती रहे और जब एक स्थान पर विद्रोह हो, तो दूसरे लोगों को उसे कुचलने के लिये प्रयुक्त करे। रशिया के अधिकांश निवासी देहातों में रहते थे और समय की प्रगति से बहुत धीरे धीरे परिचित हो रहे थे। पर इन सब रुकावटों के होते हुए भी रशिया में स्वतन्त्रता की भावना निरन्तर अधिक अधिक प्रबल होती जाती थी, और आखिर वह १९१७ की राज्यक्रान्ति के रूप में फूट पड़ी। इस पर हम यथास्थान विचार करेंगे।

तेतीसवाँ अध्याय

टर्की और बाल्कन प्रायद्वीप के विविध राज्य

(१) उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में टर्की की दशा

मध्यकालीन इतिहास में पूर्वीय यूरोप का बड़ा भाग तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत था। ओथमान (मृत्युकाल १३२६ ई०) के नेतृत्व में तुर्क जाति ने एशिया माइनर में प्रवेश किया। ओथमान के पश्चात् विविध तुर्की सुलतान अपने आधिपत्य को सीरिया, अरब और ईजिप्ट में विस्तृत करते रहे। १४५३ में मुहम्मद द्वितीय ने पूर्वीय रोमन साम्राज्य की राजधानी कोन्स्टेन्टिनोपल पर आक्रमण किया। कोन्स्टेन्टिनोपल परास्त हो गया और तुर्क लोगों की अधीनता में आगया। इस समय से यूरोप में तुर्क लोगों का उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ। दो शताब्दियों तक वेनिस की रिपब्लिक और वीएना के हाप्सबुर्ग सम्राट् निरन्तर तुर्क आक्रान्ताओं से संघर्ष करते रहे। इस काल में बाल्कन प्रायद्वीप का बड़ा भाग तुर्कों के अधीन हो गया। कुछ समय के लिये तो तुर्क साम्राज्य की सीमा जर्मन प्रदेश से आ लगी। १८वीं सदी में टर्की की शक्ति क्षीण होनी शुरू हुई। १८१५ में यह स्थिति थी, कि तुर्की साम्राज्य की उत्तरीय सीमा नीस्टर नदी थी। मोल्डेविया और वेलेचिया के प्रदेश उसकी अधीनता में थे। ये दोनों प्रदेश डेन्यूब नदी के उत्तर में स्थित हैं। इनके नीचे सम्पूर्ण बाल्कन प्रायद्वीप

तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत था। बोस्निया, हेर्जेगोविना, सर्विया, बल्गेरिया, अल्बेनिया, रूमानिया और ग्रीस—ये सब प्रदेश उसके अधीन थे। बाल्कन प्रायद्वीप में केवल दो ही ऐसे छोटे छोटे प्रदेश थे, जो उसके अधीन नहीं थे। डाल्मेटिया का समुद्र तट तथा मोन्टिनिग्रो का पहाड़ी राज्य, ये दो प्रदेश ही स्वतन्त्र समझे जा सकते थे। ईगियन सागर के विविध द्वीप भी टर्की के अधीन थे। यूरोप से बाहर एशिया में एशिया माइनर, सीरिया, पेलेस्टाइन, मैसोपोटामिया, आर्मीनिया और अरब तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत थे। अफ्रीका में ईजिप्ट से लेकर अल्जीरिया तक टर्की का आधिपत्य स्वीकृत किया जाता था।

इस विशाल साम्राज्य में किसी एक जाति का निवास नहीं था। केवल एशिया माइनर ही एक ऐसा प्रदेश था, जिसमें तुर्क जाति प्रचुर संख्या में बसती थी। साम्राज्य के शेष सब प्रदेशों में तुर्क-भिन्न अन्य जातियों का निवास था। मध्यकाल में जब राष्ट्रीयता के भाव लोगों में उत्पन्न नहीं हुए थे, तब इन विविध प्रकार की जातियों का एक शासन में रह सकना कोई असम्भव व असाधारण बात नहीं थी। पर अब उन्नीसवीं सदी में जब कि सर्वत्र राष्ट्रीयता का सिद्धान्त प्रचारित हो रहा था, टर्की का यह विशाल साम्राज्य बहुत ही अस्वाभाविक प्रतीत होता था। यही कारण है, कि उन्नीसवीं सदी में अनेक जातियों ने तुर्की शासन के विरुद्ध विद्रोह कर अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता को प्राप्त करने का उद्योग प्रारम्भ किया। आज वह समय आ चुका है, जब कि तुर्क साम्राज्य उसी प्रदेश तक सीमित रह गया है, जहाँ कि तुर्क जाति का ही प्रधानतया निवास है। पर यह दशा एकदम नहीं आ गई है, इसके लिये एक सदी तक निरन्तर संघर्ष हुआ है। संसार के आधुनिक इतिहास में राष्ट्रीयता की यह विजय बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। हम इस अध्याय में इसी का वृत्तान्त उल्लिखित करेंगे। पर पहले यह आवश्यक है, कि टर्की के विस्तृत साम्राज्य में

कौन सी विविध जातियों का निवास था, यह भली भाँति स्पष्ट कर दिया जावे।

उत्तरीय अफ्रीका में प्रधानतया ऐसी जातियाँ निवास करती थीं, जिनका मूल अरबों व बर्बर कहा जा सकता है। अरब में तो मुख्य रूप से अरबी लोग ही बसते थे। पर कहीं कहीं कुर्द और पर्शियन लोग भी पाये जाते थे। यही दशा अरब के उत्तर में विद्यमान, उपजाऊ अर्धचन्द्राकार घाटी की थी, जिसमें कि प्राचीन काल में बैबिलोनियन, असीरियन और चैल्डियन साम्राज्यों का विकास हुआ था। सीरिया में यहूदी लोगों का प्राधान्य था। अरब और एशिया माइनर के बीच में स्थित टौरस पर्वत माला के पहाड़ी प्रदेशों में आर्मीनियन और कुर्द जातियों का निवास था। एशिया माइनर में तुर्कों के अतिरिक्त आर्मीनियन तथा ग्रीक लोग भी पर्याप्त संख्या में रहते थे।

यह तो हुई एशिया और अफ्रीका में विद्यमान तुर्की साम्राज्य की बात। अधिक जटिल समस्या तुर्की साम्राज्य के यूरोपियन प्रदेशों की थी। वहाँ अनेक जातियाँ निवास करती थीं, जो नसल, भाषा, सभ्यता, संस्कृति, धर्म आदि सब दृष्टियों से एक दूसरे से सर्वथा भिन्न थीं और जिनकी तुर्क शासकों के साथ तो कोई समता थी ही नहीं। इनमें अल्बेनियन, ग्रीक, युगो-स्लाव या सर्व, बल्गर और रूमानियन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन पर क्रमशः प्रकाश डालना आवश्यक है।

अल्बेनियन जाति का निवास ग्रीस के उत्तर पश्चिम में स्थित पहाड़ी प्रदेशों में था। १८६३ में इनकी कुल आबादी १५ लाख के लगभग थी। ये लोग बड़े शूरवीर, लड़ाके तथा स्वतन्त्र प्रकृति के थे। सभ्यता की दृष्टि से ये पश्चिमी यूरोप के लोगों से बहुत पीछे थे। ये अपने छोटे छोटे गाँवों में बसते तथा कृषि द्वारा अपने जीवन का यापन करते थे। इनके विविध परिवारों तथा ग्रामों में परस्पर लड़ाई

जारी रहती थी। ये लोग उन्नीसवीं सदी में भी प्रायः जङ्गली तथा पिछड़ी हुई दशा में ही विद्यमान थे।

ग्रीक लोगों की आबादी ६० लाख के लगभग थी। वर्तमान ग्रीक लोग प्राचीन ग्रीकों के सीधे वंशज नहीं कहला सकते। ग्रीस में अनेक जातियों के परस्पर मिश्रण की प्रक्रिया बहुत होती रही है, और वहाँ के वर्तमान निवासी इन विविध जातियों के मिश्रण के परिणाम हैं। १६वीं सदी में ग्रीक लोग पर्याप्त उन्नत तथा सभ्य थे। वे लोग शहरों में निवास करते तथा व्यापार द्वारा अपनी आजीविका कमाते थे। पश्चिमी यूरोप में जो नई प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही थीं, उनसे उन्हें अच्छी परिचिति थी, और वे भी अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये उत्सुक थे।

रूमानियन जाति के लोगों की संख्या १ करोड़ २० लाख थी। वे मोल्डेविया, वेलेचिया और ट्रांसिलवेनिया में निवास करते थे। सभ्यता की दृष्टि से वे बहुत पिछड़े हुए थे। इनका अच्छा बड़ा भाग अभी पशु-पालन द्वारा ही जीवन व्यतीत करता था।

बाल्कन प्रायद्वीप में निवास करने वाली जातियों में युगो-स्लाव या सर्व लोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। पूर्वी यूरोप में स्लाव जातियों का बड़ा प्रभुत्व था। ये सर्व लोग उसी विशाल स्लाव जाति की दक्षिणी शाखा थे। यूरोप भर के स्लाव लोगों में एक प्रकार की एकानुभूति का भाव विद्यमान था। उस भावना से लाभ उठा कर ये भी अपने जातीय गौरव की स्थापना तथा टर्की की अधीनता से मुक्त होने के लिये प्रयत्न करते रहते थे। वर्तमान समय में युगो-स्लाव लोगों की संख्या ८० लाख के लगभग है।

बल्गर लोग प्रधानतया बल्गेरिया में निवास करते थे। अनेक ऐतिहासिकों का विचार है, कि ये लोग तुर्कों की तरह मध्य एशिया से ही आये थे। वर्तमान समय में उनकी आबादी ५५ लाख के लगभग है।

तुर्क लोग प्रायः सम्पूर्ण बाल्कन प्रायद्वीप में बसे हुए थे। पर इन प्रदेशों में उनकी आबादी बहुत अधिक नहीं थी। तुर्क लोग शासकों के रूप में अपने साम्राज्य में रहते थे, शासित जातियों से वे कोई सम्बन्ध नहीं रखते थे, उन्हें वे नीची निगाह से देखते थे। परन्तु उनमें एक विशेषता थी। जो कोई आदमी इस्लाम को स्वीकृत कर लेता था, तथा तुर्की भाषा को अपना लेता था, उसे वे अपने समान समझने लगते थे। तुर्की साम्राज्य में विद्यमान सब मुसलमान तथा तुर्क भाषा-भाषी लोग तुर्क समझे जाते थे। यही कारण है, कि वर्तमान समय में जिन लोगों को तुर्क कहा जाता है, उनमें से बहुत कम ऐसे हैं, जो वस्तुतः तूरानियन जाति के हों। अधिकांश लोग ऐसे हैं, जिन्होंने तुर्की धर्म तथा सभ्यता को स्वीकार कर लिया है।

केवल जातियों की दृष्टि से ही तुर्की साम्राज्य विविधताओं तथा भेदों से युक्त न था, साथ ही उसमें धार्मिक भेदों की भी कमी न थी। तुर्क लोग सुन्नी मुसलमान थे। शिया, बहाबी आदि विविध इस्लामी सम्प्रदायों को मानने वाले अनेक लोग भी तुर्की साम्राज्य में बसते थे। मुसलमान जनता में भी धार्मिक एकता न थी। मुसलमानों के अतिरिक्त यहूदी तथा ईसाई धर्मों को मानने वाले विविध लोग भी तुर्की साम्राज्य में निवास करते थे। ईसाइयों में मुख्य भेद तीन थे—रोमन कैथोलिक, ग्रीक कैथोलिक और ज्यौर्जियन (आर्मीनियन)। इन तीनों सम्प्रदायों के अनुयायी तुर्की साम्राज्य में बहुत बड़ी संख्या में निवास करते थे। तुर्क लोग इन्हें काफिर समझते थे और घृणा की दृष्टि से देखते थे।

इस वर्णन से भली भाँति समझा जा सकता है कि तुर्की साम्राज्य कितना अस्वाभाविक और राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों के विरुद्ध था। यूरोप में आस्ट्रिया और तुर्की—दो साम्राज्य इस प्रकार के थे, जो नई प्रवृत्तियों की दृष्टि से बहुत प्रतिकूल और अनुचित थे। यही

कारण है, कि संसार के आधुनिक इतिहास में इनका विनाश करने के लिये विविध जातियाँ निरन्तर प्रयत्न करती रहीं। आस्ट्रिया की तरह टर्की में भी केवल राष्ट्रीयता की ही समस्या न थी। राजा का एक-सत्तात्मक अधिकार ही वहाँ के शासन का आधारभूत सिद्धान्त था। लोकतन्त्र प्रवृत्तियाँ इस स्वेच्छाचारी शासन को कभी सहन न कर सकती थीं। टर्की का शासन किस ढंग से होता था—यह बताने की विशेष आवश्यकता नहीं है। मध्यकाल में सम्पूर्ण यूरोप में जिस ढंग के एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन विद्यमान थे, वैसा ही शासन टर्की में भी था। भेद इतना था कि टर्की का शासक सम्राट् व सुलतान होने के साथ साथ इस्लाम का धार्मिक नेता व खलीफा भी होता था। इसके कारण उसकी स्थिति और भी अधिक शानदार हो जाती थी। टर्की में शासन इतना विकृत हो चुका था, कि राज्य के प्रधान पद नीलाम किये जाते थे। जो सबसे अधिक कीमत देता था, वही राजकीय पद प्राप्त करता था। इस प्रकार भारी रकम सुलतान को प्रदान कर जो लोग राजकीय पदाधिकारी बनते थे, वे स्वाभाविक रूप से अपने पद को निजू आमदनी बढ़ाने का साधनमात्र समझते थे। परिणाम यह था, कि टर्की का सम्पूर्ण शासन बहुत ही विकृत हो गया था।

शासन में सुधार करने तथा टर्की की उन्नति के लिये कई सुलतानों ने १९वीं सदी में प्रयत्न प्रारम्भ किया। सलीम तृतीय (१७८९-१८०७) और महमूद द्वितीय (१८०८-१८३९) इनमें प्रमुख हैं। विशेषतया महमूद द्वितीय ने अपने सम्पूर्ण जीवन को टर्की की उन्नति और शासन-सुधार में खपा दिया, पर इसका कोई विशेष परिणाम नहीं हुआ। टर्की पुराने जमाने और धार्मिक संकीर्णता के दलदल में इतना अधिक फँसा हुआ था, कि उसके अपने सुलतान के प्रयत्न भी प्रायः निरर्थक ही रहे।

तुर्की सामाज्य में जो नई प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही थीं, उन्हें हम

दो भागों में बाँट सकते हैं—(१) विविध जातियाँ अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये उद्योग कर रही थीं, और (२) तुर्क लोगों में अनेक दल इस प्रकार के उत्पन्न हो रहे थे, जो नई रोशनी से परिचित थे, जो अपने देश में पुराने जमाने का अन्त कर नवीन युग की स्थापना करने को उत्सुक थे। ये दोनों कार्य इस समय सम्पन्न हो चुके हैं। ये किस प्रकार सम्पन्न हुए—यही हमें प्रदर्शित करना है।

(२) बाल्कन राज्यों में राष्ट्रीय जागृति का प्रादुर्भाव

अठारहवीं सदी में ही बाल्कन राज्यों में राष्ट्रीय जागृति का प्रारम्भ हो चुका था। यद्यपि इस प्रायद्वीप में सदियों तक तुर्कों का शासन कायम रहा था, तथापि विविध जातियों में एकता उत्पन्न नहीं हुई थी। बाल्कन प्रायद्वीप अनेक पर्वतमालाओं से आच्छादित है। इन पहाड़ियों के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना बहुत सुगम नहीं है, और इसी कारण विविध प्रदेशों में बसी हुई भिन्न-भिन्न जातियों में परस्पर एकता का प्रादुर्भूत हो सकना सरल बात न थी। तुर्की शासन इन विविध जातियों को अपनी सभ्यता और संस्कृति सिखाकर अपने अन्दर मिश्रित कर लेने में भी असफल हुआ था। अब जब कि तुर्की शासन क्षीण हो रहा था, अव्यवस्था की प्रवृत्ति बढ़ रही थी, इन विविध जातियों में अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना का प्रादुर्भूत होना सर्वथा स्वाभाविक था। पश्चिमी यूरोप में राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति उत्पन्न हो चुकी थी। फ्रेञ्च राज्यक्रान्ति तथा नैपोलियन के युद्धों से यूरोप राष्ट्रीयता की लहर से आप्लावित हो रहा था। बाल्कन राज्यों पर उसका प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। पश्चिमी यूरोपियन जातियों का अनुसरण कर बाल्कन जातियाँ भी अपने राष्ट्रीय राज्यों का स्वप्न लेने लग गई थीं। उनकी इस आकांक्षा को उसकाने में अनेक यूरोपीयन राज्य—विशेषतया रशिया—सहायता प्रदान कर रहे थे।

इन राज्यों का हित इस बात में था, कि टर्की कमजोर हो जावे और बाल्कन प्रायद्वीप की लूट में वे अपना राज्यविस्तार कर सकें।

ये कारण थे, जिनसे बाल्कन राज्यों में राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये संघर्ष प्रारम्भ हुआ। सन् १८०४ में युगोस्लाव व सर्व लोगों ने विद्रोह किया। इस विद्रोह का नेता ज्यार्ज पेट्रोविख था। यह सर्वियन विद्रोह निरन्तर अधिक अधिक गम्भीर रूप धारण करता गया। विद्रोही लोग बेलग्रेड (सर्विया का मुख्य नगर) के सूबेदार मुस्तफा पाशा को कतल करने में समर्थ हुए। तुर्की सरकार ने जो सेनायें विद्रोह को शान्त करने के लिये भेजीं, उन्हें परास्त कर दिया गया। रशिया ने सर्व लोगों की सहायता की। ज्यार्ज पेट्रोविख के नेतृत्व में सामयिक सर्वियन सरकार भी संगठित कर ली गई। १८१२ तक यह विद्रोह व स्वाधीनता-संग्राम जारी रहा। पर आखिरकार तुर्की सरकार विद्रोह को शान्त करने में सफल हुई। ज्यार्ज पेट्रोविख ने आस्ट्रिया भाग कर अपने प्राण बचाये और सर्व लोग फिर पूर्णतया तुर्क शासकों के काबू में आ गये।

१८१२ के विद्रोह में असफल होकर भी सर्व लोगों में राष्ट्रीय स्वाधीनता का आन्दोलन बन्द नहीं हुआ। १८१५ में फिर विद्रोहाग्नि प्रचण्ड हो उठी। इस बार मिलोश नाम का एक सर्व सरदार इस विद्रोह का नेता बना। मिलोश बहुत योग्य व्यक्ति था। वह न केवल अच्छा योद्धा था, पर साथ ही राजनीतिक दाँव पेंच में भी दक्ष था। कुलीन श्रेणी का होने के कारण सर्वसाधारण लोगों में उसका प्रभाव भी बहुत अच्छा था। १८१७ में मिलोश को अपने प्रयत्न में सफलता हुई। वह तुर्की सुलतान से यह मनवाने में समर्थ हुआ, कि सर्विया को स्थानीय मामलों में स्वतन्त्रता दी जावे, वे हथियार रख सकें और कुछ हद तक अपना शासन अपने आप कर सकें। इसके बाद भी स्वाधीनता का आन्दोलन जारी रहा। पर सर्विया की सफलता का वास्तविक प्रारम्भ उस समय में हुआ, जब कि रशिया ने खुल्लमखुल्ला

सर्व आन्दोलन का पक्षपोषण प्रारम्भ किया। १८२६ में रशिया के सम्राट् ने तुर्की सुलतान को बाधित किया, कि अपनी विद्रोही सर्व प्रजा से समझौता करे। रशिया में स्लाव लोग बहुत बड़ी संख्या में निवास करते हैं, सर्वियन लोग भी स्लाव जाति के थे, इस जाति सम्बन्ध के नाते तथा अपनी साम्राज्य-विस्तार-विषयक आकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिये रशिया सर्वियन आन्दोलन से पूर्ण सहानुभूति रखता था। रशिया के सम्राट् के जोर देने पर सुलतान को बाधित होना पड़ा और आखिर वह इस बात के लिये तैयार हो गया, कि सर्विया को टर्की की अधीनता में स्वतन्त्र तथा पृथक् राज्य के रूप में स्वीकृत कर लिया जाय। इस प्रकार सर्वियन स्वतन्त्रता की नींव पड़ीं। १८१६ से सर्विया एक पृथक् राज्य के रूप में परिवर्त्तित हो गया। यद्यपि सर्विया द्वारा टर्की की अधीनता स्वीकृत की गई थी, और उसे भेंट भी वार्षिक रूप से दी जाती थी, तो भी सर्विया की यह स्वाधीनता कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। कुछ समय बाद मिलोश को नवीन सर्वियन राज्य का राजा निर्वाचित किया गया और यह निश्चित हुआ कि राजगद्दी मिलोश के वंश में ही स्थिर रहे। १८२६ के बाद सर्विया वस्तुतः स्वतन्त्र राज्य बन गया। यद्यपि बेलग्रेड तथा अन्य बड़े शहरों में तुर्की फौज रहती रही, तो भी सर्वियन लोगों को अपनी राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूर्ण करने का उपयुक्त अवसर प्राप्त हो गया और वे स्वाधीन राष्ट्र के रूप में अपना विकास करने लगे।

सर्विया की तरह ग्रीस में भी राष्ट्रीय स्वाधीनता की आकांक्षा प्रादुर्भूत हो चुकी थी। ग्रीक लोग काफी सभ्य तथा उन्नत थे। वे नगरों में निवास करते थे और व्यापार उनका प्रधान पेशा था। समुद्रतट के अत्यन्त विस्तृत होने के कारण भी ग्रीस को अनेक लाभ प्राप्त थे। ग्रीस का प्राचीन गौरव लोगों के सम्मुख था। प्लेटो, अरिस्टोटल और परिक्लीज की पवित्र भूमि इस समय तुर्कों द्वारा पदाक्रान्त हो रही थी। न केवल ग्रीस के निवासी अपितु अन्य यूरोपियन लोग भी इसको

अत्यन्त शोचनीय समझते थे। राष्ट्रीयता की जो लहर पश्चिमी यूरोप में सर्वत्र व्याप्त हो चुकी थी, अब ग्रीस में भी प्रविष्ट हुई और वहाँ के निवासी अपने देश की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये आतुर हो उठे। १८२१ में ग्रीक स्वतन्त्रता का संग्राम प्रारम्भ हुआ। मोरिया (प्राचीन पेलोपोनिसस) में विद्रोह की अग्नि प्रचण्ड हो गई। पादरियों ने क्रान्तिकारियों का साथ दिया। इसाई पादरी तुर्कों को काफिर समझते थे। उनके विरुद्ध खूब घृणा का प्रसार किया गया। हजारों मुसलमान पुरुष, स्त्री और बच्चों को कतल किया गया। उधर तुर्क लोगों ने भी अत्याचार करने में कसर न छोड़ी। कोन्स्टेन्टिनोपल में स्थित ग्रीक कैथोलिक चर्च के नेता (पेट्रिआर्क) को कतल कर दिया गया। सर्वत्र ग्रीक प्रजा पर भयकर अत्याचार होने लगे। पर ग्रीक विद्रोह शान्त न हो सका। २७ जनवरी, १८२२ के दिन ग्रीक लोगों ने अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता का बाकायदा ऐलान कर दिया। दोनों तरफ से निरन्तर लड़ाई जारी रही। ग्रीक लोगों ने बड़ी वीरता के साथ तुर्कों का सामना किया। यूरोप के अन्य राज्य इस स्वाधीनता संग्राम को उपेक्षा की दृष्टि से न देख सके। यद्यपि मैटरनिख आदि पुराने जमाने के पक्षपातियों की सहानुभूति सुलतान के साथ थी, पर यूरोप भर के उदार तथा नये विचारों के लोग ग्रीक विद्रोह का समाचार सुनकर अत्यन्त प्रसन्नता अनुभव कर रहे थे। ग्रीक लोगों की सहायता करने के लिये अनेक राज्यों में आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। विशेषतया दार्शनिकों, कवियों, और साहित्यिक लोगों को ग्रीस के साथ बड़ी सहानुभूति थी। वे प्लेटो और सुकरात की जन्मभूमि को इस प्रकार म्लेच्छ तुर्कों द्वारा अपमानित होना नहीं देख सकते थे। परिणाम यह हुआ, कि जगह जगह पर ग्रीक स्वतन्त्रता युद्ध को सहायता पहुँचाने के लिये स्वयं-सेवक भर्ती किये जाने लगे। इङ्गलैण्ड का प्रसिद्ध कवि लार्ड बायरन स्वयं-सेवक के रूप में ग्रीक लोगों की सहायता करने के लिये

आगे बढ़ा। १८२७ में यूरोप के अनेक देशों में ग्रीस के पक्ष में लोकमत इतना प्रबल हो गया कि इङ्गलैण्ड, फ्रांस और रशिया की सरकारों ने सम्मिलित रूप से सुलतान से अनुरोध किया कि ग्रीस की स्वतन्त्रता को स्वीकार किया जाय। इन राज्यों का कहना था कि ग्रीस तथा उसके समीपवर्ती द्वीपों में जो अराजकता मची हुई है, उससे यूरोप के व्यापार को बहुत नुकसान पहुँच रहा है, अतः ग्रीक लोगों को संतुष्ट कर शीघ्र ही शान्ति तथा व्यवस्था की स्थापना करनी चाहिये। टर्की का सुलतान इन बाह्य राज्यों के हस्तक्षेप को सहन न कर सका, उसने उसकी जरा भी परवाह न की। परिणाम यह हुआ कि इन तीनों राज्यों के सम्मिलित जहाजी बेड़े ने सुलतान की शक्ति का मुकाबला किया। अक्टूबर १८२७ में नैवेरिनो नामक स्थान पर सुलतान का जहाज़ी बेड़ा परास्त हो गया। उधर रशियन सेना उत्तर की तरफ से आक्रमण करती हुई कान्स्टेन्टिनोपल तक पहुँच चुकी थी। इस दशा में भी सुलतान सन्धि करने के लिये उद्यत न हुआ। उसने काफिरों के विरुद्ध जिहाद की घोषणा की। रशियन सरकार ने टर्की से बाकायदा लड़ाई शुरू कर दी। मोल्डेविया और वेलेचिया के प्रदेशों में जो रूमानियन लोग थे, उनमें राष्ट्रीय स्वाधीनता की आकांक्षा विद्यमान थी। वे भी बहुत पहले से अपने को स्वतन्त्र कराने का प्रयत्न कर रहे थे। अब रशिया ने उद्घोषित किया कि हम न केवल ग्रीस को उसके स्वातन्त्र्य युद्ध में सहायता प्रदान करेंगे, पर साथ ही, मोल्डेविया और वेलेचिया को भी तुर्की शासन से मुक्त कराके छोड़ेंगे। रूमानियन लोग भी अपनी स्वाधीनता का यह उत्तम अवसर प्राप्त कर टर्की के विरुद्ध विद्रोह करने को उद्यत हो गये। इस स्थिति में सन्धि कर लेने के सिवा सुलतान के सम्मुख अन्य कोई मार्ग शेष न रहा था। वह सन्धि के लिये तैयार हो गया। १८२९ में एड्रियानोपल में सन्धि कर ली गई। इसके अनुसार, ग्रीस तथा रूमानियन लोगों

की स्वाधीनता को स्वीकृत कर लिया गया। रशिया ने गत युद्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण भाग लिया था, उसे तुर्की समुद्र में अनेक व्यापारिक सुविधायें प्राप्त हुईं। रशिया के लिये काला सागर (ब्लैक सी) से भूमध्य-सागर तक पहुँचने का मार्ग—जो टर्की के प्रभाव तथा अधीनता में था—अत्यन्त महत्त्व रखता था। उसमें अनेक सुविधायें प्राप्त कर वह अपने उद्देश्य में बहुत कुछ सफल हो गया।

ग्रीक लोगों की स्वाधीनता को एड्रियोनोपल की सन्धि द्वारा १८२९ में ही स्वीकृत कर लिया गया था, पर ग्रीस की सीमायें क्या निश्चित की जावें और टर्की के साथ उसका क्या सम्बन्ध रहे—यह निश्चित होने में कुछ समय लगा। आखिर, १८३२ में ग्रीस को पूर्ण रूप से स्वाधीन मान लिया गया। टर्की का उस पर कोई आधिपत्य न रहा। पहले ग्रीक लोगों की इच्छा थी कि अपने देश में रिपब्लिक की स्थापना की जावे। राष्ट्रपति भी निर्वाचित कर लिया गया था। पर पारस्परिक मतभेदों तथा दलबन्दियों के कारण ग्रीक लोग रिपब्लिक न चला सके। अन्त में यह निश्चय हुआ, कि राजसत्ता की स्थापना की जाय। बवेरिया के राजकुमार ओटो को राजगद्दी अर्पित की गई और ग्रीस स्वतन्त्र राजसत्तात्मक राज्य में परिवर्तित हो गया।

एड्रियानोपल की सन्धि द्वारा ही रूमानियन लोगों की स्वाधीनता को भी स्वीकृत किया गया था। उनके प्रदेशों का भी एक पृथक् राज्य बना दिया गया, जो कि रूमानिया के नाम से प्रसिद्ध है। टर्की के साथ इसका केवल इतना सम्बन्ध रक्खा गया कि रूमानिया को प्रतिवर्ष एक निश्चित धनराशि भेंट के रूप में टर्की को देनी होती थी।

(३) बाल्कन प्रायद्वीप में अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का प्रारम्भ और क्रीमियन युद्ध

ग्रीस के तुर्की साम्राज्य से निकल जाने पर टर्की की शक्ति बहुत कुछ क्षीण हो गई। अन्य यूरोपियन राज्यों ने समझा कि अपनी शक्ति

का विस्तार करने का यह सुवर्णावसर है। उन्होंने बाल्कन प्रायद्वीप में अपना प्रभाव कायम करने के लिये संघर्ष प्रारम्भ कर दिया। इस संघर्ष को ठीक ठीक समझने के लिये पहले कुछ बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—

(१) रशिया का उत्तरी समुद्र उत्तरी ध्रुव के बहुत समीप है, वहाँ अत्यधिक ठण्ड पड़ती है। अतः शीत ऋतु में वह जम जाता है, और सामुद्रिक आवागमन का मार्ग बन्द हो जाता है। रशिया के पास सामुद्रिक आवागमन का केवल एक ही मार्ग ऐसा है, जो सारे साल खुलारहता है। वह है, काला सागर (Black sea) से डार्डेनल्स और बोस्पोरस के जलडमरूमध्यों में से गुजर कर ईगियन सागर में आना और फिर वहाँ से भूमध्यसागर में पहुँच जाना। डार्डेनल्स और बोस्पोरस के जलडमरूमध्यों के दोनों तरफ के प्रदेशों पर किसका राज्य है, यह बात रशिया के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि इन प्रदेशों पर कोई शक्तिशाली राजा राज्य करता हो और वह रशिया का विरोध करने के लिये उतारू हो जावे, तो रशिया के व्यापार को बहुत नुकसान पहुँच सकता है। साथ ही, रशिया के जंगी जहाजों के बेड़े के लिये भी यही एकमात्र मार्ग है। यदि इस मार्ग से अन्य देशों के जंगी बेड़े भी स्वतन्त्रता पूर्वक आ जा सकें, तो यह बात रशिया के लिये अत्यन्त खतरनाक हो सकती है। इन बातों को सम्मुख रखकर यह सुगमता से समझा जा सकता है, कि रशिया का हित इस बात में था कि या तो टर्की का सुलतान उसके प्रभाव को स्वीकृत करे और उसे इस मार्ग में पूर्ण रूप से सुविधायें प्रदान करे और या, टर्की की शक्ति क्षीण हो जावे और बाल्कन प्रायद्वीप में जो विविध स्वतन्त्र राज्य स्थापित हों, वे रशिया को अपना संरक्षक मानें। रशिया के लिये यह दूसरा उपाय अधिक सम्भव तथा क्रियात्मक था। कारण यह कि बाल्कन प्रायद्वीप में अनेक इस प्रकार की जातियाँ निवास करती थीं, जो जातीय दृष्टि से रशिया की

जातियों से मिलती जुलती थीं। साथ ही, इस प्रायद्वीप के लोगों का धर्म रशियन लोगों के धर्म के समान था। ईसाइयत का जो सम्प्रदाय रशिया के अधिकांश भाग में प्रचलित था, वही बाल्कन प्रायद्वीप में भी विद्यमान था। टर्की के मुसलमान शासकों के विरुद्ध बाल्कन प्रायद्वीप की ईसाई प्रजा का पक्ष लेकर रशिया सुगमता से उन्हें अपने प्रभाव तथा संरक्षा में ला सकता था।

(२) एशिया में इस समय जो विविध यूरोपीयन राज्य अपना साम्राज्य बना रहे थे, उनमें रशिया और ग्रेट ब्रिटेन प्रमुख थे। ब्रिटेन भारतवर्ष को अपनी अधीनता में ला चुका था। रशिया प्रशान्त महासागर तक उत्तरी एशिया में अपना अधिकार स्थापित कर चुका था। अनेक स्थानों पर इन दोनों साम्राज्यों की सीमायें मिलती भी थीं। दोनों को एक दूसरे का भय था।

इसके अतिरिक्त, ब्रिटेन के लिये अपने पूर्वी साम्राज्य में पहुँचने का मार्ग स्वेज के स्थलडमरूमध्य के सिवा अन्य कोई न था।[1] इस मार्ग के आसपास के प्रदेशों पर किसका राज्य है, यह बात ब्रिटेन के लिये अत्यन्त महत्त्व रखती थी। यदि रशिया टर्की की शक्ति को नष्ट कर बाल्कन प्रायद्वीप पर अपना प्रभाव कायम कर ले, तो वह स्वेज के

१. स्वेज की नहर १८६९ में बनकर तैयार हुई थी। पर स्वेज का मार्ग उससे पहले भी प्रयोग में आता था। उस समय ग्रेट ब्रिटेन तथा अन्य यूरोपियन राज्यों के जहाज पहले एलेक्जेन्ड्रिया पहुँचते थे। वहाँ उनका माल-असबाब उतार दिया जाता था। उसे काफिलों द्वारा स्थलमार्ग से स्वेज पहुँचाया जाता था। वहाँ अन्य जहाज तैयार रहते थे। उन पर सब माल लाद दिया जाता था और फिर ये नये जहाज पूर्व में भारत आदि की तरफ आते थे। १८६९ के बाद यूरोप से पूर्व की तरफ जहाजों का सीधा आना-जाना प्रारम्भ हो गया।

इस मार्ग के बहुत नजदीक तक पहुँच जाता था। एशियाई साम्राज्य के अपने सबसे शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी का अपने मार्ग के इतने समीप पहुंच जाना ब्रिटेन को कभी सह्य नहीं हो सकता था। टर्की की ताकत बहुत कम थी। ब्रिटेन को उससे कोई डर न था। अतः उसका हित इसी बात में था कि टर्की नष्ट न होने पावे, उसकी थोड़ी बहुत शक्ति कायम रहे, ताकि रशिया बाल्कन प्रायद्वीप पर अपना प्रभाव न जमा सके। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि बाल्कन राज्यों और टर्की के सम्बन्ध में रशिया और ब्रिटेन की नीति एक दूसरे से सर्वथा विरुद्ध थीं। वे परस्पर टक्कर खाती थीं।

(३) रशिया और ग्रेट ब्रिटेन के इन परस्पर विरुद्ध हितों के अतिरिक्त एक और बात है, जिस पर हमें दृष्टि रखनी चाहिये। टर्की के सुलतान का प्रधान सामन्त राजा ईजिप्ट का पाशा था। वह बहुत शक्तिशाली तथा महत्त्वाकांक्षी था। टर्की की शक्ति को क्षीण होते देख वह अपने को स्वतन्त्र करने तथा अपने राज्य को बढ़ाने के प्रयत्न में था। यूरोपियन राज्यों के सम्मुख यह भी समस्या थी कि टर्की को सहायता दें या ईजिप्ट को। फ्रांस किस प्रकार उत्तरी अफ्रीका में साम्राज्य विस्तार के लिये प्रयत्नशील था, इसका उल्लेख आगे चल कर किया जायगा। ईजिप्ट के पाशा की क्या स्थिति हो, यह बात उसके लिये अत्यन्त महत्त्व की थी। ब्रिटेन भी इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता था। इस दशा में विविध यूरोपियन राज्य परस्पर जो दाँव-पेंच चल रहे थे, उन्होंने बाल्कन प्रायद्वीप सम्बन्धी इस अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष को और भी पेचीदा बना दिया था।

ग्रीस के स्वातन्त्र्य युद्ध की समाप्ति पर १८३२ में ईजिप्ट के शक्तिशाली पाशा मोहम्मद अली ने अपने अधिपति सुलतान महमूद द्वितीय के विरुद्ध युद्ध उद्घोषित किया। सीरिया और पेलेस्टाइन को अपने अधीन कर ईजिप्सियन सेना एशिया माइनर में प्रवेश करने

लगी। अब सुलतान को चिन्ता हुई। उसने ब्रिटेन, फ्रांस और रशिया से सहायता की प्रार्थना की ब्रिटेन और फ्रांस ने कोई इस पर ध्यान न दिया। पर रशिया सहायता के लिये आगे बढ़ा। इस समय तक रशिया का यह ख्याल था कि तुर्की सुलतान से मित्रता स्थापित कर उसे अपने प्रभाव में लाया जा सकता है। रशियन सेनाओं ने कोन्स्टेन्टिनोपल की तरफ प्रस्थान किया। जब यह समाचार ब्रिटेन और फ्रांस ने सुना, तो वे घबरा गये। रशिया की इस बढ़ती हुई शक्ति तथा प्रभाव को वे सहन नहीं कर सकते थे। उन्होंने हस्तक्षेप किया और टर्की तथा ईजिप्ट में समझौता कराने का उद्योग प्रारम्भ हुआ। एशिया माइनर के दक्षिण पूर्वी प्रदेश तथा सीरिया पर ईजिप्सियन पाशा की सूबेदारी (जिसका अभिप्राय उसका स्वतन्त्र शासन था) स्थापित की गई और इस प्रकार उसे संतुष्ट किया गया। रशिया ने टर्की की सहायता करने के लिये हाथ बढ़ाया था, अतः उसे दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सुविधायें प्राप्त हुईं (१) बोस्पोरस और डार्डेनल्स के जल-डमरूमध्यों के बीच से रशिया के जंगी जहाज स्वतन्त्रतापूर्वक आ जा सकें और अन्य किसी राज्य को यह अधिकार प्राप्त न हो। (२) जब टर्की पर कोई शत्रु आक्रमण करे, तो रशिया उसकी सहायता करे। यह सन्धि रशिया के लिये बहुत लाभदायक थी। रशिया टर्की का एक प्रकार से संरक्षक बन गया था और काला सागर का सामुद्रिक तट केवल उसके जंगी जहाजों के लिये सुरक्षित रह गया था। रशिया यही दो बातें चाहता था। दोनों उसे पूर्ण रूप से प्राप्त हो गई थीं।

जब यूरोप के अन्य राज्यों को इस सन्धि का पता लगा, तो उनके रोष की सीमा न रही। अखबारों में बड़े गरम लेख निकलने लगे। ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस इसका विरोध करने के लिये आपे से बाहर हो गये। रशिया का विरोध करने के लिये जंगी जहाजों का एक बेड़ा तुर्की समुद्र में भेजा गया। उधर रशिया भी लड़ाई की तैयारी करने लगा।

युद्ध के बादल आकाश में मँडराने लगे। ऐसा प्रतीत होता था, कि अब लड़ाई हुए बिना न रहेगी। पर कुछ समय के लिये लड़ाई की घड़ी टल गई। अन्दर अन्दर आग धधक रही थी, पर अभी वह सुलग कर ज्वालाओं के रूप में प्रगट नहीं हुई थी।

१८३३ में ईजिप्ट के पाशा और तुर्की सुलतान में परस्पर सन्धि हो गई थी। पर यह सन्धि देर तक कायम न रह सकी। सुलतान इस बात से बहुत दुखी था कि सारिया का प्रदेश उसके हाथ से निकल कर पाशा के पास चला गया था। उसने लड़ाई के लिये तैयारी की। १८३९ में टर्की ने ईजिप्ट के खिलाफ युद्ध उद्घोषित कर दिया। परन्तु इस बार उसकी और भी बुरी तरह पराजय हुई। यदि यूरोपियन राज्य हस्तक्षेप न करते, तो शायद टर्की बचता भी नहीं। पर ग्रेट ब्रिटेन इस कमजोर राज्य का विनाश नहीं सह सकता था। उसका अपना हित इस बात में था कि टर्की बना रहे। इन यूरोपियन राज्यों के हस्तक्षेप के कारण टर्की की रक्षा तो हो गई, पर अब प्रश्न यह उत्पन्न हुआ कि सन्धि किस प्रकार की जावे। फ्रांस ईजिप्ट के पक्ष में था और ब्रिटेन टर्की के। रशिया तो १८३३ की सन्धि के अनुसार टर्की का संरक्षक ही बना हुआ था। अब जो १८४० में नई सन्धि हुई, उसमें रशिया को उन विशेषाधिकारों का परित्याग करना पड़ा, जो उसने १८-३३ में प्राप्त किये थे। बोस्पोरस और डार्डेनल्स के जल-डमरूमध्यों में जंगी जहाजों को ले जाने का एकाधिकार उसके पास न रह गया और टर्की पर से उसकी संरक्षकता भी नष्ट हो गई। १८४० की सन्धि द्वारा ईजिप्ट के पाशा की शक्ति को सीमित किया गया और यूरोपियन राज्यों ने टर्की की रक्षा में ही अपना हित समझा।

१८४० से १८५३ तक टर्की और बाल्कन प्रायद्वीप के मामलों में इसी प्रकार राजनीतिक दाँव पेंच जारी रहे। रशिया चाहता था कि टर्की पर अपना आधिपत्य कायम करे। पहले वह मित्रता की नीति

से टर्की को अपने काबू में करना चाहता था। १८३२-३३ के युद्ध में ईजिप्ट के खिलाफ टर्की की सहायता उसने इसी लिये की थी, कि इससे वह टर्की का संरक्षक बन सकेगा। सामयिक तौर पर उसे अपने उद्देश्य में सफलता भी हुई थी। पर उसके बाद जो घटनायें हुईं, उनसे वह भली भाँति समझ गया कि इस नीति में उसे सफलता नहीं हो सकती, यूरोप के अन्य राज्य यह बात कभी सहन न कर सकेंगे। अब उसने नई नीति का अनुसरण किया। उसने सोचा, यदि टर्की के साम्राज्य को नष्ट कर अपने कब्जे में कर लिया जाय, तो ठीक रहेगा। परन्तु इस उद्देश्य में ग्रेट ब्रिटेन उसका सबसे बड़ा विरोधी था। अतः रशियन सम्राट् ने विचार किया कि तुर्की साम्राज्य को नष्ट कर यदि उसका एक हिस्सा ब्रिटेन को प्रदान कर दिया जाय, तो सम्भवतः काम चल जावेगा। ब्रिटेन यही तो चाहता है, कि स्वेज के मार्ग पर उसका कब्जा रहे। यदि ईजिप्ट तथा स्वेज के प्रदेश उसे मिल जावें, तो उसे लाभ ही लाभ है। रशिया अपने लिये ब्रिटेन से यही मनाना चाहता था, कि कोन्स्टेन्टिनोपल पर कब्जा करने का उसे अधिकार रहे, और बाल्कन प्रायद्वीप के विविध क्रिश्चियन राज्य (जो कि तुर्की साम्राज्य के नष्ट होने पर स्वतन्त्र रूप से स्थापित कर दिये जावेंगे) उसकी संरक्षा में रहें। रशिया समझता था कि इस सौदे में ब्रिटेन को भी पूरा लाभ है, वह इसके लिये तैयार हो जावेगा और यदि रशिया और ब्रिटेन टर्की के मामले में एकमत हो जावें, तो अन्य किसी यूरोपियन राज्य की हिम्मत न होगी कि उनकी सम्मिलित नीति का विरोध कर सके।

इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर १८४४ में रशियन सम्राट् ने इङ्गलैण्ड की यात्रा की। पर वहाँ विदेशी राजनीति के पंडितों ने उसके विचार का स्वागत नहीं किया। १८५३ में यही विचार फिर ब्रिटिश राजदूत के सम्मुख सेण्ट पीटर्सबुर्ग में उपस्थित किया गया।

पर अब फिर ब्रिटेन ने रशिया की योजना से असहमति प्रगट की। बात यह है, कि ब्रिटेन एशिया के साम्राज्य में अपना सबसे बड़ा प्रतिस्पर्धी रशिया को समझता था। वहाँ रशिया यदि कोन्स्टेन्टिनोपल पर कब्जा कर बाल्कन प्रायद्वीप पर भी अपना अधिकार स्थापित कर ले, तब तो उसकी शक्ति की कोई सीमा ही न रहेगी। स्थल में तो रशिया बहुत अधिक शक्ति रखता ही था, अब जल में भी उसे अपने शक्ति-विस्तार का सुवर्णावसर प्राप्त हो जायगा। ईजिप्ट और स्वेज पर यदि ब्रिटेन का कब्जा कायम हो भी जाता, तो उसे विशेष लाभ न था। पड़ोस में ही शक्तिशाली रशिया का होना उसके लिये भयंकर खतरा था। ब्रिटेन रशिया की शक्ति को इस प्रकार बढ़ते हुए कभी न देख सकता था। यही कारण है जिससे उसने रशियन योजना को अस्वीकृत कर दिया। अब रशिया के सम्मुख एक ही मार्ग था। वह यह कि ब्रिटेन का विरोध कर वह टर्की पर अपना कब्जा कायम करने का प्रयत्न करे। डार्डेनल्स और बोस्पोरस के जलडमरूमध्य तथा उनके समीपवर्ती प्रदेश उसके लिये कितने महत्त्वपूर्ण हैं, यह पहले प्रदर्शित किया जा चुका है। रशिया जिस तरह भी सम्भव हो, उन्हें अपनी अधीनता में लाना चाहता था। युद्ध द्वारा अपनी शक्ति परीक्षा के सिवा अब उसके सम्मुख अन्य कोई उपाय न था।

ब्रिटेन की ओर से निराश होकर रशिया टर्की के विरुद्ध युद्ध उद्घोषित करने के लिये उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में था। ऐसा अवसर १८५३ में उपस्थित हो गया। ईसाइयों के पवित्र स्थान पेलेस्टाइन और जेरुसलम अनेक सदियों से तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत थे। यूरोप भर से ईसाई यात्री वहाँ पर तीर्थयात्रा के लिये जाते थे। इसके सिवा, इन प्रदेशों की अधिकांश आबादी ईसाई धर्म को माननेवाली थी। तुर्क सुलतान उनसे किस प्रकार का व्यवहार करता है, इस सम्बन्ध में शिकायतों का अवसर सदा विद्यमान रहता था। १८५३ में जेरुसलम के ईसाई

यात्रियों की अनेक शिकायतें रशिया के सम्राट् के कानों तक पहुँचीं। रशिया का सम्राट् अपने को तुर्की साम्राज्य की ईसाई प्रजा का स्वाभाविक संरक्षक समझता था। उसने समझा, टर्की के खिलाफ लड़ाई शुरू करने का यह अच्छा मौका है। मार्च १८५३ में उसने सुलतान के नाम एक अन्तिम सूचना (अल्टिमेटम) जारी की, जिसमें कि यह माँग की गई कि सुलतान रशियन सम्राट् को ईसाई प्रजा का संरक्षक स्वीकृत करे।

रशियन सम्राट् के इस कार्य को ग्रेटब्रिटेन कभी नहीं सह सकता था। उस समय टर्की में ब्रिटिश राजदूत के पद पर लार्ड स्ट्रेटफोर्ड विद्यमान था। उसने सुलतान को प्रेरित किया कि वह रशिया की माँग को स्वीकृत न करे। परिणाम यह हुआ, कि रशियन राजदूत ने टर्की से प्रस्थान कर दिया। ब्रिटेन तो रशिया के विरुद्ध टर्की की सहायता करने को तैयार था ही, उधर फ्रांस ने भी टर्की का पक्ष लिया। फ्रांस का अधिपति इस समय नैपोलियन तृतीय था। उसने उद्घोषित किया कि सुलतान से जो सन्धियाँ पहले हो चुकी हैं, उनके अनुसार टर्की की कैथोलिक प्रजा की संरक्षक फ्रांस है। रशिया को कोई अधिकार नहीं है, कि वह ईसाइयों के मामले में हस्तक्षेप कर सके। रशियन राजदूत के टर्की से चले आने पर भी कुछ महीने तक समझौते के लिये बातचीत जारी रही। परन्तु सुलह के प्रयत्नों को सफलता नहीं हो सकी। आखिर, १८५४ में युद्ध प्रारम्भ हो गया। इसमें फ्रांस और ब्रिटेन रशिया के विरुद्ध टर्की की सहायता कर रहे थे। इतिहास में यह युद्ध 'क्रीमियन युद्ध' के नाम से प्रसिद्ध है। काला सागर में एक अन्तरीप है, जिसका नाम है क्रीमिया। यह युद्ध प्रधानतया क्रीमियन अन्तरीप में लड़ा गया था, इसीलिये इसे क्रीमियन युद्ध कहते हैं।

यह क्रीमियन युद्ध दो वर्ष तक जारी रहा। दोनों पक्षों को बहुत सख्त नुकसान उठाना पड़ा। ५ लाख से अधिक आदमियों का इस

युद्ध में संहार हुआ। अरबों रुपये नष्ट हुए। इतने जन और धन का संहार करके भी ब्रिटिश तथा फ्रेञ्च लोग रशिया को बहुत नुक़सान नहीं पहुँचा सके। क्रीमियन अन्तरीप के दक्षिण-भाग में स्थित सेबेस्टपोल के घेरे में ही उनकी अत्यधिक शक्ति व्यय हो गई। इस दशा में युद्ध को जारी रखना उन्हें बहुत उपयोगी प्रतीत नहीं होता था। उधर रशिया भी युद्ध से तंग आ गया था। उसे यह भी खतरा था कि कहीं आस्ट्रिया शत्रुओं के साथ सम्मिलित न हो जावे। आस्ट्रियन सरकार भी बाल्कन प्रायद्वीप में अपनी शक्ति विस्तृत करना चाहती थी। इस आकांक्षा में रशिया सबसे बड़ी रुकावट था। आस्ट्रिया ने समझा उसे परास्त करने का यह अच्छा मौका है। यदि आस्ट्रिया भी रशिया के विरुद्ध युद्ध उद्घोषित कर देता, तो टर्की का पक्ष बहुत प्रबल हो जाता। इस दशा में रशिया ने भी यही उपयुक्त समझा कि सन्धि कर लेने में ही अपना हित है। ३० मार्च १८५६ को सन्धि हो गई। यह इतिहास में पेरिस की सन्धि के नाम से मशहूर है। सन्धि की मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—

(१) तुर्की साम्राज्य की स्वतन्त्रता को विविध राज्यों ने सामूहिक रूप से स्वीकृत किया। (२) सबने इस बात को स्वीकृत किया कि तुर्की साम्राज्य के आन्तरिक मामलों में कोई हस्तक्षेप न करे (३) काला सागर को युद्ध की दृष्टि से उदासीन माना गया और यह व्यवस्था की गई कि कोई भी राज्य वहाँ पर अपने जङ्गी जहाजों का बेड़ा न रख सके और न ही उसके तट पर युद्ध के लिये सामान जुटा सके। (४) रूमानिया और सर्विया में रशिया अपना संरक्षा का अधिकार मानता था। उसने इस अधिकार का परित्याग किया और सब राज्यों ने इन दोनों देशों की स्वतन्त्रता को कायम रखने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली। इस प्रकार इस सन्धि में रशिया को बहुत नीचा देखना पड़ा। ब्रिटेन की नीति को पूर्ण सफलता हुई। टर्की के साम्राज्य को कायम रख कर रशिया की महत्वा-

कांक्षाओं को रोका जा सकता है, ब्रिटेन के इस विचार को पूर्ण रूप से सफलता प्राप्त हुई।

(४) बाल्कन राज्यों की स्वाधीनता

यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है, कि ग्रेट ब्रिटेन का हित इस बात में था, कि तुर्की साम्राज्य को नष्ट होने से बचाया जाय। रशिया के भय से अपने एशियाई साम्राज्य की रक्षा करने के लिये उसे यह आवश्यक प्रतीत होता था कि टर्की नष्ट न होने पावे। परन्तु टर्की का शासन इतना विकृत था, कि इस नये जमाने में वह देर तक जीवित नहीं रह सकता था। मध्यकालीन संस्थायें वहाँ अभी तक विद्यमान थीं। देश का शासन इस्लाम के सिद्धान्तों के अनुसार किया जाता था। धर्म और राजनीति में भेद नहीं समझा जाता था। परिणाम यह था, कि साम्राज्य की ईसाई प्रजा के साथ बहुत अन्याय होता था। इतना ही नहीं, राज्यक्रान्ति से पूर्व फ्रांस में जो अनेकविध बुराइयाँ विद्यमान थीं, वे प्रायः सभी इस समय के टर्की में भी पाई जाती थीं। रिश्वत का बाजार गरम था। कुलीन लोगों तथा पुरोहित श्रेणियों के विशेषाधिकारों का कोई अन्त न था। सर्वसाधारण जनता नानाविध करों से पीड़ित थी। सुलतान तथा उसके दरबारियों के लिये अनन्त सम्पत्ति का अपव्यय होता था। इस दुर्दशा को सुधारने का अनेक लोगों ने प्रयत्न किया। पर वे सफल न हो सके। परिणाम यह हुआ, कि सरकार का कर्ज निरन्तर अधिक अधिक बढ़ता गया। पेरिस और लण्डन से बहुत भारी परिमाण में राष्ट्रीय ऋण लिये गये। यदि इस धन को समझदारी से प्रयोग में लाया जाता, तो टर्की की आर्थिक दशा सुगमता से सँभल सकती थी। पर इसे भी भोग-विलास में उड़ा दिया गया। आखिर, अधिक ऋण ले सकना भी सम्भव नहीं रहा। अब क्या हो सकता था? दीवालिया हो जाने के सिवा अन्य कोई

चारा न था। १८७५ में सुलतान ने उद्घोषित किया, कि टर्की दीवालिया हो गया है। अब यूरोप के उत्तमर्ण राज्यों के सम्मुख यह प्रश्न था कि टर्की से कर्ज किस प्रकार वसूल किया जावे। आखिर, १८८१ में एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन नियत किया गया, जिसने कि टर्की की आर्थिक स्थिति को सँभालने का कार्य अपने हाथों में लिया। इससे आर्थिक दृष्टि से टर्की पर विदेशी प्रभाव कायम हो गया। अपने शासन की कमजोरी के कारण टर्की कितना दुर्दशाग्रस्त था, इसका अनुमान करने के लिये यह एक बात ही बहुत पर्याप्त है।

पर टर्की के सम्मुख केवल यही समस्या नहीं थी। उसके साम्राज्य में जो विविध जातियाँ निवास करती थीं, वे सब अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये हाथ-पैर मार रही थीं। सर्विया, ग्रीस और रूमानिया ने किस प्रकार टर्की के खिलाफ विद्रोह किये, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त अन्य प्रदेश भी स्वतन्त्र होने के लिये उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में थे। उनमें राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न हो चुकी थी। जुलाई, १८७५ में बोस्निया तथा हर्जेगोविना नामक प्रदेशों के रहनेवाले युगोस्लाव लोगों ने विद्रोह किया। १८७४-७५ का साल बाल्कन प्रायद्वीप के लिये बहुत ही भयंकर था। वर्षा के अभाव के कारण उस साल फसलें बिलकुल नष्ट हो गई थीं। किसानों के लिये सरकारी मालगुजारी तक दे सकना असम्भव हो गया था। पर तुर्की सरकार के कर्मचारियों ने रैयत के साथ जरा भी दया व सहानुभूति प्रदर्शित नहीं की। उन्होंने जबर्दस्ती कर वसूल करने का प्रयत्न किया। इससे जनता में बहुत असन्तोष फैल गया। रशिया तो बाल्कन जातियों में विद्रोह का प्रसार करने के लिये सदा उद्यत रहता ही था। उसके प्रयत्नों तथा आर्थिक संकट के कारण बोस्निया तथा हर्जेगोविना में विद्रोहाग्नि भड़क उठी। सर्विया ने विद्रोहियों की सहायता की। बोस्निया तथा हर्जेगोविना में जो जाति निवास करती है, वही सर्विया में भी रहती

है। अतः उनमें परस्पर सहानुभूति का होना सर्वथा स्वाभाविक था। सर्विया ने सेना द्वारा विद्रोहियों की सहायता की। तुर्की फौजें परास्त कर दी गईं। कुछ समय के लिये बोस्निया और हर्जेगोविना विदेशी शासकों से मुक्त हो गये। पर अपनी इस सामयिक स्वतन्त्रता को देर तक कायम रख सकना सुगम कार्य न था। अतः विद्रोही युगोस्लाव लोगों ने यूरोप के प्रमुख राज्यों से प्रार्थना की, कि टर्की के विरुद्ध उनकी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकृत करें। यूरोप के राज्यों के लिये इस सम्बन्ध में अपनी नीति का निर्धारण कर सकना सुगम कार्य न था। इस सम्बन्ध में उनके हित आपस में टकराते थे। कई बार समझौते की कोशिश की गई, पर सफलता नहीं हुई। स्वाभाविक रूप से, सर्विया और मान्टनिग्रो (बाल्कन प्रायद्वीप का एक छोटा सा स्वतन्त्र राज्य, जिसमें प्रधानतया स्लाव-जाति का निवास था) अपने सहजातियों को अपने साथ मिलाना चाहते थे। उनकी यह आकांक्षा यूरोपियन राज्य पूर्ण नहीं होने देते थे। परिणाम यह हुआ, कि समझौते की बात-चीत से निराश होकर जून १८७६ में उन्होंने टर्की के खिलाफ बाकायदा युद्ध उद्घोषित कर दिया।

जिस समय बोस्निया और हर्जेगोविना के युगोस्लाव लोग टर्की के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे, उसी समय उधर बल्गेरियन लोगों ने भी विद्रोह कर दिया था। तुर्की सरकार ने इन विद्रोहियों पर भयंकर अत्याचार किये। बल्गेरियन लोगों में संगठन का अभाव था। उनके निरस्त्र किसानों को भयंकर रूप से कुचला गया। साठ के लगभग ग्रामों को जला कर राख कर दिया गया। १२ हजार से अधिक पुरुषों, स्त्रियों तथा बच्चों का कत्ल हुआ। इन अत्याचारों का परिणाम यह हुआ कि कुछ समय के लिये बल्गेरियन-विद्रोह शान्त हो गया। तुर्की सेना को सर्विया का मुकाबला करने में भी असाधारण सफलता प्राप्त हुई। स्लाव लोग परास्त हो गये। ऐसा प्रतीत होने लगा कि

सुलतान अपने विशाल साम्राज्य में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने में सफल हो जावेगा। परन्तु बल्गेरिया में जो भयंकर अत्याचार हुए थे, उनके समाचार यूरोप के समाचार-पत्रों में प्रकाशित हो रहे थे। लोग इन्हें पढ़ते थे और अपने ईसाई बन्धुओं पर मुसलमानों द्वारा किये गये इन क्रूर अत्याचारों पर रोष प्रकट करते थे। टर्की का मुसलमान सुलतान बाल्कन राज्यों की ईसाई प्रजा की राष्ट्रीय भावनाओं को इस पाशविकता से कुचल दे, इस बात को यूरोपियन जनता सहन नहीं कर सकती थी। इङ्गलैण्ड में उदार दल के प्रसिद्ध नेता मि० ग्लेडस्टन ने टर्की के विरुद्ध बाल्कन राज्यों की सहायता के लिये आन्दोलन प्रारम्भ किया। समाचारपत्रों और सार्वजनिक सभाओं में बल्गेरिया में किये गये क्रूर अत्याचारों की घोर निन्दा की गई। ग्लैडस्टन तथा उसके अनुयायी उदार नेताओं का विचार था, कि इङ्गलैण्ड को अपनी पुरानी नीति का परित्याग कर टर्की के विरुद्ध बाल्कन विद्रोहियों की सहायता करनी चाहिये। पर इस समय पार्लियामैन्ट में उदार दल का बहुमत नहीं था। अनुदार दल के लोग अभी पुरानी नीति का अनुसरण करने में ही इङ्गलैण्ड का हित समझते थे। परन्तु बाल्कन राज्यों में तुर्क शासकों द्वारा किये गये अत्याचारों के जो समाचार निरन्तर प्राप्त हो रहे थे, उन्हें दृष्टि में रखते हुए कुछ न कुछ करना आवश्यक था। आखिर, कोन्स्टेन्टिनोपल में स्थित ब्रिटेन तथा अन्य यूरोपीयन राज्यों के राजदूत एक स्थान पर एकत्रित हुए और उन्होंने आपस में परामर्श करके तुर्की सरकार के सम्मुख निम्नलिखित माँगें पेश कीं—(१) सर्विया, रुमानिया और मान्टनिग्रो की स्वाधीनता को पूर्ण रूप में स्वीकृत किया जाय। (यह ध्यान में रखना चाहिये कि ग्रीस पहले ही पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त कर चुका था।) (२) बल्गेरिया, बोस्निया और हर्जेगोविना को तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत स्वतन्त्र राज्य के रूप में स्वीकृत किया जाय। तुर्की सरकार इन माँगों को स्वीकृत

करने के लिये तैयार नहीं हुई। अब रशिया के लिये अच्छा मौका था। वह अच्छी तरह जानता था, कि सम्पूर्ण यूरोप का लोकमत टर्की के खिलाफ है। इस दशा में यदि उसके विरुद्ध युद्ध उद्घोषित कर दिया जाय, तो अन्य कोई राज्य विघ्न नहीं डालेगा। इसी विश्वास से २४ एप्रिल, १८७७ को रशिया ने टर्की के विरुद्ध युद्ध शुरू कर दिया।

१८७७-७८ का यह युद्ध बाल्कन प्रायद्वीप के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। रशिया की एक सेना आक्रमण करती हुई कोन्स्टेन्टिनोपल के अत्यन्त समीप सन स्टेफिनो नामक गाँव तक पहुँच गई। कोन्स्टेन्टिनोपल रशिया के अधीन होने वाला ही था, कि ग्रेट ब्रिटेन की पुरानी राजनीति ने फिर टर्की का साथ दिया। रशिया के इस उत्कर्ष को ग्रेट ब्रिटेन कभी सहन नहीं कर सकता था। टर्की की सहायता करने वाला इस बार केवल ब्रिटेन ही नहीं था। आस्ट्रिया-हंगरी भी रशिया के खिलाफ उसे मदद पहुँचाने को उद्यत था। बात यह है, कि आस्ट्रिया-हंगरी भी अपनी साम्राज्यवाद की भूख को शान्त करने के लिये बाल्कन राज्यों की तरफ गृद्ध दृष्टि से देख रहा था। यदि रशिया जैसा शक्तिशाली राज्य इन्हें अपनी संरक्षा में ले आवे, तब तो आस्ट्रिया-हंगरी के लिये इन्हें अपनी अधीनता में ला सकने की कोई भी सम्भावना शेष न रह जाती थी। अतः उसका हित इसी बात में था, कि बाल्कन प्रायद्वीप रशिया के कब्जे में न आने पावे। ग्रेट ब्रिटेन और आस्ट्रिया-हंगरी के हस्तक्षेप का परिणाम यह हुआ, कि रशिया के सम्राट् को सन्धि करने के लिये बाधित होना पड़ा। १८७८ में सन्धि हो गई। यह सन्धि सन स्टेफिनो की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसकी मुख्य मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—

(१) रूमानिया, सर्विया और मोन्टनिग्रो को पूर्ण स्वाधीन राज्यों के रूप में स्वीकृत किया जावे।

(२) स्वतन्त्र बल्गेरिया का निर्माण किया जावे, जो कि

डैन्यूब नदी से ईगियन सागर तक तथा कालासागर से अल्बेनिया तक विस्तृत हो।

(३) बोस्निया, हर्जेगोबिना तथा आर्मिनिया के प्रदेशों में शासन-सुधार किये जावें।

(४) रशिया को हरजाने के तौर पर एक विपुल धन-राशि प्रदान की जावे तथा उत्तरी आर्मिनिया के कुछ प्रदेश और दोब्रुदजा का प्रदेश उसे प्राप्त हो।

(५) डैन्यूब के तट पर स्थिर तुर्की किलों को तोड़ दिया जावे।

जिस समय सन स्टेफिनो की सन्धि की शर्तें यूरोपियन समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुईं, तो ब्रिटिश तथा आस्ट्रियन लोग बहुत चिन्तित हुए। इन दोनों देशों का हित इस बात में था कि रशिया की शक्ति न बढ़ने पावे और टर्की का प्रभुत्व कायम रहे। इस सन्धि से रशिया की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। जहाँ एक तरफ उसे विपुल धन राशि तथाअनेक नवीन प्रदेश प्राप्त हुए थे, वहाँ नवीन बल्गेरिया पर भी उसका पर्याप्त प्रभाव रहना सर्वथा स्वाभाविक था। सर्विया, रूमानिया और मोन्टनिग्रो तो पहले ही उसके प्रभाव में थे। ब्रिटिश लोग रशिया के इस उत्कर्ष को कभी सहन न कर सकते थे। उन्होंने आन्दोलन करना प्रारम्भ किया, कि सन स्टेफिनो की सन्धि को रद्द कर यूरोपियन राज्यों की एक नई कान्फरेन्स होनी चाहिये और उसमें नये सिरे से सन्धि की जानी चाहिये। कुछ समय तक तो रशिया ने इस आन्दोलन का विरोध किया, पर सन स्टेफिनो की सन्धि के खिलाफ यूरोपियन लोकमत इतना प्रबल हो चुका था कि रशियन राजनीतिज्ञों ने ब्रिटेन के प्रस्ताव को स्वीकृत कर लेने में ही अपना कल्याण समझा। बर्लिन में यूरोपीयन राज्यों की कान्फरेन्स बुलाई गई और उसमें नये सिरे से बाल्कन प्रायद्वीप की समस्या पर विचार प्रारम्भ

हुआ। बर्लिन कान्फरेन्स में जो व्यवस्थायें की गईं, उन्हें संक्षिप्त रूप से प्रदर्शित करना अत्यन्त उपयोगी है—

(१) सर्विया, मोन्टनिग्रो तथा रूमानिया को पूर्णतया स्वाधीन राज्यों के रूप में स्वीकृत किया गया। रूमानिया की सीमा के सम्बन्ध में इतना भेद किया गया, कि बेस्सेरेबिया का प्रदेश उससे लेकर रशिया को दे दिया गया, परन्तु दोब्रुदजा का प्रदेश जो कि सन स्टेफिनो की सन्धि द्वारा रशिया को दिया गया था, अब रूमानिया को प्रदान किया गया।

(२) बल्गेरिया की स्वाधीनता को स्वीकृत किया गया, पर उसें बहुत छोटा सा राज्य बना दिया गया। डैन्यूब नदी तथा बाल्कन पर्वत-माला के मध्यवर्ती प्रदेश तक ही बल्गेरियन राज्य को सीमित कर दिया गया। बाल्कन पर्वतमाला के दक्षिण में स्थित रूमेलिया के प्रदेश में (यह सन स्टेफिनो की सन्धि के अनुसार बल्गेरियन राज्य के अन्तर्गत था) कुछ शासन-सुधार किये गये, जिनके अनुसार वहाँ का शासन करने के लिये टर्की की अधीनता में एक ईसाई सूबेदार की व्यवस्था की गई। सन स्टेफिनो की सन्धि के अनुसार बल्गेरिया का राज्य बहुत बड़ा था, मैसिडोनिया तक के प्रदेश उसके अन्तर्गत थे। अब उसकी सीमा को बहुत संकुचित कर शेष प्रदेशों को टर्की की अधीनता में ही कायम रखा गया।

(३) बोस्निया और हर्जेगोबिना के प्रदेश आस्ट्रिया को प्राप्त हुए। ये प्रदेश नाम-मात्र को तो टर्की के सुलतान के अधीन रखे गये, पर इनका शासन आस्ट्रिया के सुपुर्द कर दिया गया। आस्ट्रिया बाल्कन प्रायद्वीप में अपना प्रभाव बढ़ाने की कोशिश कर रहा था। इसीलिये वह रशिया के विरुद्ध टर्की और ग्रेट ब्रिटेन की सहायता करने को उद्यत रहता था। इन प्रदेशों को प्रदान कर उसे भी संतुष्ट किया गया।

(४) साइप्रस द्वीप ग्रेट ब्रिटेन को प्राप्त हुआ।

(५) थेसली और एपिरस के कुछ हिस्से ग्रीस को दिये गये।

(६) तुर्की सरकार की अधीनता में जो यूरोपियन प्रदेश अब रह गये थे, और जिनकी आबादी मुख्यतया ईसाई धर्म को मानने वाली थी, वे निम्नलिखित थे—मैसिडोनिया, आर्मीनिया और क्रीट। तुर्की सरकार से वचन लिया गया कि इन प्रदेशों में शीघ्र ही शासन-सुधार किये जावेंगे।

बर्लिन की यह सन्धि आधुनिक यूरोपीय इतिहास में बहुत महत्त्व-पूर्ण स्थान रखती है। इसकी शर्तों को पढ़ने से दो बातें सर्वथा स्पष्ट हो जाती हैं। प्रथम यह, कि राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की इसमें पूर्णतया उपेक्षा की गई थी। बल्गेरिया के नवीन राज्य का निर्माण करते हुए राष्ट्रीयता के प्रश्न को दृष्टि से ओझल कर दिया गया था। दूसरी बात यह, कि टर्की को कमजोर न होने देने की नीति बर्लिन कान्फरेन्स में भी विशेष सफल नहीं हो सकी थी। सन स्टेफ़िनो में लूट का प्रधान हिस्सा रशिया ने प्राप्त किया था। बर्लिन की सन्धि में ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रिया और ग्रीस भी उसके साथ हिस्सा बँटानेवाले हो गये थे। पर इसमें सन्देह नहीं, कि बर्लिन की सन्धि द्वारा लड़खड़ता हुआ टर्की कुछ देर तक और सँभल गया था। यूरोप में उसकी शक्ति अभी बहुत पर्याप्त थी।

१८७७-७८ की उथल-पुथल के बाद बल्गेरिया एक नया राज्य बना था। वहाँ के लोगों ने अपने देश के लिये नवीन शासन-विधान का निर्माण किया और रशियन सम्राट् के भतीजे वाटनवर्ग के अलैक्जण्डर को अपना राजा निर्वाचित किया। यद्यपि बल्गेरिया स्वतन्त्र राज्य बन गया था, पर वहाँ के लोग अच्छी तरह अनुभव करते थे, कि उनके साथ बर्लिन कान्फरेन्स में भारी अन्याय किया गया है। 'बल्गेरिया बल्गेरियन लोगों के लिये है' इस आन्दोलन ने प्रचण्ड रूप धारण

किया। सम्पूर्ण बल्गेरियन लोगों को मिलाकर एक शक्तिशाली बल्गेरिया का निर्माण करना चाहिये, इस उद्देश्य को दृष्टि में रख कर बल्गेरियन देशभक्त प्रयत्न करने लगे। रूमेलिया को बल्गेरिया से पृथक् कर कुछ शासन-सुधार दिये गये थे। वहाँ के लोग भी प्रयत्न कर रहे थे, कि बल्गेरिया से मिलकर एक शक्तिशाली संगठित राज्य का प्रादुर्भाव किया जावे। १८८५ में रुमेलिया के निवासियों ने विद्रोह कर दिया और अपने ईसाई सूबेदार को पदच्युत कर बहिष्कृत कर दिया। बल्गेरिया के लिये यह अच्छा मौका था। वहाँ के राजा ने उद्घोषित किया कि हम उत्तरीय और दक्षिणी—दोनों बल्गेरियन प्रदेशों के राजा हैं, और रुमेलिया को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया जाता है। तब से ये दोनों प्रदेश एक हो गये और बल्गेरिया की शक्ति बहुत अधिक बढ़ गई। बल्गेरियन राजा के इस कृत्य को अन्य यूरोपियन राज्यों ने उचित नहीं समझा। पर अन्ततोगत्वा वे इसको स्वीकृत करने के लिये बाधित हुए।

रूमेलिया की स्वतन्त्रता के बाद यूरोप में तुर्की राज्य बहुत सीमित रह गया। एड्रियाटिक से काला सागर तक का प्रदेश ही—जो स्थूल रूप में मैसिडोनिया के नाम से प्रसिद्ध है—अब टर्की की अधीनता में शेष बचा था। राष्ट्रीय दृष्टि से यह प्रदेश एक न था, इसमें अनेक जातियाँ निवास करती थीं। इसीलिये अनेक लेखकों ने इसे 'जातियों का अद्भुतालय' के नाम से लिखा है। मैसिडोनियन, बल्गेरियन, सर्व, अल्बेनियन, ग्रीक और तुर्क—ये सब जातियाँ इस छोटे से पहाड़ी प्रदेश में निवास करती थीं। इनमें प्रायः लड़ाई-झगड़े जारी रहते थे, और तुर्क शासकों के लिये यह सरल कार्य न था कि इस पर्वत प्रधान देश में सुगमता के साथ शासन कर सकें। साथ ही, इस प्रदेश में राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये भी आन्दोलन जारी था। इस कारण तुर्क शासकों का कार्य और भी कठिन हो गया था।

(५) टर्की की विविध समस्यायें

उन्नीसवीं सदी में यूरोप भर में जो लोकसत्तावाद की लहर चल रही थी, धीरे धीरे उसका असर टर्की पर भी पड़ रहा था। 'तरुण तुर्की' नाम से एक नवीन दल वहाँ प्रादुर्भूत हुआ था, जो एकतन्त्र राजसत्ता को नष्ट कर जनता के अधिकारों की स्थापना के लिये संघर्ष कर रहा था। इसी आन्दोलन का परिणाम था, कि १८७६ में टर्की में दो बार राज्यक्रान्ति हुई और दो सुलतानों—अब्दुल अजीज और मुराद पञ्चम—को एक साल के अन्दर अन्दर राजगद्दी से उतार दिया गया। 'तरुण तुर्क' दल का नेता मिधत पाशा था। मुराद पञ्चम के उत्तराधिकारी सुलतान अब्दुल हमीद द्वितीय को मिधत पाशा ने बाधित किया, कि पश्चिमी यूरोपियन राज्यों के अनुसरण में अपने देश में भी शासन-विधान का निर्माण करे। अब्दुल हमीद को विवश हो कर शासन विधान बनाना पड़ा। सब नागरिकों को समान अधिकार दिये गये। स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिये अनेक व्यवस्थायें की गईं। कानून बनाने के लिये प्रतिनिधिसभा और सीनेट की रचना की गई। मन्त्रिमण्डल को प्रतिनिधि सभा के प्रति उत्तरदायी बनाया गया। कुछ समय के लिये टर्की में भी वैध राजसत्ता कायम हो गई। देश में तरुण तुर्क दल का जोर था, इसी के प्रतिनिधि अधिक संख्या में प्रतिनिधि सभा में निर्वाचित हुए। मन्त्रिमण्डल में भी इन्हीं को नियत किया गया।

यदि यह शासन-विधान स्थिर रहता, तो निस्सन्देह कुछ ही वर्षों में टर्की फ्रांस और ब्रिटेन की तरह एक सभ्य तथा लोकसत्तात्मक राज्य बन जाता। परन्तु लोकसत्तावाद का नया सिद्धान्त तुर्क लोग इतनी जल्दी स्वीकृत नहीं कर सकते थे। किसी भी नये सिद्धान्त को पूर्णतया अपनाने में मनुष्यों को समय लगता है। जो प्रक्रिया फ्रांस और अन्य यूरोपियन राज्यों में हुई थी, वही टर्की में भी हुई। अब्दुल हमीद शासन-विधान की जञ्जीरों में जकड़ा हुआ होकर राज्य करना पसन्द नहीं

करता था। उसने शासन विधान की उपेक्षा कर तरुण तुर्क दल के नेताओं को बहिष्कृत कर दिया। ऐसे मन्त्रियों को नियत किया, जो उसकी हाँ में हाँ मिलावें, जो उसके हाथ की कठपुतली हों। अब्दुल हमीद अपने देश में पाश्चात्य प्रभाव के बहुत विरुद्ध था। उसका विश्वास था, कि पश्चिमी यूरोपियन राज्यों की महत्त्वाकांक्षाओं से बचने का केवल एक उपाय है; वह यह कि उनमें साम्राज्य के सम्बन्ध में मतभेदों को उत्पन्न किया जाय। यही कारण है, कि वह नई नई समस्याओं तथा मतभेदों को उत्पन्न करता रहता था। वह 'पान-इस्लाम' आन्दोलन का प्रबल पक्षपाती था। सम्पूर्ण मुसलमान राज्यों को मिल कर एक सूत्र में संगठित होना चाहिये, इसी से उनका कल्याण है, यह विश्वास उसके हृदय में बद्धमूल था। उसका यह भी विचार था, कि यूरोपियन राज्यों से अपनी रक्षा करने के लिये भी इस 'पान-इस्लाम' आन्दोलन की आवश्यकता है। अब्दुल हमीद बहुत शक्तिशाली तथा जबर्दस्त सुलतान था। अपने शासन-काल के प्रारम्भ में उसने जिन प्रदेशों का आधिपत्य प्राप्त किया था, वे प्रायः सभी अन्त तक उसकी अधीनता में बने रहे। पर इसमें सन्देह नहीं, कि उसके शासन-काल में नई प्रवृत्तियाँ बड़े वेग से कार्य कर रही थीं। एक तरफ़ जहाँ तरुण तुर्क आन्दोलन टर्की को आमूल चूल परिवर्तित कर लोकसत्तात्मक सभ्य देश बना देना चाहता था, वहाँ राष्ट्रीयता की लहर मैसिडोनिया के तुर्क-भिन्न निवासियों को टर्की के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये प्रेरित कर रही थी। मैसिडोनिया के निवासी तो अपनी स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्न कर ही रहे थे, साथ में ग्रीस, बल्गेरिया, सर्बिया आदि राज्य इस प्रयत्न में थे, कि मैसिडोनिया में निवास करनेवाले अपने अपने सजातीय लोगों को टर्की की अधीनता से मुक्त कराके अपने राज्य में सम्मिलित कर लें। टर्की के आधुनिक इतिहास में ये आन्दोलन किस प्रकार चल रहे थे, इसका संक्षिप्त रूप से उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक है।

टर्की के साम्राज्य में इस समय २५ लाख से अधिक ग्रीक लोग रहते थे। ग्रीस के दक्षिण में क्रीट नाम का विशाल द्वीप है, जिसमें मुख्यतया ग्रीक लोगों को निवास है। वह अभी टर्की के अधीन था। इसके सिवा मैसिडोनिया के दक्षिणी प्रदेशों में भी ग्रीक लोग ही रहते थे। स्वाधीन ग्रीस की यह स्वाभाविक तथा उचित आकांक्षा थी कि अपने सजातीय लोगों द्वारा आबाद इन प्रदेशों को टर्की की अधीनता से मुक्त करा के अपने साथ सम्मिलित कर लिया जाय। इसके लिये ग्रीस में प्रबल आन्दोलन चल रहा था। १८९६ में क्रीट में विद्रोह हुआ। राष्ट्रीय नेताओं ने ग्रीस के राजा को बाधित किया, कि क्रीट के विद्रोहियों की सहायता के लिये सेना भेजी जावे। बाकायदा युद्ध शुरू हो गया। क्रीट भूमध्यसागर में स्थित है। यूरोपियन राज्य नहीं चाहते थे कि भूमध्यसागर में—जो कि सामुद्रिक व्यापार की दृष्टि से अत्यत महत्त्वपूर्ण है—लड़ाई हो। उन्होंने हस्तक्षेप किया और सुलतान अब्दुल हमीद द्वितीय को बाधित किया, कि वह क्रीट की स्वतन्त्रता को स्वीकृत करे। क्रीट स्वतन्त्र हो गया। यद्यपि टर्की का आधिपत्य अभी कायम रखा गया था, पर क्रियात्मक रूप से क्रीट अब स्वतन्त्र ही हो गया था। पर क्रीटन लोग इससे भी पूर्णतया संतुष्ट नहीं थे। वे ग्रीस के साथ मिलना चाहते थे। टर्की का नाममात्र का आधिपत्य भी उन्हें सह्य नहीं था। १९०५ और १९०६ में वहां फिर विद्रोह हुये। १९०६ के विद्रोह के बाद क्रीट प्रायः ग्रीस के साथ सम्मिलित हो गया। वहाँ के शासक भी ग्रीस द्वारा नियत किये जाने लगे। पर अभी तक भी टर्की की छाया कायम रखी गई थी। १९१३ में क्रीट पूर्णतया टर्की की अधीनता से मुक्त होकर ग्रीस के साथ मिल गया। क्रीटन स्वाधीनता का प्रधान नेता वेनिजेलोस था। आगे चलकर यह ग्रीस का सर्वप्रधान राजनीतिज्ञ तथा नेता बन गया। क्रीट के हाथ आ जाने से ग्रीस की प्रधान महत्त्वाकांक्षा पूर्ण हो गई। पर मैसिडोनिया के कुछ प्रदेश

शेष थे, जो अभी तक उसके अधीन नहीं हो सके थे। ग्रीस उन्हें प्राप्त करने के लिये भी हाथ पैर पटक रहा था।

यह हम पहले प्रदर्शित कर चुके हैं, कि यूरोप में टर्की की अधीनता में जो प्रदेश शेष बचे थे, उन्हें मोटे तौर पर मैसिडोनिया कह दिया जाता है। इस मैसिडोनिया में मुख्यतया तीन जातियों का निवास था—बल्गेरियन, सर्ब और ग्रीक। सबसे पूर्व बल्गेरियन लोगों ने यह कोशिश प्रारम्भ की कि उन्हें स्वतन्त्र बल्गेरिया के साथ सम्मिलित कर लिया जाय। बल्गेरिया स्वयं इस प्रयत्न में अग्रसर हुआ। उसकी तरफ से एक कमेटी इसी कार्य के लिये नियत की गई, जिसका नाम था, 'सुप्राम मैसिडो-एड्रियानोपोलिटन कमेटी'। यह कमेटी अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये सशस्त्र डाकुओं के गिरोह तैयार करती थी, जो मैसिडोनिया पर आक्रमण कर वहाँ अव्यवस्था मचाते रहें। ये गिरोह मैसिडोनिया में रहनेवाले बल्गेरियन लोगों से मिल कर खूब उत्पात कर रहे थे। सर्विया और ग्रीस ने भी बल्गेरिया का अनुसरण किया। उनकी तरफ से भी अनेक गिरोह मैसिडोनिया में अव्यवस्था फैलाने लगे। टर्की की सरकार इनसे बहुत तंग थी। एक तो तुर्की शासन वैसे ही कमजोर था, दूसरा इन गिरोहों के कारण तो वहाँ बिलकुल अराजकता ही छा गई थी। इस दशा में तुर्की सरकार भयंकर अत्याचारों पर उतर आई। मैसिडोनियन प्रजा अपने शासकों के क्रूर अत्याचारों से पीड़ित होने लगी। वहाँ पर निवास करना भी मुश्किल हो गया।

यह परिस्थिति थी, जब कि १९०३ में यूरोपियन राज्यों ने मैसिडोनिया के मामले में हस्तक्षेप किया। आस्ट्रिया-हंगरी और रशिया के प्रतिनिधियों ने परस्पर मिलकर एक योजना तैयार की, जो कि तुर्की सरकार के सम्मुख पेश की गई। इस योजना की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) मैसिडोनिया में टर्की की सरकार किस

प्रकार शासन कर रही है, इस बात का निरीक्षण करने के लिये आस्ट्रिया और रशिया के प्रतिनिधि नियत किये जावें। (२) पुलीस का निरीक्षण तथा पुनः संगठन करने के लिये सब यूरोपियन राज्यों की ओर से अफसर नियत किये जावें, जिनका प्रधान इटालियन हो। (३) इन उपायों से जब मैसिडोनिया में शान्ति स्थापित हो जावे, तो वहाँ के शासन में सुधार किये जावें। यह योजना स्वीकृत कर ली गई। पाँच वर्ष तक यह कार्य में भी लाई गई। इससे कुछ समय तक मैसिडोनिया में शान्ति स्थापित रही। पर १९०८ में इस योजना का परित्याग कर दिया गया। परिणाम यह हुआ कि फिर अव्यवस्था मच गई और बल्गेरिया, सर्विया तथा ग्रीस यथापूर्व मैसिडोनिया में उत्पात मचाने लगे। ये राज्य न केवल टर्की की सरकार के विरोधी थे, पर साथ ही, आपस में एक दूसरे के भी दुश्मन थे। तीनों ही मैसिडोनिया के अधिक से अधिक भाग पर अपना आधिपत्य कायम करना चाहते थे। इसी कारण १९१२-१३ में बाल्कन युद्ध का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका उल्लेख हम आगे चलकर करेंगे। यहाँ इतना प्रदर्शित करना ही पर्याप्त है, कि इन विविध बाल्कन राज्यों की महत्त्वाकांक्षाओं के कारण टर्की बहुत परेशान था। उसके लिये इनकी समस्या का हल कर सकना सुगम कार्य न था।

राष्ट्रीयता की लहर केवल यूरोपियन टर्की में ही व्याप्त नहीं हो रही थी, सुलतान की एशियाई प्रजा भी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये प्रयत्न करने लगी थी। एशिया माइनर की पूर्वीय सीमा पर एक प्रदेश है, जिसका नाम है आर्मीनिया। यह टर्की के अधीन था। आर्मीनियन लोग सभ्यता, संस्कृति आदि की दृष्टि से तुर्क लोगों से सर्वथा भिन्न थे। १८७८ के बाद स्वाधीनता प्राप्त करने के उद्देश्य से उन लोगों ने विद्रोह प्रारम्भ किये। सुलतान अब्दुल हमीद यह सहन नहीं कर सका कि आर्मीनियन लोग भी सिर उठाने लगें। उसने उन पर भयंकर

अत्याचार किये। १८६५-९६ में उसने आर्मीनियन लोगों पर भयङ्कर अत्याचार किये, जिनमें २६ हजार के लगभग लोग कत्ल हुए। इन कत्लों की क्रूर गाथायें जब यूरोपियन जनता ने सुनीं, तो उनमें बहुत बेचैनी फैली। ग्रेट ब्रिटेन के नेतृत्व में यूरोपियन राज्यों ने आर्मीनिया के मामले में हस्तक्षेप किया। वे चाहते थे, कि शासन सुधार जारी कर अर्मीनियन लोगों को संतुष्ट किया जावे। सुलतान को इसके लिये बाधित किया जा सकता था, पर यूरोपियन राज्यों में स्वार्थ भावना इतनी प्रबल थी कि वे परस्पर एकमत न हो सके। वस्तुतः, वे शासन सुधार की आड़ में अपना स्वार्थ साधन करना चाहते थे। परिणाम यह हुआ कि आर्मीनिया में शासन सुधार की योजना सफल न हो सकी। पर इससे आर्मीनियन लोग निराश नहीं हुए, वे अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये निरन्तर प्रयत्न करते रहे।

राष्ट्रीयता और लोकसत्तावाद—ये दो समस्यायें थीं, जो टर्की के खलीफा व सुलतान को इस समय परेशान कर रही थीं। फ्रांस से जो तूफान उठा था, वह इतने देशों को लाँघ कर अब टर्की में भी आ पहुँचा था। एक तरफ टर्की की जनता सुलतान का एकाधिपत्य नष्ट कर जनता के अधिकारों के लिये चिल्ला रही थी। दूसरी तरफ सुलतान की तुर्क-भिन्न प्रजा अपने अपने राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण करने की फिक्र में थी। टर्की में भी नई और पुरानी भावनाओं में परस्पर संघर्ष चल रहा था। आज नई भावनायें विजय प्राप्त कर चुकी हैं। टर्की का राज्य अब केवल उन प्रदेशों में रह गया है, जहाँ प्रधानतया तुर्क लोग बसते हैं और इस छोटे से राज्य में अब रिपब्लिक कायम है। पर उन्नीसवीं और बीसवीं सदियों के इस सन्धिकाल में—ये नई भावनायें पुराने जमाने की बोझल शक्ति द्वारा पूरे जोर के साथ कुचली जा रही थीं। बार बार सिर उठाने पर भी वे सफल नहीं हो पाती थीं। इतिहास का यही क्रम है।

(६) टर्की की राज्यक्रान्ति और बाल्कन युद्ध

१८७६ का साल टर्की के इतिहास में राज्यक्रान्तियों का साल था। तरुण तुर्क दल के लोग दो सुलतानों को राज्यच्युत कर अन्त में शासन विधान स्थापित करने में समर्थ हुए थे। नया सुलतान अब्दुल हमीद द्वितीय कुछ समय तक वैधसत्तात्मक राजा के समान राज्य करता रहा। पर थोड़े ही महीनों में पुराने जमाने की प्रवृत्तियाँ फिर प्रबल हो गईं, और तरुण तुर्क दल के मन्त्रिमण्डल को बहिष्कृत कर दिया गया। अब्दुल हमीद शक्तिशाली तथा जबर्दस्त शासक था। क्रान्ति की प्रवृत्तियों को दबाये रखने में वह बहुत हद्द तक सफल रहा। पर नई भावनायें निरन्तर अपना कार्य कर रही थीं। लोकसत्तावाद की लहर को रोक सकना अब्दुल हमीद क्या, किसी भी जबर्दस्त से जबर्दस्त ताकत के लिये भी असम्भव था। टर्की के युवक पाश्चात्य दुनिया के संसर्ग में आ रहे थे। बहुत से लोग फ्रांस और जर्मनी से विद्याध्ययन कर अपने देश को लौट रहे थे। ये विद्यार्थी न केवल यूरोप की विद्या व विज्ञान को अपने देश में लाते थे, पर साथ ही वहाँ के राजनीतिक विचारों व नई भावनाओं को भी टर्की में प्रविष्ट कराते थे। तरुण तुर्क आन्दोलन निरन्तर उन्नति कर रहा था। अब्दुल हमीद की दमन नीति के कारण टर्की के अन्दर राजनीतिक संगठन का विस्तार करना कठिन था। पर तरुण तुर्क दल के नेता टर्की से बाहर रहते हुए ही अपना कार्य कर रहे थे। बीसवीं सदी के प्रारम्भ होने के बाद इस आन्दोलन ने बहुत प्रबल रूप धारण किया। सन् १९०८ तक टर्की में राज्यक्रान्ति की सब तैयारी हो चुकी थी। सेना में भी नई भावनाओं का प्रचार कर दिया गया था और सैनिक लोग भी क्रान्तिकारियों का साथ देने को तैयार थे। जुलाई, १९०८ में क्रान्ति प्रारम्भ हुई। दक्षिणी मैसिडोनिया के सेलोनिका नामक स्थान पर क्रान्तिकारियों

ने उद्घोषित किया, कि १८७६ के शासन विधान को—जिसे कि सुलतान अब्दुल हमीद ने अपनी स्वेच्छाचारिता के कारण उपेक्षित कर दिया था—पुनः स्थापित किया जाता है। दो सेनाओं ने क्रान्तिकारियों का साथ दिया और उद्घोषित किया कि यदि सुलतान शासन-विधान का विरोध करेगा, तो वे कान्स्टेन्टिनोपल पर आक्रमण कर देंगी। इस दशा में अब्दुल हमीद के पास अन्य कोई चारा न था, सिवाय इसके कि शासन विधान के सम्मुख सिर झुका दे। उसने अपने जीहजूर मन्त्रिमण्डल को बर्खास्त कर तरुण तुर्क दल की सहमति से नये मन्त्रियों को नियत किया और राष्ट्रीय पार्लियामैन्ट के चुनाव के लिये आज्ञा दी। १९०८ की राज्यक्रान्ति सफल हो गई। तरुण तुर्क दल अपने प्रयत्नों में पूर्ण रूप से सफल हुआ।

पर सुलतान अब्दुल हमीद हृदय से शासन-विधान का पक्षपाती नहीं था। अवसर प्राप्त होते ही उसने फिर अपनी स्वेच्छाचारिता का प्रदर्शन प्रारम्भ किया। पर अब उसके लिये लोकमत की इस प्रकार उपेक्षा कर सकना सम्भव न रहा था। १९०९ में जब सुलतान ने शासन विधान को नष्ट करने का प्रयत्न किया, तो क्रान्तिकारियों की सेना ने कान्स्टेन्टिनोपल पर आक्रमण कर दिया। सुलतान परास्त हो गया। राजधानी क्रान्तिकारियों के कब्जे में आ गई। नई निर्वाचित पार्लियामैन्ट के सम्मुख प्रस्ताव पेश किया गया, कि सुलतान को पदच्युत कर दिया जावे। प्रस्ताव पास हो गया और अब्दुल हमीद द्वितीय के शासन का अन्त हुआ। राजगद्दी पर अब्दुल हमीद के भाई मुहम्मद पञ्चम को बिठाया गया। नये शासन में तरुण तुर्क दल का जोर था। वास्तविक शासन शक्ति इसी दल के हाथ में थी। कुछ समय तक इस दल ने बड़ी सफलता के साथ शासन किया। तुर्क लोग समझते थे, एक नये युग का प्रारम्भ हुआ है। पुराने स्वेच्छाचारी शासन का अन्त होकर जो नया लोकतन्त्र शासन स्थापित हुआ

है, उसमें टर्की दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करेगा। साम्राज्य में विद्यमान तुर्क-भिन्न लोग भी इससे संतुष्ट थे। वे समझते थे, नई प्रवृत्तियों से आविष्ट तरुण तुर्क लोग उनकी राष्ट्रीय भावनाओं का आदर करेंगे और उन्हें राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करने में सहायता करेंगे। पर मनुष्यों की एक बड़ी कमजोरी यह होती है, कि जिन उदात्त सिद्धान्तों का वे अपने लिये प्रयोग करते हैं, उन्हें दूसरों पर प्रयुक्त नहीं करते। टर्की में लोकतन्त्र शासन स्थापित हुआ था। पर तरुण तुर्क दल के लिये 'लोक' का क्या मतलब था ? केवल तुर्क लोग, सम्पूर्ण जनता नहीं। तरुण तुर्क दल राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का भी उपासक था, पर उसकी राष्ट्रीयता का क्या अभिप्राय था ? केवल तुर्क लोगों का उत्कर्ष। अन्य तुर्क-भिन्न लोगों के उत्कर्ष से उन्हें कोई मतलब न था। दूसरों का उत्कर्ष तो दूर रहा, उनके न्याय्य अधिकारों को स्वीकृत करना भी राष्ट्रवादी तुर्कों के लिये कठिन था। यूरोप भर में राष्ट्रीयता की इसी प्रकार संकीर्ण रूप में व्याख्या की जाती थी, केवल तुर्क ही इस बीमारी के शिकार न थे।

टर्की के साम्राज्य में विद्यमान तुर्क-भिन्न जातियों के सम्बन्ध में तरुण तुर्क दल की यह नीति थी, कि उन्हें भी भाषा, सभ्यता, संस्कृति आदि सब दृष्टियों से तुर्क बना लिया जावे। इसके लिये उन्होंने निम्नलिखित उपायों का प्रयोग किया—(१) तुर्क भाषा को सम्पूर्ण साम्राज्य की राजकीय भाषा नियत किया (२) सब स्थानों पर शिक्षा की एक पद्धति जारी की। तुर्क-भिन्न जातियों की पृथक् शिक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं को दृष्टि से ओझल कर सर्वत्र तुर्क दृष्टि से शिक्षा का प्रारम्भ किया गया। इसके साथ ही यह भी निश्चित किया गया, कि साम्राज्य के प्रत्येक कोने में शासन को दृढ़ किया जाय। कर आदि नियमित रूप से वसूल किये जावें और पिछले समय शासन में जो ढील रही है, उसे दूर कर दिया जावे। जिस समय अब्दुल हमीद का पतन हुआ था,

तो तुर्क-भिन्न जातियों ने बड़ी खुशी मनाई थी। उन्हें नई भावनाओं के नये शासकों से बड़ी बड़ी आशायें थीं। पर तरुण तुर्क दल की शासन नीति को देखकर उनकी निराशा की कोई सीमा न रही। कुछ देर के लिये इन लोगों ने विद्रोह बन्द कर दिये थे और तुर्क साम्राज्य में शान्ति स्थापित हो गई थी। पर तरुण तुर्क दल से निराश होकर तुर्क भिन्न प्रजा ने अब फिर विद्रोह प्रारम्भ कर दिये। मैसिडोनिया में गदर शुरू हो गया। १९१० में अल्बेनिया में भयंकर रूप से विद्रोहाग्नि प्रचण्ड हो उठी। साथ ही, अरब, आर्मीनिया और कुर्दिस्तान में भी विद्रोह हुए। इस विद्रोहाग्नि का शान्त करने के लिये तरुण तुर्क नेताओं ने अब्दुल हमीद के ही उपायों का उपयोग किया। तुर्क-भिन्न प्रजा के लिये एक ही बात थी, चाहे अब्दुल हमीद का शासन हो, चाहे तरुण तुर्क दल का। विद्रोहियों को कुलचने के लिये भयंकर अत्याचार किये गये। सार्वजनिक सभायें रोक दी गईं। मैसिडोनिया के लोगों से शस्त्र छीनने का प्रयत्न किया गया। तुर्क-भिन्न आबादी के बीच में जगह जगह पर तुर्कों को बसाया गया, ताकि विद्रोह के समय वे सरकार का साथ दें।

जिस समय टर्की में राज्यक्रान्ति हो रही थी और तुर्क नेता अपनी आन्तरिक दशा को सुधारने का प्रयत्न कर रहे थे, उस समय बाल्कन राज्यों को अपने उत्कर्ष का अच्छा अवसर हाथ लग गया था। टर्की की कमजोरी का फायदा उठा कर सबसे पूर्व, ५ अक्टूबर १९०८ के दिन बल्गेरिया ने पूर्ण स्वाधीनता उद्घोषित कर दी। बल्गेरिया पहले भी स्वाधीन तो था, पर टर्की का नाममात्र का आधिपत्य अब तक भी स्वीकृत किया जाता था। १९०८ में अवसर पाकर बल्गेरिया पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो गया। इसी प्रकार, ७ अक्टूबर १९०८ के दिन आस्ट्रिया ने बोस्निया और हर्जेगोविना के प्रदेशों को पूर्ण रूप से अपने अधीन कर लिया। इन प्रदेशों पर आस्ट्रिया का शासन तो

पहले ही विद्यमान था, पर अब इनका टर्की से कोई भी सम्बन्ध न रहा और ये पूर्णतया आस्ट्रिया के अन्तर्गत कर लिये गये। १६११ में इटली ने ट्रिपोली को अपने अधीन कर लिया। ट्रिपोली ईजिप्ट के पश्चिम में अफ्रीका में विद्यमान है। यह टर्की के अधीन था। पर इटली इसमें अपना शासन विस्तृत करना चाहता था। टर्की की आन्तरिक अव्यवस्था का लाभ उठाकर इटली ने अकस्मात् ही ट्रिपोली पर आक्रमण कर दिया। टर्की अपनी ही समस्याओं में उलझा हुआ था। इसके अतिरिक्त, उसके समीप ही बाल्कन राज्य एक नये युद्ध की योजना में लगे थे। ऐसी अवस्था में टर्की के लिये असम्भव था कि सुदूरवर्त्ती ट्रिपोली की फिक्र कर सके। अक्टूबर १६१२ में ट्रिपोली इटली की अधीनता में आ गया और टर्की ने उस पर से अपने अधिकार का परित्याग कर दिया।

पर ये आपत्तियाँ तो मामूली थीं। १६१२ में टर्की की निर्बलता तथा आन्तरिक झगड़ों का लाभ उठाकर बल्गेरिया, ग्रीस, सर्विया और मान्टनिग्रो—इन सब बाल्कन राज्यों ने परस्पर मिलकर एक गुप्त समझौता किया। इसका उद्देश्य यह था, कि सब मिलकर टर्की से युद्ध करें और टर्की के शासन का यूरोप से अन्त कर विजित प्रदेशों को आपस में बाँट लें। मैसिडोनिया के प्रदेशों को किस ढंग से आपस में बाँटा जावेगा, यह भी विस्तृत रूप से तय कर लिया गया था। इस गुप्त समझौते में रशिया बाल्कन राज्यों की पीठ पर था। उसके उकसाने से ही यह समझौता किया गया था, और यह भी निश्चित किया गया था कि बल्गेरिया को मैसिडोनिया का प्रधान अंश प्राप्त हो। सनस्टेफिनो की सन्धि द्वारा जिस विशाल बल्गेरिया का निर्माण किया गया था, अब रशिया उसी का पुनरुद्धार करना चाहता था। आपस में समझौता कर बाल्कन राज्यों ने टर्की के खिलाफ युद्ध उद्घोषित कर दिया। युद्ध में बाल्कन राज्यों को असाधारण सफलता हुई। तुर्क सेना परास्त कर

दी गई और कुछ ही दिनों में एड्रियानोपल का महत्त्वपूर्ण दुर्ग तुर्कों के हाथ से निकल गया। ग्रीक सेनाओं ने थ्रेस पर कब्जा कर लिया। सर्विया और मान्टनिग्रो की सेनायें अल्बेनिया पर अधिकार प्राप्त करने में समर्थ हुईं। बल्गेरियन लोग आक्रमण करते करते कान्स्टेन्टिनोपल के बहुत समीप तक पहुँच गये। इस दशा में टर्की के सम्मुख सन्धि कर लेने के सिवा अन्य कोई मार्ग न था। साथ ही, यूरोपियन राज्य भी टर्की की इस पराजय को अत्यन्त चिन्ता की दृष्टि से देख रहे थे। उनके हस्तक्षेप से बाल्कन राज्यों और टर्की में सामयिक सन्धि हो गई और स्थिर सन्धि के लिये दोनों पक्षों के प्रतिनिधि लण्डन में एकत्रित हुए। पर स्थिर सन्धि कर सकना सुगम कार्य न था। बाल्कन राज्यों की माँगें बहुत अधिक थीं। टर्की के राजनीतिज्ञ उन्हें स्वीकृत नहीं कर सकते थे। यदि बाल्कन राज्यों की माँगें स्वीकृत कर ली जातीं, तो टर्की यूरोप से बहिष्कृत हो जाता। तरुण तुर्क दल के नेता यह कब सहन कर सकते थे? उन्होंने एक बार फिर अपने शस्त्रबल को प्रयोग में लाने का निश्चय किया। लण्डन की कान्फरेन्स टूट गई। ३ फरवरी १९१३ के दिन फिर बाल्कन युद्ध प्रारम्भ हो गया।

अब की बार तुर्क लोग और भी बुरी तरह से परास्त हुए। शत्रु सेना कान्स्टेन्टिनोपल के नजदीक तक पहुँच गई। टर्की के सुलतान ने निराश होकर फिर सन्धि करने का प्रस्ताव किया। ३० मई १९१३ को दोनों पक्षों के प्रतिनिधि फिर लण्डन में एकत्रित हुए। इस बार इस प्रश्न पर तो सुगमता से फैसला हो गया कि टर्की से कौन कौन से प्रदेश छीन लिये जावें, पर उनका बँटवारा किस ढंग से हो, इस पर बाल्कन राज्य एकमत न हो सके। युद्ध प्रारम्भ करने से पूर्व जो गुप्त समझौता हुआ था, उसमें मैसिडोनिया का मुख्य हिस्सा बल्गेरिया को दिया गया था, और अल्बेनिया सर्विया के सुपुर्द हुआ था। पर अब एक बड़ी दिक्कत यह उपस्थित हो गई, कि आस्ट्रिया यह

सहन नहीं कर सकता था कि अल्बेनिया सर्विया के अधीन हो; कारण यह, कि बोस्निया और हर्जेगोविना के प्रदेशों में मुख्यतया सर्व व युगोस्लाव लोग बसते थे। ये स्वाभाविक रूप से सर्विया से सहानुभूति रखते थे और सर्विया के साथ मिलकर एक शक्तिशाली युगोस्लाव राज्य का निर्माण करने का प्रयत्न कर रहे थे।

आस्ट्रिया को इस आन्दोलन से बहुत भय था। वह खूब अच्छी तरह समझता था, कि यदि सर्विया की शक्ति बढ़ेगी, तो यह बात उसके लिये हानिकारक होगी। अतः वह सर्विया को अल्बेनिया दे देने का सख्त विरोधी था। आस्ट्रिया ने प्रस्ताव किया कि अल्बेनिया को एक पृथक् स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिवर्त्तित कर दिया जाय। अन्य राज्यों ने इसका समर्थन किया। अल्बेनिया को पृथक् राज्य बना देने का निश्चय हो जाने पर सर्विया इस बात का विरोध करने लगा कि मैसिडोनिया का प्रधान भाग बल्गेरिया को दिया जाय। उसका कहना था, कि यह निश्चय उसी दशा में हुआ था, जब कि अल्बेनिया हमें प्राप्त हो। परिणाम यह हुआ, कि टर्की से जीते गये प्रदेशों का बँटवारा किस ढंग से हो, इस बात का निश्चय अभी स्थगित कर दिया गया और शेष बातों का निबटारा कर लिया गया। लण्डन में जो सन्धि हुई, उसकी महत्त्वपूर्ण शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) यूरोप में जिन प्रदेशों पर टर्की का आधिपत्य था, वे प्रायः सभी उसकी अधीनता से निकल गये। कोन्स्टेन्टिनोपल तथा उसके समीप का कुछ प्रदेश ही टर्की के अधीन रह गया। काला सागर में मिडिया नामक स्थान से लेकर ईगियन सागर के तट पर विद्यमान एनस बन्दरगाह तक एक रेखा निश्चित की गई, जो टर्की के साम्राज्य की सीमा का निर्धारण करती थी। (२) अल्बेनिया का पृथक् तथा स्वतन्त्र राज्य के रूप में निर्माण किया गया। (३) क्रीट पर अभी तक भी टर्की का आधिपत्य माना जाता था, यद्यपि वह ग्रीस के साथ मिलकर अपना स्वतन्त्र राज्य

बना चुका था। अब टर्की का उस पर से अधिकार हटा दिया गया और क्रीट पूर्णतया ग्रीस के साथ सम्मिलित हो गया। मैसिडोनियन प्रदेशों तथा ईगियन सागर के टापुओं के सम्बन्ध में क्या व्यवस्था की जावे, इस बात का फैसला अभी स्थगित रखा गया।

मैसिडोनियन प्रदेशों को परस्पर बाँट सकना बाल्कन राज्यों के लिये सुगम कार्य न था। बल्गेरिया और सर्विया किसी भी प्रकार एक दूसरे से सहमत न हो सके। जब शान्ति से फैसला न हो सका, तो दोनों पक्षों ने ताकत आजमाने का निश्चय किया। जून १९१३ में बल्गेरिया ने अपने पुराने दोस्तों के विरुद्ध युद्ध उद्घोषित कर दिया। यह द्वितीय बाल्कन युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें सर्विया, मान्टनिग्रो, ग्रीस और रूमानिया बल्गेरिया के खिलाफ युद्ध कर रहे थे। टर्की भी बल्गेरिया के विरुद्ध अन्य बाल्कन राज्यों की सहायता कर रहा था। एक महीने तक जोर शोर से लड़ाई जारी रही। पर अकेले बल्गेरिया के लिये यह असम्भव था, कि इतने शत्रुओं से लड़ाई लड़ सके। वह सब तरफ से परास्त हुआ और सन्धि के लिये प्रार्थना करने को विवश हुआ। दोनों पक्षों के प्रतिनिधि रूमानिया की राजधानी बुखारेस्ट में एकत्र हुए और सन्धि की बातचीत शुरू हुई। बुखारेस्ट की सन्धि परिषद् के सम्मुख प्रधान प्रश्न यह था, कि मैसिडोनिया के प्रदेश को किस प्रकार आपस में बाँटा जावे। बल्गेरिया अपनी शक्ति की परीक्षा कर असफल हो चुका था। इसलिये अब परस्पर समझौता कर सकना बहुत सुगम हो गया था। मैसिडोनियन प्रदेशों के बँटवारे में सर्विया और मान्टनिग्रो ने बहुत से प्रदेश प्राप्त किये। इनके राज्य करीब करीब दुगने हो गये। ग्रीस ने भी मैसिडोनिया में सेलोनिका का प्रदेश प्राप्त किया। शेष मैसिडोनिया बल्गेरिया को मिला। इस प्रकार बुखारेस्ट की सन्धि में बल्गेरिया को बहुत नीचा देखना पड़ा। यद्यपि इस सन्धि से बाल्कन राज्यों में शान्ति स्थापित हो गई थी, तथापि

विविध राज्यों के पारस्परिक द्वेष तथा ईर्षा का अन्त नहीं हुआ था। विशेषतया, बल्गेरिया अपने अपमान का बदला लेने के लिये बहुत उत्सुक था। वह भली भाँति अनुभव करता था, कि रूमानिया, सर्विया और ग्रीस ने उसे नीचा दिखाया है, अतः इन राज्यों से शीघ्र ही बदला लेकर अपने राष्ट्रीय अपमान का प्रतिशोध करना चाहिये।

बाल्कन प्रायद्वीप को यूरोप का ज्वालामुखी कहा जाता रहा है। यह बात बहुत कुछ ठीक है। जहाँ एक तरफ़ बाल्कन राज्य एक दूसरे के साथ संघर्ष कर यूरोप की शान्ति को सदा खतरे में रखते रहे हैं, वहाँ दूसरी तरफ शक्तिशाली विविध यूरोपियन राज्यों की महत्त्वाकांक्षायें इस प्रायद्वीप में एक दूसरे से टकराती रही हैं। इन कारणों से २० वीं सदा के प्रारम्भिक भाग में यह खतरा हमेशा बना रहता था, कि बाल्कन समस्या न जाने कब गम्भीर रूप धारण कर ले। १९१४-१८ का यूरोपियन महायुद्ध पहले एक सामान्य बाल्कन युद्ध के रूप में ही प्रकट हुआ था, पर विविध शक्तिशाली राज्यों के साम्राज्य-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण हितों के परस्पर टकराने की वजह से यह युद्ध शीघ्र ही यूरोपियन और फिर विश्वव्यापी युद्ध के रूप में परिवर्तित हो गया। इस प्रायद्वीप में साम्राज्यवादी यूरोपियन राज्यों के हित परस्पर किस प्रकार टकराते थे—इस विषय पर हम पहले भी कुछ प्रकाश डाल चुके हैं, आगे चलकर हम इस पर विस्तार से भी विचार करेंगे।

चौंतीसवाँ अध्याय

साम्यवाद की नई लहर

(१) सामाजिक संगठन सम्बन्धी नये विचार

सन् १७५० से १८५० तक, एक शताब्दि में विज्ञान, शिल्प और व्यवसाय के क्षेत्र में जो भारी प्रगति हुई थी, उसका सबसे महत्त्व-पूर्ण परिणाम यह था, कि मध्यकाल के जागीरदारों की अपेक्षा पूँजी-पतियों का महत्त्व अधिक बढ़ गया था। इनके पास धन, वैभव और शक्ति—सब कुछ था। इनके अतिरिक्त डाक्टर, वकील, इन्जीनियर, व्यापारी, प्रोफेसर, सम्पादक, दूकानदार आदि के रूप में जो एक शिक्षित मध्य श्रेणी विकसित हो गई थी, वह धन में पूँजीपतियों की अपेक्षा हीन होती हुई भी बुद्धि और ज्ञान में उनकी अपेक्षा किसी प्रकार कम न थी। शिक्षा और ज्ञान के विस्तार के साथ, इस श्रेणी ने यह विचारना प्रारम्भ कर दिया था, कि क्या समाज में पूँजीपतियों का प्रभुत्व और मजदूरों की गरीबी व असहायपन उचित और न्याय्य है। साथ ही, मजदूर श्रेणी के लोग शहरों में निवास के कारण शिक्षा से सर्वथा वञ्चित नहीं रहे थे। धीरे धीरे वे अपने अधिकारों व दुर्दशा का अनुभव करने लगे थे, और यह सोचने लगे थे, कि क्या समाज का वर्तमान संगठन न्याय और औचित्य पर आश्रित है।

फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बाद यूरोप में राष्ट्रीयता की भावना के साथ साथ लोकतन्त्रवाद की लहर भी जोर पकड़ रही थी। राज्य में किसी एक व्यक्ति या श्रेणी का प्रभुत्व न होकर साधारण जनता का शासन होना चाहिये, यह विचार प्राय: सबको स्वीकार्य था। पर साधारण जनता की समस्या केवल वोट का अधिकार मिल जाने से ही हल नहीं हो जाती, राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ साथ आर्थिक स्वतन्त्रता भी होनी चाहिये, और यदि राजनीतिक दृष्टि से सब नागरिक समान हैं, तो आर्थिक दृष्टि से भी उनकी विषमता नष्ट होनी चाहिये, ये विचार धीरे धीरे सिर उठाने लगे थे। स्वेच्छाचार और एकतन्त्र शासन के विरुद्ध जो लहर फ्रांस से शुरू हुई थी, वह केवल राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रह सकती थी। यह स्वाभाविक था, कि पूँजीपतियों के एकाधिपत्य के विरुद्ध भी आवाज बुलन्द हो, और लोग एक नये सामाजिक संगठन का स्वप्न देखने लगें।

(२) साम्यवाद का प्रारम्भ

साम्यवाद का प्रारम्भ अठारहवीं सदी में ही हो चुका था। १७९४ में नोयल बाबेफ नामक एक लेखक ने लिखा था—"जब मैं देखता हूँ, कि गरीबों के तन पर न कपड़े हैं, और न पैरों में जूते; गरीब लोग ही कपड़े और जूते बनाते हैं, पर उन्हें ही ये इस्तेमाल के लिये नहीं मिलते; और जब मैं उन लोगों का ख्याल करता हूँ, जो स्वयं कुछ भी काम नहीं करते, पर उनके पास किसी भी चीज की कमी नहीं, तो मेरा यह विश्वास दृढ़ हो जाता है, कि राज्य अब भी जन साधारण के विरुद्ध कुछ लोगों का षड्यन्त्र मात्र है।" नोयल बाबेफ ने ये उद्गार तब प्रकट किये थे, जब बोर्बों राजवंश के एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन का फ्रांस से अन्त हो चुका था, और राष्ट्रीय लोकतन्त्र-शासन की स्थापना हो गई थी। नोयल बाबेफ का यह ख्याल था, कि सम्पूर्ण सम्पत्ति

राष्ट्र की हो जानी चाहिये, समाज में विषमता और गरीबी का अन्त होना चाहिये। इस दशा को लाने का उपाय यह है, कि जब किसी व्यक्ति की मृत्यु हो, तो उसकी सब सम्पत्ति पर राष्ट्र का स्वामित्व स्थापित कर लिया जाय। नोयल बावेफ ने अपने समाचार पत्र द्वारा इन विचारों का खूब प्रचार किया। उसके विचार दूर-दूर तक फैल गये। १७९६ में उसे गिरफ्तार कर लिया गया, और अगले साल उसे मृत्युदण्ड मिला। फ्रांस की लोकतन्त्र सरकार उसके विचारों को शान्ति और व्यवस्था के लिये खतरनाक समझती थी। निःसन्देह, नोयल बाबेफ फ्रेन्च साम्यवाद का पिता था।

नोयल बाबेफ को मौत के घाट उतार दिया गया, पर उसकी मृत्यु के साथ उसके विचारों की समाप्ति नहीं हुई। धीरे धीरे इङ्गलैड और फ्रांस के विविध विचारकों ने उसी की विचारसरणी का अनुसरण कर लेख व ग्रन्थ लिखने शुरू किये और साम्यवाद के विचार निरन्तर जोर पकड़ते गये। इस युग के अन्य साम्यवादी विचारकों में हेनरी शं सिमों (१७६०-१८२५) बहुत प्रसिद्ध है। उसका विचार था, कि भूमि और पूँजी पर व्यक्तियों का स्वामित्व न होकर उन्हें राष्ट्र की सम्पत्ति होना चाहिये। विरासत की प्रथा को उड़ाकर सब सम्पत्ति पर राष्ट्र का स्वामित्व स्थापित किया जा सकता है। प्रत्येक 'मनुष्य को अपनी शक्ति व क्षमता के अनुसार काम करना चाहिये, और उसे अपनी आवश्यकता के अनुसार मिलना चाहिये' यह उसका मन्तव्य था।

फूरियर (१७७२-१८३७) नाम के एक अन्य फ्रेंच विचारक ने साम्यवाद को क्रियात्मक रूप देने के लिये एक योजना भी प्रस्तुत की थी। उसका ख्याल था, कि ऐसे छोटे छोटे समाज़ बनाने चाहियें, जिनमें से प्रत्येक में १८०० के लगभग सदस्य हों। ये सब सदस्य मिल कर आर्थिक उत्पत्ति करें। सब एक साथ, स्वतन्त्र, सुखी और शान्तिमय जीवन व्यतीत करें। सबको अपनी अपनी आवश्यकता के अनुसार

एक निश्चित राशि प्रतिमास दी जाय। यह राशि देने के बाद जो कुछ बचे, उसे इस अनुपात से पूँजी, श्रम और विशेष योग्यता-सम्पन्न व्यक्तियों में बाँट दिया जाय, कि जिन की पूँजी लगी है, उन्हें शेष बचत का $\frac{1}{3}$ भाग, श्रमियों को $\frac{5}{12}$ भाग और विशेष योग्यता प्रदर्शित करनेवाले व्यक्तियों को $\frac{1}{4}$ भाग मिल जाय। फूरियर की योजना को लोगों ने बहुत पसन्द किया। वर्साय के समीप इस प्रकार के एक समाज की स्थापना भी १८३२ में को गई, पर उसे सफलता नहीं मिली। फूरियर की मृत्यु के बाद फ्रांस और अमेरिका में अनेक समाज उसकी योजना के अनुसार स्थापित किये गये। पर वे ज्यादा समय तक कायम नहीं रह सके।

इङ्गलैण्ड में साम्यवाद का प्रारम्भ राबर्ट ओवन (१७७१-१८५६) द्वारा हुआ था। वह स्वयं एक धनिक व्यक्ति था और स्काटलैण्ड में अनेक कपड़े की मिलों में हिस्सेदार था। उसने अपनी मिलों में मजदूरों के साथ न्याय करने का प्रयत्न किया। उन्हें मुनासिब दर से मजदूरी दी गई, उनके निवास के लिये साफ सुथरे घर बनाये गये, उनके बच्चों के लिये पाठशालायें खोली गईं और कारखानों में काम करने की हालत भी मजदूरों के लिये अनुकूल व सुखद बनाई गई। राबर्ट ओवन ने यह व्यवस्था की, कि उसकी मिलों में पूँजी पर पाँच फी सदी से अधिक मुनाफा न लिया जाय। इतना मुनाफा देने के बाद जो रकम बचे, उस सबको मजदूरों की दशा सुधारने में खर्च कर दिया जाय। इसके कारण न्यू लनर्क, जहाँ राबर्ट ओवन की मिलें विद्यमान थीं, एक आदर्श नगर बन गया। कहते हैं, कि तीस साल तक इस नगर में कोई वारदात नहीं हुई। शराबखोरी की आदत लोगों से दूर हो गई, और मजदूरों की दशा अत्यन्त सन्तोषजनक हो गई। इसमें सन्देह नहीं, कि राबर्ट ओवन एक क्रियात्मक सुधारक था। उसने व्यावसायिक क्रान्ति के कारण उत्पन्न हुई बुराइयों को दूर करने का

सफल प्रयत्न किया, और इस कारण उसकी प्रसिद्धि दूर दूर तक फैल गई। उसने अपना तन, मन, धन मजदूरों की दशा को सुधारने में लगा कर एक आदर्श समाज का निर्माण करने का उद्योग किया। उसका विचार यह था, कि न्यूलनर्क में जिस प्रकार से एक आदर्श समाज का निर्माण हुआ है, वैसा ही अन्यत्र भी सब जगह हो, और फिर विश्व भर के इस प्रकार के समाजों का एक संघ बना दिया जाय। इसी उद्देश्य से वह १८२५ में अमेरिका गया और इण्डियाना में न्यू हार्मनी नामक प्रदेश में अपने विचारों के अनुसार एक नव समाज की स्थापना की। पर इसमें उसे सफलता नहीं हुई। आखिर, १८२८ में वह लण्डन वापस लौट आया, और शेष जीवन को अपने विचारों के प्रचार में व्यतीत किया।

फ्रांस और इङ्गलैण्ड के ये साम्यवादी एक आदर्श समाज की कल्पना कर उसे जनता के सम्मुख उपस्थित कर रहे थे। शिक्षित मध्य श्रेणी के विचारों पर इस कल्पना का बहुत असर हुआ। ये साम्यवादी विचारक कहते थे, कि आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप न करने की नीति ठीक नहीं है। इसके कारण पूँजीपतियों को मजदूर वर्ग के शोषण का अवसर मिलता है। गरीब मजदूर शक्तिशाली धनिकों का मुकाबला नहीं कर सकते। राज्य का यह कर्त्तव्य है, कि ऐसे कानून बनाये, जिनसे मजदूरों की दशा सुधरे, और उन्हें निश्चित घण्टों से अधिक काम करने के लिये विवश न किया जा सके। उनके निवास की उचित व्यवस्था हो, उनके बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध हो और कारखानों की दशा मजदूरों के स्वास्थ्य को नुकसान पहुँचानेवाली न हो। फूरियर और राबर्ट ओवन ने जिस प्रकार की समाज की कल्पना की, उसमें मजदूरों की दशा को सुधारने के लिये विशेष ध्यान दिया गया। यह बात उस समय की शिक्षित मध्यश्रेणि को भी उचित जान पड़ी। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक (१८३० और उसके बाद) इङ्गलैण्ड और फ्रांस—दोनों

देशों में राजनीतिक शक्ति मध्य-श्रेणी के हाथ में आ गई थी। १८३२ के सुधार कानून के अनुसार इङ्गलैण्ड में मध्यश्रेणी को वोट का अधिकार पूर्ण रूप से प्राप्त हो गया था, और पार्लियामैन्ट में इस श्रेणी का प्रतिनिधित्व पर्याप्त संख्या में हो गया था। यही दशा फ्रांस में थी। इस मध्य-श्रेणी को यह भली भाँति समझ में आता था, कि मजदूरों की दशा को सुधारने के लिये राज्य की ओर से कानून बनने चाहियें और आर्थिक क्षेत्र में राज्य को हस्तक्षेप करना चाहिये। पर इस समय मजदूर श्रेणी में और भी अधिक उग्र विचार प्रचारित होने लगे थे, और गरीब सर्वसाधारण जनता साम्यवाद के एक नये स्वरूप का स्वप्न देखने लगी थी।

इस नई विचारधारा का प्रवर्तक लुई ब्लां (१८११-१८८२) था। इस फ्रेञ्च साम्यवादी का कहना था, कि राजनीतिक शक्ति मध्यश्रेणी के हाथ से निकल कर सर्वसाधारण जनता के हाथ में आनी चाहिये। वोट का अधिकार प्रत्येक मनुष्य को मिलना चाहिये। राजनीतिक सुधारों का उद्देश्य केवल यह है, कि सामाजिक सगठन में परिवर्तन हो। राजनीतिक शक्ति प्राप्त करके मजदूरों को चाहिये, कि व सरकार, न्यायालय, सेना और अन्य सरकारी विभागों पर कब्जा कर लें, और इस प्रकार प्राप्त हुई शक्ति का उपयोग व्यवसाय और समाज के क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने में करें। इन परिवर्तनों का स्वरूप यह होना चाहिये, कि कारखानों पर व्यक्तियों का स्वामित्व समाप्त होकर राष्ट्र का स्वामित्व स्थापित हो जाय। शुरू में राज्य के पास इतनी पूँजी नहीं होगी, कि वह सारे व्यवसायों का स्वयं मालिक हो सके। अतः नागरिकों को यह प्रेरणा करनी होगी, कि वे व्यवसायों में पूँजी लगावें, इसके लिये उन्हें सूद भी उचित दर से देना होगा। पर व्यवसायों का संचालन राज्य करेगा। ज्यों ज्यों धीरे धीरे कमाई से राज्य के पास काफी धन एकत्र हो जायगा, व्यक्तियों की पूँजी की आवश्यकता नहीं रहेगी। उस दशा

में राज्य पूर्णतया व्यवसायों व कारखानों का स्वामी हो जायगा, और मजदूर लोग स्वयं व्यवसाय का संचालन करेंगे। कारखानों के विविध पदाधिकारियों का चुनाव भी मजदूर करेंगे और सच्चे अर्थों में आर्थिक लोकतन्त्र शासन स्थापित हो सकेगा। शुरू शुरू में प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता व कार्यक्षमता के अनुसार मजदूरी मिलेगी, पर ज्यों ज्यों शिक्षा बढ़ेगी, और सब मजदूर अपनी उत्तरदायिता भली भाँति समझ कर कार्य करने लगेंगे, मजदूरी की दर भी सबके लिये एक समान हो जायगी।

लुई ब्लां के विचारों का मजदूर समाज पर बहुत असर हुआ। उन्होंने अनुभव किया, कि उनका उद्धार इन्हीं विचारों से हो सकता है। हजारों की संख्या में मजदूर लोग लुई ब्लां के अनुयायी हो गये, और वोट के अधिकार के लिये आन्दोलन करने लगे। उन्होंने यह भी कहना शुरू कर दिया कि वैयक्तिक सम्पत्ति घोर पाप है, और कारखानों पर राज्य का अपना प्रभुत्व होना चाहिये। १८४८ में फ्रांस में फिर राज्यक्रान्ति हुई। परिणामस्वरूप, सब पुरुषों को वोट का अधिकार प्राप्त हो गया। सर्वसाधारण मजदूर जनता को वोट का अधिकार मिलने से सरकार पर उनका प्रभाव बहुत बढ़ गया, और नई सरकार ने स्पष्ट रूप से घोषणा की, कि मजदूरों की दशा में सुधार व उन्नति करना उसका प्रमुख कर्तव्य है। लुई ब्लां को इस नई सामयिक सरकार का सदस्य नियत किया गया, और यह योजना बनाई गई कि सरकारी रुपये से नये व्यवसाय जारी किये जावें, जिनमें कि बेकार मजदूरों को रोजी दी जा सके। पर अभी तक भी सरकार में शिक्षित मध्य-श्रेणी का जोर था। मजदूरों को वोट का अधिकार मिल गया था, उनके कुछ प्रतिनिधि भी सरकार में आ गये थे, पर वास्तविक शक्ति अभी मध्य-श्रेणी के हाथ में ही थी, और इस श्रेणी को यह क्रान्तिकारी परिवर्तन समझ में नहीं आता था, कि राज्य की ओर से

नये कारखाने केवल मजदूरों की भलाई की दृष्टि से स्थापित किये जावें। इन लोगों ने लुई ब्लां की योजनाओं को क्रिया में परिणत नहीं होने दिया। परिणाम यह हुआ, कि मजदूरों में असन्तोष बढ़ता गया, और आखिर पेरिस के निराश मजदूरों ने विद्रोह किया। इस विद्रोह को निर्दयता के साथ कुचला गया। लुई ब्लां को आत्मरक्षा के लिये लण्डन भागना पड़ा। सर्वसाधारण जनता में साम्यवाद की जो क्रान्तिकारी लहर शुरू हुई थी, उसका इस प्रकार से अन्त हुआ।

(३) कार्ल मार्क्स

सन् १८५० तक इङ्गलैण्ड और फ्रांस में साम्यवाद का आन्दोलन बिलकुल शिथिल पड़ गया था। पर शीघ्र ही जर्मनी में इसका पुनरुद्धार हुआ। जर्मनी में साम्यवादी आन्दोलन का प्रधान नेता कार्ल मार्क्स (१८१८-१८७८) था। इसे साम्यवाद का प्रधान व प्रमुख आचार्य माना जाता है। पर इससे पूर्व भी जर्मनी में साम्यवाद का बीजारोपण हो चुका था। १८३० की क्रान्ति की लहर के बाद ब्यूख़्नर ने एक गुप्त समिति की स्थापना की थी, जिसका नाम था—'मनुष्य के अधिकार'। इस समिति को यह विश्वास था, कि राजनीतिक क्रान्ति के साथ साथ सामाजिक क्रान्ति होना भी आवश्यक है। इसकी ओर से एक घोषणापत्र प्रकाशित हुआ था, जिसका प्रथम वाक्य यह था—'झोपड़ियों में सुख शान्ति कायम हो, और राजप्रासादों का विनाश हो'। १८३६ में पेरिस में काम करने वाले जर्मन मजदूरों ने एक संस्था कायम की, जिसका नाम था—'न्याय सघ'। इस संघ में सामाजिक व आर्थिक समस्याओं पर वादविवाद हुआ करता था, और सदस्य लोग यह सोचा करते थे, कि समाज का सगठन किस प्रकार परिवर्तित किया जाय, जिससे कि वह न्याय और औचित्य के अनुकूल बन सके। कार्ल मार्क्स और एन्जल्स इस संघ

के प्रमुख सदस्यों में से थे। मजदूरों के अतिरिक्त पेरिस में शिक्षा पाने वाले जर्मन विद्यार्थी व अन्य शिक्षित लोग भी इस संघ के सदस्य बन गये थे। धीरे धीरे यह संघ बहुत जोर पकड़ता गया। जर्मनी, ब्रिटेन, बेल्जियम और स्विट्जरलैण्ड में भी इसकी शाखायें कायम हुईं।

पेरिस में रहते हुए जो जर्मन लोग साम्यवाद की लहर के प्रभाव में आये, उनमें फर्डिनन्ड लासेल (१८२५-१८६४) का नाम उल्लेखनीय है। लासेल जाति से यहूदी था, और स्वयं एक शिक्षित व समृद्ध व्यापारी था। पर लुई ब्लां के सम्पर्क में आकर वह साम्यवाद का अनुयायी हो गया था। १८४८ में जब क्रान्ति की लहर फिर शुरू हुई, तो लासेल ने मार्क्स और एन्जल्स के साथ मिल कर जर्मनी के व्यावसायिक केन्द्र, राइन की घाटी में विद्रोह फैलाने का प्रयत्न किया। उसे गिरफ्तार कर लिया गया और छः मास की जेल हुई। साम्यवादी विद्रोह का यह प्रयत्न तो असफल हो गया, पर लासेल ने अपने शेष जीवन को अपने विचारों के प्रसार में लगा दिया। लासेल का कहना था, कि राज्य का काम केवल पुलीस का ही नहीं है। बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं से देश की रक्षा करना राज्य का प्रथम कर्तव्य है, पर उसके कर्तव्यों की इतिश्री यहीं पर नहीं हो जाती। राज्य का यह भी प्रधान कार्य है, कि अपने नागरिकों का अधिकतम कल्याण व हित सम्पादित करे। इसके लिये उसे समाज, कारखानों व सम्पूर्ण आर्थिक जीवन पर नियन्त्रण स्थापित करना होगा।

कार्ल मार्क्स भी पेरिस में ही साम्यवादी आन्दोलन के प्रभाव में आया। १८४८ के क्रान्तिमय वर्ष में उसने एन्जल्स के साथ मिलकर एक साम्यवादी घोषणापत्र प्रकाशित किया, जिसमें मुख्यतया निम्नलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया था—

(१) मानव-समाज अनेक श्रेणियों में विभक्त है। इन श्रेणियों

में निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। एक श्रेणी पहले सम्पत्ति कमा कर समृद्ध हो जाती है, और फिर राजनीतिक शक्ति भी अपने हाथ में कर लेती है। पहले शक्ति जागीरदार सामन्तों के हाथ में थी। व्यावसायिक क्रान्ति के कारण समाज में पूँजीपतियों का प्रभुत्व हो गया। राजनीतिक शक्ति भी इन पूँजीपति व्यवसायियों के हाथ में आ गई। नगरों के विकास व समृद्धि के साथ साथ शिक्षित मध्य श्रेणी का महत्त्व बढ़ने लगा, और उन्होंने आन्दोलन द्वारा राजनीतिक शक्ति को प्राप्त कर लिया। यह प्रक्रिया तब तक जारी रहेगी, जब तक कि मजदूर श्रेणी शिक्षित मध्य-श्रेणी के स्थान पर स्वयं सब शक्ति न प्राप्त कर लेगी। ठीक जिस प्रकार १७८९ में पूँजीपति और मध्य श्रेणियों ने जागीरदार सामन्तों की सम्पत्ति व शक्ति को नष्ट किया, उसी प्रकार अब मजदूर श्रेणि के लोग मध्यश्रेणि की वैयक्तिक सम्पत्ति को नष्ट कर सारी सत्ता अपने हाथ में कर लेंगे।

(२) यह महान् परिवर्तन तब आयगा, जब कि विरासत की प्रथा नष्ट हो जायगी; पिता की मृत्यु के बाद उसका पुत्र पिता की सम्पत्ति को उत्तराधिकार में नहीं प्राप्त कर सकेगा। सम्पूर्ण भूमि, कल कारखाने, माल ढुलाई और यातायात के साधन व आर्थिक उत्पत्ति के अन्य सब साधन राज्य की सम्पत्ति बन जावेंगे और सम्पत्ति व्यक्तियों के स्वामित्व में रहेगी ही नहीं। सब मनुष्यों को बाधित होकर श्रम करना होगा। श्रम किये बिना कोई मनुष्य आमदनी नहीं प्राप्त कर सकेगा। सबको बाधित रूप से व मुफ्त शिक्षा दी जायगी, ताकि सबको योग्यता प्राप्त करने का समान अवसर मिले। फिर अपनी अपनी योग्यता व सामर्थ्य के अनुसार सबको श्रम करना होगा। कारखाने व खेत—सब राज्य की सम्पत्ति होंगे।

(३) इस नये साम्यवादी राज्य में सब मजदूरों को, चाहे वे मानसिक व बौद्धिक श्रम करनेवाले हों, और चाहे शारीरिक श्रम

करने वाले, अपने श्रम की पूरी पूरी कीमत दी जायगी, क्योंकि सब लोगों को योग्यता व शिक्षा प्राप्त करने का समान अवसर होगा। अतः सबको श्रम भी अपने सामर्थ्य के अनुरूप . करना होगा। किसी को शिकायत को मौका नहीं होगा, और इसलिये समाज में श्रेणियों व वर्गों के संघर्ष का स्वयं अन्त हो जायगा। समाज में केवल एक ही श्रेणी रह जायगी—यह होगी मजदूर श्रेणी। यह होना परमावश्यक , क्योंकि मानव-समाज की उन्नति इसी प्रक्रिया से हो रही है। यदि शान्ति-पूर्वक यह परिवर्तन हो गया, तो अच्छा है। अन्यथा, शक्ति का उपयोग करके यह परिवर्तन करना होगा। यह हुए बिना नहीं रह सकता, क्योंकि इतिहास की सब घटनायें इसी की ओर निर्देश कर रही हैं।

(४) इस महत्त्वपूर्ण क्रान्ति के लिये विश्व भर के मजदूरों को आपस में मिल कर एक हो जाना चाहिये। मजदूर श्रेणी के हितों को अन्य सब बातों के ऊपर रखना चाहिये। राष्ट्र व मातृभूमि के हित की अपेक्षा भी मजदूर श्रेणी के हितों को अधिक महत्त्व देना इस साम्यवादी क्रान्ति के लिये आवश्यक है। इस समाजवादी क्रान्ति से शासक श्रेणियाँ काँप उठें। सर्वसाधारण जनता के पास खोने के लिये है ही क्या, सिवाय अपनी गुलामी की जंजीरों के। उन्हें तो सब कुछ प्राप्त ही होना है। सब देशों के किसान और मजदूरो, आपस में मिल कर एक हो जाओ।

इस घोषणा-पत्र को प्रकाशित कर कार्ल मार्क्स अपने साथियों के साथ जर्मनी वापस लौट गया। उन दिनों क्रान्ति की लहर फ्रांस से शुरू होकर सारे यूरोप को व्याप्त कर रही थी। जर्मनी भी उसके असर से नहीं बचा था। मार्क्स की स्वाभाविक इच्छा थी, कि इस क्रान्तिकारी युग में अपने देश में काम करे। पर जर्मनी में क्रान्ति को विशेष सफलता नहीं मिली। शीघ्र ही सब आन्दोलन दब गया। मार्क्स पर राजद्रोह का

मुकदमा चलाया गया और उसे देशनिकाला दिया गया। अब वह लण्डन आकर बस गया, और वहीं पर उसने अपनी विश्वप्रसिद्ध पुस्तक 'पूँजी' लिखकर पूर्ण की। यह पुस्तक साम्यवादियों की 'बाइबल' मानी जाती है।

राबर्ट आवेन और लुई ब्लां जैसे पुराने साम्यवादियों से कार्ल मार्क्स का मत बहुत भिन्न है। मार्क्स के मतानुसार सर्व साधारण—किसान मजदूर—जनता के हाथ में शक्ति आनी चाहिये। समाज में इस आधारभूत क्रान्ति को लाये बिना यदि व्यवसाय राज्य के अधीन हो जाय, तो उसका परिणाम यही होगा, कि वास्तविक शक्ति शिक्षित मध्य-श्रेणी के हाथ में बनी रहेगी और सर्वसाधारण मजदूर जनता उनके द्वारा शोषित होती रहेगी। आवश्यकता इस बात की है, कि किसान मजदूर जनता एक श्रेणी के रूप में संगठित हो जाय और फिर सारी शक्ति को मध्य-श्रेणी के हाथ से छीनकर अपने हाथ में कर ले। जब राज्यशक्ति जनता के हाथ में आ जायगी और भूमि व पूँजी पर व्यक्तियों का स्वामित्व न रहेगा, और सब लोग श्रमी की हैसियत से काम करने लगेंगे, तो स्वयं एक श्रेणी व वर्ग-विहीन समाज का निर्माण हो जायगा, जिसमें कोई किसी को शोषण नहीं कर सकेगा।

कार्लमार्क्स ने अपने इन विचारों को प्रसारित करने के लिये १८६४ में 'मजदूरों के अन्तर्राष्ट्रीय संघ' की स्थापना की। शीघ्र ही इसकी शाखायें यूरोप में सर्वत्र कायम हो गईं। सन् १८६६ में जिनीवा में इस संघ का प्रथम महासम्मेलन हुआ। फिर प्रति वर्ष इसी प्रकार के वार्षिक सम्मेलन होने लगे। इनमें न केवल साम्यवादी सिद्धान्तों पर वाद विवाद होते थे, पर उनका प्रचार करने के क्रियात्मक उपायों पर भी विचार किया जाता था।

फ्रांस की राज्यक्रान्ति के समय साम्यवाद के जिस सिद्धान्त का बीजारोपण मात्र हुआ था, अब उन्नीसवीं सदी के मध्य-भाग में वह

यूरोप भर में एक प्रबल शक्ति बनता जा रहा था। बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक यह आन्दोलन यूरोप में एक महत्त्वपूर्ण स्थान पा गया और १९१७ में रशिया की राज्यक्रान्ति के बाद तो यह संसार की मुख्यतम शक्तियों में एक हो गया।

(४) अराजकवाद

समाज में विषमता और अन्याय को दूर करने के उद्देश्य से अन्य भी अनेक विचारधारायें इस समय यूरोप में प्रचलित हो रही थीं। इनमें अराजकवाद (अनार्किज्म) के सम्बन्ध में कुछ उल्लेख करना यहाँ उपयोगी है। अराजकवाद का प्रवर्तक प्रूधों (१८०९-१८६५) था। वह पेरिस के एक छापेखाने में काम करता था। कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की दशा देखकर उसने विचार करना शुरू किया, कि वैयक्तिक सम्पत्ति क्या है? वह दूसरों की चोरी के अतिरिक्त कुछ नहीं है। किसी भी राज्य-संस्था में कुछ मनुष्य विशाल जनसमूह पर शासन करते हैं। अतः दूसरों पर अत्याचार, ज्यादती और अन्याय का होना राज्य-संस्था में आवश्यक है। एक ऐसे समाज का निर्माण होना चाहिये, जिसमें राज्य-संस्था हो ही नहीं। मनुष्य परस्पर मिल कर एक साथ रहें, उनका आपस का बरताव न्याय, समानता और स्वतन्त्रता पर आश्रित हो। सम्पत्ति का उपभोग सब करें, पर उस पर स्वामित्व किसी का न हो। किसान और मजदूर अपने अपने क्षेत्र में परस्पर मिलकर, अपना समाज बना कर आर्थिक उत्पत्ति करें, और फिर स्वेच्छापूर्वक संगठित हुए इन समाजों का एक केन्द्रीय संघ बन जाय। पर इन समाजों व संघ में शासक और शासित का भेद बिलकुल न हो, राज्यसंस्था का विकास न होने पावे। यदि शुरू में आवश्यकता से विवश होकर किसी प्रकार के शासन को रखना उचित भी समझा जाय, तो उसका क्षेत्र न्यूनतम रहे, क्योंकि शासन में जनसमूह को आवश्यक रूप से कुछ लोगों का वशवर्ती होना पड़ता है।

बाकुनिन (१८१४-१८७८) नाम का एक रशियन विचारक प्रूधों के सम्पर्क में आकर उसकी विचारधारा का अनुयायी हो गया। वह भी पेरिस में रहता था। १८४८ की राज्यक्रान्ति में उसने प्रमुख भाग लिया। उसे गिरफ्तार करके रशियन सरकार के सुपुर्द कर दिया गया। उसे साइबीरिया में कालेपानी की सजा हुई—पर वहाँ से बच निकल कर वह अमेरिका पहुँच गया, और बाद में इङ्गलैण्ड होता हुआ यूरोप चला आया। अराजकवाद का प्रचार करने के लिये उसने अनेक पुस्तकें लिखीं। इनमें उसने प्रूधों के समान ही इस विचार का प्रतिपादन किया, कि राज्यसंस्था से विहीन स्वतन्त्र समाज का निर्माण करना चाहिये। पर इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये बाकुनिन हिंसात्मक उपायों का प्रयोग करना आवश्यक समझता था। वह कहता था, कि जब तक सर्वसाधारण जनता सब प्रकार के दबाव, शासन और व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह न कर देगी, तब तक शोषण और अत्याचार का अन्त न हो सकेगा।

अराजकवाद की यह विचारधारा यूरोप में निरन्तर बलवती होती गई, पर कार्ल मार्क्स के साम्यवाद या समाजवाद के मुकाबले में यह अधिक उन्नति नहीं कर सकी। इसके प्रतिपादक केवल एक आदर्श कल्पना को जनसमाज के सम्मुख उपस्थित करते रहे, पर अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये वे कोई सफल क्रियात्मक कदम नहीं उठा सके।

समाज के नये संगठन की कल्पनाओं के कारण यूरोप की शिक्षित जनता इस बात की आवश्यकता को स्वीकार करने लगी थी, कि गरीब मजदूर श्रेणी की अवस्था में सुधार करने का प्रयत्न होना चाहिये। इसीलिये उन्नीसवीं सदी में इङ्गलैण्ड, फ्रांस आदि देशों में ऐसे बहुत से कानून पास हुए, जिनका उद्देश्य कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की दशा को ठीक करना था। इन कानूनों का उल्लेख हम यथास्थान करते रहे हैं। पर यह ध्यान रखना चाहिये, कि इन

सुधारों की पीठ पर जो प्रेरक शक्ति थी, वह साम्यवादियों और अराजकवादियों द्वारा प्रचारित वे विचारधारायें थीं, जो सामाजिक विषमता और उससे उत्पन्न अन्याय को बड़े विशद रूप में जनता के सम्मुख रख रही थीं।

उन्नीसवीं सदी के यूरोप में जो शक्तियाँ मानव-समाज के संगठन और स्वरूप को परिवर्तित करने के लिये काम कर रही थीं, उनका यहाँ एक बार फिर निर्देश कर देना उपयोगी है। (१) व्यावसायिक क्रान्ति—इसके द्वारा मनुष्य के आर्थिक जीवन में भारी परिवर्तन आ रहा था (२) राजनीतिक क्रान्ति—इसके द्वारा राष्ट्रीयता की भावना और लोकतन्त्र शासन की स्थापना की माँग निरन्तर प्रबल हो रही थी। (३) नई विचार धारायें—शिक्षा और ज्ञान के प्रसार के कारण शिक्षित विचारकों ने यह सोचना प्रारम्भ कर दिया था, कि विषमता और अन्याय का अन्त कर किस प्रकार एक सुखी समाज की रचना की जाय। इस नये समाज की रचना किस प्रकार हो, इस सम्बन्ध में विचारकों में भारी मतभेद थे, पर वर्तमान समाज को परिवर्तित करने की आवश्यकता के सम्बन्ध में सब विचारक एकमत थे।

पैंतीसवाँ अध्याय

पुराण और नया साम्राज्यवाद

(१) यूरोप का मध्य कालीन साम्राज्यवाद

पन्द्रहवीं सदी तक यूरोप के लोग अपने महाद्वीप से बाहर के देशों से सर्वथा अपरिचित थे। उस समय में आवागमन के साधनों की जरा भी उन्नति नहीं हुई थी। महासमुद्र के पार आना-जाना बहुत कठिन था। दिग्दर्शक यन्त्र के भी आविष्कृत न होने के कारण सामुद्रिक व्यापार समुद्र-तट के साथ साथ ही होता था। इस दशा में यह बात कल्पित भी न की जा सकती थी, कि कोई यूरोपियन देश समुद्र पार कर एशिया व अफ्रीका के किसी देश को अपने अधीन करे और इस प्रकार अपने साम्राज्य का विस्तार करे। अमरीका तो उस समय तक ज्ञात भी न हुआ था। इस प्रकार, मध्यकाल में यूरोपियन राज्यों के साम्राज्य-वाद का अभिप्राय इतना ही था कि एक दूसरे पर आक्रमण करें और यूरोप के अधिक से अधिक प्रदेश पर अपना शासन स्थापित करें। मध्यकालीन यूरोप में अनेक ऐसे राजा हुए हैं, जिन्होंने यूरोप के बहुत बड़े भू-भाग पर शासन किया। उस समय में साम्राज्यवाद का अभिप्राय यही था।

परन्तु पन्द्रहवीं सदी के अन्तिम भाग में एक नई प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई। यूरोप और एशिया का पारस्परिक व्यापार बहुत समय से चला

आता था। मलक्का, जावा और सुमात्रा से मसाले और भारतवर्ष से हीरे, मोती, कीमती लकड़ियाँ, चन्दन, मलमल आदि विविध बहुमूल्य वस्तुएँ प्रभूत परिमाण में यूरोपियन देशों में आती थीं। इस व्यापार के दो मार्ग बहुत प्रसिद्ध थे। भारतवर्ष में कालीकट से अदन होता हुआ यह माल मक्का पहुँचता था और वहाँ से ऊँटों के काफिलों पर लादकर इसे नील नदी पर पहुँचाया जाता था। नील नदी से होता हुआ यह माल कैरो और अलेक्जेण्ड्रिया पहुँचता था और वहाँ पर फिर बेनिस के जहाजों में लादकर भूमध्यसागर के विविध बन्दरगाहों में ले जाया जाता था। दूसरा रास्ता पर्शिया की खाड़ी से होकर जाता था। भारतवर्ष में कालीकट, गोआ और दिउ होता हुआ यह माल ओर्मुज पहुँचता था। वहाँ से यह दजला और फ्रात नदियों के मुहाने पर स्थित प्रसिद्ध नगर बगदाद में आता था। बगदाद में यह माल ऊँटों के काफिलों पर लदता था और इस प्रकार एशिया माइनर के पश्चिमी बन्दरगाहों—एन्टियोक, बेयरुत प्रभृति—में पहुँचा दिया जाता था। वहाँ से फिर इटालियन व्यापारी इस माल को भू-मध्यसागर द्वारा यूरोप के विविध देशों में पहुँचा देते थे। इन व्यापारी मार्गों पर दृष्टिपात करने से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि अरब और एशिया माइनर पर किस राज्यशक्ति का आधिपत्य है, यह बात इस व्यापार की सुरक्षितता के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। १४५३ में प्रसिद्ध तुर्क आक्रान्ता मुहम्मद द्वितीय ने कोन्स्टेन्टिनोपल जीत लिया और सम्पूर्ण एशिया माइनर पर अपना शासन कायम कर लिया। तुर्कों की इस विजय से पूर्व और पश्चिम के ये व्यापारी मार्ग सुरक्षित न रहे। इससे पूर्व इन प्रदेशों पर अरब लोगों का शासन था। अरब लोग सभ्यता की दृष्टि से बहुत उन्नत थे और स्वयं व्यापारी थे। वे व्यापार का महत्त्व अच्छी तरह समझते थे और उसमें किसी भी प्रकार की बाधा नहीं डालते थे। परन्तु तुर्क लोग अभी जंगली थे। सभ्यता की दृष्टि से उन्होंने विशेष उन्नति नहीं की।

थी। अरबों के सभ्य साम्राज्य पर उनके आक्रमण वही स्थिति रखते थे, जो कि भारतीय साम्राज्य पर हूणों के। इन असभ्य तुर्कों की विजयों से व्यापार के ये महत्त्वपूर्ण मार्ग बहुत कुछ बन्द हो गये और यूरोपियन राज्यों को यह चिन्ता प्रारम्भ हुई, कि व्यापार के लिये किसी नये मार्ग के आविष्कार करें। इस क्षेत्र में पोर्तुगाल और स्पेन ने विशेष तत्परता प्रदर्शित की। पोर्तुगीज लोगों में यह कल्पना उत्पन्न हुई कि अफ्रीका का चक्कर काटकर पूर्वी देशों में पहुँचा जा सकता है और इस प्रकार पूर्वी व्यापार के लिये एक नया मार्ग आविष्कृत हो सकता है। इस कल्पना को दृष्टि में रखकर अनेक पोर्तुगीज मल्लाहों ने समुद्रतट के साथ साथ चलते हुए अफ्रीका का चक्कर लगाने का साहस प्रारम्भ किया। सन् १४८७ में बार्थोलोमियो दियाज इस प्रयत्न में सफल हुआ। वह अफ्रीका के सबसे निचले सिरे तक पहुँच गया। इसका नाम उसने सदाशा का अन्तरीप (Cape of Good Hope) रखा, क्योंकि अब पूर्व पहुँचने के एक नये मार्ग के प्राप्त होने की पूर्ण आशा हो गई थी। १४९८ में प्रसिद्ध पोर्तुगीज मल्लाह वास्कोडिगामा अफ्रीका का चक्कर काटकर भारतवर्ष पहुँच गया और इस प्रकार पूर्वी व्यापार के लिये एक नवीन मार्ग आविष्कृत हो गया।

जिस समय पोर्तुगीज मल्लाह अफ्रीका का चक्कर काटकर पूर्वी देशों में पहुँचने का प्रयत्न कर रहे थे, उस समय कोलम्बस नामक इटालियन मल्लाह के मन में एक नई कल्पना उत्पन्न हुई। पृथ्वी गोल है, यह बात उस समय में ज्ञात हो चुकी थी। कोलम्बस ने सोचा कि यदि अटलांटिक महासागर में निरन्तर पश्चिम की तरफ चलते जावें, तो भारतवर्ष पहुँचा जा सकता है। स्पेन के राजा की सहायता से उसने अपनी सामुद्रिक यात्रा प्रारम्भ की और अटलांटिक महासागर में जाते जाते १४९२ में उसे भूमि के दर्शन हुए। उसने समझा कि भारतवर्ष आ गया। वस्तुतः वह भूमि भारत की नहीं थी, वह अमेरिका

था। परन्तु कोलम्बस की मृत्यु यही समझते हुए हुई, कि मैंने भारतवर्ष का पता लगा लिया है। पीछे से लोगों को ज्ञात हुआ कि जो भूमि-खण्ड कोलम्बस द्वारा ढूँढ़ा गया है, वह भारत नहीं है, अपितु एक सर्वथा नवीन प्रदेश है। इसीलिये भारत (India) से पृथक् करने के लिये उसका नाम पश्चिमी भारत (West Indies) रखा गया।

पन्द्रहवीं सदी के अन्तिम भाग में यह जो नवीन प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई थी, इसके दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए। (१) कोलम्बस को अचानक ही जो विशाल भूमिखण्ड व महाद्वीप प्राप्त हो गया था, वह बहुमूल्य खनिज पदार्थों की दृष्टि से बहुत समृद्ध था। यूरोपियन देशों ने इस नवीन सम्पत्ति से लाभ उठाना प्रारम्भ किया। कोलम्बस को स्पेन के राजा ने भेजा था, इसलिये स्वाभाविक रूप से नवीन प्राप्त हुए प्रदेशों पर स्पेन का आधिपत्य कायम हुआ। अमेरिका की खानों से अनन्त सोना व चाँदी स्पेन जाने लगी और देखते देखते स्पेन का वैभव दिन दूना रात चौगुना वृद्धि को प्राप्त होने लगा। स्पेन की होड़ में अन्य यूरोपियन राज्य भी अमेरिका के विशाल भूखण्ड में सोना चाँदी की ढूँढ़ में फिरने लगे और इन्हें इस नये महाद्वीप में अपने अपने उपनिवेश बसाने की चिन्ता प्रारम्भ हुई। इस प्रकार यूरोपियन देशों में औपनिवेशिक प्रतिस्पर्धा का प्रारम्भ हुआ। यूरोप के लिये यह सर्वथा नई बात थी। (२) पोर्तुगीज लोगों ने सामुद्रिक व्यापार का जो नया मार्ग ढूँढ़ा था, उससे पश्चिमी यूरोप के देशों ने एशिया में आना जाना प्रारम्भ कर दिया। पहले वे व्यापार के उद्देश्य से ही भारतवर्ष, मोलक्को, चीन आदि पूर्वी देशों में आते जाते थे। उन्होंने स्थान-स्थान पर अपनी व्यापारी कोठियाँ कायम कीं। सबसे पहले पोर्तुगाल और उसके बाद हालैण्ड, इङ्गलैण्ड और फ्रांस के व्यापारियों ने पूर्वी व्यापार पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। इस प्रयत्न से विविध देशों में परस्पर संघर्ष होना सर्वथा स्वाभाविक

था। व्यापारिक प्रतिस्पर्धा के कारण वे आपस में लड़ने लगे। साथ ही, कुछ समय बाद इन व्यापारियों को यह अनुभव हुआ कि जिन एशियाई देशों के साथ वे व्यापार करते हैं, उनकी आन्तरिक राजनीतिक दशा इतनी खराब है कि उन पर सुगमता से अपना शासन भी कायम किया जा सकता है। व्यापार के लिये भी यह राजनीतिक आधिपत्य बहुत उपयोगी होगा। इस अनुभव का परिणाम यह हुआ कि विविध यूरोपियन देश एशियाई राज्यों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये परस्पर संघर्ष करने लगे। यूरोप के इतिहास में यह बिलकुल नई बात थी। एशिया में साम्राज्य फैलाने का प्रयत्न-जिसका वास्तविक मूल व्यापारिक लाभ था—इससे पूर्व यूरोपियन देशों ने नहीं किया था।

इस प्रकार यह ध्यान में रखना चाहिये, कि फ्रांस की राज्यक्रान्ति से पूर्व मध्यकाल में (१५वीं सदी से १८वीं सदी तक) यूरोपियन साम्राज्यवाद के दो रूप थे—उपनिवेशों का विस्तार और पूर्वी देशों के साथ व्यापार। इन्हीं बातों को सम्मुख रखकर विविध यूरोपियन देश अपने अपने साम्राज्यों का निर्माण कर रहे थे।

वर्तमान समय में उपनिवेश—विस्तार का जो लाभ समझा जाता है, इस पुराने काल में वह लोगों की दृष्टि में नहीं आया था। उस समय में उपनिवेश प्राप्ति के ये लाभ समझे जाते थे—(१) उपनिवेश से कच्चा माल यथेष्ट परिमाण में प्राप्ति किया जा सकता है, अतः अपने उपनिवेश होने से कच्चे माल के लिये किसी अन्य देश पर आश्रित होने की आवश्यकता न रहेगी। जिस तैयार माल की जरूरत हो, वह अपने मूल देश से (जिसका कि वह उपनिवेश है) ही प्राप्त किया जाय। इस प्रकार अपने निर्यात माल के लिये नया बाजार प्राप्त हो सकेगा। (२) उस समय में यूरोप के लोग भी बहुत धर्मप्राण थे। ईसाइयत के प्रचार के लिये धर्म-प्रचारक सदा उत्सुक रहते थे। इन धर्म प्रचारकों

को उपनिवेशों के मूल निवासियों को ईसाई बनाने क सुवर्णावसर उपलब्ध होता था। उपनिवेशविस्तार में आधारभूत विचार यह कार्य कर रहा होता था, कि उपनिवेश अन्य किसी देश के साथ व्यापार न कर सके, उसे जिस माल की बाहर से जरूरत हो, वह अपने मूल देश से मँगावे। इससे मूल देश का विदेशी व्यापार बढ़ता था और उसे अपने निर्यात के लिये नया बाजार—जहाँ कि वह यथेष्ट कीमत पर अपना माल बेच सकता था, क्योंकि उसका प्रतिस्पर्धी वहाँ पर अन्य कोई नहीं होता था-प्राप्त हो जाता था। इसी प्रकार, उपनिवेश अपना कच्चा माल केवल मूल देश को ही भेज सकते थे। उनका खरीदार केवल एक होता था, वह यथेष्ट कीमत पर—जो कि बहुत कम होती थी, क्योंकि खरीदार केवल एक ही था—माल खरीद करता था। इस पद्धति से मूल देश बहुत लाभ उठाते थे। उपनिवेश आर्थिक लूट के निमित्तमात्र बने हुए थे। अनेक इस प्रकार के कानून बनाये गये थे, जिनसे उपनिवेश पूर्णतया मूल देश पर आश्रित रहें। इस पद्धति को व्यापारिक पद्धति (मर्केन्टाइल सिस्टम) कहा जाता है। यह अनेक सदियों तक यूरोप में जारी रही।

यह मर्केन्टाइल सिस्टम बहुत समय तक कायम नहीं रह सका। धीरे धीरे इसमें क्षीणता आने लगी। इसकी क्षीणता के तीन मुख्य कारण थे—

(१) व्यावसायिक क्रान्ति—इङ्गलैण्ड में १८वीं सदी के अन्तिम भाग में व्यावसायिक क्रान्ति प्रारम्भ हुई। उसके कारण बहुत बड़े परिमाण में माल तैयार होने लगा। बड़े बड़े कारखाने खुले, कच्चे माल की जरूरत बहुत बढ़ गई। तैयार माल के लिये उपनिवेशों के अतिरिक्त नये नये बाजारों की आवश्यकता अनुभव होने लगी। इङ्गलैंड का प्रचुर व्यापारी माल उपनिवेशों में नहीं खप सकता था, और न ही उसके थोड़े से उपनिवेश कच्चे माल की माँग को पूरा कर

सकते थे। इसलिये मर्केन्टाइल पद्धति की संकीर्ण मर्यादायें टूटने लगीं, और लोग व्यापार को विस्तृत करने की फिकर करने लगे। (२) व्यावसायिक क्रान्ति के कारण जो नई परिस्थिति उत्पन्न हुई थी, उसको दृष्टि में रखकर अनेक अर्थशास्त्रियों ने नये ढंग से विचार करना प्रारम्भ किया। वे कहते थे—आर्थिक क्षेत्र में भी उसी प्रकार से प्राकृतिक व स्वाभाविक नियम कार्य कर रहे हैं, जैसे कि भौतिक क्षेत्र में। भौतिक क्षेत्र में मनुष्य क्या करता है? स्वाभाविक नियमों का पता लगाता है, और उन्हें मानकर उनके अनुकूल ही अपना कार्य करता है, उन नियमों में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न नहीं करता। यदि मनुष्य प्रकृति के इन नियमों में हस्तक्षेप करेगा, तो नुकसान ही उठावेगा। इसी प्रकार, आर्थिक क्षेत्र में भी जो स्वाभाविक नियम कार्य कर रहे हैं, मनुष्य को चाहिये कि उन्हें पता लगावे और फिर उन्हें जान कर उनके अनुसार ही कार्य करे, उनमें हस्तक्षेप न करे। इङ्गलैण्ड में आडमस्मिथ और फ्रांस में टूर्जो इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक थे। इनका कथन था, कि आर्थिक क्षेत्र में 'खुला छोड़ दो' 'जैसा होता है, होने दो' 'हस्तक्षेप न करो' की नीति का अनुसरण करना ही मानवीय समाज के लिये हितकर है। इस सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर वे उन सब कानूनों का विरोध करते थे, जो कि 'मर्केन्टाइल पद्धति' को क्रिया में परिणत करने के लिये बनाये गये थे। ये विदेशी व्यापार पर किसी भी प्रकार का तट कर लगाने के विरोधी थे और मुक्तद्वार वाणिज्य की नीति का पक्ष समर्थन करते थे। इन अर्थशास्त्रियों के विचारों का परिणाम यह हुआ, कि लोग मर्केन्टाइल पद्धति से विमुख होने लगे (३) उपनिवेशों में जो लोग बसते थे, वे प्रायः मूल देश के निवासियों के ही वंशज होते थे। वे यह सहन नहीं कर सकते थे, कि उनका उपयोग दूसरों के लाभ के लिये किया जावे। मूल देश अपने लाभ के लिये उपनिवेशों का जिस ढंग से उपयोग करना चाहते थे,

वह उपनिवेश वासियों को सह्य नहीं था। परिणाम यह हुआ, कि पहले ब्रिटेन के अमेरिकन उपनिवेशों ने विद्रोह किये और उसके बाद स्पेन के दक्षिणी उपनिवेशों ने। ये अपने विद्रोहों में सफल भी हुए। इनकी सफलता से मर्केन्टाइल पद्धति को बड़ा धक्का लगा। इनकी स्वतन्त्रता को देखकर यूरोप के राजनीतिज्ञ सोचने लगे, कि उपनिवेश प्राप्ति के लिये इतने धन जन का व्यय करना सर्वथा निरर्थक है। साथ ही, यूरोप में लोकसत्ता की जो नई लहर चल रही थी, वह इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करती थी, कि प्रत्येक कौम को स्वभाग्य निर्णय का अधिकार होना चाहिये। उपनिवेश भी इस लहर से अछूते न रहे थे। वे स्वभाग्यनिर्णय के सिद्धान्त को सम्मुख रखकर यह कदापि सहन न कर सकते थे, कि मूल देश उनके मामलों में हस्तक्षेप करे या उनकी रीतिनीति का संचालन करे। इस दशा में यूरोप के राजनीतिज्ञों को उपनिवेश रखने का कोई भी लाभ दृष्टिगोचर नहीं होता था।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक 'मर्केन्टाइल पद्धति' पर आश्रित यूरोप के पुराने औपनिवेशिक साम्राज्य प्रायः सब नष्ट हो चुके थे। स्पेन का विशाल साम्राज्य अब पूर्णतया क्षीण हो चुका था। अमेरिका में क्यूबा और पोर्टो रिको के सिवा अन्य कोई प्रदेश उसके अधीन न रहा था। प्रशान्त महासागर में स्थित फिलिप्पाइन द्वीप समूह तथा अफ्रीका के कुछ प्रदेश हां अभी तक उसके अधीन थे। अमेरिका में न्यू आम्स्टर्डम का उपनिवेश तथा अफ्रीका में केप कोलोनी हालैण्ड की अधीनता से निकल चुके थे। फ्रांस का विशाल अमेरिकन साम्राज्य नष्ट हो गया था। ब्राजील पोर्तुगाल की अधीनता से मुक्त हो गया था। सर्वत्र औपनिवेशिक साम्राज्यों का ह्रास हो रहा था। इस अवस्था में केवल एक ही देश था, जो एक भावी महान् साम्राज्य की नींव डाल रहा था। वह देश था ब्रिटेन। यद्यपि अमेरिकन उपनिवेशों की स्वाधीनता के कारण ब्रिटेन के औपनिवेशिक साम्राज्य को बहुत

क्षति पहुँची थी, तथापि सामुद्रिक आधिपत्य के संघर्ष में हालैण्ड और फ्रांस को परास्त कर ब्रिटेन अब असाधारण उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा था। पर ब्रिटेन का यह साम्राज्य मर्कन्टाइल पद्धति के पुराने सिद्धान्त पर आश्रित न था। यूरोप का पुराना साम्राज्यवाद अब समाप्त हो चुका था—उसका स्थान साम्राज्यवाद के नवीन सिद्धान्तों ने ले लिया था। ये सिद्धान्त कौन से थे—इस पर हम अब विचार करेंगे।

(२) नवीन साम्राज्यवाद का प्रारम्भ

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में यूरोप में नवीन साम्राज्यवाद का प्रारम्भ हुआ। इसका स्वरूप मुख्यतया राष्ट्रीय तथा आर्थिक था। राष्ट्रीयता की जो नवीन भावना यूरोपियन राज्यों में उत्पन्न हुई थी, वह अब अत्यन्त प्रबल रूप धारण कर रही थी। यूरोपियन राज्य समझते थे, संसार में सर्वोत्कृष्ट लोक हम ही हैं, सारी पृथिवी हमारे भोग तथा उत्कर्ष के लिये बनाई गई है। इस भाव से प्रेरित होकर वे अपने सिवा अन्य किसी को संसार में जीने नहीं देना चाहते थे। साथ ही, साम्राज्यवाद के विकास में उनका उद्देश्य आर्थिक था। यूरोप में कल-कारखानों के विकास से जो व्यावसायिक क्रान्ति हुई थी, उससे प्रत्येक देश अपनी आवश्यकता से अधिक पदार्थ उत्पन्न करने में समर्थ हो गया था। इन अतिरिक्त पदार्थों की बिक्री के लिये कहीं बाजार चाहिये। इन बाजारों की ढूँढ़ में यूरोपियन राज्य उन्नति की दौड़ में पीछे रहे हुए अफ्रीकन तथा एशियाई देशों में अपने अपने 'प्रभाव-क्षेत्र' बनाने की फिकर करने लगे। इस प्रवृत्ति से एक नये प्रकार का साम्राज्यवाद विकसित हुआ, जो अब तक जारी है। इसमें सन्देह नहीं, कि जिन कारणों से यह नया साम्राज्यवाद विकसित हुआ है, उनके नष्ट हो जाने पर यह भी नष्ट हो जायगा और संसार के

इतिहास में एक नवीन युग का प्रारम्भ होगा। पर अभी तक राष्ट्रीय और आर्थिक साम्राज्यवाद का यह युग विद्यमान है। हमें इसके विकास के कारणों तथा स्वरूप पर गम्भीरता तथा ध्यान से विचार करना चाहिये।

इस नवीन साम्राज्यवाद के विकास के चार मुख्य कारण हैं—(१) व्यावसायिक क्रान्ति के कारण मानवीय समाज के आर्थिक संगठन में बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया। मध्यकाल में आर्थिक उत्पत्ति बहुत छोटे पैमाने पर होती थी। एक देश में जो माल उत्पन्न होता था, वह उस देश के लिये भी पर्याप्त न होता था। उस समय में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का कोई महत्त्व न था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये न तो माल ही होता था, और न उसे एक देश से दूसरे देश में ले जाने के लिये साधन ही सुरक्षित रूप से विद्यमान होते थे। परन्तु व्यावसायिक क्रान्ति के बाद आवश्यकता से अधिक माल उत्पन्न होने लगा। भाप से चलने वाले जहाजों के बन जाने से सुदूरवर्ती देशों में व्यापार करना बहुत आसान हो गया। रेलवे, तार, डाकखाना, टैलीफोन आदि के आविष्कार से मनुष्य ने देश और काल पर अभूतपूर्व विजय स्थापित की। संसार के सुदूरवर्ती देश अब एक दूसरे के बहुत समीप हो गये। लण्डन से भारतवर्ष जाना केवल तीन सप्ताह का कार्य रह गया। अन्तर्राष्ट्रीय बैंकों की स्थापना तथा विदेशी हुण्डी के प्रचलन से रुपये का आवागमन भी बहुत सुगम हो गया। बीमा कम्पनियों की कृपा से व्यापार का खतरा भी दूर हो गया। इस दशा में यूरोप के उन्नतिशील राज्य अपने माल के लिये बाजार ढूंढ़ने की फिकर करने लगे। प्रत्येक देश अधिक से अधिक तैयार माल उत्पन्न करना चाहता था, और उसको बेच कर अधिक से अधिक मुनाफा उठाने की कोशिश करता था। इस अवस्था में विविध देशों में परस्पर प्रतिस्पर्धा का होना सर्वथा स्वाभाविक था। अपने माल को दूसरे के

मुकाबले से बचा कर निश्चिन्तता के साथ बेचने का एक ही उपाय था; वह यह कि पिछड़े हुए देशों में—जहां पर अपना माल बेचना सुगम तथा सम्भव था—अपने प्रभावक्षेत्र कायम किये जावें, जिससे कि अपने सिवा कोई अन्य देश उनमें व्यापार की सुविधा न रख सके। ये प्रभावक्षेत्र जिस प्रकार भी सम्भव हो, अपने ऊपर आश्रित होते जावें। धीरे-धीरे यदि ये अपने संरक्षित राज्य हो जावें और फिर पूर्णतया अपने अधीन हो जावें—तो बहुत ही उत्तम हो। व्यापार के लिये यह प्रक्रिया अत्यन्त आवश्यक थी। इसके बिना विदेशी व्यापार सुरक्षित न रह सकता था। (२) मध्यकाल में शासन शक्ति वंशक्रमानुगत राजा तथा उसके कुलीन श्रेणी के दरबारियों के हाथ में थी। फ्रेञ्च राज्यक्रान्ति के बाद यह शासन शक्ति जनता के हाथ में आ गई। पर सम्पूर्ण जनता का शासन स्थापित न हो सका। शासन शक्ति मध्य श्रेणी के पास थी, जिसने कि व्यावसायिक क्रान्ति का लाभ उठा कर धन तथा स्थिति प्राप्त कर ली थी। वोट का अधिकार मध्यश्रेणी के लोगों को ही था। समाज में जो लोग अमीर थे, व्यवसाय तथा व्यापार के कारण जिनका समाज में सम्मान था, वे ही शासन का भी सञ्चालन करते थे। अपने हितों का उन्हें खूब ध्यान था। शासनशक्ति प्राप्त कर अपने स्वार्थों को पूर्ण करने में वे सदा तत्पर रहते थे। अपने व्यापारिक माल को दूसरे देशों में खपाना तभी सम्भव था, जब कि अपने साम्राज्य का विस्तार किया जावे। साथ ही, मध्य श्रेणी के लोगों के पास पूँजी बहुत बड़े परिमाण में सञ्चित हो रही थी। यह पूँजी व्यवसाय तथा व्यापार से मुनाफा उठा कर सञ्चित की गई थी। इस विशाल पूँजी को कहीं पर अच्छे सूद पर अथवा अच्छे मुनाफे की आशा से लगाना अत्यन्त आवश्यक था। यह भी तभी हो सकता था, जब कि विदेशों पर अपना आधिपत्य कायम किया जावे। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि मध्यश्रेणी के लोगों

का—जो कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में विविध यूरोपियन राज्यों के शासन सूत्र के सञ्चालक थे—यह निजू स्वार्थ हो गया था कि साम्राज्यवाद का अनुसरण करें। शासनशक्ति उनके हाथ में थी ही, वे इस शक्ति का उपयोग कर अपने आर्थिक हित को पूर्ण करने में कटिबद्ध हो रहे थे। (३) राष्ट्रीयता का उदय भी इस साम्राज्यवाद के विकास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। राष्ट्रीयता के भावों से प्रेरित होकर यूरोप के विविध राज्य संसार में अपनी शक्ति का विस्तार करने के लिये आतुर थे। निःसन्देह, राष्ट्रीयता बहुत अच्छी चीज है। प्रत्येक ऐसे जनसमाज को, जो धर्म, भाषा, सभ्यता, संस्कृति आदि की दृष्टि से एक हो, अपनी विशेषताओं को सामूहिक रूप से विकसित करने तथा उसके लिये अपना पृथक् संगठन बनाने का पूर्ण अधिकार है। इस हद तक राष्ट्रीयता किसी को नुकसान नहीं पहुँचा सकती। पर व्यक्तिवाद की अन्य सब प्रवृत्तियों की तरह राष्ट्रीयता की भी एक हानि है। राष्ट्र इस बात को भूल जाते हैं, कि पृथिवी पर अन्य लोगों ने भी जीना है, सारे संसार का निर्माण उनके लिये ही नहीं किया गया है। राष्ट्रीयता के आवेश में राज्य अन्य देशों के हितों और अधिकारों का ध्यान नहीं रखते। वे समझते हैं, कि संसार में हमें अपना राज्य विस्तार करने और अपना राजनीतिक, धार्मिक तथा आर्थिक उत्कर्ष स्थापित करने का अमर्यादित अधिकार है। इस प्रवृत्ति का परिणाम साम्राज्यवाद होता है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में यूरोप के सब प्रमुख राज्य राष्ट्रीयता रूपी देवता की उपासना में लीन थे। वे अपने देश के उत्कर्ष के लिये संसार भर में जहाँ कहीं भी अवसर प्राप्त हो, वहाँ दूसरे देशों को अपने अधीन करने तथा उनसे अपना हित साधन करने के लिये प्रयत्नशील थे। (४) उन्नीसवीं सदी में यूरोप की आबादी बड़ी तेजी के साथ बढ़ रही थी। १८०० में ब्रिटेन की आबादी १,६०,००,००० थी, १९०० में वह बढ़

कर ४,१०,०००,०० हो गई। इसी प्रकार इस एक शताब्दी में जर्मनी की आबादी २,१०,०००,०० से ५,६०,०००,०० तथा आस्ट्रिया हंगरी की २,३०,०००,०० से ४,१०,०००,०० इटली की १,८०,०००,०० से ३,२०,०००,०० और रशिया की ३,६०,०००,०० से ११,१०,०००,०० हो गई। इस काल में सम्पूर्ण यूरोप की आबादी १८,००,०००,०० से बढ़कर ४०,००,०००,०० हो गई। इस बढ़ती हुई आबादी पर ध्यान देने की आवश्यकता है। पहले यूरोप में आबादी कम होने से वहाँ जो अनाज तथा अन्य खाद्य सामग्री उत्पन्न होती थी, वह वहाँ के निवासियों के भरण-पोषण के लिये पर्याप्त थी। पर इतनी तीव्रता से बढ़ती हुई यूरोपयन आबादी यूरोप में उत्पन्न भोजन सामग्री पर अपना गुजारा नहीं चला सकती थी। इस अवस्था में यूरोपियन लोगों के सम्मुख केवल दो मार्ग थे—या तो बहुत से लोग दूसरे देशों में जाकर बस जावें; एशिया, अफ्रीका तथा यूरोप में बहुत से प्रदेश इस समय में खाली पड़े थे, उनमें अपने उपनिवेश बसाने का अभी पूरा मौका था। दूसरा उपाय यह था, कि यूरोपियन राज्य व्यवसायों की उन्नति में विशेष रूप से लग जावें और व्यावसायिक पदार्थों को दूसरे देशों में बेच कर उसके बदले में भोजन सामग्री अन्य देशों से प्राप्त करें। व्यावसायिक क्रान्ति इस समय तक हो चुकी थी, उसके कारण यूरोपियन देशों में बहुत बड़े परिमाण में तैयार माल उत्पन्न हो रहा था। उसे बेचकर खाद्य-सामग्री प्राप्त कर सकना बहुत सुगम था। यूरोपियन देशों ने इन दोनों उपायों का अवलम्बन किया। उपनिवेशों पर बहुत ध्यान दिया गया। उनकी उपयोगिता सब स्वीकार करने लगे। लाखों की संख्या में यूरोपियन लोग अमेरिका, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया आदि में जाकर बसने लगे। साथ ही, व्यावसायिक पदार्थों की उत्पत्ति बहुत बड़े पैमाने पर शुरू की गई। इस तैयार माल के बदले में यूरोपियन देश अन्य स्थानों से अनाज तथा अन्य कच्चा माल प्राप्त करने लगे। यह

प्रवृत्ति साम्राज्यवाद के विकास में बहुत सहायक हुई। उपनिवेशों की कदर बढ़ने से वे तो साम्राज्य के महत्त्वपूर्ण अंग बने ही, साथ ही अपने तैयार माल को अन्यत्र खपाने के लिये स्थिर बाजारों की आवश्यकता अनुभव हुई। इसी से 'प्रभाव क्षेत्र' 'संरक्षित राज्य' तथा 'साम्राज्य' बनाने की प्रवृत्ति शुरू हो गई। आर्थिक साम्राज्यवाद के विकास में यह आबादी की वृद्धि एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारण है।

यूरोप के नये साम्राज्यवाद के विकास के कारणों पर विवेचना समाप्त करने से पूर्व एक अन्य बात का भी संक्षिप्त रूप से निर्देश कर देना अत्यन्त आवश्यक है। इस साम्राज्यवाद की सफलता में ईसाई पादरियों का धर्म प्रचार भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। ईसाई लोगों में शुरू से यह प्रवृत्ति रही है, कि विविध देशों में अपने धर्म का प्रचार कर काफिर लोगों को नरक के गढ़े में गिरने से बचाया जावे। रोमन कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेन्ट—ईसाई धर्म के दोनों मुख्य सम्प्रदाय इस कार्य में बहुत उत्साह प्रदर्शित करते रहे हैं। १६वीं शताब्दी के शुरू में जब कि यूरोपियन लोगों ने महासमुद्रों के पार जाना आना शुरू किया, तब ईसाई पादरी भी अपने कार्य में कटिबद्ध हो गये। वे अमेरिका, अफ्रीका, एशिया—सर्वत्र स्वच्छन्द रूप से विचरने लगे। उनके धार्मिक वेश को देख कर कोई उन पर सन्देह नहीं करता था। बहुत से ईसाई प्रचारक सचमुच ईमानदार थे, वे वस्तुतः ईसाई धर्म के प्रचार के लिये ही प्रयत्न करते थे। पर ऐसे धर्म प्रचारकों की भी कमी नहीं थी, जो धर्म के आवरण में अपने सांसारिक हितों का सम्पादन करते थे। धार्मिक वेश का लाभ उठाकर ये दूसरे देशों के गुप्त भेदों का सुगमता से पता लगा लेते थे, और अपने राज्यों को उनकी सूचना देते रहते थे। साम्राज्यवादी राष्ट्र तो इन धर्म प्रचारकों को अपने साम्राज्यवादी उद्देश्यों को पूर्ण करने का साधन मात्र समझते थे। यदि अकस्मात् कोई पादरी किसी सुदूर देश में मारा गया, तो इन

साम्राज्यवादी देशों को अच्छा बहाना मिल जाता था। उसके घात के कोई भी कारण क्यों न हो, उसमें चाहे पादरी का अपना ही दोष क्यों न हो—ये साम्राज्यवादी राज्य उस अभागे देश पर आक्रमण करने का अच्छा मौका प्राप्त कर लेते थे। एशिया तथा अफ्रीका के बहुत से देशों में इन पादरियों को ही निमित्त बना कर युद्ध प्रारम्भ किये गये। इस प्रकार ईसाई लोगों का धर्म प्रचार भी यूरोप के बढ़ते हुए साम्राज्यवाद में बहुत सहायक हुआ।

आधुनिक साम्राज्यवाद का स्वरूप प्रधानतया आर्थिक तथा राष्ट्रीय है। उसका विकास किन कारणों से हुआ, इसकी विवेचना हमने कर ली है। यह साम्राज्यवाद किस प्रकार क्रमिक रूप से विकसित होता गया, इस पर हम अब प्रकाश डालेंगे।

(३) ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार

ससार के इतिहास में अब तक जितने साम्राज्यों का विकास हुआ है, ब्रिटिश साम्राज्य सम्भवतः उनमें सबसे बड़ा है। साम्राज्य निर्माण के कार्य में ब्रिटिश लोगों को असाधारण सफलता प्राप्त हुई है। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार १,५००,·०० वर्ग मील था और उसके निवासियों की संख्या २०,०००,००० थी। लगभग एक शताब्दी पीछे १९१९ में ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार २७,५००,००० वर्ग मील हो गया और उसकी आबादी ४७,५०,००,००० हो गई। निस्सन्देह, यह आश्चर्य जनक उन्नति है। गत यूरोपीयन महायुद्ध की समाप्ति पर जर्मनी के अनेक उपनिवेश ब्रिटिश लोगों के अधीन हो गये। तुर्की साम्राज्य के अनेक प्रदेश भी ब्रिटेन को प्राप्त हुए। इनसे ब्रिटिश साम्राज्य की और भी वृद्धि हुई। वर्तमान समय में सम्पूर्ण मनुष्य जाति का चतुर्थ भाग ब्रिटिश प्रभाव में निवास करता है। भूमण्डल का लगभग चौथा हिस्सा ब्रिटेन के अधीन है। इस विशाल

साम्राज्य में सब जातियों, वर्णों तथा धर्मों के लोग निवास करते हैं। ४७½ करोड़ की आबादी में केवल ६ करोड़ ७० लाख मनुष्य गौर वर्ण के हैं। शेष सब कृष्ण व पीत वर्णों के लोग हैं, जो अफ्रीका, एशिया व अमेरिका के महाद्वीपों में निवास कर रहे हैं। ग्रेट ब्रिटेन की अपनी आबादी ४७,०००,००० है। शेष दो करोड़ गौर वर्ण के लोग उपनिवेशों में बसते हैं। ब्रिटिश साम्राज्य के गौर वर्ण के निवासी सब इङ्गलिश जाति के ही नहीं हैं, उनमें फ्रेञ्च तथा डच लोग भी अन्तर्गत हैं। फ्रेञ्च प्रायः कनाडा में तथा डच प्रायः दक्षिणी अफ्रीका में बसते हैं।

इस विशाल साम्राज्य के कारण ब्रिटिश लोगों का उत्कर्ष बहुत अधिक बढ़ गया है। ब्रिटेन की असाधारण आर्थिक उन्नति का मुख्य कारण यह साम्राज्य ही है। साम्राज्य के अन्तर्गत अधीन राज्यों तथा उपनिवेशों से ब्रिटेन अनन्त परिमाण में कच्चा माल सस्ते दामों में प्राप्त करता है। ब्रिटिश तैयार माल के लिये साम्राज्य के देश सब से अच्छे बाजार हैं। ब्रिटेन माल तैयार करता है, साम्राज्य के देश उसे खरीदते हैं। अपने तैयार माल के लिये ब्रिटेन को कच्चे माल की जरूरत होती है, साम्राज्य के देशों से वह प्रचुर परिमाण में प्राप्त किया जा सकता है। इतना ही नहीं, ब्रिटिश पूँजी का विनियोग करने के लिये साम्राज्य के देश बड़े उत्तम स्थान हैं। ब्रिटिश पूँजीपतियों ने असंख्य पूँजी भारत आदि देशों में लगा दी है, वहाँ से सूद तथा मुनाफे की शकल में करोड़ों रुपया प्रति वर्ष ब्रिटेन को प्राप्त होता है। ब्रिटेन के नवयुवकों के लिये साम्राज्य के ये विविध देश रोजगार प्राप्त कराने के भी बड़े अच्छे साधन हैं। ब्रिटेन के लाखों नवयुवक इन देशों में शासक, न्यायाधीश, चिकित्सक, धर्मप्रचारक, अध्यापक आदि की नौकरी प्राप्त कर अपना गुजारा करते हैं। इन सब कारणों से ब्रिटेन की आर्थिक उन्नति बहुत अधिक हुई है। न केवल आर्थिक पर राजनीतिक दृष्टि से भी ब्रिटेन वर्तमान समय में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

इस राजनीतिक उत्कर्ष का प्रधान कारण भी ब्रिटेन का साम्राज्य ही है। साम्राज्य के विस्तृत होने से ब्रिटेन सिपाही तथा युद्ध की आवश्यक सामग्री यथेष्ट परिमाण में प्राप्त कर सकता है। युद्ध के समय में ब्रिटेन को अपने उपनिवेशों तथा अधीनस्थ राज्यों का पूरा भरोसा है। पिछले यूरोपीयन महायुद्ध में सम्पूर्ण साम्राज्य ने एक होकर ब्रिटेन की सहायता की थी। संसार के आधुनिक इतिहास में यह विशाल साम्राज्य एक आश्चर्यजनक संस्था है। इस के स्वरूप को ठीक प्रकार से समझने के लिये हम इसे चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) उपनिवेश-कनाडा, न्यू फाउण्डलैण्ड, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, दक्षिणी अफ्रीका (२) भारतीय साम्राज्य (३) क्राउन कालानी (४) संरक्षित राज्य तथा राष्ट्र संघ द्वारा शासन करने के लिये सौंपे गये राज्य। हम इन सब पर क्रमशः प्रकाश डालेंगे।

(४) उपनिवेश-कनाडा

कनाडा पहले फ्रेञ्च उपनिवेश था। पन्द्रहवीं सदी के अन्तिम भाग में जब कोलम्बस ने अमेरिका का पता लगाया, तो अनेक यूरोपियन जातियों ने इस नवीन भूखण्ड पर अपने उपनिवेश बसाने प्रारम्भ किये। कनाडा में फ्रेञ्च लोग बसे और यह प्रदेश सन् १७६३ तक उन्हीं लोगों के हाथ में रहा। सप्तवर्षीय युद्ध की समाप्ति पर सन् १७६३ में कनाडा ब्रिटिश लोगों के अधीन हुआ। ब्रिटेन के लिये कनाडा का शासन करना सुगम कार्य न था। वहाँ के निवासी भाषा, धर्म, जाति आदि की दृष्टि से ब्रिटिश लोगों से सर्वथा भिन्न थे। परन्तु धीरे-धीरे इस प्रदेश में ब्रिटिश लोगों की संख्या बढ़ने लगी। १८वीं सदी के अन्तिम हिस्से में जब अमेरिका के ब्रिटिश उपनिवेशों में (जो कि वर्तमान समय में संयुक्त राज्य अमेरिका के नाम से विख्यात है) विद्रोह हुए, तो बहुत से राजभक्त उपनिवेशवासी कनाडा में जाकर

बस गये। सब अमेरिकन लोग राज्यक्रान्ति के समर्थक नहीं थे। बहुत से ऐसे भी थे, जो ब्रिटिश छत्रछाया में निवास करने में ही अपना कल्याण समझते थे। इसलिये जब अमेरिकन राज्यक्रान्ति सफल हो गई, तो ये लोग ब्रिटिश उपनिवेश-कनाडा में आकर बस गये। इनके अतिरिक्त ब्रिटेन से जाकर बसनेवाले लोगों की भी संख्या कम न थी। आबादी की वृद्धि तथा बेकारी के कारण बहुत से ब्रिटिश लोग प्रतिवर्ष अपनी मातृ-भूमि को छोड़कर बाहर चले जाते थे। पहले ये लोग अमेरिका में आबाद होते थे। पर अब उसके स्वाधीन हो जाने के कारण इनका क्षेत्र बदल गया और ये लोग प्रायः कनाडा में जाकर बसने लगे। इन नये निवासियों से अपर कनाडा, न्यू ब्रुन्स्विक, नोवा स्कोटिया, प्रिंस एडवर्ड आइलैण्ड तथा न्यूफाउण्डलैण्ड का विकास हुआ। ब्रिटिश लोग ब्रिटेन तथा अमेरिका से आते गये और कनाडा के विशाल विस्तृत प्रदेशों में बसते गये। ये बिखरी हुई बस्तियाँ ही धीरे-धीरे बाकायदा संगठित उपनिवेशों के रूप में परिणत हो गईं। प्रत्येक उपनिवेश की अपनी-अपनी सरकार थी। शासक लोग ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते थे। शुरू-शुरू में इन उपनिवेशों के शासन में उपनिवेश-वासियों का कोई हाथ न था। सम्पूर्ण शासन ब्रिटिश सरकार द्वारा सञ्चालित होता था। पर धीरे-धीरे लोकसत्ता के सिद्धान्तों का प्रवेश किया गया और उपनिवेशवासियों को शासन के अधिकार दिये जाने लगे। पर कनाडा के निवासी इन मामूली सुधारों से संतुष्ट नहीं हो सकते थे। 'स्वभाग्य निर्णय' तथा 'लोकतन्त्र शासन' के सिद्धान्तों को क्रिया में परिणत करने के लिये उनमें घोर आन्दोलन चल रहा था। १८३७ में कनाडा में विद्रोह हो गया। इस विद्रोह का स्वरूप प्रायः वैसा ही था, जैसा कि लगभग आधी सदी पहले के अमेरिकन विद्रोह का था। पर भेद यही है, कि कनाडा की क्रान्ति सफल नहीं हो सकी। पर इसमें सन्देह नहीं, कि असफल होकर भी

कनाडियन क्रान्ति ने ब्रिटिश शासकों की आँखें खोल दीं। उन्हें आवश्यकता अनुभव हुई, कि कनाडा-वासियों की शिकायतों को सुनें और उनके असन्तोष को दूर करने का प्रयत्न करें।

इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर लार्ड डर्हम को कनाडियन समस्या का अध्ययन करने तथा उसका हल करने के उपायों को सुझाने के लिये नियत किया गया। लार्ड डर्हम ने पाँच मास कनाडा में व्यतीत किये और सब बातों का भली भाँति अनुशीलन कर वह इस परिणाम पर पहुँचे, कि जब तक उपनिवेशों को अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले सम्पूर्ण मामलों में पूरा-पूरा अधिकार न दिया जावेगा, तब तक उनकी समस्या का हल न होगा। इसके लिये उसने प्रस्ताव किया कि (१) लोअर कनाडा और अपर कनाडा को मिलाकर एक संगठन में संगठित किया जावे और कनाडा के इस संगठन में इस बात की गुञ्जाइश रखी जावे कि अन्य समीपवर्ती उपनिवेश भी उसमें यथासमय सम्मिलित किये जा सकें। (२) प्रत्येक उपनिवेश में लोकसत्तात्मक सिद्धान्तों के अनुसार स्वराज्य की स्थापना की जावे और मन्त्रिमण्डल को व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी बनाया जावे। ब्रिटिश साम्राज्य के आधुनिक इतिहास में लार्ड डर्हम की यह रिपोर्ट बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसे औपनिवेशिक स्वराज्य की आधारशिला माना जाता है। इस रिपोर्ट के अनुसार १८४० में लोअर और अपर-दोनों कनाडाओं को मिलाकर एक कर दिया गया, तथा उनकी व्यवस्थापिका सभा का निर्माण हुआ। मन्त्रिमण्डल को व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी बनाया गया। ब्रिटिश सम्राट् के प्रतिनिधि रूप में एक गवर्नर की व्यवस्था की गई, जिसे ब्रिटिश सरकार नियत करती थी। कुछ समय पश्चात् अन्य उपनिवेशों (जो अमेरिका के उत्तर में विद्यमान थे) में भी इसी पद्धति का अनुसरण किया गया। नोवा स्कोटिया, न्यू ब्रुन्स्विक आदि अन्य उपनिवेशों में भी कुछ ही वर्षों में औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थापना

हुई। धीरे-धीरे ये सब उपनिवेश कनाडा के संघ (फिडरेशन) में सम्मिलित कर लिये गये और कनाडा के आधुनिक उपनिवेश का प्रादुर्भाव हुआ। इस सङ्घ में सम्मिलित विविध उपनिवेशों व प्रान्तों में अपनी-अपनी पृथक् व्यवस्थापिका सभायें तथा उनके प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल भी विद्यमान हैं, और साथ ही सङ्घ की पृथक् केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा है, जो सम्पूर्ण संघ के साथ सम्बन्ध रखने वाले विषयों का सञ्चालन करती है। केन्द्रीय सरकार का संगठन निम्नलिखित प्रकार से है—व्यवस्थापन विभाग में दो सभाएँ हैं, सीनेट और लोकसभा। सीनेट के सदस्य गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत किये जाते हैं, और वे जन्म भर सदस्य रहते हैं। लोकसभा के सदस्योंको जनता चुनती है। मन्त्रिमण्डल लोकसभा के प्रति उत्तरदायी रहता है। गवर्नर जनरल को वीटो का अधिकार प्राप्त है, पर ब्रिटिश सम्राट् की तरह उसका यह प्रतिनिधि भी अपने इस अधिकार का प्रायः उपयोग नहीं करता। विदेशी मामलों के अतिरिक्त अन्य सब विषयों में कनाडा पूर्णतया स्वतन्त्र है। उसकी स्थिति एक स्वतन्त्र राज्य के समान है, यद्यपि विदेशी विषयों में ब्रिटिश सरकार का नियन्त्रण विद्यमान है।

लार्ड डर्हम द्वारा प्रतिपादित नीति से ब्रिटेन का अपने उपनिवेशों के प्रति रुख बहुत कुछ परिवर्तित हो गया है। यदि १८वीं सदी के अन्तिम भाग में अमेरिकन उपनिवेशों के साथ भी ब्रिटेन यही बर्ताव करता, तो वे कभी ब्रिटिश साम्राज्य से पृथक् न होते। औपनिवेशिक स्वराज्य के सिद्धान्त से जहाँ उपनिवेश क्रियात्मक दृष्टि में पूर्णतया स्वतन्त्र हैं, वहाँ वे ब्रिटिश साम्राज्य के महत्त्वपूर्ण अंग भी हैं। इससे ब्रिटेन का उत्कर्ष बहुत बढ़ गया है।

कनाडा के लिये पश्चिम दिशा में प्रशान्त महासागर की तरफ अपना विस्तार करने के लिये अनन्त क्षेत्र पड़ा हुआ है। कनाडा की सरकार का जितने प्रदेश पर अधिकार है, वह सम्पूर्ण यूरोप व संयुक्त राज्य

अमेरिका की अपेक्षा भी अधिक बड़ा है। इस विशाल भूखण्ड के जंगलों को साफ कर वहाँ बसने के लिये अभी बहुत ज्यादा मौका है। लाखों मनुष्य प्रतिवर्ष यूरोप व अमेरिका से कनाडा पहुँचते हैं, और इस जनशून्य प्रदेश को आबाद करते हैं। कनाडा में खनिज पदार्थों की भी कमी नहीं है। खानों से प्राप्त होने वाले बहुमूल्य पदार्थों के लोभ से बहुत से मनुष्य हर साल कनाडा पहुँचते हैं। आवागमन के साधनों के उन्नत हो जाने के कारण पश्चिमी कनाडा को आबाद करना भी सुगम हो गया है। चार सुदीर्घ रेलवे हैं, जो कनाडा को पूर्व से पश्चिम तक —अटलान्टिक महासागर से प्रशान्त महासागर तक—मिलाती हैं। इनमें से कनाडियन पैसिफिक रेलवे ही का विस्तार १२ हजार मील है। इन रेलों का परिणाम यह हुआ है, कि पश्चिम के प्रदेश लगातार आबाद होते जाते हैं और नये नये प्रदेश एक राज्य का रूप धारण कर कनाडा के संघ में सम्मिलित होते जाते हैं। मनिटोबा १८७० में संघ में सम्मिलित हुआ, ब्रिटिश कोलम्बिया १८७१ में, प्रिंस एडवर्ड आइलैण्ड १८७३ में, एल्बर्टा और सस्कचेवन १९०५ में। कनाडा की आबादी भी बड़े वेग से बढ़ रही है। १८१५ में उसकी आबादी केवल पांच लाख थी, १९२५ में एक सदी बाद वह बढ़ कर नब्बे लाख हो गई।

आर्थिक दृष्टि से भी कनाडा असाधारण उन्नति कर रहा है। कृषि और व्यवसाय—दोनों वहाँ सुचारु रूप से उन्नत हैं। व्यवसायों के प्रोत्साहन के लिये कनाडा ने संरक्षण नीति का आश्रय लिया है। विदेशी माल पर—जिसमें ब्रिटिश माल भी सम्मिलित है—प्रचुर परिमाण में चुंगी लगा कर तथा अपने व्यवसायों को सरकार की ओर से आर्थिक सहायता देकर कनाडा एक व्यवसाय-प्रधान देश बनने की चिन्ता में है। इस नीति में कनाडा को सफलता भी खूब प्राप्त हुई है। कनाडा एक राष्ट्र है, और राष्ट्रीय दृष्टि से उसे अपने आप में परिपूर्ण होना चाहिये, यह विचार वहाँ खूब काम कर रहा है। शिक्षा की दृष्टि

से भी कनाडा ने अच्छी उन्नति की है। इस समय वहाँ २३ विश्वविद्यालय हैं, जिनमें हजारों विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं।

न्यू फाउण्डलैण्ड कनाडा के संघ के बहुत समीप स्थित है, पर अब तक वह कनाडा-संघ में सम्मिलित नहीं हुआ है। वह एक स्वतन्त्र पृथक् उपनिवेश के रूप में विकास कर रहा है। उसमें भी औपनिवेशिक स्वराज्य विद्यमान है और अन्य उपनिवेशों के समान ही स्थिति रखता है।

(ख) आस्ट्रेलिया

आस्ट्रेलिया अपने आप में ही एक महाद्वीप है, जो अकेला संयुक्त राज्य अमेरिका व यूरोप के प्रायः बराबर है। जिस समय यूरोपियन लोगों ने इसमें प्रवेश किया, तब वहाँ कुछ मूल जातियाँ निवास करती थीं, जो सभ्यता की दृष्टि से उन्नत न थीं। यूरोपियन लोगों को उन्हें नष्ट करने में तथा इस विशाल भूखण्ड पर यथेष्ट बस्तियाँ बसाने में कोई विशेष दिक्कत नहीं हुई। आस्ट्रेलिया का अधिकांश भाग शीतोष्ण कटिबन्ध में स्थित है, इसलिए वहाँ की जलवायु बहुत उत्तम तथा स्वास्थ्यप्रद है। उत्तरी आस्ट्रेलिया में जल की कमी है, सिंचाई का यथोचित प्रबन्ध न होने के कारण अभी उसमें बस्तियाँ ज्यादा नहीं बढ़ सकी हैं। पर दक्षिणी तथा पूर्वी आस्ट्रेलिया बहुत उपजाऊ हैं। वहाँ खेती बहुत हो सकती है। साथ ही, वहाँ बहुत से खनिज पदार्थ भी पाये जाते हैं। इसलिए इन प्रदेशों में यूरोपियन लोग विशेष रूप से आबाद हुए हैं। आस्ट्रेलिया के दक्षिण में समीप ही विद्यमान टस्मानिया का टापू भी अपने उत्तम जलवायु, उपजाऊ जमीन तथा खनिज पदार्थों की प्रचुरता के कारण बहुत प्रसिद्ध है। वहाँ भी पाश्चात्य लोग प्रचुर संख्या में आबाद हुए हैं, और वह व्यापार तथा व्यवसाय का बड़ा केन्द्र बन गया है।

१६ वीं सदी में जब पोर्तुगीज लोग मसालों के द्वीपों की ढूँढ में पूर्वी देशों की छानबीन कर रहे थे, तब उनके अनेक मल्लाह इस महाद्वीप में भी पहुँचे थे। पर वे यहाँ पर बसे नहीं, और न ही उन्होंने व्यापार के लिए यहाँ कोई कोठी बनाई। १६४२ में टस्मान नामक एक डच मल्लाह ने आस्ट्रेलिया के दक्षिण में विद्यमान उस टापू का पता लगाया, जो आजकल उस ही के नाम से प्रसिद्ध है। इसी टस्मान ने आस्ट्रेलिया के पूर्व में विद्यमान एक विशाल द्वीप समूह का पता लगाया, जिसका नाम न्यूजीलैण्ड रखा गया। इस प्रकार यद्यपि इन द्वीपों का पता पहले-पहल डच लोगों ने लगाया, पर वे भी वहाँ पर नहीं बसे। कैप्टिन कुक नाम के एक अँगरेज मल्लाह ने १८ वीं सदी में इन प्रदेशों के चक्कर लगाये और उसी की यात्राओं के कारण इँगलिश लोगों का ध्यान इन द्वीपों की तरफ आकृष्ट हुआ। न्यूजीलैण्ड के तट का चक्कर काटकर १७६६—१७७० में कैप्टिन कुक ने पश्चिम की तरफ आस्ट्रेलिया की ओर प्रस्थान किया। पहले-पहल आस्ट्रेलिया में वह जिस स्थान पर पहुँचा, वहाँ की भूमि बहुत ही शश्य श्यामल तथा हरी-भरी थी। इसलिए उसने उसका नाम 'बोटनी बे' (हरी-भरी खाड़ी) रखा। कैप्टिन कुक ने इस प्रदेश पर ब्रिटिश लोगों का झण्डा खड़ा किया और ब्रिटिश संम्राट् के नाम पर इस पर अपना अधिकार कर लिया। ग्रेट ब्रिटेन के वेल्स प्रदेश से यह प्रदेश मिलता-जुलता है, यह समझ कर इसका नाम 'न्यू साउथ वेल्स' रखा गया।

ग्रेट ब्रिटेन ने इस प्रदेश का उपयोग सबसे पूर्व 'कालापानी' के रूप में प्रारम्भ किया। १७८८ में ७५० अभियुक्त अपना दण्ड भोगने के लिए यहाँ भेजे गये। आस्ट्रेलिया में इँगलिश लोगों की यह पहली बस्ती थी, जो अपराधी कैदियों से शुरू हुई। इसके बाद प्रतिवर्ष कैदी यहाँ भेजे जाने लगे और न्यूसाउथ बेल्स की आबादी निरन्तर बढ़ती गई। कुछ समय बाद इँगलिश लोगों ने अनुभव किया, कि ये प्रदेश

भेड़ पालने के लिए बहुत उपयुक्त हैं और यहाँ ऊन का व्यवसाय बहुत तरक्की कर सकता है। इस दृष्टि से १७६६ में बहुत सी भेड़ें इँगलैण्ड से आस्ट्रेलिया भेजी गईं। कृषि और भेड़ पालकर ऊन एकत्रित करना—ये दो पेशे इस नवीन बस्ती में खूब तरक्की करने लगे। जमीन बिलकुल नई थी, इसलिए बहुत उपजाऊ थी। परिणाम यह हुआ, कि आस्ट्रेलिया में बसे हुए लोगों को खूब फायदा होने लगा। नफे से आकृष्ट होकर बहुत से स्वतन्त्र मनुष्य भी आस्ट्रेलिया जाने लगे और कैदियों की बस्ती के साथ ही स्वतन्त्र लोगों की बस्ती भी विकसित होने लगी। बोटनी बे के उत्तर में एक स्थान था, जो बन्दरगाह बनने के लिए बहुत उपयुक्त था। वहाँ सिडनी का बन्दरगाह विकसित हुआ। न्यूसाउथ वेल्स के बाद टस्मानिया तथा पश्चिमी आस्ट्रेलिया में भी कैदियों को भेजा जाना शुरू हुआ और इन कैदियों द्वारा ही वहाँ पर बस्तियाँ बसनी प्रारम्भ हुईं। १८५१ में आस्ट्रेलिया में अनेक स्थानों पर सोने की खानें उपलब्ध हुईं, इनसे आकृष्ट होकर हजारों मनुष्य प्रतिवर्ष ब्रिटेन से आस्ट्रेलिया पहुँचने लगे। पूँजीपति और मजदूर—दोनों ही प्रचुर संख्या में वहाँ जाने शुरू हुए। सोने की खानों की वजह से आस्ट्रेलिया को बहुत शीघ्रता से तरक्की हुई। कैदियों की अपेक्षा स्वतन्त्र मनुष्य वहाँ बहुत अधिक बढ़ गये। इन स्वतन्त्र मनुष्यों ने इस बात का विरोध करना शुरू किया कि कैदी लोग उनके प्रदेशों में बसाये जावें। इस आन्दोलन का परिणाम यह हुआ, कि आष्ट्रेलिया को 'कालापानी' के रूप में प्रयुक्त करना बन्द कर दिया गया।

१७८८ में आस्ट्रेलिया को आबादी केवल ७५० थी। बढ़ते बढ़ते १६२१ में वह ५५ लाख से ऊपर पहुँच गई थी। न्यूसाउथ वेल्स, टस्मानिया और पश्चिमी आस्ट्रेलिया के अतिरिक्त विक्टोरिया, क्वीन्सलैण्ड तथा दक्षिणी आस्ट्रेलिया—इन तीन उपनिवेशों का और विकास हुआ है। ये उपनिवेश कैदियों की बस्ती के रूप में प्रयुक्त नहीं

हुए। इनमें कृषि, ऊन का व्यवसाय तथा सोने की खानों से आकृष्ट होकर स्वतन्त्र मनुष्य समय समय पर बसते गये और उसी के परिणाम स्वरूप बाकायदा उपनिवेशों का विकास हो गया। पहले प्रत्येक उपनिवेश की सरकार अलग अलग थी। कैदियों की बस्तियों में फौजी शासन होता था और स्वतन्त्र मनुष्यों पर ब्रिटेन द्वारा भेजे हुए गवर्नर शासन करते थे। पर अब धीरे धीरे इन आस्ट्रेलियन उपनिवेशों में स्वराज्य का प्रारम्भ किया गया। कैदियों की बस्तियों से भी फौजी शासन उठा दिया गया। प्रत्येक उपनिवेश में व्यवस्थापिका सभा और उसके प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल की स्थापना की गई।

यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि समयान्तर में इन उपनिवेशों में—जिनके निवासियों की भाषा, जाति, धर्म, सभ्यता, संस्कृति सब एक थी, एकता होकर एक राज्य की स्थापना हो। एक आस्ट्रेलियन संघ (फिडरेशन) बनाने के लिए उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग में आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। बहुत समय तक इस प्रश्न पर बहस होती रही। १८९१ में सब उपनिवेशों के प्रतिनिधि एक राष्ट्रीय महासभा (कान्वेन्शन) के रूप में एकत्रित हुए और उन्होंने आस्ट्रलियन संघ के लिए शासन-व्यवस्था की रचना की। इस शासन विधान को जनता की सम्मति के लिए उपस्थित किया गया। जनता द्वारा स्वीकृत कराके इसे ब्रिटिश पार्लियामैन्ट के सम्मुख पेश किया गया। कुछ परिवर्तनों के साथ यह वहाँ पास हो गया और सन् १९०० में स्वीकृत हुए ब्रिटिश पार्लियामैन्ट के इस ऐक्ट द्वारा आस्ट्रेलियन संघ का निर्माण हुआ। आस्ट्रेलियन संघ में सब मिलाकर छः राज्य व उपनिवेश अन्तर्गत हैं-न्यूसाउथ वेल्स, टस्मानिया, विक्टोरिया, क्वीन्सलैण्ड, दक्षिणी आस्ट्रेलिया और पश्चिमी आस्ट्रेलिया। इन राज्यों की अपनी अपनी पृथक् सरकारें भी हैं। प्रत्येक राज्य में अपनी व्यवस्थापिका सभाएँ तथा मन्त्रिमण्डल हैं। पर इनके अतिरिक्त आस्ट्रेलियन संघ की सरकार है,

जिसका संगठन निम्नलिखित प्रकार से है: —संघ का व्यवस्थापन विभाग दो सभाओं द्वारा बना हुआ है—सीनेट और प्रतिनिधिसभा। सीनेट में प्रत्येक राज्य से छः छः प्रतिनिधि चुने जाते हैं। प्रतिनिधि सभा के सदस्यों का निर्वाचन सर्वसाधारण जनता के वोटों द्वारा होता है, और किस राज्य से कितने प्रतिनिधि लिये जावें, इसका निश्चय आबादी पर आश्रित होता है। मन्त्रिमण्डल प्रतिनिधि-सभा के प्रति उत्तरदायी होता है। संघ का गवर्नर-जनरल जो ब्रिटिश सम्राट् का प्रतिनिधि समझा जाता है, ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त होता है। पर आस्ट्रेलिया में यह विशेषता है, कि गवर्नर-जनरल उसी को नियत किया जाता है, जिसके लिए आस्ट्रेलिया का मन्त्रिमण्डल सिफारिश करे। यह गवर्नर-जनरल ब्रिटिश सम्राट् की तरह अपने विशेष अधिकारों का प्रायः उपयोग नहीं करता। कनाडा की तरह आस्ट्रेलिया भी क्रियात्मक दृष्टि से पूर्णतया स्वतन्त्र राज्य है। आस्ट्रेलिया बहुत ही उन्नत तथा प्रगतिशील देश है। इसमें स्त्रियों को वोट का अधिकार १९०२ में ही प्राप्त हो गया था। मजदूर दल का विकास भी आस्ट्रेलिया में बहुत पहले से शुरू हो गया था। वहाँ मजदूर दल की शक्ति का अनुमान इसी बात से किया जा सकता है, कि सन् १९०८ में आस्ट्रेलिया का प्रधान मन्त्री मजदूर दल का बन गया था। मजदूर दल की इस प्रधानता का ही परिणाम है, कि आस्ट्रेलिया में मजदूरों के लाभ के लिए बहुत से कानून बनाये गये हैं। गत यूरोपीय महायुद्ध के बाद से तो प्रायः सभी सभ्य देशों में मजदूरों के हित के लिए विविध कानून बनाये जा रहे हैं, और राष्ट्रसंघ का मजदूर-कार्यालय इस कार्य पर विशेष ध्यान दे रहा है। पर आस्ट्रेलिया ने इस दिशा में बहुत पहले से पग बढ़ाना शुरू कर दिया था। जहाँ एक तरफ मजदूरों के हित के लिए आस्ट्रेलिया में इस प्रकार उद्योग हुआ है, वहाँ चीनी और भारतीय मजदूरों को रोजगार प्राप्त करने में बाधा डालने के लिए भी वहाँ अनेक

कानून बनाये गये हैं। ऐसे कानून वहाँ सन् १८५१ में ही बनने शुरू हो गये थे। वर्ण-भेद की समस्या से ये ब्रिटिश उपनिवेश—कनाडा और आस्ट्रेलिया भी—अछूते नहीं रहे हैं।

(ग) न्यूजीलैण्ड

आस्ट्रेलिया के दक्षिण-पूर्व में १२०० मील की दूरी पर न्यूजीलैण्ड का उपनिवेश स्थित है। इसमें दो बड़े तथा अन्य बहुत से छोटे छोटे द्वीप हैं, जिन सबको मिलाकर न्यूजीलैण्ड का उपनिवेश कहते हैं। इस उपनिवेश का विस्तार ग्रेट ब्रिटेन के सवाये के लगभग है। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में ही ब्रिटिश लोगों ने इस द्वीप में जाना शुरू कर दिया था। १८१४ से बहुत से ईसाई मिशनरी न्यूजीलैण्ड के मूल निवासियों को अपने धर्म में दीक्षित करने का उद्योग करने लगे थे। न्यूजीलैण्ड के मूलनिवासी 'मओरी' लोग हैं, जो सभ्यता की दृष्टि से अफ्रीका के नीग्रो व आस्ट्रेलिया के मूल निवासियों के समान बहुत पिछड़े हुए न थे। सर जार्ज ग्रे ने इनके सम्बन्ध में लिखा था—"बहुत अंशों में यह अत्यन्त ऊँची जाति है। ये बड़े उत्कृष्ट योद्धा हैं, ये बड़े वाग्मी, समझदार, अभिमानी तथा सीधे आदमी हैं। उन्होंने मेरे साथ जो व्यवहार किया है, उससे उन्होंने मेरे भावों तथा सहानुभूति को जीत लिया है।" इसलिए यह स्पष्ट है कि इन 'मओरी' लोगों को अपने धर्म में दीक्षित कर लेना या उन्हें सर्वथा नष्ट कर देना बहुत सुगम कार्य न था। 'मओरी' लोगों ने अँगरेजों से अनेक बार घनघोर युद्ध किये। आखिर, १८४० में दोनों जातियों में परस्पर सुलह हो गई। 'मओरी' लोगों ने महारानी विक्टोरिया को अपना अधिपति मानना स्वीकृत कर लिया। इसके बदले में उनके निवास के लिए निश्चित प्रदेश अलग कर दिया गया, जिसमें कि वे स्वतन्त्रतापूर्वक निवास कर सकें। मओरी लोगों से निबटारा

करके अँगरेजों ने न्यूजीलैण्ड के टापुओं में अपनी बस्तियाँ बसानी प्रारम्भ कीं। इस कार्य के लिए ग्रेट ब्रिटेन में एक कम्पनी बाकायदा बनी हुई थी, जिसका नाम था—न्यूजीलैण्ड कम्पनी। यह निरन्तर रूप से इस द्वीप-समूह को आबाद करने का प्रयत्न कर रही थी। ऊन के व्यवसाय के लिए भेड़ों को पालने की न्यूजीलैण्ड में भी बहुत सुविधा थी। इससे आकृष्ट होकर बहुत से अँगरेज वहाँ बसे। साथ ही, कुछ वर्षों के बाद जब आस्ट्रेलिया की तरह न्यूजीलैण्ड में भी सोने की खानें मिल गईं, तब तो बहुत बड़ी संख्या में अंगरेज लोग वहाँ जाकर आबाद होने लगे। न्यूजीलैण्ड का बड़ी शीघ्रता से विकास हुआ। रोजगार के लिए उपयुक्त स्थान ढूँढ़ने की धुन में अँगरेजों ने 'मओरी' लोगों की बस्तियों में भी हस्तक्षेप करना शुरू किया। परिणाम यह हुआ, कि १८६० और १८७१ में 'मओरी' लोगों ने दो बार विद्रोह किये। इन्हें बड़े भयंकर रूप से कुचला गया। उसके बाद फिर कभी 'मओरी' विद्रोह नहीं हुए हैं।

न्यूजीलैण्ड के विविध प्रदेशों में जो बस्तियाँ बस रही थीं, १८५१ में उनकी संख्या छः थी—ऑकलैण्ड, वेलिङ्गटन, न्यू प्लाइमाउथ, (ये न्यूजीलैण्ड के उत्तरी द्वीप में हैं) नेल्सन, आटागो और कैन्टरबरी (ये दक्षिणी द्वीप में हैं)। १८५२ में इन सबको संगठित कर शासन विधान की व्यवस्था की गई। ब्रिटिश पार्लियामेन्ट द्वारा स्वीकृत एक ऐक्ट के अनुसार छओं बस्तियों व राज्यों में पृथक् स्थानीय स्वराज्य की स्थापना की गई और साथ ही विविध बस्तियों के संघ का निर्माण किया गया। संघ की शासन-व्यवस्था इस प्रकार बनाई गई—व्यवस्थापन विभाग में दो सभायें हों, कौंसिल और प्रतिनिधि सभा। कौंसिल के सदस्य गवर्नर-जनरल द्वारा नियत किये जावें और प्रतिनिधि सभा के सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित हों। मन्त्रिमण्डल प्रतिनिधि सभा के प्रति उत्तरदायी हो। गवर्नर-जनरल की नियुक्ति ब्रिटिश सरकार द्वारा की जावे।

यह पद्धति १८७५ तक जारी रही। पर न्यूजीलैण्ड में बहुत से टापू हैं, और धीरे-धीरे इन टापुओं में भी बस्तियाँ बसती गईं। इन सबमें प्रान्तीय स्वराज्य का स्थापन कर सकना कठिन था। और इतने सारे प्रान्तों के हो जाने से केन्द्रीय सरकार की शक्ति भी बहुत कम हो जाती थी। इसलिए १८७६ में प्रान्तीय स्वराज्य का अन्त कर एक मजबूत केन्द्रीय लोकतन्त्र सरकार की स्थापना की गई। केन्द्रीय स्वराज्य का स्वरूप प्रायः वही रखा गया, जो १८५२ में बनाया गया था।

आस्ट्रेलिया के समान न्यूजीलैण्ड भी संसार के अत्यन्त उन्नत तथा प्रगतिशील देशों में से एक है। इसमें स्त्रियों को वोट देने का अधिकार आस्ट्रेलिया से भी पूर्व १८६३ में ही प्राप्त हो गया था। साथ ही, यहाँ कानून बनाने में रिफरेन्डम की पद्धति का प्रयोग किया जाता है, जिसके अनुसार किसी भी महत्त्वपूर्ण विषय का फैसला व्यवस्थापिका सभा में न होकर सर्वसाधारण जनता के वोटों द्वारा किया जा सकता है। प्रत्येक नागरिक को उस विषय के पक्ष या विपक्ष में वोट देने का अवसर दिया जाता है, और इस प्रकार सर्वसाधारण के सीधे वोट से फैसला होता है। मजदूर श्रेणी के हितों की रक्षा के लिये न्यूजीलैण्ड में बहुत से कानून बनाये गये हैं। स्त्रियाँ और बालक किन शर्तों पर कारखानों में काम कर सकें, उनके लाभ के लिए क्या व्यवस्थायें की जावें, मजदूरों के कार्य करने का अधिकतम समय कितना हो—इन सब मामलों में वहाँ यूरोपीय महायुद्ध से पूर्व ही क़ानून बन चुके थे। न्यूजीलैण्ड में सरकार की तरफ से एक बाकायदा श्रम-विभाग खोला गया है, जो मजदूरों के हित का सदा ध्यान रखता है। बेकारों को काम दिलाने के लिये, मजदूरों को लाभ पहुँचाने के लिए तथा सब प्रकार से श्रमी श्रेणी का हित सम्पादित करने के लिए यह सदा कटिबद्ध रहता है। न्यूजीलैण्ड में रविवार के अतिरिक्त शनिवार को भी आधे दिन की छुट्टी रहती है। मजदूरों के हित की

इन विविध बातों के अतिरिक्त, न्यूजीलैण्ड ने आर्थिक समस्या को हल करने के लिए भी अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। वहाँ की सरकार भूमि को निरन्तर खरीदती जाती है, और इस प्रकार भूमि पर राजकीय स्वामित्व कायम कर उसे अपनी ओर से किसानों को खेती के लिए देती है। इससे जमींदारी प्रथा का निरन्तर ह्रास होता जाता है। रेलवे, टेलिग्राफ, डाकखाना, टेलीफोन आदि तो न्यूजीलैण्ड में सरकार की मल्कियत हैं ही, साथ ही सेविङ्ग बैंक तथा बीमा कम्पनियाँ भी सरकार की तरफ से ही सञ्चालित होती हैं। सरकार खानों पर भी अपना अधिकार करती जाती है। अमीरों पर बहुत बड़ी मात्रा में टैक्स लगाये जाते हैं, ताकि सम्पत्ति का विभाग समान रूप से रहे। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ है, कि न्यूजीलैण्ड को सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से संसार के सबसे उन्नत देशों में गिना जाता है। वहाँ जो परीक्षण किये जा रहे हैं, उन्हें शेष सभ्य संसार बड़ी उत्सुकता से देख रहा है।

(घ) दक्षिणी अफ्रीका

अफ्रीकन महाद्वीप के सबसे दक्षिणी सिरे पर एक अन्तरीप है, जिसे सदाशा का अन्तरीप (केप आफ गुड होप) कहते हैं। इस पर सबसे पहले डच लोगों ने अपना अधिकार किया था, और वे ही लोग यहाँ पर आबाद हुए थे। फ्रेंच राज्यक्रान्ति के अनन्तर हालैण्ड फ्रांस के अधीन हो गया था और नैपोलियन के फ्रेञ्च सम्राट् बन जाने पर यह देश उसके साम्राज्य का अंग बन गया था। क्योंकि हालैण्ड नैपोलियन के अधीन था, इसलिए इस अन्तरीप में विद्यमान केप कोलोनी (अन्तरीप-उपनिवेश) नामक डच उपनिवेश पर भी नैपोलियन का अधिकार था। नैपोलियन की शक्ति को नष्ट करने के लिए जब ब्रिटेन ने अनवरत रूप से संघर्ष प्रारम्भ किया, तब यूरोप से हजारों मील की दूरी पर स्थित इस उपनिवेश पर नैपोलियन या हालैण्ड का अधिकार

कायम न रह सका और यह ग्रेट ब्रिटेन के कब्जे में आ गया। वीएना की कांग्रेस में (सन् १८१४) केप कोलोनी पर ब्रिटेन का अधिकार स्वीकृत कर लिया गया। तब से यह प्रदेश ब्रिटेन के ही अधीन है। जिस समय केप कोलोनी ब्रिटेन के हाथ में आया, उस समय उसकी आबादी निम्नलिखित प्रकार से थी—२७,००० गौर वर्ण मनुष्य जो प्रायः सभी डच जाति के थे, ३०,००० नीग्रो तथा मलय जाति के गुलाम, १७,-००,००० हॉटेन्टोट—ये उस प्रदेश के मूलनिवासी थे। १८२० के बाद ब्रिटिश लोगों ने निरन्तर इस प्रदेश में आना तथा बसना प्रारम्भ किया। परन्तु गौरवर्ण के लोगों की अधिकांश संख्या डच जाति की ही रही। डच लोग प्रायः किसान थे। वे अपनी भाषा, रीति-रिवाज तथा सभ्यता को किसी भी दशा में छोड़ना नहीं चाहते थे। उनकी रक्षा के लिए वे मर मिटने को उद्यत रहते थे। केप कोलोनी के अपने अधिकार में आ जाने पर ब्रिटिश शासकों ने कोशिश की, कि इँगलिश भाषा, रीति-रिवाज तथा संस्थाओं को वहाँ पर प्रयोग में लावें। डच किसान—जो बोअर नाम से प्रसिद्ध हैं, इस बात को सहन नहीं कर सके। वे नहीं चाहते थे, कि उनके प्रदेश में अँगरेजी भाषा उपयोग में आवे और इँगलिश ढंग से न्यायालयों का संगठन किया जावे। सन १८३३ में अँगरेजी सरकार ने निश्चय किया, कि दास-प्रथा का अन्त कर दिया जावे। बोअर लोग प्रायः दासों द्वारा ही खेती का कार्य करते थे। दास-प्रथा का अन्त कर देने से उन्हें भारी नुकसान था। दासों को मुक्त कराने के लिए ४½ करोड़ के लगभग रुपये ब्रिटिश सरकार ने खर्च किये, पर बोअर लोगों की दृष्टि में यह कीमत बहुत कम थी। वे इससे संतुष्ट नहीं हुए। ब्रिटिश शासकों के इस व्यवहार से तंग आकर बोअर लोगों ने निश्चय किया, कि केप कोलोनी को—जिसे कि उन्होंने स्वयं या उनके पूर्वजों ने पहले-पहल आबाद किया था, सदा के लिये छोड़ कर उत्तर में अपने लिए नई बस्तियाँ बसावें। बोअर लोगों का यह

'महाप्रस्थान' १८३६ में शुरू हुआ। अपने सब माल-असबाब को बड़े बड़े छकड़ों पर (जिनमें बैल जुते होते थे) लाद कर दस हजार बोअर लोग उत्तर की ओर चल पड़े। केप कोलोनी के उत्तर में उस समय भयंकर जंगल थे, जिनमें बहुत सी जंगली जातियाँ निवास करती थीं। बोअर लोगों ने इन जंगलों को साफ किया और दो नये उपनिवेश बसाये। ये नये उपनिवेश नैटाल तथा ओरेन्ज नदी की घाटी में बसाये गये। कुछ समय तक बोअर लोग अपने नये प्रदेशों में स्वतन्त्रता के साथ बसते रहे। ब्रिटिश लोगों ने उनमें हस्तक्षेप नहीं किया। पर यह दशा देर तक नहीं रह सकी। नैटाल समुद्र-तट पर स्थित था। ब्रिटिश लोग नहीं चाहते थे कि समुद्र-तट के इतने महत्त्वपूर्ण स्थान पर एक विदेशी राज्य कायम हो जावे। इसलिए उन्होंने डर्बन (उस समय यह पोर्ट नैटाल कहाता था और नैटाल प्रदेश का मुख्य नगर तथा बन्दरगाह था) पर आक्रमण करने के लिए एक सेना भेजी। १८४२ में ब्रिटिश तथा डच सेनाओं में युद्ध हुआ। डच सेना परास्त हो गई। नैटाल ब्रिटिश लोगों के कब्जे में आ गया। ब्रिटिश लोग ओरेन्ज के स्वतन्त्र डच राज्य को भी अपने अधीन करना चाहते थे। १८४८ में उन्होंने उस पर भी आक्रमण किया और डच लोगों को परास्त कर अपने अधिकार में कर लिया।

बोअर लोगों के लिए बड़ी विकट समस्या थी। इँगलिश लोग उन्हें शान्ति से नहीं रहने देना चाहते थे। यदि ब्रिटिश शासक केवल अपना राज्य ही स्थापित करते, तो उन्हें कोई विशेष आपत्ति न भी होती, पर ब्रिटिश लोग अपनी भाषा, संस्कृति, संस्था आदि को प्रचलित किये बिना रह नहीं सकते थे और बोअर लोगों के लिए यह सह सकना असम्भव था। परिणाम यह हुआ, कि एक बार फिर बोअर लोगों ने महाप्रस्थान शुरू किया। ओरेन्ज उपनिवेश के उत्तर में वाल नदी के पार एक नया उपनिवेश बोअर लोगों द्वारा बसाया गया, यह ट्रांस-

वाल के नाम से प्रसिद्ध है। ब्रिटिश लोग सम्भवतः, इसमें भी हस्तक्षेप करते, पर उनकी सम्मति में इसका आर्थिक महत्त्व कोइ न था। यह मुख्यतया पशुओं के लिए चरागाह का ही काम दे सकता था। इसलिए ब्रिटिश लोगों ने यही उपयुक्त समझा, कि इसे जीत कर अपने अधीन करने की तकलीफ न उठाई जावे। १८५२ में ब्रिटिश तथा बोअर लोगों में सन्धि हो गई, जिसके अनुसार अँगरेजों ने ट्रांसवाल में बोअर लोगों की स्वाधीनता को स्वीकृत कर लिया, और साथ ही यह विश्वास दिलाया कि इस प्रदेश में बोअर लोग स्वतन्त्रतापूर्वक रह सकेंगे, ब्रिटिश लोग उसमें किसी प्रकार से हस्तक्षेप न करेंगे। दो वर्ष पश्चात् १८५४ में ओरेन्ज उपनिवेश की स्वाधीनता स्वीकृत कर ली गई और वह 'ओरेन्ज का स्वतन्त्र राज्य' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार अब दक्षिणी अफ्रीका में कुल चार उपनिवेश हो गये, जिनमें से दो—केप कोलोनी और नैटाल—अँगरेजों के अधीन थे और शेष दो ओरेन्ज का स्वतन्त्र राज्य तथा ट्रांसवाल—बोअर लोगों के।

लगभग चौथाई सदी तक ये दोनों डच राज्य स्वाधीनतापूर्वक क़ायम रहे। १८७७ में जब लार्ड बेकन्सफील्ड ग्रेट ब्रिटेन का प्रधान मंत्री था, ब्रिटेन की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों ने उग्र रूप धारण करना प्रारम्भ किया। ट्रांसवाल में डच लोगों के वहाँ के मूलनिवासियों से निरन्तर झगड़े होते रहते थे। ब्रिटिश लोगों ने कहा, ये झगड़े हमारे अपने राज्यों के लिए भयंकर खतरे के कारण बन सकते हैं। हमारे उपनिवेशों में भी उन्हीं जातियों के मूलनिवासी लोग बसते हैं, जो कि ट्रांसवाल में युद्ध करती रहती हैं। उनकी देखा-देखी यह बीमारी हमारे उपनिवेशों में भी आ जावेगी। अतः अपने उपनिवेशों की रक्षा के लिए यह आवश्यक है, कि ट्रांसवाल पर अधिकार कर लिया जाय। इसी युक्ति परम्परा को अपने सम्मुख रखकर ब्रिटिश सेनाओं ने १८७४ में ट्रांसवाल पर आक्रमण कर दिया। ट्रांसवाल की बोअर सेनायें परास्त

हो गई और यह स्वाधीन डच रिपब्लिक अँगरेजों के हाथ आ गई। परन्तु बोअर लोग आसानी से काबू में आ जाने वाले न थे, वे लगातार अँगरेजों का मुकाबला करते रहे। १८८० में उन्होंने भयंकर रूप से गदर कर दिया। मजूबा पर्वत पर वे लोग एक ब्रिटिश सेना को नष्ट करने में भो समर्थ हुए। १८८४ तक ब्रिटिश तथा बोअर लोगों में परस्पर संघर्ष जारी रहा। आखिर श्रीयुत ग्लेडस्टन ने, जो १८८४ में ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री थे, बोअर लोगों से सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार अँगरेजों ने डच लोगों की स्वतन्त्रता को तो स्वीकृत कर लिया, पर उन्हें दो शर्तें माननी पड़ीं। (१) सम्पूर्ण श्वेत वर्ण के लोगों को ट्रांसवाल में बसने की अनुमति दी जावे, (२) विदेशी मामलों में, सन्धि विग्रह के लिए ब्रिटिश सरकार से इजाजत लेना आवश्यक हो। इस प्रकार बोअर-विद्रोह समाप्त हुआ।

१८८४ में यह सन्धि हुई थी। अगले ही साल १८८५ में यह मालूम हुआ, कि ट्रांसवाल में सोने की बहुत सी खानें हैं। वे जंगली प्रदेश जिन्हें नीग्रो लोग भो घृणा की दृष्टि से देखते थे, और जिन्हें बोअर लोग केवल चरागाहों के काम में लाते थे, अब असाधारण रूप से कीमती हो गये। हजारों की संख्या में विदेशी लोग इन खानों की लालच से ट्रांसवाल पहुँचने लगे। पूँजीपति, मजदूर, इंजीनियर, मिस्त्री, व्यापारी, नौकर, बाबू—सब क़िस्म के लोग बहुत बड़ी संख्या में ट्रांसवाल आ पहुँचे। जाहन्नसबुर्ग का छोटा सा गाँव बात की बात में एक लाख की आबादी के विशाल नगर के रूप में परिवर्तित हो गया। थोड़े ही समय में विदेशियों की संख्या डच लोगों से ज्यादा हो गई। ये विदेशी लोग प्रायः सब अँगरेज थे। अब बोअर लोगों के लिए समस्या थी, कि वे इन विदेशियों के साथ क्या बर्ताव करें। १८८४ की सन्धि के अनुसार किसी गौराङ्ग विदेशी को अपने देश में बसने से तो रोका ही नहीं जा सकता था, पर यदि ये विदेशी नागरिकता के अधिकार

भी प्राप्त कर लें तब तो ट्रांसवाल का राज्य ही बोअर लोगों के हाथ से निकल जाता था। बोअर लोग स्वाभाविक रूप से ट्रांसवाल को अपने कब्जे में रखना चाहते थे, अतः उन्होंने अनेक कानून इस प्रकार के बनाये, जिनसे कि विदेशियों के लिए नागरिकता का अधिकार प्राप्त करना अत्यधिक कठिन हो गया। अब इन विदेशियों की बारी थी। उन्होंने बोअर शासकों के विरुद्ध प्रचण्ड आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। उनका कहना था कि हमारी पूँजी और श्रम से ही यह उजड़ा हुआ बियाबान प्रदेश इतना समृद्ध तथा सम्पत्तिशाली हुआ है। राज्य हमसे टैक्स लेता है, और हमारे ही टैक्सों की वजह से एक दीवालिया राज्य अत्यन्त अमीर और समृद्ध राज्य के रूप में परिवर्तित हो गया है। हम लोग भी टैक्स देते हैं, और राज्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इसलिए हमारा अधिकार है, कि हम भी राज्य के सञ्चालन तथा कानून बनाने में अपनी आवाज रखें। ये विदेशी अँगरेज बोअर शासकों के विरुद्ध विद्रोह करने तथा ट्रांसवाल के शासन को परिवर्तित करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करने लगे।

इस समय में दक्षिणी ब्रिटिश अफ्रीका का प्रधान मन्त्री सेसिल रहोड्स नाम का प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ था। यह १८७१ में ब्रिटेन से अफ्रीका में जाकर आबाद हुआ था और अपने चातुर्य तथा बुद्धिमत्ता से शीघ्र ही सोने तथा हीरों की अनेक खानों का स्वामी बन गया था। इन खानों से इसने अपार सम्पत्ति उपार्जित की थी। यह केवल आर्थिक जगत् में ही अद्वितीय नहीं था, अपितु राजनीतिक क्षेत्र में भी इसका बड़ा ऊँचा स्थान था। सेसिल रहोड्स चाहता था, कि सम्पूर्ण दक्षिणी तथा पूर्वी अफ्रीका पर ब्रिटिश शासन स्थापित किया जावे। इसके लिए वह निरन्तर प्रयत्न कर रहा था। वह हमेशा बोअर लोगों की शक्ति को नष्ट करने के लिये उपयुक्त अवसर की ताक में रहता था। इस समय जब कि ट्रांसवाल में बसे हुए विदेशी अँगरेज बोअर शासन

के विरुद्ध आन्दोलन कर रहे थे, सेसिल र्होड्स को सुवर्णीय अवसर प्राप्त हुआ। न केवल दक्षिणी ब्रिटिश अफ्रीका की सरकार, अपितु ग्रेट ब्रिटेन की सरकार भी इस साजिश में शामिल थी। ५०० ब्रिटिश सिपाहियों के साथ डा० जेम्सन ने १८६५ में ट्रांसवाल पर हमला किया। उसका खयाल था, कि ट्रांसवाल में बसे हुए ब्रिटिश लोग उसके साथ उठ खड़े होंगे और एकदम सशस्त्र विद्रोह हो जायगा। पर डा० जेम्सन को बुरी तरह असफलता हुई। उसके सिपाही बोअर शासकों द्वारा पकड़ लिए गए। जेम्सन का यह हमला पूर्णतया असफल हो गया।

पर इसमें सन्देह नहीं, कि डा० जेम्सन के हमले से अँगरेजों और बोअर लोगों के पारस्परिक सम्बन्ध और भी अधिक बिगड़ गए। इस समय ट्रांसवाल की रिपब्लिक का राष्ट्रपति पोल क्रूगर था। जिस समय बोअर लोग ब्रिटिश अफ्रीका से 'महाप्रस्थान' कर रहे थे, उस समय पोल क्रूगर की उमर केवल दस साल की थी। वह अपने माँ बाप के साथ ट्रांसवाल में आकर बसा था। उसके हृदय में ब्रिटिश लोगों के प्रति उत्कट घृणा थी। वह ट्रांसवाल में बसने वाले विदेशियों से कहा करता था—"यह देश मेरा है, इसमें जो कानून हैं, वे मेरे कानून हैं। जो लोग मेरे कानूनों को नहीं मानना चाहते, वे मेरे देश को छोड़ कर बाहर चले जावें।" पोल क्रूगर के ये वाक्य प्रायः सभी बोअर लोगों की मनोवृत्ति को सूचित करते हैं। बोअर लोग ट्रांसवाल पर अपना अधिकार समझते थे और सोने की लालच में आकर बसे हुए विदेशी लोगों के साथ किसी प्रकार की रियायत नहीं करना चाहते थे। इस तरफ ब्रिटिश राजनीतिज्ञ भी इस समय साम्राज्यवाद के नशे में थे। प्रसिद्ध ब्रिटिश राजनीतिज्ञ जोसफ चैम्बरलेन का कहना था, कि बोअर लोग अँगरेजों के साथ शूद्रों (Helots) का सा व्यवहार करते हैं। चैम्बरलेन के प्रभाव से ब्रिटिश सरकार ने इस बात के लिए जोर देना

प्रारम्भ किया, कि विदेशियों को ट्रांसवाल में वे ही अधिकार मिलने चाहिये, जो कि बोअर लोगों को प्राप्त हैं। पर बोअर लोग यह बात कैसे मान सकते थे ? इस दशा में अँगरेजों और बोअर लोगों में संघर्ष का होना स्वाभाविक था। एक तरफ ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीति थी, जो सम्पूर्ण दक्षिणी तथा पूर्वी अफ्रीका पर अपना अधिकार स्थापित करना चाहती थी, दूसरी ओर बोअर लोग थे, जो पसीने तथा लहू से कमाये हुए अपने स्वतन्त्र राज्य को विदेशियों के कब्जे से बचाना चाहते थे। इन दोनों में ज संघर्ष हुआ, वही इतिहास में 'बोअर युद्ध' के नाम से प्रसिद्ध है।

यह 'बोआर युद्ध' १८६६ में शुरू हुआ। स्वाभाविक रूप से ओरेन्ज के स्वतन्त्र राज्य ने ट्रांसवाल का साथ दिया। यूरोप का लोकमत इस युद्ध में अँगरेजों के खिलाफ था। सब लोग कहते थे, ब्रिटेन दो कमजोर राज्यों को नष्ट कर रहा है। ब्रिटेन में भी इस युद्ध के खिलाफ अनेक सभाएँ की गईं, पर साम्राज्यवादी ब्रिटिश सरकार ने इन विरोधों पर कोई ध्यान नहीं दिया। शुरू-शुरू में ब्रिटिश सेनाओं की बुरी तरह पराजय हुई। पोल क्रूगर वीर योद्धा तथा अच्छा सेनापति था। परंतु शीघ्र ही लाड राबर्ट्स तथा किचनर के नेतृत्व में नई ब्रिटिश सेनायें बोअर लोगों को परास्त करने के लिए ट्रांसवाल पहुँच गई। बोअर लोगों के लिए इन विशाल ब्रिटिश सेनाओं का मुकाबला कर सकना कठिन था। वे परास्त हो गये। १६०२ में 'बोअर युद्ध' समाप्त हुआ। ट्रांसवाल तथा आरेन्ज के स्वतंत्र राज्य ब्रिटिश लोगों की अधीनता में आ गये।

इन दोनों बोअर राज्यों को पृथक् उपनिवेश के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। ब्रिटिश लोगों ने ट्रांसवाल तथा ओरेन्ज राज्य के साथ जो बर्ताव किया, वह निस्सन्देह उदारता तथा बुद्धिमत्ता से पूर्ण था। इन दोनों उपनिवेशों में औपनिवेशिक ढँग का स्वराज्य कायम किया

गया। धीरे-धीरे बोअर लोगों ने अनुभव कर लिया कि ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रहने पर भी उनकी आन्तरिक स्वाधीनता कायम है। वस्तुतः इस समय ब्रिटिश सरकार की औपनिवेशिक नीति बदल चुकी थी। अब वे बोअर लोगों की भाषा, धर्म, संस्कृति तथा रीतिरिवाज का निरर्थक अपमान नहीं करना चाहते थे। यही कारण है, कि अब बोअर लोगों को ब्रिटिश शासन से कोई विशेष शिकायत नहीं हुई।

अब दक्षिणी अफ्रीका में ब्रिटेन के चार उपनिवेश हो गये—केप कोलोनी, नैटाल, ट्रांसवाल और आरेन्ज राज्य। इन चारों में पृथक्-पृथक् सरकार विद्यमान थी। १६०६ में इन उपनिवेशों के प्रतिनिधियों ने निश्चय किया, कि चारों उपनिवेशों का एक संघ बनाया जावे। उन्होंने इसके लिये एक शासनविधान भी तैयार किया। अगले वर्ष १६१० में यह प्रश्न ब्रिटिश पार्लियामैन्ट के सम्मुख उपस्थित हुआ। वहां पर कनाडा के ढंग का एक शासनविधान स्वीकृत हुआ, जिसके अनुसार चारों उपनिवेशों की पृथक् सरकार भी कायम है, और सब को मिलाकर एक संघ भी बना दिया गया है, जिसकी शासनव्यवस्था निम्नलिखित है—व्यवस्थापन विभाग में दो सभायें हैं। मन्त्रिमंडल प्रतिनिधि सभा के उत्तरदायी है। गवर्नर जनरल की नियुक्ति ब्रिटिश सरकार द्वारा की जाती है। डच और इङ्गलिश दोनों प्रकार के उपनिवेशों में समता रखने के लिये सरकार का शासन विभाग प्रिटोरिया में केन्द्रित है, जो कि डच नगर है। इसके विपरीत व्यवस्थापन विभाग का केन्द्र केप टाउन है, जो अंग्रेजी नगर है। संघ में अंग्रेजी तथा डच दोनों भाषायें राजभाषा के रूप में स्वीकृत की गई हैं। संघ का पहला प्रधान मन्त्री जनरल बोथा बना था, जो कि स्वयं डच था और जो बोअर युद्ध में अंग्रेजी सेना के विरुद्ध लड़ा था। यह नहीं कहा जा सकता, कि बोअर लोगों में अपनी पृथक्-सत्ता का भाव पूर्णतया नष्ट हो चुका है। वहाँ अब तक भी अनेक बार दोनों

फा० ४१

जातियों में संघर्ष के चिन्ह प्रगट होते रहते हैं। पर इसमें सन्देह नहीं, कि ब्रिटिश लोगों की उदार औपनिवेशिक नीति के कारण बोअर लोग दक्षिणी अफ्रीकन संघ में सन्तोष अनुभव करने लगे हैं। इस संघ की वर्तमान आबादी इस प्रकार है—पन्द्रह लाख गौरवर्ण के लोग हैं जिनमें ब्रिटिश और डच दोनों अन्तर्गत हैं, और छप्पन लाख कृष्ण वर्ण की विविध जातियों के लोग। इन कृष्ण वर्ण की जातियों के कारण अफ्रीकन संघ को अनेक विकट समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। कृष्ण वर्ण के लोगों में सब से महत्त्वपूर्ण भारतीय लोग हैं, जो लाखों की संख्या में वहाँ बसे हुए हैं। ये सभ्यता अध्यवसाय आदि की दृष्टि से किसी भी प्रकार गौरवर्ण के लोगों से कम नहीं हैं। अफ्रीका को आबाद तथा समृद्ध करने में इनका बड़ा हाथ है। पर गौरवर्ण के लोग इन्हें राजनीतिक अधिकार देने तथा राजनीतिक दृष्टि से अपने समान मानने के लिये उद्यत नहीं होते। इसी कारण उन्होंने १६१६ में भारतीयों के विरुद्ध अनेक कानूनों का निर्माण किया है। कृष्णवर्ण के लोगों के विरुद्ध डच और अंग्रेज—दोनों प्रकार के गौरवर्ण के लोग एक साथ मिल गये हैं, उनके आपस के भेद नष्ट होते जा रहे हैं। गत यूरोपीयन महायुद्ध में डच और अंग्रेज--एक साथ जर्मनी से लड़े थे। दक्षिणी अफ्रीका की सेनाओंने—जिनमें डच और अंग्रेज दोनों सम्मिलित थे, न केवल अफ्रीका में विद्यमान जर्मन उपनिवेशों को जीत कर अपने अधीन कर लिया था, अपितु यूरोप में भी ब्रिटिश साम्राज्य के उत्कर्ष और जर्मनी के पराजय के लिये मित्र राष्ट्रों की सहायता की थी।

(५) ईजिप्ट

स्वराज्य प्राप्त ब्रिटिश उपनिवेशों के अतिरिक्त अन्य भी बहुत से महत्त्वपूर्ण देश हैं, जो ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत है। ईजिप्ट उनमें से

एक है। १७९८ में जब नैपोलियन ने ईजिप्ट पर आक्रमण किया, तो वहाँ मामेलूक लोगों का शासन था। लड़ाई ही इन मामेलूकों का पेशा था और बहुत समय से ईजिप्ट इन सैनिक सरदारों के अधिकार में था। नाम को तो ईजिप्ट तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत था, पर वहाँ का वास्तविक शासन मामेलूकों के ही हाथ में था। नैपोलियन के आक्रमणों से मामेलूक सरकार परास्त हो गये। इस समय में जो गड़बड़ ईजिप्ट में मची हुई थी, उसका फायदा उठा कर मोहम्मद अली नाम का एक साहसी पुरुष बहुत प्रबल हो गया। मोहम्मद अली अल्बेनिया का रहने वाला था। नैपोलियन के आक्रमण से ईजिप्ट में जो अव्यवस्था मच रही थी, उसका लाभ उठा कर उसने अपनी शक्ति बढ़ा ली और धीरे-धीरे सम्पूर्ण देश को अपने अधीन कर लिया। १८०५ में तुर्की सुलतान ने मोहम्मद अली को ईजिप्ट का सूबेदार स्वीकृत कर लिया। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में तुर्की साम्राज्य की प्रायः वही दशा थी, जो कि अठारहवीं सदी में भारतवर्ष के मुगल साम्राज्य की थी। जिस प्रकार मुगल सम्राट् के अधीन हैदराबाद का निजाम, अवध का नवाब वजीर आदि विविध शासक क्रियात्मक दृष्टि से पूर्णतया स्वतन्त्र थे, उसी प्रकार टर्की के सुलतान के अधीन ईजिप्ट का सूबेदार मोहम्मदअली भी सब प्रकार से स्वतन्त्र था। मोहम्मद अली एक योग्य तथा जबर्दस्त शासक था। उसने ईजिप्ट के शासन में बहुत से महत्त्वपूर्ण सुधार किये। स्थल तथा जल सेनाओं का संगठन किया। वह न केवल सम्पूर्ण ईजिप्ट को ही अपनी अधीनता में लाने में समर्थ हुआ, अपितु दक्षिणी ईजिप्ट के सुदूरवर्ती प्रदेश खर्तूम में भी उसने अपना अधिकार कायम किया, जहाँ से कि वह सुगमता के साथ सूडान पर भी अपना प्रभाव स्थापित कर सकता था। १८३० में मोहम्मद अली ने क्रोट के द्वीप पर अपना शासन कायम किया। कुछ समय पश्चात् सीरिया पर भी उसका अधिकार

स्थापित होगया। क्रीट और सीरिया—दोनों तुर्की सुलतान के अधीन थे। मोहम्मद अली की ताकत से मजबूर होकर ही सुलतान ने इन प्रदेशों को उसके सुपुर्द कर दिया था।

मोहम्मद अली की मृत्यु १८४६ में हुई। उसके उत्तराधिकारियों में ईस्माईल प्रथम का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। इस्माईल मोहम्मद अली का पौत्र था और उसका शासन काल १८६३ से १८७६ तक है। इसके समय की मुख्य घटना स्वेज की नहर का निर्माण है। स्वेज की नहर भूमध्यसागर तथा लाल सागर को मिलाती है। पहले पूर्वी देशों तक पहुँचने का सामुद्रिक मार्ग अफ्रीका का चक्कर काट कर जाता था। उसमें बहुत समय लगता था। स्वेज की नहर के बन जाने से यूरोप और एशिया एक दूसरे के बहुत नजदीक होगये हैं, और पूर्व तथा पश्चिम का सम्बन्ध बहुत बढ़ गया है। डी लैस्सप नाम के एक फ्रेञ्च इञ्जीनियर के प्रयत्न से स्वेज की नहर को बनाने के लिये एक कम्पनी बनाई गई, जिसमें कि मुख्तया फ्रेञ्च लोगों के ही हिस्से थे। ईजिप्ट के शासक (जिसे कि खदीव कहा जाता था) ने भी इस कम्पनी में बहुत से हिस्से खरीदे थे और साथ ही यह जिम्मा लिया था कि नहर को खोदने के लिये जिन मजदूरों की जरूरत होगी, उनका प्रबन्ध खदीव की तरफ से किया जावेगा। १८५६ में इस कम्पनी ने कार्य करना प्रारम्भ किया। दस साल बाद १८६६ में स्वेज की नहर बन कर तैयार हो गई। जिस समय स्वेज की नहर बननी शुरू हुई थी, तब ब्रिटिश लोगों की दृष्टि में उसका बहुत महत्त्व न था। पर उसके तैयार हो जाने पर उन्हें ध्यान आया कि पूर्वी देशों तक पहुँचने के लिये यह मार्ग बहुत महत्त्व रखता है, और यह जिस देश के हाथ में होगा, उसके लिये एशिया पर अपना आधियत्य स्थापित करना बहुत सुगम होगा। ब्रिटेन का भारतवर्ष तथा अन्य अनेक पूर्वी देशों पर शासन इस समय तक स्थापित हो चुका था। इस साम्राज्य की रक्षा

तथा वृद्धि की इच्छा से उसे यह चिन्ता हुई, कि स्वेज की नहर को अपने कब्जे में लाया जावे। अपनी कामना को पूर्ण करने के लिये उसे शीघ्र ही अवसर मिल गया।

ईजिप्ट का खदीव ईस्माईल बहुत ही फिजूल खर्च था। राजप्रसादों के निर्माण तथा भोग विलास में उसने करोड़ों रुपये उड़ा दिये थे। खर्च कहाँ से प्राप्त किया जावेगा, इस बात की जरा भी परवाह न कर वह यथेष्ट रूप में धन का व्यय करता रहा। उसने बहुत बड़े परिमाण में रुपया दूसरे देशों से उधार लिया। पर ऋण लेकर भी उसका काम न चला। आखिर, बाधित होकर उसने निश्चय किया कि स्वेज की नहर में ईजिप्ट के जो हिस्से हैं, उन्हें बेचकर रुपया प्राप्त करे। उसके कुल मिलाकर १,७६,००० हिस्से थे। ज्यों ही ब्रिटेन के प्रधान-मन्त्री डिजरायली को ज्ञात हुआ कि स्वेज की नहर के हिस्से बिक रहे हैं, उसने अपनी जिम्मेवारी पर उन्हें खरीद लिया। डिजरायली का यह कार्य ब्रिटेन की दृष्टि से बहुत ही बुद्धिमत्तापूर्ण था। इससे ब्रिटेन का भी स्वेज की नहर पर अधिकार कायम हो गया। स्वेज की नहर में ब्रिटेन भी फ्रांस का साझी हो गया।

परन्तु स्वेज के हिस्से बेच देने पर भी खदीव का काम नहीं चला। इनसे जो रुपया उसे प्राप्त हुआ था, वह शीघ्रही समाप्त हो गया। इस समय ईस्माईल ऋण के बोझ से बुरी तरह दबा हुआ था। उसके मुख्य उत्तमर्ण फ्रांस तथा ब्रिटेन थे। ईस्माईल के लिये इस अनन्त धनराशि का, जो उसने इन देशों से उधार ली हुई थी, सूद तक देना भी कठिन हो गया था। इस दशा में उसने यही उपाय सोचा, कि सारे ऋण को रद्द कर दे। यह समाचार सुनते ही फ्रांस और ब्रिटेन घबरा गये। वे अपने रुपये को इतनी आसानी से नहीं छोड़ सकते थे। उन्होंने अपनी ओर से ईजिप्ट में राजकर्मचारी नियत किये, जो कि ईस्माईल के आयव्यय पर देख रेख करें और

उसकी आर्थिक नीति का संचालन करें। इन राजकर्मचारियों का मुख्य कार्य यह था, कि ईजिप्ट की राजकीय आमदनी से उतना हिस्सा पृथक करवा दें, जो कि फ्रांस और ब्रिटेन के कर्ज के सूद को अदा करने के लिये काफी हो। इस हिस्से को खदीव खर्च में न ला सके। कुछ दिनों तक यह व्यवस्था कायम रही। पर ईस्माईल विदेशी लोगों के इस नियन्त्रण को सहन नहीं कर सका। उसने सूद की रकम अलग कर देने में 'ननु नच' शुरू की। परिणाम यह हुआ, कि फ्रांस और ब्रिटेन ने टर्की के सुलतान पर जोर डाला, कि ईस्माईल को खदीव पद से च्युत कर दे। इन प्रबल शक्तियों के दबाव से तुर्की सुलतान ने १८७६ में ईस्माईल को पदच्युत कर दिया।

अगला खदीव तौफीक बना। इसके समय में फ्रांस और ब्रिटेन का ईजिप्ट पर आर्थिक नियन्त्रण अधिक अधिक सुदृढ़ होता गया। ईजिप्ट के शासन का स्वरूप इस समय में निम्नलिखित प्रकार से था। नाम को ईजिप्ट तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत था। समझा जाता था कि तुर्की सुलतान ही ईजिप्ट के खदीव को नियत करता है। पर वस्तुतः टर्की का अधिकार न के बराबर था। ईस्माईल को पदच्युत करने में तुर्की सुलतान समर्थ हुआ था, इसका वास्तविक अभिप्राय यह है, कि टर्की के नाम पर फ्रांस और ब्रिटेन ने ईस्माईल को पदच्युत कर दिया था। ईजिप्ट का टर्की से सम्बन्ध नाम मात्र को था। खदीव वहाँ के स्वतन्त्र शासक के समान होता था। पर कालचक्र से खदीव की शक्ति भी क्षीण हो गई थी, और शासन का वास्तविक सञ्चालन विदेशियों के हाथ में चला गया था। आर्थिक नियन्त्रण के नाम पर वे ईजिप्ट में मनमानी करते रहते थे। ईजिप्ट की जनता अपने देश में विदेशियों के इस हस्तक्षेप को सहन नहीं कर सकी। उसने अरबीपाशा नामक नेता के नेतृत्व में विद्रोह प्रारम्भ कर दिया। 'ईजिप्ट ईजिप्सियन लोगों के लिये है' इस आवाज से सम्पूर्ण

ईजिप्ट गूँज गया। धीरे धीरे अरबीपाशा की शक्ति बहुत अधिक बढ़ गई। उसे खदीव ने अपना युद्धमन्त्री बनाया। अरबीपाशा इतना जबर्दस्त तथा योग्य व्यक्ति था, कि शीघ्र ही ईजिप्सियन सरकार का वह कर्ताधर्ता बन गया। उसने उद्घोषित किया कि ईजिप्ट पर से विदेशियों का आर्थिक नियन्त्रण अब समाप्त किया जाता है। तौफीक उसके सम्मुख असहाय था, वह अब नाम मात्र को ही खदीव रह गया था।

अरबीपाशा के उत्कर्ष से फ्रांस और ब्रिटेन का चिन्तित होना सर्वथा स्वाभाविक था। वे उसकी शक्ति को नष्ट कर फिर तौफीक का शासन स्थापित करना चाहते थे। बिना युद्ध के अरबीपाशा काबू में नहीं आसकता था। लड़ाई लड़ने के अतिरिक्त अब कोई अन्य मार्ग न था। अरबीपाशा से युद्ध करने का प्रश्न जब फ्रांस की राष्ट्र प्रतिनिधि सभा में उपस्थित हुआ, तब वह वहां स्वीकृत न हो सका। फ्रॉस में उस समय लोकतन्त्र शासन की तीसरी बार स्थापना हो चुकी थी। लोकतन्त्र भावनाओं से युक्त फ्रेञ्च राजनीतिज्ञ ईजिप्ट के राष्ट्रीय नेता से युद्ध करने के खिलाफ थे। नतीजा यह हुआ, कि अरबीपाशा की शक्ति को नष्ट करने का कार्य अकेले ब्रिटेन के सिर पर आ पड़ा। ब्रिटेन के साम्राज्यवादी राजनीतिज्ञ इस भार को उठाने के लिये बड़ी खुशी के साथ तैयार थे। ईजिप्ट और ब्रिटेन में युद्ध शुरू होते हुए देर न लगी। पर ईजिप्ट के लिये ब्रिटेन का मुकाबला कर सकना आसान बात न थी। १८८२ के सितम्बर मास में तल-एल केबीर के रणक्षेत्र में अरबीपाशा परास्त हो गया। वह पकड़ लिया गया और कैद करके सीलोन में भेज दिया गया।

अरबीपाशा के पतन के बाद ईजिप्ट वस्तुतः ब्रिटेन के अधीन हो गया। यद्यपि अभी तक सिद्धान्त की दृष्टि से वहां का शासन खदीव के अधीन था, जो कि तुर्की सुलतान को अपना अधिपति

स्वीकृत करता था, तथापि वास्तविक शासनशक्ति ब्रिटेन के हाथ में आगई थी। अब ब्रिटेन का ईजिप्ट पर केवल आर्थिक नियन्त्रण ही नहीं था, अपितु वहाँ के शासन का सञ्चालन भी उसी के हाथ में था। १८८४ में लार्ड क्रोमर को ईजिप्ट में ब्रिटिश एजेन्ट तथा प्रधान राजदूत नियुक्त किया गया। क्रोमर बहुत ही चतुर तथा चाणाक्ष राजनीतिज्ञ था। ईजिप्ट पर ब्रिटिश आधिपत्य को स्थिर रूप से स्थापित करने का मुख्य श्रेय लार्ड क्रोमर को ही मिलना चाहिये। यद्यपि ईजिप्ट पर ब्रिटिश लोगों का अधिकार स्पष्ट रूप से स्थापित नहीं हुआ था, पर वे आर्थिक नियन्त्रण आदि के नाम से अपना वास्तविक शासन करने का प्रयत्न कर रहे थे। इसलिए लार्ड क्रोमर का कार्य बहुत कठिन तथा जटिल था। पर इस बुद्धिमान राजनीतिज्ञ ने अपना कार्य बड़ी चतुरता के साथ किया और अपने लम्बे कार्यकाल में (१८८४ से १९०७ तक) ईजिप्ट पर पूर्णतया ब्रिटिश अधिकार स्थापित कर दिया। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये, कि ईजिप्सियन लोगों में अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये माँग कम नहीं हुई। वे इसके लिये निरन्तर आन्दोलन करते रहे। अनेक बार वहाँ पर विद्रोह भी हुए, जिन्हें कि ब्रिटिश शासकों ने अपने सैनिक बल से शान्त किया। क्रान्तिकारी दल भी ईजिप्ट में अपना कार्य करते रहे।

ब्रिटिश लोग केवल ईजिप्ट पर ही अपना शासन स्थापित करके संतुष्ट नहीं हुए, वे सूडान को भी अपने अधिकार में लाना चाहते थे। ईजिप्ट के वीर शासक मोहम्मद अली के समय में सूडान का कुछ भाग ईजिप्ट के अधीन हो चुका था। इस समय में स्वाभाविक रूप से सूडान का यह भाग ब्रिटिश लोगों के कब्जे में था और उनकी तरफ से खार्तूंन में जनरल गोर्डन सिपहसालार के रूप में नियत था। ब्रिटिश लोग खार्तूंन में अपनी सत्ता को मजबूत कर आगे सूडान में अपनी शक्ति को बढ़ा रहे थे। सूडान के निवासी विदेशियों के इस

हस्तक्षेप से बहुत असंतुष्ट थे। उनमें एक नेता उत्पन्न हुआ, जिसका नाम था, मोहम्मद अहमद। यह अपने को मसीह कहता था और सूडान के लोग इसे अपना 'अलमहदी' (महान् नेता) मानते थे। इस महदी के नेतृत्व में सूडानी लोगों ने १८८५ में विद्रोह प्रारम्भ कर दिया। महदी की शक्ति बहुत अधिक थी। संगठन के कार्य में वह असाधारण रूप से योग्यता रखता था। ऐसे योग्य नेता को पाकर सूडानी लोग बहुत वीर तथा साहसी हो गये। ब्रिटिश सरकार ने उनको दबाने के लिये जो सेनायें भेजीं, वे परास्त कर दी गईं। जनरल गोर्डन को खार्तून में बुरी तरह घेर लिया गया। कुछ महीनों के घेरे के बाद जब एक नई ब्रिटिश सेना उसे छुड़वाने के लिये खार्तून पहुँची, तो गोर्डन समेत सम्पूर्ण ब्रिटिश सैनिकों को—जो खार्तून में घिरे हुए थे, कतल कर दिया गया। गोर्डन के कतल से सूडानी युद्ध ने बहुत ही गम्भीर रूप धारण कर लिया। आखिर उसे परास्त करने के लिये लार्ड किचनर के नेतृत्व में एक शक्तिशाली ब्रिटिश सेना भेजी गई। किचनर १८९८ में खार्तून को अपनी अधीनता में लाने में समर्थ हुआ। उसके बाद शीघ्र ही सम्पूर्ण सूडान ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन हो गया।

सूडानी युद्ध के अवसर पर ईजिप्सियन देशभक्त अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये विशेष रूप से प्रयत्नशील हो गये थे। इन देशभक्तों के आन्दोलन का यह परिणाम हुआ, कि १९१३ में ईजप्ट के शासन में अनेक महत्त्वपूर्ण सुधार किये गये। वहाँ एक व्यवस्थापिका सभा की स्थापना की गई, जिसमें कि मन्त्रिमण्डल के सदस्यों के अतिरिक्त जनता द्वारा निर्वाचित ६६ प्रतिनिधि और सरकार द्वारा मनोनीत १७ सदस्य होते थे। मन्त्रिमण्डल को खदीव नियत करता था और ये मन्त्री व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी नहीं होते थे। खदीव ब्रिटिश एजण्ट की कठपुतली था, इसलिये सरकार का वास्तविक सञ्चालन ब्रिटिश लोगों के हाथ में था। यह स्पष्ट है, कि

ईजिप्सियन नेता इन शासनसुधारों से कदापि संतुष्ट नहीं हो सकते थे। वे अपने देश को पूर्णरूप से स्वाधीन करना चाहते थे।

इसी बीच में १९१४ में यूरोपियन महायुद्ध शुरू हो गया। इस महायुद्ध में टर्की जर्मनी के पक्ष में था। अतः ब्रिटेन ने उद्घोषित किया कि ईजिप्ट को तुर्की अधीनता से मुक्त किया जाता है, और उसे ब्रिटेन का सुरक्षित राज्य बना दिया जाता है। यूरोपियन महायुद्ध के समय से ईजिप्ट स्पष्ट रूप से ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत है। आर्थिक नियंत्रण आदि के नाम पर शासन का सञ्चालन करने की आवश्यकता तब से नहीं रही है। ईजिप्ट के लोग ब्रिटेन के इस शासन को जरा भी पसन्द नहीं करते। वे पूर्ण स्वाधीनता चाहते हैं। यूरोपियन महायुद्ध के समय तथा उसके बाद भी वे स्वाधीनता के लिये निरन्तर आन्दोलन करते रहे हैं। आखिर, १९२० में ब्रिटेन को बाधित होकर ईजिप्ट में स्वराज्य की स्थापना करनी पड़ी। १९२० में जो स्वराज्य ईजिप्ट में स्थापित किया गया, उसमें दो पाबन्दियाँ रखी गईं। (१) स्वेज की नहर पर कब्जा रखने के लिये ब्रिटिश फौज ईजिप्ट में रहती रही (२) ईजिप्ट विदेशी मामलों में स्वाधीन न हो, विदेशी मामलों के सन्चालन में वह ब्रिटेन के अधीन रहे। यद्यपि इस प्रकार ईजिप्ट में स्वराज्य की स्थापना हो गई, पर अनुभव बताता है कि वस्तुतः वह अबतक भी ब्रिटिश लोगों के आधिपत्य में है। वहाँ के देश भक्त अपने स्वराज्य से संतुष्ट नहीं हैं। वे पूर्ण स्वाधीनता चाहते हैं।

(६) ब्रिटिश साम्राज्य का एक संघ बनाने की समस्या

उपनिवेशों का ब्रिटेन के साथ क्या सम्बन्ध हो, ब्रिटिश साम्राज्य के लिये यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या है। उपनिवेशों में स्वराज्य स्थापित हो चुका है, वे क्रियात्मक दृष्टि से पूर्णतया स्वाधीन हैं, इस दशा में यह तो स्पष्ट ही है कि ब्रिटिश सरकार उन के शासन तथा

नीतिनिर्धारण में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकती। फिर साम्राज्य के अन्तर्गत रहने से उपनिवेशों की राजनीतिक स्थिति में क्या भेद आता है और उन्हें अपने साथ सम्मिलित रखने से ब्रिटेन को क्या लाभ होता है?—ये प्रश्न हैं, जिन पर अनेक ब्रिटिश राजनीतिज्ञ निरन्तर विचार करते रहते हैं। पुरानी औपनिवेशिक नीति का तो अब अन्त हो चुका है, अब उपनिवेशों को मातृभूमि के स्वार्थ साधन के लिये प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। संयुक्तराज्य अमेरिका की स्वाधीनता ने ब्रिटिश सरकार को इस नीति की विफलता का अच्छा सबक सिखा दिया है। इस समय में इन उपनिवेशों के सम्बन्ध में ब्रिटिश राजनीतिज्ञ किसी एक निश्चित नीति का अनुसरण नहीं कर रहे हैं। उनमें अनेक मतभेद हैं। साथ ही, उपनिवेशों का ब्रिटेन के साथ वर्तमान सम्बन्ध, सोच विचार कर निर्धारित की गई किसी निश्चित नीति का परिणाम नहीं है, अपितु समय तथा परिस्थितियों की उपज है। उपनिवेशों में जो लोग बसते हैं, वे ब्रिटिश जाति के हैं, ब्रिटेन से ही जाकर वहाँ पर बसे हैं। उनका धर्म, सभ्यता, भाषा, रीतिरिवाज आदि सब ब्रिटेन से मिलते जुलते हैं। उपनिवेशवासियों तथा ब्रिटिश लोगों में खून का सम्बन्ध है। इस दशा में यह तो स्वाभाविक ही है, कि वे न केवल ब्रिटेन के साथ सहानुभूति रखें, पर साथ ही आपस में भी एक दूसरे को अपना मानें। यही कारण है, कि बोअर युद्ध में सम्पूर्ण ब्रिटिश उपनिवेशों से बहुत से स्वयं सेवक दक्षिणी अफ्रीकन सरकार की सहायता के लिये आये थे। गत यूरोपियन महायुद्ध में भी उपनिवेशों ने ब्रिटेन की दिल खोल कर सहायता की थी। यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध उद्घोषित करते हुए उपनिवेशों की अनुमति प्राप्त नहीं की थी, तथापि उपनिवेशों ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति ब्रिटेन की सहायता में लगा दी थी। पर इसका कारण वह स्वाभाविक घनिष्टता है, जो एक जाति तथा धर्म के लोगों में होती है। उपनिवेश ब्रिटेन को अपनी मातृभूमि समझते

हैं। यही कारण है, कि क्रियात्मक दृष्टि से पूर्ण स्वाधीनता रखते हुए भी वे ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर रह सकते हैं।

पर यह भी ध्यान में रखना चाहिये, कि ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है, उपनिवेशों में अपनी पृथक् तथा स्वतन्त्र सत्ता की अनुभूति प्रबल होती जाती है। वे ब्रिटेन से हजारों मील दूर स्थित हैं, उनकी अपनी समस्यायें तथा अपने हित हैं। ब्रिटेन के हित से पृथक् हमारे अपने भी कोई अलग हित हैं, जिन पर हमें ध्यान देना चाहिये—यह भाव उनमें निरन्तर स्थान प्राप्त करता जाता है। यही कारण है, कि अनेक उपनिवेशों ने अपने व्यवसायों की उन्नति के लिये ब्रिटिश माल पर भी कर लगाये। इसके अतिरिक्त, जब से उपनिवेशों में 'स्वराज्य' की स्थापना हुई है, उनका राजनीतिक तथा राष्ट्रीय जीवन पृथक् रूप धारण करने लगा है। जब वे सब मामलों में स्वतन्त्र हैं, तो उनका यह प्रश्न करना स्वाभाविक ही है, कि ऐसे युद्धों में हम क्यों शामिल हों, जिनको शुरू करने के लिये हमारी स्वीकृति नहीं ली गई है? उस विदेशी नीति के लिये हमारी जिम्मेवारी क्यों हो, जिसके निर्धारण में हमने कोई भाग नहीं लिया है? इसके साथ ही यह प्रश्न भी उठ खड़ा हुआ है, कि जब उपनिवेश पूर्णतया स्वतन्त्र हैं, तो क्या उन्हें यह भी अधिकार प्राप्त है, कि वे यदि चाहें, तो ब्रिटिश साम्राज्य से पृथक् हो सकें? जब यह कहा जाता है कि ब्रिटिश साम्राज्य (Commonwealth) में विविध उपनिवेश अपनी इच्छा से सम्मिलित हैं, तो उसका स्वाभाविक परिणाम यह होना ही चाहिये कि जब उनकी इच्छा साम्राज्य से पृथक् होने की हो, तो उसमें किसी प्रकार की बाधा न हो।

इन्हीं सब बातों से ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के लिये यह बहुत महत्त्वपूर्ण समस्या हो गई है, कि ब्रिटिश साम्राज्य को एक सूत्र में बांधे रहें। जोसेफ चैम्बरलेन ने इस सम्बन्ध में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किये। उसी का यह प्रयत्न था, कि ब्रिटेन का उपनिवेशों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध कायम

रहे और धीरे धीरे उपनिवेशों और ब्रिटेन का एक संघ विकसित हो जावे। इसी के लिये उसने साम्राज्य-सम्मेलन (इम्पीरियल कान्फरेन्स) की नींव डाली। १६०२ में यह व्यवस्था की गई, कि ग्रेट ब्रिटेन तथा उपनिवेशों के प्रधानमन्त्रियों की प्रति चौथे साल सभा हुआ करे, जिसमें कि सम्पूर्ण साम्राज्य के साथ सम्बन्ध रखने वाले मामलों पर सामान्य-तया विचार हुआ करे। इन्हीं साम्राज्य सम्मेलनों में 'साम्राज्यान्तर्गत रियायती कर' की परिपाटी का प्रादुर्भाव किया गया, जिसका उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य को आर्थिक दृष्टि से अपने आप में परिपूर्ण बनाना था। साम्राज्य के विविध अंगों को एक दूसरे के माल के साथ रियायत करनी चाहिये, यह विचार इस नीति के आधार में काम कर रहा था। इसके अनुसार अनेक उपनिवेशों ने कार्य भी किया। ब्रिटिश माल पर कनाडा ने ३३ फी सदी, आष्ट्रेलिया ने ३० फी सदी और न्यूजीलैन्ड ने ५० फी सदी रियायत की। इसी प्रकार अन्यत्र भी हुआ और साम्राज्यान्तर्गत रियायती कर की इस नीति ने सामाज्य को एक सूत्र में बांधे रखने में बहुत काफी सहायता की। गत यूरोपियन महायुद्ध के समय तथा उसके पीछे साम्राज्य सम्मेलनों का महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया। पर जिन समस्याओं को हम पहले पेश कर चुके हैं, उनका निश्चित हल अभी कोई नहीं हुआ है। अब तक भी इन उपनिवेशों की स्थिति समय तथा परिस्थितियों के अनुसार स्वयमेव विकास कर रही है। 'राष्ट्रसंघ' में ये उपनिवेश स्वतन्त्र राज्य के रूप में अपने प्रतिनिधि भेजते थे। कनाडा को यह भी अधिकार प्राप्त है, कि वह संयुक्त राज्य अमेरिका में अपना राजदूत भेज सके। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अन्य प्रकार से भी उपनिवेशों की पृथक् सत्ता स्वीकृत की जाती है। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि अभी तक भी उपनिवेशों का ब्रिटेन के साथ जो सम्बन्ध है, वह अनिश्चित है, तथा समय के साथ साथ विकास कर रहा है।

छत्तीसवां अध्याय

आयर्लैंगड की स्वाधीनता

(१) आयर्लैंगड की समस्या

अनेक सदियों से आयर्लैंगड इङ्गलैगड के अधीन है। किस प्रकार शुरू में यह देश इङ्गलैगड के अधीन हुआ, इसकी कथा बहुत लम्बी है। उसे यहाँ लिखने की कोई आवश्यकता नहीं। इङ्गलैगड विजेता और शासक था। आयर्लैंगड पराधीन और शासित था। उन दोनों में विरोध का होना स्वाभाविक बात थी। आयरिश लोग समझते थे, हमें स्वतन्त्र होना चाहिये, हमारे देश की भी वही स्थिति होनी चाहिये, जो इङ्गलैगड की है। राष्ट्रीयता की भावना उनमें विकसित हो रही थी। इसके अतिरिक्त, अन्य भी कई कारण थे, जिनसे इन दोनों देशों में परस्पर विरोध था और इनका एक साथ रहना एक अस्वाभाविक बात थी। आयरिश लोग केल्ट जाति के थे, इङ्गलिश लोग टयूटोनिक जाति की शाखा थे। जातीय दृष्टि से दोनों में विरोध था। आयरिश और इङ्गलिश भाषायें एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। आयरिश लोग रोमन कैथोलिक धर्म के अनुयायी हैं और इङ्गलिश लोग प्रोटेस्टेन्ट धर्म के। शासक की हैसियत से इङ्गलिश लोग अपने धर्म का आयर्लैंगड में प्रचार करना चाहते थे। आयरिश लोग इसे कब सह सकते थे। आयर्लैंगड की प्रायः सम्पूर्ण जमीन इङ्गलिश विजेताओं की सम्पत्ति थी। वे उसके

जमींदार थे। आयरिश लोग अपने ही देश में जमींन के स्वत्वाधिकार से वञ्चित थे और इङ्गलिश जमींदारों की जमीनें जोत बोकर अपना गुजारा करते थे।

मध्यकाल में यद्यपि आयर्लैंण्ड इङ्गलैण्ड के राजा के अधीन था, तथापि उसकी अपनी पृथक् पार्लियामैन्ट थी। देश की भूमि बड़े बड़े सरदारों के कब्जे में थी, जो अपनी अपनी जायदाद में स्वतन्त्र राजाओं के समान राज्य करते थे। इङ्गलैण्ड के राजा आयरिश मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं करते थे। पर ट्यूडर वंश के शक्तिशाली राजाओं के समय में इस नीति में परिवर्तन आना प्रारम्भ हुआ। ट्यूडर वंश के राजा प्रयत्न करते थे, कि आयर्लैंण्ड पर भी उतनी ही दृढ़ता के साथ शासन करें, जैसे कि इङ्गलैण्ड में। स्टुआर्ट वंश के राजाओं के शासन काल में इङ्गलैण्ड और स्काटलैण्ड से बहुत से प्रोटेस्टेन्ट लोगों को लाकर आयर्लैंण्ड में बसाया जाना प्रारम्भ हुआ। आयर्लैंण्ड के उत्तरी प्रदेशों में, जो अल्स्टर के नाम से विख्यात हैं, आयरिश लोगों को निकाल कर प्रोटेस्टन्ट लोगों को बसाया गया। आगे चलकर क्रामवेल और विलियम तृतीय के समय में आयर्लैंण्ड के अन्य प्रदेशों पर भी प्रोटेस्टेन्ट इङ्गलिश लोगों ने कब्जा करना शुरू किया और धीरे धीरे आयर्लैंण्ड की सारी भूमि इङ्गलिश लोगों की सम्पत्ति बन गई। आयरिश लोग अपने बापदादों के समय से चली आई भूमि पर परायों के समान रहने लगे और अपने विजातीय, विधर्मी तथा विदेशी जमींदारों की कृपा पर आश्रित होकर अपना गुजारा करने लगे।

आयर्लैंण्ड में अंग्रेजों का शासन बहुत ही अन्याययुक्त तथा पक्षपातपूर्ण था। अंग्रेजों की कोशिश थी कि आयरिश लोग पूर्णतया असहाय और आश्रयहीन हो जावें। आयर्लैंण्ड में जारी किये गये कानूनों के अनुसार कोई कैथौलिक प्रोटेस्टेन्ट से न जमीन खरीद सकता था और न ३१ साल से अधिक समय के लिये ठेके पर ले सकता

था। यदि किसी कैथोलिक का लड़का प्रोटेस्टेन्ट हो जावे, तो उसे अधिकार था कि वह अपने पिता से जायदाद छीन कर उस पर अपना कब्जा कर सके। यदि कोई व्यक्ति प्रोटेस्टेन्ट धर्म को स्वीकृत कर ले, तो वह अपने कैथोलिक सम्बन्धियों की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बन जाता था। उस समय यह नहीं देखा जाता था कि सम्पत्ति का असली उत्तराधिकारी कौन है। प्रोटेस्टेन्ट धर्म को स्वीकृत कर लेने से ही कोई व्यक्ति अपने सम्बन्धियों की सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त कर लेता था। व्यवसायों में लगे हुए कैथोलिक लोगों को विशेष टैक्स प्रदान करने पड़ते थे और वे दो से अधिक सहायक अपने व्यवसाय में नहीं रख सकते थे। इन सब कानूनों का उद्देश्य यह था, कि कैथोलिक लोग किसी भी प्रकार आर्थिक उन्नति न कर सकें और उनके पास जो सम्पत्ति हो, वह भी धीरे धीरे प्रोटेस्टेन्ट लोगों के हाथ में आती जावे। यह ध्यान में रखना चाहिये कि आयर्लैंण्ड की अधिकांश जनता रोमन कैथोलिक धर्म को मानने वाली थी।

कैथोलिक लोग आयरिश पार्लियामैन्ट के लिये न निर्वाचित हो सकते थे और न ही उन्हें वोट का अधिकार प्राप्त था। इसलिये यद्यपि ऊपर से देखने पर प्रतीत होता था कि आयर्लैंण्ड में अपनी पार्लियामैन्ट है, पर वस्तुतः यह जनता के बहुत थोड़े से हिस्से की, जिसमें अधिकांश विदेशी इङ्गलिश लोग थे, सभा थी। कैथोलिक लोग किसी राजकीय पद पर भी नियुक्त नहीं किये जाते थे। वे कौन कौन से पेशे कर सकें, इसके लिये भी नियम बने हुए थे। कैथोलिक धर्म का अनुयायी होना आयर्लैंण्ड में कोई अपराध नहीं था, पर इस धर्म के प्रचार में बहुत सी बाधायें सरकार की ओर से विद्यमान थीं। पादरियों के लिये अपने को रजिस्टर्ड कराना जरूरी था और उनकी संख्या सरकार द्वारा निश्चित कर दी गई थी। शिक्षणालयों पर भी प्रोटेस्टेन्ट लोगों का अधिकार था।

आयरिश लोग अपनी दुर्दशा को अनुभव करते थे, पर ब्रिटिश शासकों के सम्मुख उनकी शक्ति न के बराबर थी। अठारहवीं सदी के अन्तिम भाग में जब अमेरिका में राज्यक्रान्ति हुई, और अमेरिकन उपनिवेश ब्रिटिश लोगों की अधीनता से मुक्त हो गये, तब आयर्लैण्ड में भी उत्साह का सञ्चार हुआ। अँग्रेजी शासन के विरुद्ध आन्दोलन ने उग्र रूप धारण करना प्रारम्भ किया। इस आन्दोलन में कैथोलिक लोगों के साथ प्रोटेस्टेन्ट लोग भी सम्मिलित थे। सब आयरिश लोग एक साथ मिलकर अपने देश को अँग्रेजों के कब्जे से मुक्त कराने का प्रयत्न कर रहे थे। सन् १७६१ में 'यूनाइटेड आयरिशमैन' नामक संस्था की स्थापना हुई। इस सभा ने आयरिश स्वाधीनता के लिये बहुत प्रचण्ड आन्दोलन किया। इसी के आन्दोलन का परिणाम था, कि सन् १७६३ में कैथोलिक लोगों को भी आयरिश पार्लियामैन्ट के लिये वोट का अधिकार प्राप्त हुआ।

इसी समय फ्रांस में राज्यक्रान्ति की अग्नि धधक रही थी। यूरोप के विविध राज्य क्रान्ति की ज्वालाओं को शान्त करने के लिये कटि-बद्ध हो रहे थे। इङ्गलैण्ड ने भी फ्रांस के क्रान्तिकारियों के खिलाफ जिहाद शुरू कर दिया था। आयरिश लोगों ने इसे अच्छा अवसर समझा। वे कहते थे 'जब इङ्गलैण्ड मुसीबत में हो, तभी तो आयर्लैण्ड का मौका है।' फ्रेञ्च राज्यक्रान्ति द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों से लाभ उठा-कर आयरिश लोगों ने भी विद्रोह प्रारम्भ कर दिया। १७६८ में आयर-लैंण्ड में बाकायदा विद्रोहाग्नि प्रदीप्त हो उठी। पर इस विद्रोह में प्रोटेस्टेन्ट लोग सम्मिलित नहीं थे। इस समय वे फिर कैथोलिक लोगों से पृथक् हो चुके थे। उस जमाने में साम्प्रदायिक मतभेद इतना महत्त्व रखते थे कि भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के लोगों के लिए किसी भी मामले में एक साथ मिलकर कार्य कर सकना बहुत कठिन बात होती थी। इंगलिश लोगों ने इस विद्रोह को क्रूरता के साथ शान्त किया। आयरिश लोगों पर

फा० ४२

दृढ़ता के साथ शासन करने के लिये यह आवश्यक समझा गया कि आयरिश पार्लियामैन्ट को तोड़कर उसे ब्रिटेन के साथ सम्मिलित कर लिया जाय। इसी के अनुसार सन् १८०० में आयरिश पार्लियामैन्ट का अन्त कर दिया गया और थोड़े से आयरिश प्रतिनिधियों को ब्रिटिश पार्लियामैन्ट में स्थान प्रदान किया गया। पर आयरिश लोग इसके बहुत विरुद्ध थे। वे भली भाँति समझते थे कि उनका देश इङ्गलैण्ड से सर्वथा भिन्न है। उन दो भिन्न देशों का मेल कोई स्वाभाविक बात नहीं है।

सन् १७६८ का विद्रोह असफल होगया था, पर आयरिश लोग निराश नहीं हुए। उन्होंने अपना आन्दोलन जारी रखा। पर इस समय आयरिश देशभक्तों के दो दल थे। दोनों दल देशभक्ति की भावनाओं से आविष्ट थे, पर उन कार्यनीति में बहुत बड़ा भेद था। एक दल वैध उपायों का पक्षपाती था। उसका कहना था, कि आन्दोलन द्वारा ब्रिटिश लोकमत को अपने पक्ष में करना चाहिये और धीरे धीरे ब्रिटिश पार्लियामैन्ट से उन सब कानूनों को रद्द करवाना चाहिये, जो आयरिश व कैथोलिक लोगों के खिलाफ विद्यमान हैं। इस दल के लोग ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वराज्य प्राप्त करने के लिये इच्छुक थे। दूसरा दल क्रान्तिकारियों का था। क्रान्तिकारी दल का विश्वास था, कि वैध आन्दोलन से कोई कार्य नहीं हो सकता, ब्रिटिश लोगों की आँखे खोलने के लिये आतंकपूर्ण कार्यों की आवश्यकता है। ये दोनों दल अपने अपने उपायों से एक ही उद्देश्य की पूर्त के लिये प्रयत्न शील थे।

जिन समस्याओं को हल करने के लिये आयरिश देशभक्त विशेष रूप से उद्योग कर रहे थे, वे तीन हैं—

(१) धार्मिक स्वतन्त्रता की स्थापना

(२) जमीन पर आयरिश लोगों का अधिकार स्थापित करना

(३) स्वराज्य की प्राप्ति

हम इन तीनों पर क्रमशः प्रकाश डालेंगे।

(२) धार्मिक स्वतन्त्रता

पहले इङ्गलैण्ड और आयर्लैंण्ड दोनों देशों में रोमन कैथोलिक धर्म का प्रचार था। धार्मिक सुधारणा के आन्दोलन के समय इङ्गलैण्ड में प्रोटेस्टेन्ट धर्म का प्रचार हुआ और इङ्गलिश चर्च को पोप की अधीनता से मुक्त किया गया। आयर्लैंण्ड इस समय इङ्गलैण्ड के अधीन था, इसलिये अंग्रेजों ने वहाँ भी प्रोटेस्टेन्ट चर्च की स्थापना का प्रयत्न किया। पर आयरिश लोग कट्टर रोमन कैथोलिक थे। पोप पर उनका दृढ़ विश्वास था। अंग्रेजों ने इस बात की परवाह न कर आयर्लैंण्ड में जबर्दस्ती इङ्गलिश चर्च की स्थापना प्रारम्भ की। कैथोलिक मठों को नष्ट कर उनकी जायदादों को जप्त कर लिया गया। कैथोलिक पादरियों को बहिष्कृत कर उनके स्थान पर प्रोटेस्टेन्ट पादरी नियत किये गये। यद्यपि आयर्लैंण्ड की जनता अब भी कट्टर कैथोलिक थी, पर इङ्गलिश प्रोटेस्टेन्ट चर्च की सहायता के लिये उनसे जबर्दस्ती कर वसूल करने की व्यवस्था की गई। आयरिश लोगों की चाहे कितनी ही दुर्दशा हो, पेट भरने के लिये उन्हें चाहे अनाज तक भी न मिलता हो, पर इङ्गलिश चर्च के करों को वसूल करने में जरा भी ढील न होने दी थी। उन्हें निर्दयता के साथ एकत्रित किया जाता था। चर्च के करों को वसूल करने के लिये अनेक बार सरकार को बड़ी दिक्कतों का सामना करना पड़ता था। आयर्लैंण्ड के कैथोलिक किसानों को इन करों से बहुत घृणा थी, कारण यह कि ये कर उनके विरोधी सम्प्रदाय की सहायता के लिये लिये जाते थे। कई बार इनकी वसूली करते हुए पुलीस और किसानों में मुठभेड़ हो जाती थी। किसान इन करों को देने से इन्कार कर देते थे। पुलीस उनके गाय बैल व सुअरों को पकड़ कर इन करों को प्राप्त करने का प्रयत्न करती थी। १८३१ में इन करों के सवाल पर आयर्लैंण्ड में बाकायदा लड़ाई प्रारम्भ हो गई। जनता ने विद्रोह कर दिया।

सरकार को बड़ी दिक्कत का सामना करना पड़ा। आखिर, मजबूर होकर यह व्यवस्था की गई, कि जनता से सीधे इन करों को वसूल न करके इन्हें मालगुजारी के साथ सम्मिलित कर दिया जावे। १८३८ में यह कानून पास भी हो गया। पर इससे समस्या का हल नहीं हुआ। जमीदार ये कर अपनी जेब से कैसे देते, उन्होंने लगान बढ़ा दिये और जनता का असन्तोष यथापूर्व जारी रहा।

इस समय तक ब्रिटिश पार्लियामेंट में कैथोलिक लोग भी प्रवेश पा चुके थे। आयर्लैंएड से निर्वाचित होकर जो महानुभाव ब्रिटिश पार्लियामेन्ट में पहुँचते थे, उनमें भी अधिकांश लोग कैथोलिक धर्म के अनुयायी होते थे। आयर्लैंएड के कैथोलिकों ने किस प्रकार पार्लियामेन्ट में आना प्रारम्भ किया, इसकी कथा भी ध्यान देने योग्य है। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में आयर्लैंएड के प्रधान नेता डेनियल ओकोनल नामक महानुभाव थे। इन्होंने कैथोलिक एसोशियेशन नाम की एक नवीन सभा स्थापित कर उसके द्वारा कैथोलिक लोगों के अधिकारोंके लिये आन्दोलन प्रारम्भ किया। कैथोलिक एसोशियेशन को गैर कानूनी उद्घोषित कर दिया गया। वह सभा टूट गई, पर उसका आन्दोलन जारी रहा। सन् १८२८ में ओकोनल पार्लियामेन्ट के लिये उम्मीदवार खड़ा हुआ और निर्वाचन में सफल हो गया। पर पार्लियामेन्ट में प्रवेश करते समय प्रत्येक सदस्य को जो शपथ लेनी पड़ती थी, वह रोमन कैथोलिक धर्म के विरुद्ध थी। ओकोनल जैसा कट्टर कैथोलिक उस शपथ को कैसे ले सकता था। परिणाम यह हुआ, कि इस शपथ के विरुद्ध आन्दोलन शुरू हुआ और आखिर सन् १८२९ में उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता हुई। इसके बाद कैथोलिक लोगों के लिये पार्लियामेन्ट का मार्ग साफ होगया।

ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के कैथोलिक सदस्य आयरिश लोगों की धार्मिक शिकायतों को दूर करने का प्रयत्न कर रहे थे। आयर्लैंएड जैसे कैथोलिक धर्म प्रधान देश में प्रोटेस्टेन्ट इङ्गलिश चर्च की स्थापना

और उसके लिये लोगोंसे जबरदस्ती कर वसूल करना नितान्त अस्वाभाविक बातें थीं। उदार दल के लोगों ने आयलैंण्ड के साथ इस प्रश्न पर सहानुभूति प्रदर्शित की और सन् १८६९ में जब उदार दल का बहुमत था, श्रीयुत ग्लैडस्टन ने एक प्रस्ताव उपस्थित किया, जिसके अनुसार आयलैंण्ड में प्रोटेस्टेन्ट चर्च का प्रभुत्व नष्ट किया गया। प्रोटेस्टेन्ट चर्च की सहायता के लिये जो कर लिये जाते थे, उन्हें हटा दिया गया। प्रोटेस्टेन्ट पादरियों को संतुष्ट करने के लिये राज्य की तरफ से उनकी सहायता की व्यवस्था हुई। इसमें सन्देह न हो, कि १८६९ के इस कानून के बाद आयलैंण्ड की रोमन कैथेलिक जनता की धार्मिक शिकायतें प्रायः दूर हो गईं और वहां धार्मिक स्वतन्त्रता स्थापित होगई।

(३) भूमि सम्बन्धी सुधार

आयलैंण्ड कृषिप्रधान देश है। वहाँ के अधिकांश निवासी अपनी आजीविका के लिये खेती पर आश्रित हैं। कृषिप्रधान देशों में जनता अमन और चैन से अपना गुजारा कर सके, इसके लिये आवश्यक है, कि खेती के तरीके उन्नत और भूमि सम्बन्धी कानून उदार हों। आयलैंण्ड में इन दोनों बातों का अभाव था। वहाँ के किसान बिलकुल पुराने ढंग से खेती करते थे और वहाँ के भूमि सम्बन्धी कानून बहुत दोषपूर्ण तथा विघातक थे।

जमीन की मल्कियत किसानों के पास नहीं थी। जो लोग वस्तुतः खेती का काम करते थे, जमीन की मल्कियत के साथ उनका कोई ताल्लुक न था। आयलैंण्ड के अधिकांश जमींदार अँगरेज लोग थे, जो अपनी जमीनों को केवल आमदनी का साधन समझते थे। जमीन को उन्नत करने के लिये वे जरा भी ध्यान न देते थे। किसानों की क्या हालत है, इस की उन्हें जरा भी परवाह न थी। बहुत से जमींदार तो

समुद्र पार इङ्गलैण्ड में रहते थे। जिन्दगी में एक बार भी वे अपनी जमीनों का दर्शन न करते थे। लगान वसूल करने के लिये उनकी तरफ से एजन्ट या कारिन्दे नियत होते थे, जिनका कार्य अधिक से अधिक लगान वसूल कर अपने मालिकों को संतुष्ट करना तथा अपना पेट भरना होता था।

जमीन को उन्नत करने के लिये जमींदार कोई भी प्रयत्न नहीं करते थे। यदि किसान अपनी तरफ से दलदलों को सुखा कर, खाद डाल कर, खेत के चारों तरफ बाढ़ बना कर, सिंचाई का इन्तजाम कर या किसी अन्य प्रकार से जमीन को उन्नत करता था, तो उसे इस बात का कोई भरोसा नहीं था, कि वह अपनी मेहनत से उन्नत की हुई जमीन पर कब्जा बनाये रख सकेगा। जमींदार जब चाहें, किसान को बेदखल कर सकते थे। लगान बढ़ाना भी उनकी मर्जी पर था। जमीन की तरक्की तो किसान करता था, पर लगान बढ़ा कर उसका फायदा जमींदार उठाता था। इस दशा में किसान लोग जमीन की पैदावार बढ़ाने के लिये कैसे यत्न कर सकते थे? आयर्लैंड में किसानों की कमी नहीं थी। व्यवसायों का अभाव होने के कारण खेती ही एक मात्र पेशा था, जिससे वे अपना निर्वाह कर सकते थे। यदि लगान बढ़ जाने व जमींदार की किसी अन्य ज्यादती के कारण कोई किसान खेती करने से इन्कार करता था, तो उसका स्थान लेने के लिये दूसरा किसान तैयार रहता था। इस दशा में जमींदार को अपनी मनमानी करने का पूरा अवसर हाथ लग जाता था।

आयरिश किसान बहुत गरीब और असहाय होते थे। उन दिनों यूरोप में यह कहावत बनी हुई थी कि 'वह आदमी ऐसा गरीब है, जैसे कोई आयरिश हो।' किसान लोग बड़ी मुश्किल से अपना पेट भर पाते थे। आयर्लैंड में प्रधान फसल आलुओं की होती है। वहाँ के किसान प्रायः आलू खा कर ही अपना पेट भरते थे। यदि कभी आलुओं की

फसल खराब हो जावे, तो उनके लिये जीवित रहना भी कठिन हो जाता था। सन् १८४५ से १८४७ तक आयरिश किसानों को बड़ी मुसीबत का सामना करना पड़ा। इन वर्षों में आलुओं की फसल खराब हो गई थी। परिणाम यह हुआ, कि आयर्लैंण्ड में अकाल पड़ गया। हजारों आदमी भूख के मारे तड़प तड़प कर मरने लगे। सरकार ने दुर्भिक्ष निवारण के लिये कुछ प्रयत्न भी किये, पर उनका कोई परिणाम न हुआ। जमींदार लोग ऐसी विपत्ति के समय में भी अपने स्वार्थ साधन की चिन्ता में थे। उनकी निर्दयता के कारण आयरिश किसानों का उद्धार हो सकना असम्भव सा हो गया। अपने देश में जीवन निर्वाह का कोई उपाय न देख पहले ही हजारों आदमी प्रति वर्ष अपनी मातृभूमि से सदा के लिये विदा ले सुदूर अमेरिका में जा कर बस रहे थे। इन दुर्भिक्ष के वर्षों में इन प्रवासियों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई। दस लाख से अधिक आदमी इन वर्षों में आयर्लैंण्ड से विदा ले अमेरिका में जाकर बस गये। हिसाब लगाया गया है, कि उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में ४० लाख के लगभग आयरिश लोग अन्य देशों में जाकर आबाद हुए। यह संख्या इस बात को भली भांति सूचित करती है, कि आयरिश लोगों के लिये अपने देश में जीवन कितना दुःखपूर्ण और असह्य था।

आयरिश किसान अपनी दुर्दशा को भली भाँति अनुभव करते थे। धीरे धीरे उनमें क्रान्ति की भावनायें प्रबल होनी प्रारम्भ हुई। उन्होंने क्रान्तिकारी उपायों का प्रयोग प्रारम्भ किया। जमींदारों और उनके कारिन्दों पर हमले शुरू हुए। उनके मकानों को आग लगाई गई, उनके पशुओं व अन्य सम्पत्ति को लूटना प्रारम्भ हुआ। किसानों को दबाने के लिये बहुत से कठोर कानून सरकार की तरफ से जारी किये गये। अनेक प्रदेशों में तो करीब करीब फौजी कानून ही जारी कर दिया गया। क्रान्तिकारियों को कुचलने के लिये 'रायल आयरिश कान्स्टे-

वलरी' का संगठन हुआ। इस संस्था का सञ्चालन लण्डन से किया जाता था। कहने को तो इसके सिपाही पुलीसमैन थे, पर वस्तुतः वे फौजी लोग थे, जो जनता पर आतङ्क जमाने के लिये नियत किये गये थे। सरकार के इन उपायों से कुछ समय के लिये आयरिश किसानों का विद्रोह शान्त हो गया, पर उनमें क्रान्ति की भावना नष्ट नहीं हुई। वे उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करने लगे।

क्रान्तिकारी अन्दोलन के साथ साथ वहिष्कार आन्दोलन भी चल रहा था। आयरिश लोग जमीदारों तथा उनके कारिन्दों का सामाजिक बहिष्कार कर रहे थे। उन दिनों आयर्लैण्ड में एक अंग्रेज कारिन्दा अपने अत्याचारों के लिये बहुत प्रसिद्ध था, उसका नाम था बायकाट। आयरिश लोगों ने उसका पूर्णतया सामाजिक वहिष्कार कर दिया। न कोई उसे कोई चीज बेचता था, न कोई उसका कोई काम करता था। सामाजिक बहिष्कार से वह आखिर इतना तंग आगया, कि उसे बाधित होकर वह स्थान छोड़ा पड़ा। तब से 'बायकाट' शब्द का अर्थ ही अंग्रेजी में वहिष्कार होगया। श्री बायकाट का बायकाट करने में लोगों को इतनी सफलता हुई थी, कि दूसरे जमीदारों व कारिन्दों पर भी इसी शस्त्र का उपयोग किया गया। सामाजिक बहिष्कार के अन्दोलन को 'रायल आयरिश कान्स्टेबलरी' द्वारा शान्त नहीं किया जा सकता था।

सन् १८७९ में माइकेल डेविट ने लैण्ड लीग (भूमि संघ) की स्थापना की। माइकेल डेविट का पिता एक किसान था, जिसे उसके जमींदार ने बेदखल कर दिया था। इसलिये डेविट भलीभाँति समझता था कि आयर्लैण्ड में भूमि संबन्धी समस्या क्या है। पार्नेल भी इस संघ में सम्मिलित होगया और इन दो प्रभावशाली नेताओं के नेतृत्व में भूमिसंघ बहुत शक्तिशाली हो गया। भूमिसंघ के मुख्य उद्देश्य तीन थे—(१) जमींदार अपनी मर्जी से लगान में वृद्धि न कर सके। लगान में वृद्धि करने का अधिकार केवल न्यायालय को हो, जो जमीन

की कीमत तथा उसकी पैदावार को दृष्टि में रखकर लगानमें परिवर्तन करे। (२) जब तक किसान अपनी जमीन के लिये लगान देता रहे, उसे बेदखल न किया जा सके (३) यदि किसी कारण कोई किसान अपनी जमीन छोड़ना चाहे, तो उसे अधिकार हो कि जमीन की उन्नति के लिये उसने जो खर्च किये हों, उनकी कीमत अपने उत्तराधिकारी किसान से ले सके। भूमिसंघ अपना कार्य बड़े जोर शोर से कर रहा था। अन्दोलन करने के उसके तरीके कानूनके अनुकूल थे, अतः उसे रोका भी नहीं जा सकता था। दूसरी तरफ, क्रान्तिकारी लोग भी शान्त नहीं बैठे थे। इस परिस्थिति में इङ्गलैण्ड के राजनीतिज्ञ बहुत काफी परेशानी अनुभव कर रहे थे। वे भलीभाँति समझते थे, कि यदि आयरिश लोगों को संतुष्ट नहीं किया जावेगा, तो खुल्लमखुल्ला विद्रोह हुए बिना न रहेगा। उदार दल के प्रधान नेता इस समय श्रीयुत ग्लैडस्टन थे। आयरिश समस्या पर वे बड़ी गम्भीरता से विचार कर रहे थे। आख़िर उन्हें यह विश्वास होगया, कि आयर्लैंण्ड के भूमि संबन्धी कानूनों में भारी परिवर्तन की आवश्यकता है। इसी के अनुसार उन्होंने सन् १८८१ में 'आयरिश भूमि संबन्धी कानून' पेश किया। इस कानून में भूमिसंघ की तीनों मांगों को प्रायः स्वीकृत कर लिया गया। आयर्लैंण्ड में एक 'लैण्ड कमीशन' को नियुक्त करने की व्यवस्था की गई, जिसका कार्य जमीदारों और किसानों के पारस्परिक झगड़ों का निबटारा करना था। लगान में बृद्धि इस कमीशन की स्वीकृति के बिना नहीं की जा सकती थी। विशेष कारणों के बिना किसी किसान को बेदखल करना रोक दिया गया और किसानों को यह अधिकार भी दे दिया गया, कि उन्होंने जमीन में जो तरक्की की हो, उसे अपनी इच्छानुसार बेच सकें। अब जमीदारों के साथ साथ उनका जमीन में अधिकार उत्पन्न हो गया, जिसे वे बेच भी सकते थे। सन् १८८१ के इस कानून से आयरिश किसानों का असन्तोष बहुत कुछ दूर हो गया।

सन् १९०३ में आयर्लैंण्ड की भूमि सम्बन्धी समस्या को हल करने के लिये एक और महत्वपूर्ण कानून पास हुआ। इस कानून का उद्देश्य यह था, कि धीरे धीरे आयरिश किसान ही अपनी जमीनों के मालिक बन जावें। इसके लिये यह व्यवस्था की गई थी, कि जो किसान अपनी जमीनों को जमीदारों से खरीदना चाहें, उन्हें सरकार की तरफ से रुपया कर्ज दिया जावे। इस रुपये को किसान ३$\frac{1}{4}$ फीसदी सूद के साथ ६८$\frac{1}{2}$ वर्षों में सरकार को वापिस करदे। बहुत से आयरिश किसानों ने इस कानून से लाभ उठाया। करोड़ों रुपया सरकार ने किसानों को कर्ज के तौर पर दिया और लाखों किसान इससे अपनी जमीनों के खुद मालिक बन गये!

इन कानूनों का परिणाम यह हुआ, कि आयर्लैंण्ड की भूमि सम्बन्धी समस्या प्रायः हल हो गई। जो किसान पहले भूखे और नंगे थे, वे अब सुखी और समृद्ध हैं। सम्पत्ति के कारण उनमें अब जिम्मेवारी का भाव भी उत्पन्न हो गया है। अब उनके लिये पहले की तरह क्रान्तिकारी होना सम्भव नहीं रहा है।

(४) स्वराज्य के लिये संघर्ष

आयरिश लोग धर्म, भाषा, संस्कृति और नसल की दृष्टि से अंग्रेजों से सर्वथा भिन्न हैं। इसलिये यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि वे ब्रिटिश शासन को विदेशी शासन समझें और उसको नष्ट कर स्वाधीन होने का प्रयत्न करें। सन् १८०१ में आयर्लैंण्ड की पृथक् पार्लियामेन्ट तोड़ दी गई थी और आयरिश प्रतिनिधियों को ब्रिटिश पार्लियामेन्ट में ही स्थान दे दिया गया था। १८०१ के 'यूनियन एक्ट' के अनुसार हाउस आफ कामन्स में १०० आयरिश प्रतिनिधि लेने की व्यवस्था हुई थी। इसी प्रकार हाउस आफ लार्डस में भी २८ आयरिश लार्डों को स्थान दिया गया था। 'यूनियन एक्ट' से आयरिश देश भक्त बहुत असंतुष्ट थे। वे

प्रयत्न कर रहे थे, कि आयर्लैंएड की पृथक् पार्लियामेंन्ट का पुनरुद्धार करें और अपने देश में स्वराज्य की स्थापना करें।

यूनियन एक्ट को रद्द करने के लिये पहला आन्दोलन डेनियल ओकोनल के नेतृत्व में प्रारम्भ हुआ। ओकोनल ने 'रिपील एसोशियेशन' नाम से एक सभा का संगठन किया, जिसका उद्देश्य ही इस एक्टको रद्द कराना था। सन् १८३० में यूरोप में सर्वत्र स्वाधीनता की लहर फैल रही थी और अनेक देशों में स्वतन्त्रता तथा लोकसत्तावाद को स्थापित करने के लिये प्रयत्न किये गये थे। आयर्लैंएडमें भी इस समय राजनीतिक आन्दोलन ने बहुत प्रचंड रूप धारण किया। सारे देश में विद्रोहाग्नि प्रदीप्त होगई, और ऐसा प्रतीत होने लगा कि आयर्लैन्ड में क्रान्ति हुए बिना न रहेगी। पर बिटिश सरकार ने इस समय बहुत सख्ती से काम लिया। ३५ हजार ब्रिटिश सैनिक विविध स्थानों पर विद्रोह को शान्त करने के लिये तैनात कर दिये गये। परिणाम यह हुआ, कि ओकोनल के नेतृत्व में प्रारम्भ हुआ यह आन्दोलन शुरूमें ही नष्ट हो गया।

सन् १८४८ में आयरिश क्रान्तिकारियों ने नौजवान आयर्लैंएड नामक सभा का संगठन किया। इसके प्रमुख नेता चार्ल्स गावन डफी और विलियम स्मिथ ओब्रायन थे। इनके नेतृत्व में आयरिश क्रान्तिकारी सम्पूर्ण देश में प्रचण्ड आन्दोलन करने लगे। १८४८ के अन्तिम भागमें आयर्लैंएड में फिर विद्रोह के चिन्ह प्रगट होने लगे। पर ब्रिटिश सरकार ने इस बार भी इसे शान्त कर दिया। अनेक प्रमुख नेताओं को देश निकाला दिया गया। बहुत से जेलखानों में बन्द कर दिये गये।

हम पहले लिख चुके हैं, कि उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में लाखों आयरिश लोग अपने देश का परित्याग कर अमेरिका में जा बसे थे। अमेरिका जाकर भी उन्होंने अपनी मातृभूमि को नहीं भुलाया था। वे इतनी दूर रहते हुए भी अपनी मातृभूमि की स्वाधीनता के लिये प्रयत्न कर रहे थे। उन्होंने एक नवीन क्रान्तिकारी आन्दोलन का

प्रारम्भ किया, जिसे फेनियन आन्दोलन कहते हैं। फेनियन लोग गुप्त समितियों का निर्माण कर राष्ट्रीय क्रान्तिकारी सैनिकों का संगठन करते थे और ब्रिटिश शासकों को कतल कर देश में आतंकवाद के प्रचार का उद्योग करते थे। फेनियन लोगों ने बहुत से ब्रिटिश अफसरों को कतल किया, अनेक जेलखानों पर बम बरसाये, स्थान स्थान पर विद्रोह कराने का प्रयत्न किया। मुश्किल से कोई महीना ऐसा गुजरता था, जिसमें किसी न किसी ब्रिटिश शासक पर हमला न किया जाता हो। आखिर, सन् १८८२ में आयर्लैंड के मुख्य ब्रिटिश मन्त्री लार्ड फ्रेडरिक कैवन्डिश भी क्रान्तिकारियों द्वारा कतल कर दिये गये। इस हत्या से सारे इङ्गलैण्ड में सनसनी फैल गई। फेनियन आन्दोलन कितना उग्र रूप धारण कर चुका है, इसका ब्रिटिश लोगों को परिज्ञान हुआ। पर ब्रिटिश सरकार दबने वाली न थी। उसने सब प्रकार के उपायों का प्रयोग कर क्रान्तिकारी आन्दोलन को कुचलने का प्रयत्न किया। बहुत से क्रान्तिकारी गिरफ्तार किये गये। बहुतों को प्राण दण्ड दिया गया। क्रान्तिकारियों के आतंकवाद का मुकाबला करने के लिये सरकार ने अपनी ओर से और भी उग्र आतंकवाद का प्रारम्भ किया। सरकार के भयंकर उपायों से कुछ समय के लिये क्रान्तिकारी आन्दोलन ढीला पड़ गया और सरकारी आतंकवाद सफल प्रतीत होने लगा।

जिस समय फेनियन क्रान्तिकारी ब्रिटिश शासकों को कतल कर सर्वत्र आतंक फैला रहे थे, उस समय आयर्लैंड के अन्य देश भक्त भी शान्त नहीं बैठे थे। वे अपनी शक्ति तथा विचारों के अनुसार वैध आन्दोलन द्वारा स्वराज्य प्राप्त करने के प्रयत्न में लगे थे। इन लोगों का प्रधान नेता चार्ल्स स्टीवर्ट पार्नेल था। पार्नेल का आयर्लैंड के राजनीतिज्ञों में बहुत ऊँचा स्थान है। अपने देश में स्वराज्य की स्थापना के लिये जो प्रयत्न पार्नेल ने किया, वह इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। वह वैध उपायों का पक्षपाती था और उन्हीं का आश्रय ले

उसने स्वराज्य के लिये संघर्ष किया। ब्रिटिश हाउस आफ कामन्स में आयरिश प्रतिनिधियों की संख्या १०० होती थी। संख्या में बहुत कम होने तथा आपस की दलबन्दी के कारण हाउस आफ कामन्स में उनका कोई भी महत्वपूर्ण स्थान नहीं था। पार्नेल ने आयरिश प्रतिनिधियों को संगठित किया और 'आयरिश राष्ट्रीयदल' के नामसे एक नवीन राजनीतिक दल की स्थापना की। पर संगठित हो जाने पर भी आयरिश प्रतिनिधि संख्या में इतने कम थे, कि हाउस आफ कामन्स पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं डाल सकते थे। पार्नेल ने इसके लिये एक नई युक्ति का प्रयोग किया। उसने खुले तौर पर उद्घोषित कर दिया, कि जब तक आयर्लैंण्ड की न्याययुक्त मांगों पर ध्यान नहीं दिया जावेगा, हम पार्लियामेन्ट और ब्रिटिश सरकार के लिये कार्य करना असम्भव कर देंगे। उस समय के पार्लियामैन्ट के नियमों के अनुसार जो सदस्य जितने समय तक चाहे भाषण कर सकता था और विवाद को समाप्त कर सकने के लिये कोई व्यवस्था न थी। पार्नेल ने इस बात का फायदा उठाकर अपने सदस्यों को खूब लम्बे लम्बे भाषण करने के लिये तैयार किया। जब एक वक्ता भाषण करते करते थक जाता था, तो दूसरा खड़ा होकर अपना व्याख्यान प्रारम्भ कर देता था। ये आयरिश सदस्य इस बात की भी परवाह न करते थे कि विषय पर बोल रहे हैं या नहीं। उनका उद्देश्य तो पार्लियामेन्ट के कार्य में विघ्न डालना होता था। एक एक विषय पर बहस में कई कई दिन लग जाते थे और पार्लियामन्ट को बड़ी मुसीबत का सामना करना पड़ता था। पार्लियामेन्ट की कार्यवाही में विघ्न डालने में पार्नेल ने असाधारण सफलता प्राप्त की और कुछ समय के लिये ब्रिटिश राजनीतिज्ञ उससे बहुत तंग आगये। पार्नेल ने ब्रिटिश शासन को भी अस्तव्यस्त करने का प्रयत्न किया। सन १८८५ में जब उदार दल का मन्त्रिमण्डल था, तो वह अपने आयरिश राष्ट्रीय दलके साथ अनुदार दल से मिल गया और उदार दल का मन्त्रिमण्डल

फेल हो गया। इसके बाद सन १८८६ में जब अनुदार दल का मन्त्रिमण्डल बना, तो वह उदारदल से मिल गया और अनुदारदल के मन्त्रिमण्डल को फेल करा दिया।

पार्लियामेन्ट में पार्नेल और देश में फेनियन क्रान्तिकारी जिस प्रकार ब्रिटिश सरकार को परेशान कर रहे थे, उससे बहुत से ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का ध्यान आयर्लैंण्ड की समस्या की ओर आकृष्ट हुआ। विशेषतया, उदारदल के प्रधान नेता श्रीयुत ग्लैडस्टन ने आयरिश समस्या पर ध्यान देना प्रारम्भ किया। सन १८८६ में जब वे फिर प्रधानमन्त्री बने, तो उन्हों ने आयरिश लोगों के असन्तोष को दूर करने के लिये 'होमरूल बिल' पेश किया। इस बिल से इङ्गलैण्ड में बहुत शोर मचा। अनुदार दल के लोग तो इसके विरुद्ध थे ही, उदार दल में भी अनेक सदस्य इसके विरुद्ध हो गये। श्रीयुत चेम्बरलेन के नेतृत्व में उदार दल के बहुत से सदस्य इस प्रश्न पर अपने दल से पृथक होगये और उन्होंने एक पृथक दल का निर्माण किया, जिसे 'यूनियनिष्ट दल' कहते हैं। यूनियनिष्ट लोग सन १८०१ के यूनियन एक्ट को कायम रखना या इङ्गलैण्ड और आयर्लैंण्ड के यूनियन को भंग न होने देना अपना मुख्य उद्देश्य समझते थे। इसी प्रकार आयर्लैंण्ड का उत्तरी प्रदेश, जिसे अल्स्टर कहते हैं, श्रीयुत ग्लैडस्टन के होमरूल बिल का प्रचण्ड विरोधी था। अल्स्टर के निवासी प्रायः प्रोटेस्टेन्ट धर्म के अनुयायी हैं। जाति के दृष्टि से भी उनका अधिक सम्बन्ध इङ्गलैण्ड के साथ है। वे समझते थे, कि यदि आयर्लैंण्ड को होमरूल (स्वराज्य) मिल जावेगा और उसकी पृथक पार्लियामेन्ट बन जावेगी, तो स्वाभाविक रूप से उसमें अल्स्टर के प्रोटेस्टेन्ट लोग अल्प संख्या में होंगे। उन्हें रोमन कैथोलिक बहुसंख्या के सम्मुख सिर झुकाना पड़ेगा। इस कारण वे अपनी भलाई इसी बात में समझते थे कि आयर्लैंण्ड को होमरूल प्राप्त न हो। अल्स्टर के लोगों ने होमरूल का प्रबल विरोध प्रारम्भ

किया। इन विरोधों का परिणाम यह हुआ, कि श्रीयुत ग्लैडस्टन का होमरूल बिल पार्लियामेन्ट में फेल हो गया। उदार दल का खयाल था, कि लोकमत उनके साथ है, अतः उन्होंने पार्लियामेन्ट को बर्खास्त कर दिया और आयरिश होमरूल के प्रश्न पर नया निर्वाचन कराया गया। पर इङ्गलैण्ड की जनता आयरिश होमरूल के पक्ष में नहीं थी। नई पार्लियामेन्ट में अनुदार तथा यूनियनिष्ट दलों की बहुसंख्या थी। इस कारण श्रीयुत ग्लैडस्टन के मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया और अब अनुदार दल के नेता श्रीयुत सैलिस्बरी प्रधान मन्त्री बने। श्रीयुत सैलिस्बरी ने अपनी नीति का प्रतिपादन करते हुए स्पष्ट रूप से उद्घोषित किया कि वे आयरिश होमरूल के पक्ष में नही हैं, और वे क्रान्तिकारी आन्दोलनों को कुचलनेमें अपनी पूर्ण शक्ति को लगावेंगे।

अनुदार दल के प्रभुत्व के कारण आयरिश होमरूल का प्रश्न कुछ समय के लिये दब गया। पर सन् १८९३ में फिर उदार दल का प्रभुत्व हो गया। यद्यपि उदार दल की संख्या अनुदार दल की अपेक्षा अधिक थी, पर आयरिश नेशनलिस्ट दल की सहायता के बिना वे पार्लियामैंट में अपना बहुमत नहीं रख सकते थे। इसलिये श्रीयुत ग्लैडस्टन ने आयरिश होमरूल के प्रश्न को फिर उठाया और दूसरा होमरूल बिल पार्लियामैन्ट के सम्मुख उपस्थित किया। इस बिल का भी प्रचण्ड विरोध हुआ। बहुत दिनों की गरमागरम बहस के बाद होमरूल बिल हाउस आफ कामन्स में तो पास हो गया, पर हाउस आफ लार्डस में उसे सफलता नहीं मिली। सन् १८९५ में होमरूल के प्रश्न को लेकर पार्लियामैन्ट का पुनः निर्वाचन हुआ। इस बार फिर इङ्गलैण्ड ने होमरूल के विरूद्ध अपनी सम्मति प्रगट की। पार्लियामैन्ट में अनुदार दल के लोग बहुत बड़ी संख्या में निर्वाचित हुए। आयर्लैण्ड में ब्रिटिश पार्लियामैन्ट द्वारा होमरूल स्थापित किया जा सकता है, इस की सम्भावना एक बार फ़िर बहुत से वर्षों के लिये नष्ट हो गई।

आयरिश लोग अनुभव कर रहे थे, कि वैध उपायों से स्वराज्य प्राप्त कर सकना असम्भव है। धीरे धीरे उनमें एक नवीन आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। सन् १६०४ में आयर्लैण्ड में सिनफ़ीन नाम से एक नवीन राजनीतिक संस्था का संगठन हुआ। इसके संस्थापक श्रीयुत आर्थर ग्रीफिथ थे। सिनफीनर लोग कहते थे, कि ब्रिटेन से स्वराज्य की आशा करना निरर्थक है। स्वराज्य मांगने से नहीं मिला करता। स्वराज्य तो अपने प्रयत्न से प्राप्त किया जा सकता है। यदि आयरिश लोग ब्रिटिश शासन से 'असहयोग' शुरू करदें, तो आयर्लैण्ड में ब्रिटिश लोगों के लिये शासन कर सकना असम्भव हो जायगा। इसी उद्देश्य से सिन फीन लोगों ने असहयोग नीति का अवलम्बन किया। ब्रिटिश न्यायालयों का बहिष्कार किया गया। आयरिश लोग सरकारी पदों से त्यागपत्र दे दें और उनका स्थान कोई अन्य व्यक्ति न ले सके, इसके लिये प्रयत्न प्रारम्भ किया गया। टैक्स अदा न करने के लिये भी आन्दोलन शुरू हुआ। यह भी कोशिश की गई, कि आयरिश लोग अपनी समानान्तर सरकार (पेरेलल गवर्नमैन्ट) स्थापित कर लें। इसी प्रकार ब्रिटिश पार्लियामैन्ट के बहिष्कार का भी निश्चय हुआ। सिन फीन लोग चाहते थे, कि पार्लियामैन्ट के लिये जो सदस्य आयर्लैण्ड से निर्वाचित हों, वे ब्रिटिश पार्लियामैन्ट का बहिष्कार करें और अपनी पृथक् व्यवस्थापिका सभा बना लें।

पर सारे आयरिश देशभक्त सिनफीनर नहीं थे। ऐसे महानुभाव भी इस समय आयर्लैण्ड में विद्यमान थे, जो वैध आन्दोलन में पूर्ण विश्वास रखते थे। इनके नेता श्रीयुत जान रेडमान्ड थे। रेडमान्ड का विचार था, कि जब तक इङ्गलिश लोगों को यह विश्वास न करा दिया जावे कि आयर्लैण्ड को होमरूल व स्वराज्य की आवश्यकता है, तब तक अन्य किन्हीं उपायों से इसे प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं है। रेडमान्ड का यह भी विचार था कि आयर्लैण्ड के लिये ब्रिटिश साम्राज्य

में रहना लाभदायक है। वे औपनिवेशिक स्वराज्य के पक्षपाती थे और आयर्लैंण्ड को भी कनाडा और आस्ट्रेलिया के समान ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन स्वराज्य प्राप्त एक पृथक् उपनिवेश के रूप में देखना चाहते थे।

इधर श्रीयुत रेडमान्ड इङ्गलैण्ड के लोकमत को अपने पक्ष में करने के लिये कोशिश कर रहे थे, उधर सिन फीन आन्दोलन बहुत उग्ररूप धारण करता जा रहा था। ब्रिटिश सरकार उसे कुचलने के लिये कटिबद्ध थी। सन् १६०६ में ब्रिटिश पार्लियामैन्ट में उदार दल फिर प्रबल हो गया। पर इस बार उन्होंने आयरिश होमरूल के प्रश्न को उठाने का साहस नहीं किया। वे जानते थे कि लोकमत उनके साथ नहीं है, और इस में उन्हें सफलता नहीं हो सकेगी। पर अनुदार दल निरन्तर जोर पकड़ता जारहा था और सन् १६१० में ऐसी स्थिति आगई कि आयरिश नेशनलिस्ट दल की सहायता के बिना उदार दल के लिये अपना बहुमत कायम रख सकना सम्भव नहीं रहा। इसलिये उदार दल के नेता श्रीयुत आस्किथ ने आयरिश नैशनलिस्ट दल के नेता श्रीयुत रेडमान्ड के साथ यह सन्धि की, कि आयरिश लोग पार्लियामैन्ट में उदार दल का साथ दें और उदार दल आयरिश होम-रूल के लिये फिर प्रयत्न प्रारम्भ करे। इसी के अनुसार सन् १६१२ में उदार दल की ओर से तीसरी बार आयरिश होमरूल बिल पार्लिया-मैन्ट के सम्मुख पेश किया गया। इस बिल में निम्नलिखित बातें पेश की गई थीं—(१) आयर्लैन्ड में पृथक् पार्लियामैन्ट की स्थापना की जावे, जिसमें दो सभायें हों। (२) आयर्लैंण्ड के ४२ प्रतिनिधि हाउस आफ कामन्स में रहें। (३) सैनिक, परराष्ट्र सम्बन्धी और व्यापार विषयक मामलों में ब्रिटेन का अधिकार कायम रहे। उदार दल, आयरिश नैशनलिस्ट दल और मजदूर दल के मिल जाने से यह बिल हाउस आफ कामन्स में पास हो गया। पर हाउस आफ लार्डस ने इसे

फा० ४३

फ़ेल कर दिया। पर हाउस आफ़ लार्ड्स की शक्ति इस समय तक नष्ट की जा चुकी थी। सन् १६११ के पार्लियामैन्ट एक्ट के अनुसार, जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं, यदि कोई प्रस्ताव हाउस आफ़ कामन्स के एक के बाद एक हुए तीन अधिवेशनों में स्वीकृत हो जावे, तो उसके लिये हाउस आफ़ लार्ड्स की स्वीकृति की आवश्यकता न रहती थी। उदार दल का खयाल था कि यह बिल भी हाउस आफ़ कामन्स में इसी ढंग से तीन बार स्वीकृत करा दिया जावेगा और इस प्रकार आयरिश होमरूल की समस्या का सदा के लिये हल हो जायगा।

पर आयर्लैंएड के भाग्य अच्छे नहीं थे। अल्स्टर में इस समय एक नवीन आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ। सर एडवर्ड कार्सन के नेतृत्व में 'अल्स्टर स्वयं सेवकों' का संगठन शुरू हुआ। यह संगठन सैनिक ढंग पर किया जा रहा था और इसका उद्देश्य यह था, कि यदि आयर्लैंएड में स्वराज्य स्थापित हो, तो उसका विरोध सैनिक शक्ति द्वारा किया जावे। इतना ही नहीं, इस प्रश्न पर ब्रिटिश सेना खुल्लम-खुल्ला विद्रोह के लिये तैयार हो रही थी। आयर्लैंएड में विद्यमान ब्रिटिश सेनाओं के अफ़सरों ने स्पष्ट रूप से उद्घोषित कर दिया था कि यदि अल्स्टर ने होमरुल के प्रश्न पर विद्रोह किया, तो इस विद्रोह को शान्त करने के लिये अपनी सेनाओं का प्रयोग करने से हम इन्कार करेंगे। जुलाई सन् १६१४ में आयरिश समस्या ने विकट रूप धारण कर लिया था। एक तरफ़ आयरिश लोग स्वराज्य के लिये मर मिटने को तैयार थे। सिन फीन आन्दोलन प्रचण्ड रूप से जारी था। आयरिश लोग भी अल्स्टर के स्वयं सेवकों का मुक़ाबला करने के लिये अपनी स्वयं सेवक सेनाओं का संगठन कर रहे थे। दूसरी तरफ़ अल्स्टर न केवल विद्रोह अपितु लड़ाई के लिये तैयार था। ब्रिटिश सैनिक अफ़सरों की उद्घोषणा ने स्थिति को बहुत ही गम्भीर बना दिया था। गृहकलह (सिविल वार) के सारे लक्षण प्रगट हो रहे थे। होमरूल बिल के,

अन्तिम रूप से पास होते ही दोनों तरफ से लड़ाई प्रारम्भ हो जायगी, इसमें जरा भी सन्देह नहीं था।

इसी बीच में यूरोपीय महायुद्ध (१६१४-१६१८) प्रारम्भ हो गया। इस महायुद्ध के कारण स्थित बिलकुल बदल गई। यूरोपीय महायुद्ध जैसे संकट के समय में इङ्गलिश राजनीतिज्ञ आयरिश होमरूल जैसे छोटे से प्रश्न पर आपस में लड़ना नहीं चाहते थे। परिणाम यह हुआ कि इस प्रश्न को युद्ध की समाप्ति तक स्थगित कर दिया गया और आयरिश लोगों की सब आशायें धूल में मिल गईं। यद्यपि आयरिश नैशनलिस्ट दल के नेता श्रीयुत रेडमान्ड पार्लियामैन्ट के इस निर्णय से संतुष्ट थे, पर सिनफीनर लोग इसे कैसे स्वीकृत कर सकते थे? उनकी दृष्टि में तो यह स्वराज्य प्राप्त करने का सुवर्णीय अवसर था। 'इङ्गलैंड की मुसीबत हमारे लिये उत्तम अवसर है' यह सिद्धान्त सिनफीनर लोग भूले न थे। वे इस मौके का उपयोग करने के लिये तैयार हो गये।

आयरिश लोग समझते थे कि महायुद्ध में जर्मनी से सहायता प्राप्त कर हम अपने को स्वाधीन कर सकते हैं। इसी उद्देश्य से अनेक सिनफीनर लोग जर्मनी गये और वहाँ से हथियार प्राप्त कर ब्रिटेन के विरुद्ध बाकायदा लड़ाई जारी करने के लिये तैयारी करने लगे। बहुत से आयरिश इस प्रयत्न में सफल भी हुए। बहुत बड़े परिमाण में हथियार आयलैंड पहुँचाये गए और आयरिश लोगों ने ब्रिटेन के साथ खुल्लम खुल्ला लड़ाई शुरू कर दी। ब्रिटिश सरकार इस समय आयलैंड में बड़ी सख्ती से काम ले रही थी। बहुत से देश भक्त गिरफ्तार करके गोली से उड़ाये जा रहे थे। हजारों को कैदखानों में बन्द किया जा रहा था। इङ्गलैंड और आयलैंड का यह संघर्ष महायुद्ध के अन्त तक कायम रहा। १६१८ के पार्लियामैन्ट के निर्वाचन में सिनफीन लोगों ने भी हिस्सा लिया। निर्वाचन में उन्हें भारी सफलता हुई। पार्लियामैन्ट के लिये सिनफीन दल के ७६ सदस्य निर्वाचित हुए। पर ब्रिटिश पार्लियामैन्ट

में जाकर वहाँ स्वराज्य के लिये आन्दोलन करने के स्थान पर इन लोगों ने एक बहुत ही क्रान्तिकारी कार्य किया। सिनफीन दल के ये सदस्य डब्लिन में एकत्रित हुए और उन्होंने अपने को राष्ट्रीय महासभा (डेल एरायन) के रूप में उद्घोषित कर दिया। डी वेलेरा को राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया और आयर्लैंड में स्वतन्त्र रिपब्लिक स्थापित करने की उद्घोषणा कर दी गई।

ब्रिटिश सरकार इस बात को कब सहन कर सकती थी। उसने स्वतन्त्र आयरिश रिपब्लिक को नष्ट करने के लिये सैनिक शक्ति का उपयोग प्रारम्भ किया। पर आयरिश लोग इसके लिये भी तैयार थे। उन्होंने स्वयं सेवक दल को 'आयरिश रिपब्लिकन सेना' के रूप में परिवर्तित कर दिया था। आयरिश रिपब्लिकन सेना के लिये सम्मुख युद्ध में ब्रिटिश सेनाओं को परास्त कर सकना सम्भव नहीं था, पर 'गुरीला युद्ध नीति' का प्रयोग कर वह ब्रिटिश शासन को असम्भव अवश्य बना सकती थी। आयरिश लोगों ने इसी नीति का प्रयोग किया। रिपब्लिकन सेना के सिपाही ब्रिटिश अफसरों और सेनाओं पर छापे मारने लगे। दोनों ओर से बाकायदा लड़ाई शुरू होगई। इस समय आयर्लैंड में दो सरकारें थीं—ब्रिटिश और सिनफीन। ब्रिटिश सरकार के लिये अपना कार्य कर सकना असम्भव होगया था और सिनफीन सरकार को कुचलने के लिथे ब्रिटेन अपनी पूरी शक्ति का उपयोग कर रहा था।

यह स्थिति देर तक कायम नहीं रह सकती थीं। इसका अन्त करने के लिये ब्रिटिश पार्लियामैन्ट में सन् १९२० में चौथी बार होमरूल बिल पेश किया गया। इसके अनुसार आयलैंएड में दो पार्लियामैन्टों को स्थापित करने की योजना की गई थी। एक अल्स्टर के लिये और दूसरी शेष आयलैंएड के लिये। इस बार यह होमरूल बिल सुगमता से ब्रिटिश पार्लियामैन्ट की दोनों सभाओं में पास हो गया। कारण यह कि ब्रिटिश

लोग भलीभाँति अनुभव करने लगे थे कि आयरिश लोगों को संतुष्ट किये बिना अब काम न चलेगा।

पर इस बार आयर्लैंएड इस होमरूल को स्वीकृत करने के लिये तैयार नहीं हुआ। आयरिश लोग पूर्ण स्वाधीनता चाहते थे, वे इस अधूरे स्वराज्य से संतुष्ट नहीं थे। परिणाम यह हुआ कि आयर्लैंएड और इङ्गलैंएड के संघर्ष ने और भी उग्र रूप धारण किया। सर्व साधारण आयरिश जनता ब्रिटेन के विरुद्ध थी। वह ब्रिटिश सरकार का खुले रूप में वहिष्कार कर रही थी। ब्रिटिश न्यायालय खाली पड़े थे। स्वतंत्र आयरिश रिपब्लिक के न्यायालय न्याय का सब कार्य कर रहे थे। ब्रिटिश सरकार की नौकरी में जो आयरिश लोग थे, उन्हें त्यागपत्र देने के लिये मजबूर किया जा रहा था। आयरिश रिपब्लिकन सेना अपना कार्य बड़ी तत्परता के साथ कर रही थी।

इस स्थिति का अन्त करने के लिये आखिर, ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्रीयुत लायड ज्यार्ज ने १६२१ में एक सम्मेलन का आयोजन किया। इसमें ब्रिटिश सरकार और सिनफीन के प्रतिनिधि आयरिश समस्या पर विचार करने के लिये एक साथ एकत्रित हुये। सिनफीन प्रतिनिधियों के मुख्य नेता श्रीयुत आर्थर ग्रीफ़िथ थे। बहुत सी बहस के बाद दोनों पक्षों में सन्धि होगई और आयरिश स्वतन्त्र राज्य (आयरिश फ्री स्टेट) का प्रदुर्भाव किया गया। आयरिश स्वतन्त्र राज्य को ब्रिटिश साम्राज्य में वही स्थिति प्रात हुई, जो कनाडा और आस्ट्रेलिया को प्राप्त थी। आयर्लैंएड में भी औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थापना की गई। अल्स्टर को इस बात की स्वतंत्रता दी गई, कि अगर वह चाहे तो इस आयरिश स्वतन्त्र राज्य में शामिल हो जावे और चाहे तो इससे अलग रहे। अल्स्टर ने अलग रहना पसन्द किया और उसमें १६२० के आयरिश होमरूल बिल के अनुसार पृथक् पार्लियामैन्ट की स्थापना हुई।

सन १६२१ के सम्मेलन में जो सन्धि ब्रिटिश सरकार और सिन-

फीन के बीच में हुई, उसे अन्तिम स्वीकृति के लिये ब्रिटिश पार्लियामेन्ट और डेल अरायन में उपस्थित किया गया। दोनों स्थानों पर वह बहुमत से पास हो गई। सन १९२२ में आयरिश स्वतन्त्र राज्य की बाकायदा स्थापना की गई और माइकेल कालिन्स उसके प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित हुए।

आयर्लेण्ड में औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थापना हो गई, पर सब लोग उससे संतुष्ट नहीं हो सके। डी वेलेरा के नेतृत्व में सिनफीन दल का एक बड़ा भाग सन १९२१ की सन्धि को मानने के लिये तैयार न था। वह समझता था कि ग्रिफिथ और कोलिन्स ने देश के साथ दगा किया है, और उन्होंने राष्ट्रीय स्वाधीनता के आदर्शों का परित्याग कर शत्रु के साथ सन्धि करली है। डी वेलेरा और उसके अनुयायी पूर्ण स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे। औपनिवेशिक स्वराज्य उन्हें पसन्द नहीं था। उन्होंने अपना संघर्ष जारी रखा। कौलिन्स की सरकार को वे स्वीकार करने के लिये तैयार न थे। अपने पुराने साथियों के साथ उनकी उसी ढंग से लड़ाई शुरू हुई, जैसे पहले विदेशी ब्रिटिश सरकार के साथ थी। आयरिश स्वतंत्र राज्य की सरकार ने डी वेलेरा और उसके अनुयायियों की शक्ति को नष्ट करने का पूर्ण प्रयत्न किया।

परन्तु आयर्लैण्ड की अधिकांश जनता सन् १९२१ की सन्धि से संतुष्ट थी। धीरे धीरे डी वेलेरा को भी यह विश्वास होगया कि 'स्वतंत्र-राज्य' से युद्ध जारी रखना निरर्थक है। उन्होंने वैध उपायों से अपने आदर्शों को पूर्ण करने का प्रयत्न करना प्रारम्भ किया। डेल एरायन में निर्वाचित होकर उन्होंने अपने दल की शक्ति को बढ़ाना शुरू किया और बाद में वे आयरिश स्वतंत्र राज्य के राष्ट्रपति बन गये।

सैंतीसवाँ अध्याय

यूरोप का विस्तार

(१) यूरोप और एशिया

एशिया का इतिहास बहुत पुराना है। संसार के प्राचीन इतिहास में सभ्यता का श्रीगणेश इसी भूखण्ड में हुआ था। इतिहास के किसी अज्ञात प्राचीन काल में एशिया से ही अनेक जातियों ने जाकर यूरोप में सभ्यता का विकास किया था। बाद में भी एशिया और यूरोप का परस्पर सम्बन्ध कायम रहा। यूरोप अपनी सभ्यता के लिये अनेक अंशों में एशिया का ऋणी है। भारत, अरब और चीन के संसर्ग से समय समय पर बहुत सी बातें यूरोप ने एशिया से सीखीं। राजनीतिक दृष्टि से भी इन दो महाद्वीपों का सम्बन्ध बहुत पुराना है। यद्यपि आज एशिया के अधिकांश देश यूरोपियन लोगों के राजनीतिक प्रभाव में हैं, पर पहले यह बात नहीं थी। जब हम प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास पर दृष्टि डालते हैं, तो हमें ज्ञात होता है कि ईसा से कई सदी पहले से एशिया के लोग यूरोप पर आक्रमण कर उस पर अपना राजनीतिक प्रभाव स्थापित करने में समर्थ रहे हैं। पर्शियन, हूण, मगयार, तार्तार, अरब और तुर्क आक्रान्ताओं ने समय समय पर यूरोप के ऊपर आक्रमण कर वहाँ अपना प्रभुत्व स्थापित किया है।

परन्तु सत्रहवीं सदी से इस स्थिति में परिवर्तन आना शुरू हुआ।

धीरे धीरे यूरोपियन जातियों ने व्यापार के लिये एशिया में प्रवेश करना प्रारम्भ किया। यूरोप उस समय में उन्नति के पथ पर आरूढ़ था। वहाँ विद्या की पुनः जागृति हो चुकी थी। मानसिक और बौद्धिक स्वतंत्रता की भावना लोगों में उत्पन्न हो गई थी। जनता ने अपनी बुद्धि से काम लेना प्रारम्भ कर दिया था। नये नये आविष्कार हो रहे थे। व्यापारिक क्रान्ति ने लोगों के सम्मुख नये क्षेत्र, नई आकांक्षायें और नये मार्ग खोल दिये थे। कृषि तथा व्यवसाय के क्षेत्र में जो क्रान्ति हो रही थी, वह यूरोपियन लोगों के जीवन और स्थिति में बड़ा भारी परिवर्तन ला रही थी। यूरोपियन लोगों में एक नवजीवन का संचार हो रहा था। उधर दूसरी तरफ एशिया की हालत उस समय अच्छी नहीं थी। एशिया के प्रायः सभी देशों में राजनीतिक शक्ति शिथिल हो गई थी, जनता में राष्ट्रीय जीवन का अभाव था। जिन परिस्थितियों और कारणों से यूरोप में नवीन जीवन का प्रादुर्भाव हो रहा था, वे एशिया में अभी प्रारम्भ नहीं हुए थे। परिणाम यह हुआ, कि यूरोपियन लोग एशिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में सफल हो गये।

यह ध्यान में रखना चाहिये कि एशिया के लोग अफ्रीका व अमेरिका के मूलनिवासियों के समान असभ्य व अर्धसभ्य नहीं थे। एशिया की जनता सभ्यता की दृष्टि से बहुत उन्नत थी। यदि धर्म, साहित्य, कला, विचार आदि की दृष्टि से देखा जाय तो एशिया के देश यूरोप से किसी भी अंश में पीछे न थे। यही कारण है, कि यूरोपियन लोग एशिया में उस ढंग से अपना साम्राज्य विस्तार न कर सके, जिस तरह उन्होंने अमेरिका व अफ्रीका में किया। उन महाद्वीपों में उन्होंने वहाँ के मूलनिवासियों को प्राय. नष्ट कर देने का प्रयत्न किया। अमेरिका में आज करोड़ों श्वेतांग लोग बसते हैं, जो यूरोपियन जातियों के वंशज हैं। वहाँ के मूलनिवासी या तो नष्ट कर दिये गये हैं, और या पूर्ण रूप से यूरोपियन सभ्यता में दीक्षित कर लिये गये

हैं। यही प्रक्रिया अफ्रीका में हो रही है। पर एशिया में श्वेतांग लोगों की कुल आबादी दस लाख से अधिक नहीं है, जब कि एशियाई लोगों की संख्या एक अरब के लगभग है। यूरोपियन लोगों के लिये यह असम्भव है, कि इन्हें नष्ट व पूर्णतया अपनी सभ्यता में दीक्षित कर सकें। धीरे धीरे एशियाई लोग उन सब विद्याओं व विज्ञानों को सीखते जाते हैं, जिनके कारण यूरोपियन लोग उन्हें अपनी अधीनता में लाने में समर्थ हुए थे। अब वह समय दूर नहीं हैं, जब एशिया से यूरोप का आधिपत्य नष्ट हो जायगा और एशियाई लोग फिर अपनी सभ्यता का स्वतंत्र रूप से विकास करने में समर्थ होंगे।

हम इस अध्याय में इस बात पर प्रकाश डालेंगे, कि विविध एशियाई देशों में यूरोपियन जातियों का प्रभुत्व किस प्रकार स्थापित हुआ।

(२) यूरोपियन जातियों का चीन में प्रवेश

चीन और यूरोप में पारस्परिक सम्बन्ध बहुत प्राचीन काल से था। रोमन साम्राज्य के बाजारों में चीन का माल बिका करता था। प्रसिद्ध रोमन सम्राट् मार्कस ओरिलियस ने एक दूत मंडल चीन के सम्राट् की सेवा में भेजा था। मध्यकाल में अनेक ईसाई पादरियों ने चीन में ईसाईमत का प्रचार करने का प्रयत्न किया। तेरहवीं सदी में वेनिस का प्रसिद्ध यात्री मार्कोपोलो चीन के सम्राट् कुबलाखान के राजदरबार में आया था। उस समय इस प्रसिद्ध चीनी सम्राट् के दरबार में अन्य भी बहुत से विदेशी दूत, व्यापारी और पर्यटक विद्यमान थे। चीन के लोग विदेशियों से घृणा नहीं करते थे। वे उनका उत्साहपूर्वक स्वागत करते थे और उनसे लाभ उठाते थे।

पन्द्रहवीं सदी के अन्त में अफ्रीका का चक्कर काट कर पोर्तुगीज लोगों ने पूर्वी देशों में पहुचने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। यह प्रयत्न

किन परिस्थितियों में और किन कारणों से शुरू हुआ था, इसका वर्णन हम पहले कर चुके हैं। सबसे पूर्व सन् १५१६ में पोर्तुगीज व्यापारी चीन के बन्दरगाहों में आये। उस समय चीन में मिङ्गवंश के सम्राटों का शासन था। ये सम्राट् विदेशियों को सन्देह की दृष्टि से न देखकर उनका स्वागत करते थे। मिङ्गवंशी सम्राटों से प्रोत्साहन पाकर पोर्तुगीज व्यापारी अधिक-अधिक संख्या में चीन आने जाने लगे। ये लोग यूरोपियन वस्तुओं को चीन की मण्डियों में बेचकर वहाँ से चाय और रेशम खरीदते थे। चीन की चाय और रेशम आजकल की तरह उस समय भी बहुत प्रसिद्ध थे। सन् १५३७ में पोर्तुगीज लोगों ने कैन्टन के समीप मकाओ नामक स्थान पर थोड़ी सी जमीन पट्टे पर ले ली और वहाँ अपनी व्यापारिक कोठी का निर्माण किया। इसके बाद अन्य यूरोपियन जातियों ने भी चीन में प्रवेश शुरू किया। पोर्तुगीजों के बाद डच और इङ्गलिश व्यापारी वहाँ पर गये और व्यापार करने लगे। चीनी लोग न केवल इनका विरोध नहीं करते थे, अपितु इनके सम्पर्क से लाभ उठाने का पूरा प्रयत्न करते थे। बहुत से यूरोपियन पादरी भी इस समय चीन में ईसाई मत का प्रचार कर रहे थे। लाखों चीनी ईसाई धर्म में दीक्षित भी होते जारहे थे। चीन में धार्मिक सहिष्णुता बहुत पहले से विद्यमान थी। वहाँ के लोग विधर्मी ईसाई पादरियों को भी घृणा की दृष्टि से नहीं देखते थे।

सन् १५१६ से १७२४ तक यही दशा रही। इस बीच में चीन की राजनीतिक दशा में बहुत परिवर्तन होगया था। सत्रहवीं सदी में माञ्चू नामक एक तातार जाति ने उत्तर की तरफ से आक्रमण कर मिङ्गवंश के शासन को नष्ट कर अपना राज्य स्थापित कर लिया था, पर यूरोपियन लोगों के प्रति पहली नीति ही अभी जारी रही थी। पर धीरे-धीरे यूरोपियन लोग अपनी स्थिति का दुरुपयोग करने लगे।

उन्होंने चीन के राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया। ईसाई पादरी भी अपना कार्य करते हुए विशुद्ध धार्मिक दृष्टि को अपने सम्मुख नहीं रखते थे। वे धार्मिक क्षेत्र का उल्लंघन कर राजनीतिक मामलों में टांग अड़ाने में संकोच नहीं करते थे। परिणाम यह हुआ कि चीनी सरकार ने यूरोपियन लोगों के लिये अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये। यूरोपियन लोगों के लिये केवल कैन्टन का बन्दरगाह खुला रहने दिया गया। अन्य सब बन्दरगाह उनके लिये बन्द होगये। वे केवल कैन्टन में व्यापार के लिये आ सकते थे। उनके लिये चीन के आन्तरिक प्रदेशों में प्रवेश पा सकना भी सम्भव नहीं था। इस प्रकार सन् १७२४ के बाद यूरोप और चीन का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत ही थोड़ा रह गया था।

पर यूरोपियन जातियां इस अवस्था को नहीं सह सकती थीं। यद्यपि चीन के मामलों में हस्तक्षेप करने का उन्हें कोई भी अधिकार नहीं था, पर वे अपनी शक्ति का प्रयोग कर जबरदस्ती उसके साथ व्यापार करने और उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये प्रयत्न करने लगे। इङ्गलैण्ड इसमें सबका अगुआ बना। ब्रिटिश लोग चीन में अफीम का व्यापार किया करते थे। उस समय तक भारतवर्ष ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ में आ चुका था। भारत में अफीम बहुत बड़े परिमाण में उत्पन्न कराई जाती थी, और उसे चीन के एकमात्र खुले हुए बन्दरगाह कैन्टन में ले जाकर बेचा जाता था। ब्रिटिश लोगों की कोशिश से चीनी लोगों को अफीम खाने की आदत पड़ गई थी और चीन में अफीम की बहुत खपत थी। अफीम के व्यापार से ईस्ट इण्डिया कम्पनी को १½ करोड़ रूपये की वार्षिक आमदनी होती थी। धीरे-धीरे चीनी सरकार ने अनुभव किया, कि अफीम बहुत हानिकारक वस्तु है और इसका प्रचार अपने देश में रोकना चाहिये। इसलिये उन्होंने चीन में अफीम का प्रवेश कानून द्वारा बन्द कर दिया। पर ब्रिटिश व्यापारी

धोखे से अफीम को चीन में पहुचाते रहते थे। सन् १८३६ में चीनी सरकार ने ब्रिटिश व्यापारियों की गतिविधि की देखरेख करने के लिये एक खास कमिश्नर की नियुक्ति की। उसने ब्रिटिश व्यापारियों को हुकम दिया, कि वे अपनी सारी अफीम सरकार के सुपुर्द कर दें। पर ब्रिटिश व्यापारी इसके लिये तैयार नही हुए। आखिर चीनी सरकार की पुलीस ने कैन्टन के इन ब्रिटिश व्यापारियों को गिरफ़तार करने का प्रयत्न किया। इङ्गलैण्ड इस बात को कब सह सकता था। उसके लिये यह राष्ट्रीय सम्मान का प्रश्न था। असली बात तो यह है, कि इङ्गलैण्ड चोन से युद्ध करने के लिये किसी बहाने की प्रतीक्षा कर रहा था। अब उसे उपयुक्त बहाना मिल गया। १८४० में इङ्गलैण्ड ने चीन के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करदी। यह युद्ध इतिहास में 'अफीम युद्ध' के नाम से प्रसिद्ध है। यह १८४२ तक जारी रहा। अन्त में चीन को सन्धि करने के लिये विवश होना पड़ा। सन् १८४२ में नानकिङ्ग की सन्धि द्वारा इस अफीम युद्ध का अन्त हुआ। नानकिङ्ग की सन्धि के अनुसार, (१) कैन्टन के सिवाय चार अन्य बन्दरगाह जिनके नाम अमोय, निंगयो, फूचो और शङ्घाई हैं, विदेशी व्यापार के लिये खोल दिये गये, (२) हांगकांग इङ्गलैण्ड को प्राप्त हुआ और (३) चीन को ६$\frac{१}{२}$ करोड़ के लगभग रुपया हरजाने के तौर पर इङ्गलैण्ड को देना पड़ा।

ननिकिङ्ग की इस सन्धि से चीन में विदेशी लोग अधिकाधिक संख्या में आने लगे। इङ्गलिश लोगों के अनुकरण में अमेरिकन, फ्रेञ्च, डच, बेल्जियन और जर्मन लोग भी चीन में आने शुरू हुए। इन्होंने भी पृथक् पृथक् चीनी सरकार से सन्धियाँ कीं और धर्म प्रचार तथा व्यापार के निमित्त चीन में प्रवेश प्रारम्भ किया। यूरोपियन लोग अपने प्रभुत्व को स्थापित करने के लिये धर्मप्रचार को खूब साधन बनाते हैं। चीन में भी इन विविध पाश्चात्य देशों के पादरी ऊपर से धर्म-

प्रचार कर रहे थे, पर वस्तुतः वे अपने देशों के प्रभुत्व के लिये मार्ग साफ करने में लगे थे। सन् १८५८ में एक फ्रेञ्च पादरी चीन में मारा गया। फ्रांस ने समझा कि चीन पर आक्रमण करने का यह अच्छा बहाना है। उसने इङ्गलैण्ड की सहायता से चीन के विरुद्ध युद्ध उद्घोषित कर दिया। इस युद्ध का अन्त टीन्स्टिन की सन्धि के द्वारा हुआ। टीन्स्टिन की सन्धि के अनुसार, (१) छः अन्य बन्दरगाह विदेशियों के लिये खोले गये। (२) चीनी सरकार ने ईसाई पादरियों की रक्षा के लिये उत्तरदायिता स्वीकृत की। (३) याङ्गट्से कियाङ्ग नदी में व्यापार करने का अधिकार विदेशियों को दिया गया और (४) हरजाने के तौर पर एक बड़ी रकम फ्रांस और ब्रिटेन को दी गई।

अब चीन विदेशियों के लिये पूर्णतया खुल गया था। वे स्वच्छन्दता पूर्वक उसके साथ व्यापार कर सकते थे। पर यदि विदेशी यूरोपियन लोग केवल व्यापार तक ही सीमित रहते, तो कोई हानि की बात न थी। पर वे चीन की निर्बलता से लाभ उठाकर अपनी शक्ति का उपयोग कर रहे थे और इस प्रकार के अधिकार प्राप्त करते जाते थे, जिन्हें किसी भी प्रकार न्याय्य तथा उचित नहीं समझा जा सकता। ये अधिकार निम्नलिखित थे—

(१) जिन बन्दगाहों में पाश्चात्य लोगों को व्यापार का अधिकार मिला था, वहाँ वे अपनी बस्तियाँ भी बसाते जाते थे। इन बस्तियों में चीनी सरकार का कोई अधिकार न रहता था। ये पूर्णतया यूरोपियन लोगों के हाथ में होती थीं। इनके अपने न्यायालय, अपनी पुलीस और अपनी सरकार होती थी। ये एक प्रकार से चीन में विदेशियों के उपनिवेश होते थे, जिन पर चीनी सरकार का किसी भी प्रकार का हक नहीं होता था। चीन के राजनीतिक अपराधी इनमें उसी तरह आश्रय पा सकते थे, जैसे इङ्गलैण्ड व फ्रांस में। विदेशी लोग न केवल इन बस्तियों में ही चीनी सरकार की अधीनता स्वीकृत नहीं करते थे;

अपितु वे चीन में जहाँ कहीं भी हो, अपने को चीनी सरकार के कानूनों से मुक्त मानते थे। उन्हें चीनी सरकार की जरा भी परवाह न होती थी।

(२) बन्दरगाहों की 'बस्तियों' में विदेशी सेनायें स्वच्छन्द रूप से रहती थीं। विदेशी जंगी जहाज बन्दरगाहों पर अड्डा डाले रहते थे और चीनी समुद्र तट पर स्वच्छन्द रूप से घूमते रहते थे। चीनी सरकार विदेशियों की इस जबर्दस्ती के सम्मुख असहाय थी।

(३) चीन को तटकर के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता नहीं थी। सन्धियों द्वारा पाश्चात्य लोगों ने चीन को मजबूर किया हुआ था, कि विदेशी माल पर पाँच फी सदी से अधिक आयात कर न लगा सके। इस आयात कर को बढ़ा सकना सन्धियों में परिवर्तन किये बिना चीनी सरकार के लिये असम्भव था। आयात कर के अभाव से चीन को दो भारी नुकसान हो रहे थे। एक तो उसकी व्यावसायिक उन्नति सर्वथा रुकी हुई थी। यूरोपियन मुकाबले से अपने देश के व्यवसायों की रक्षा संरक्षण कर की नीति का आश्रय लेकर ही की जा सकती थी। पर संरक्षण कर लगाने के लिये चीनी सरकार स्वतन्त्र नहीं थी। दूसरी हानि यह थी, कि आयात कर न होने से सरकारी आमदनी बहुत कम रहती थी। आयात कर राष्ट्रीय आय का बड़ा महत्त्वपूर्ण आधार होता है। इस आय से वञ्चित होकर चीनी सरकार अपना बजट पूरा करने के लिये कर्ज लेने के लिये मजबूर होती थी। विदेशी लोग चीन को अपना कर्जदार बनाने के लिये विशेष रूप से उत्सुक थे। उसे बड़ी सुगमता से कर्ज मिलता जाता था। धीरे धीरे चीन अपने उत्तमर्ण देशों के काबू में आता जा रहा था।

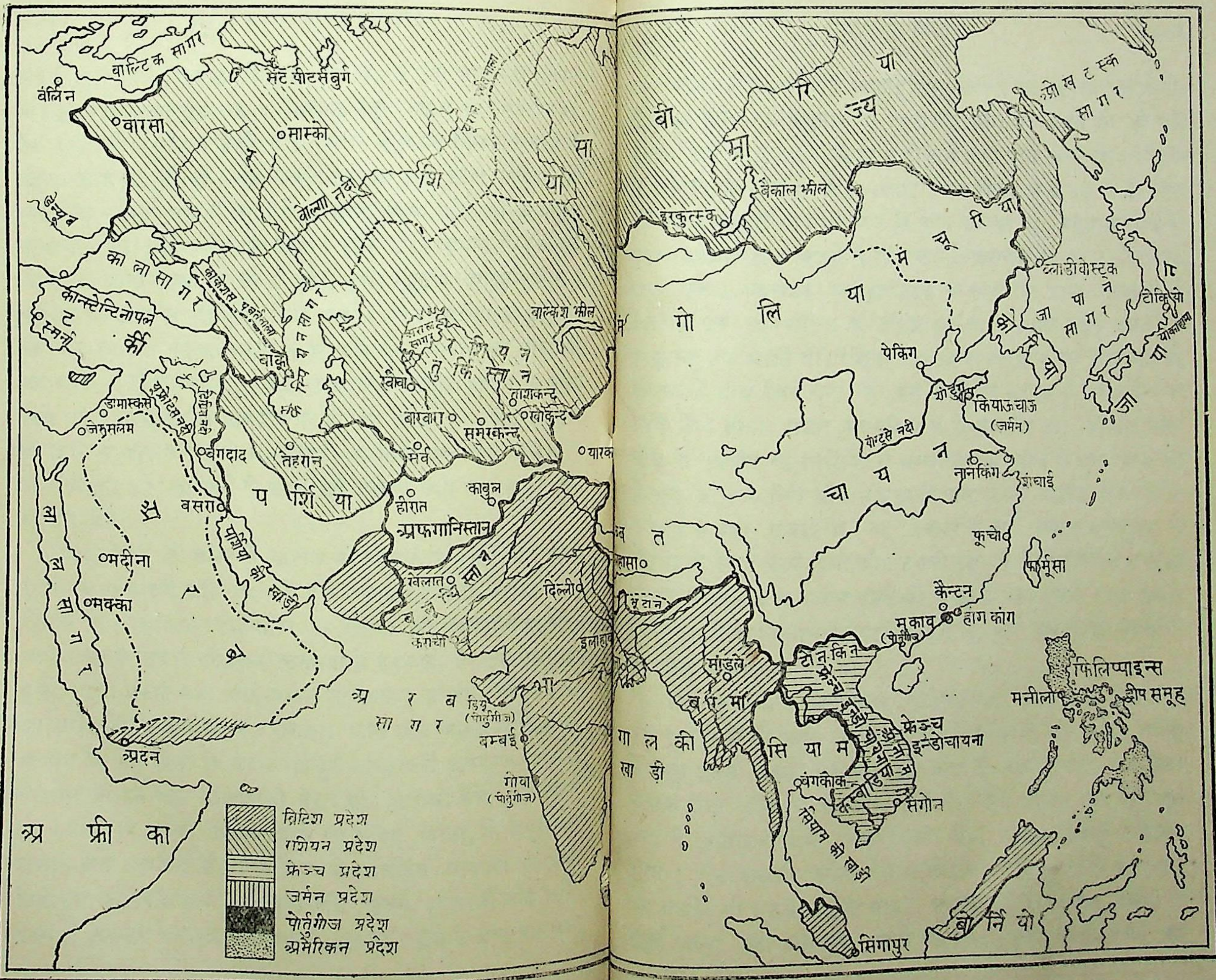
यूरोपियन देशों को चीन में व्यापार करने की खुली छुट्टी मिल गई था। बन्दरगाहों पर उनका पूरा कब्जा था। वे चीन में जहाँ चाहें, स्वच्छन्दता से आ जा सकते थे। आर्थिक दृष्टि से भी चीन को उन्होंने अपने काबू में कर रक्खा था। पर यूरोपियन लोग इतने से ही

संतुष्ट नहीं रह सकते थे। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में उन्होंने चीन के अधिक से अधिक प्रदेश पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये उद्योग प्रारम्भ किया। चीन बहुत विस्तृत तथा समृद्ध देश था। वहाँ की सरकार की हालत अच्छी नहीं थी। लोग भी शान्ति-प्रिय और भोले भाले थे। यूरोपियन लोगों को और चाहिये ही क्या था? उन्होंने समझा अच्छा शिकार है, इसे हाथ से न जाने देना चाहिये। विविध यूरोपियन देशों ने चीन के विविध प्रदेशों पर अपना कब्जा करना शुरू कर दिया। इङ्गलैंण्ड ने १८८५ में बर्मा पर अधिकार कर लिया। उससे पहले बर्मा चीन की अधीनता स्वीकृत करता था। फ्रांस अनाम, टोन्किन और कम्बोडिया के प्रदेशों में अपना जाल फैला रहा था। सन १८८३ में चीन और फ्रांस में बाकायदा लड़ाई छिड़ गई। चीन परास्त हुआ और ये सब प्रदेश फ्रांस की संरक्षकता में आगये। आगे चल कर ये ही 'फ्रेंच इण्डोचायना' के नाम से प्रसिद्ध हुए। उधर उत्तर की ओर से रशिया अपने पैर पसार रहा था। उसने अमूर नदी के प्रदेशों को हड़प कर साइबीरिया में मिला लिया।

इस समय तक जापान भी बहुत उन्नत हो चुका था। जापान की इस असाधारण उन्नति का वृत्तान्त हम आगे चलकर लिखेंगे। जिन कारणों से यूरोपियन जातियां अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिये इस प्रकार से छटपटा रही थीं, वे सब कारण जापान में भी विद्यमान थे। व्यावसायिक क्रान्ति ने जापान के स्वरूप को भी बिलकुल बदल दिया था और वह भी अपने तैयार माल की खपत के लिये सुरक्षित बाजार ढूँढ़ने की फिकर में लगा था। जापान चीन का पड़ोसी था। इसलिये उसकी दृष्टि में चीन पर आधिपत्य स्थापित करने का उसका स्वतःसिद्ध अधिकार था। चीन का जो प्रदेश जापान के सब से निकट है, उसे कोरिया कहते हैं। जापान इस कोरिया को अपने कब्जे में करना चाहता था। आखिर, इसी प्रश्न पर चीन और जापान में

लड़ाई शुरू होगई। यह लड़ाई १८९४ से १८९५ तक जारी रही। चीन के लिये जापान का मुकाबला कर सकना बहुत कठिन था। कारण यह कि जापान ने यूरोपियन देशों के अनुकरण में अपने सैनिक साधनों में बहुत उन्नति कर ली थी। चीन परास्त हो गया। न केवल कोरिया, पर मञ्चूरिया पर भी जापानी लोगों ने आक्रमण किया और वहाँ के प्रसिद्ध बन्दरगाह पोर्ट आर्थर को जीत लिया। चीन और जापान के इस युद्ध का अन्त शिमोनोसेकी की सन्धि द्वारा हुआ। इसके अनुसार (१) कोरिया को स्वाधीन उद्घोषित किया गया। इसका अभिप्राय यही था कि चीन का उस पर आधिपत्य न रहे और वह जापान की संरक्षा में आ जाय। (२) फारमूसा द्वीप और लाओटुंग प्रायद्वीप जापान के सुपुर्द किये गये। लाओटुंग के प्रायद्वीप पर ही पोर्ट आर्थर था। इस प्रायद्वीप की प्राप्ति से जापान के लिये मञ्चूरिया का मार्ग खुल गया था (३) चीन ने युद्ध की क्षतिपूर्ति के लिये ४५ करोड़ रुपये जापान को देने स्वीकृत किये।

शिमोनोसेकी की सन्धि से जापान को बहुत लाभ हुआ था। अन्य यूरोपियन राज्य इसे नहीं सह सके। विशेषतया, रशिया इसका प्रबल विरोधी था। लाओटुंग प्रायद्वीप पर रशिया की अपनी नजर थी। जापान उसके शिकार को इतनी सुगमता से हड़प ले, यह उसे सह्य नहीं हुआ। इसी प्रकार फ्रांस और जर्मनी भी जापान की इस सफलता को ईर्षाभरी दृष्टि से देख रहे थे। रशिया, फ्रांस और जर्मनी ने मिल कर जापान पर जोर दिया कि वह लाओटुंग प्रायद्वीप से अपना कब्जा हटा ले। जापान इन तीन शक्तिशाली देशों की बात को कैसे टाल सकता था। यदि वह इसका विरोध करने का साहस करता, तो ये युद्ध का आश्रय लेते। बाधित होकर जापान ने लाओटुंग प्रायद्वीप पर अपने अधिकार का परित्याग कर दिया और उसके बदले में सात करोड़ रुपये के लगभग धनराशि हरजाने के तौर पर चीन से प्राप्त कर ली।



बाल्टिक सागर
सेंट पीटर्सबुर्ग
बर्लिन
वारसा
मास्को
वोल्गा नदी
इरकुत्स्क
बैकाल झील
ब्लाडीवोस्टक
ओखटस्क सागर
काला सागर
कुस्तुन्तुनिया
स्मर्ना
टर्की
बाकू
खीवा
बुखारा
समरकन्द
ताशकन्द
खोकन्द
बाल्काश झील
पेकिंग
कियाऊचाऊ
(जर्मन)
नानकिंग
शंघाई
फूचो
फार्मूसा
कैन्टन
मकाव
हांग कांग
टोकियो
जापान सागर
डमास्कस
जेरूसलम
बगदाद
तेहरान
बसरा
पर्शिया
हीरात
काबुल
अफगानिस्तान
मदीना
मक्का
अरब
फारस की खाड़ी
कराची
दिल्ली
मांडले
बर्मा
टोनकिन
फ्रेन्च इन्डोचायना
सियाम
बंगकोक
सैगोन
सियाम की खाड़ी
अरब सागर
बम्बई
गोआ
(पोर्तुगीज)
बंगाल की खाड़ी
फिलिप्पाइन्स द्वीप समूह
मनीला
बोर्नियो
सिंगापुर
अदन
अफ्रीका
ब्रिटिश प्रदेश
रशियन प्रदेश
फ्रेन्च प्रदेश
जर्मन प्रदेश
पोर्तुगीज प्रदेश
अमेरिकन प्रदेश

यूरोप का में विस्तार

उधर रशिया चीन पर अपना जाल फैलाता जा रहा था। शिमोनोसेकी की सन्धि के अनुसार जो धनराशि चीन ने जापान को दी थी, उसका बड़ा भाग उसने रशिया से ही कर्ज द्वारा प्राप्त किया था। रशिया ने अत्यन्त उदारता से यह धनराशि बिना किसी अमानत के ही चीन को प्रदान कर दी थी। इस कर्ज से चीन रशिया पर बहुत आश्रित हो गया। रशियन लोग चाहते थे कि प्रशान्त महासागर के तट पर विद्यमान अपने प्रसिद्ध बन्दरगाह व्लाडीवोस्टक के साथ रेल द्वारा सीधा संबंध स्थापित कर लें। रशिया की प्रसिद्ध ग्रेट साइबीरियन रेलवे उस समय इरकुत्स्क तक आती थी। रशिया चाहता था कि इरकुत्स्क और ब्लाडीवोस्टक के बीच रेलवे बना कर इन दोनों को आपस में मिला दे। पर इसके लिये सीधा रास्ता मञ्चूरिया में से गुजरता था, जो उस समय चीन के अधीन था। रशिया ने मञ्चूरिया के बीच से इस रेलवे का निर्माण करने के लिये चीन से अनुमति प्राप्त करनी चाही। चीन रशिया के कर्ज से दबा हुआ था। वह इन्कार न कर सका। मञ्चूरिया में रशिया के रेलवे बनने लगी और उसकी रक्षा के लिये रशियन सेनाओं को भी मञ्चूरिया में प्रविष्ट होनी की अनुमति प्राप्त होगई। इस प्रकार मञ्चूरिया में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये रशिया को सुवर्णावसर प्राप्त होगया।

इस समय अन्य यूरोपियन जातियाँ भी शान्त नहीं बैठी थीं। सन् १८९७ में दो जर्मन पादरी शान्टूँग के प्रदेश में मारे गये। जर्मनी के लिये इससे अच्छा समाचार और क्या हो सकता था ? झट कैसर ने एक सेना चीन पर आक्रमण करने के लिये रवाना कर दी। इस सेना ने क्याऊचाऊ में प्रवेश किया और जर्मन झण्डा खड़ाकर दिया। चीनी सरकार जर्मनी जैसे शक्तिशाली राज्य का क्या मुकाबला कर सकती थी। उसे बाधित होकर क्याऊचाऊ का प्रदेश जर्मनी के सुपुर्द करना पड़ा और इस प्रकार दो ज़र्मन पादरियों की हत्या का

प्रतिशोध हुआ। क्याऊचाऊ को जर्मन लोगों ने शीघ्र ही एक उन्नत बन्दरगाह के रूप में परिवर्तित कर दिया। उसे युद्धोपयोगी सामग्री से भी भली-भाँति सुसज्जित किया गया।

रशिया के जार की इच्छा थी कि चीन की लूट में जर्मनी का विरोध करे। पर पीछे उसने सोचा कि जर्मनी का विरोध करने की अपेक्षा यह अच्छा होगा कि चीनी सरकार की कमजोरी से लाभ कर अपने लिये अन्य प्रदेश प्राप्त किये जावें। इसी के अनुसार लाओटुंग प्रायद्वीप और उसमें स्थित पोर्ट आर्थर को रशिया ने सन् १८९८ में पच्चीस वर्ष के लिये पट्टे पर ले लिया। इसी समय यह भी निश्चय किया गया कि पोर्ट आर्थर के बन्दरगाह में केवल चीनी और रशियन जहाज ही आ जा सकें। रशियन लोगों ने पोर्ट आर्थर पर दृढ़ता से अपना अधिकार स्थापित कर लिया और उसकी किलाबन्दी भी शुरू कर दी। साइबीरियन रेलवे और व्लार्डावोस्टक से पोर्ट आर्थर का सम्बन्ध स्थापित करने के लिये रशिया की ओर से वहाँ से हरबिन तक नई रेलवे का निर्माण किया गया। व्लाडीवोस्टक का समुद्र तट सर्दियों में कुछ समय के लिये जम जाता था। इसलिये सामुद्रिक व्यापार के लिये वह बहुत अधिक उपयोगी नहीं हो सकता था। पोर्ट आर्थर पर कब्जा हो जाने से रशिया को एक ऐसा बन्दरगाह प्राप्त हो गया, जो साल भर काम आ सकता था। जिस समय जर्मनी और रशिया खुले हाथों से चीन को लूट रहे थे, ग्रेट ब्रिटेन भी शान्त नहीं बैठा था। सन् १८९८ में उसने भी जंगी जहाजों का एक बेड़ा हांगकांग से उत्तर की तरफ आक्रमण करने के लिये भेजा और उसने वेई हेई वेई पर कब्जा कर लिया। वेई हेई वेई का प्रदेश जर्मनी और रशिया के प्रदेशों के ठीक बीच में था और राजनीतिक दृष्टि से उसका बहुत महत्त्व था। इसी समय ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने यह भी अनुभव किया, कि आगे चल कर चीन के प्रश्न पर विविध राज्यों में संघर्ष का होना अनिवार्य है, कारण

यह कि चीन के सम्बन्ध में विविध देशों के हित आपस में टकराते हैं। इसी दृष्टि से उन्होंने सन् १६०२ में जापान के साथ एक सन्धि की, जिसके अनुसार ब्रिटेन और जापान ने युद्ध की दशा में एक दूसरे की सहायता करने को प्रतिज्ञा की।

यूरोपियन और जापानी लोग चीन में व्यापार का स्वच्छन्द अधिकार प्राप्त कर और अनेक प्रदेशों को अपने कब्जे में करके भी संतुष्ट नहीं हुए। वे चाहते थे कि चीन पर पूर्णतया अपना आर्थिक आधिपत्य स्थापित कर लिया जावे। इसी उद्देश्य से उन्होंने रेलवे का निर्माण प्रारम्भ किया। सबसे पहली रेलवे इङ्गलिश लोगों ने सन् १८७६ में शङ्घाई से शुरू कर उसके १५ मील उत्तर तक बनाई थी। पर चीनी लोगों के लिये यह एक दम नई चीज थी। उन्हें इसकी पहले कल्पना तक भी नहीं थी। वे इसे सहन नहीं कर सके। उन्होंने इसे धर्म विरुद्ध समझा और जनता के विरोध के कारण सरकार ने सारी रेलवे को उखड़वा दिया और उसके इञ्जनों को नदी में फिंकवा दिया। पर पाँच वर्ष बाद ही चीनी सरकार ने अपनी गलती अनुभव की। संसार की प्रगति से पृथक् रह सकना किसी भी देश के लिये सम्भव नहीं होता। आखिर, सन् १८८१ में चीनी सरकार ने शङ्घाई के प्रदेश में ब्रिटिश लोगों को रेलवे बनाने का अधिकार प्रदान किया। इसी प्रकार धीरे धीरे अन्य देशों ने भी चीन के विविध प्रदेशों में रेल निकालने की अनुमति प्राप्त की। इन रेलों में जिस देश की पूँजी लगती थी, वह धीरे धीरे उसी के प्रभाव में आ जाता था। वहाँ वह स्वच्छन्दता से अपना व्यापार कर सकता था। रेलवे की रक्षा के लिये अपनी पुलीस और फौज रख सकता था, और अनेक अन्य तरीकों से उस प्रदेश को अपने प्रभाव में ला सकता था। धीरे धीरे सारा चीन विदेशी राज्यों के इसी प्रकार के प्रभावक्षेत्रों में विभक्त होगया।

राजनीतिक दृष्टि से चीन अब भी स्वतन्त्र था। उस पर किसी

विदेशी सरकार की हुकूमत नहीं थी। पर वस्तुतः वह साम्राज्यवाद का शिकार बनता जा रहा था और विविध साम्राज्यवादी देश उसे अपने जाल में बुरी तरह फँसाते जाते थे।

(३) चीन में नवजीवन का सञ्चार

यह असम्भव था कि समय के साथ साथ चीन में परिवर्तन न हो। चीनी लोग धीरे धीरे अनुभव कर रहे थे, कि जमाना बदल रहा है और स्वयं भी बदले बिना काम न चलेगा। जापान का उदाहरण उनके सामने था। उनका पड़ोसी वह छोटा सा देश नवीन विद्याओं और विज्ञानों को अपना कर किस प्रकार उन्नत से उन्नत यूरोपियन देश का मुकाबला करने लगा था, इस बात को वे प्रत्यक्ष आंखों से देख रहे थे। चीन में भी यह लहर प्रारम्भ हुई, कि पाश्चात्य देशों से जिन नई प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हुआ है, उन्हें स्वीकृत कर अपने देश को उन्नत किया जाय। एक सुधारवादी दल पैदा हो गया और उसने सुधारों के लिये आन्दोलन शुरू कर दिया। शिक्षा, शासन, सेना आदि सभी क्षेत्रों में सुधार प्रारम्भ हुए। हजारों विद्यार्थी विदेशों में शिक्षा ग्रहण करने के लिये भेजे जाने लगे। विदेशों से लौटे हुए इन विद्यार्थियों के कारण सुधार का आन्दोलन और भी अधिक प्रचण्ड रूप धारण करता जाता था।

जहाँ एक तरफ बहुत से सुधारवादी लोग चीन में नवजीवन का सञ्चार कर रहे थे, वहाँ साथ ही बहुत से ऐसे देशभक्त भी उत्पन्न हो रहे थे, जो अपनी मातृभूमि को विदेशियों के कब्जे से मुक्त करने के लिये प्रयत्नशील थे। इन लोगों ने एक गुप्त समिति का संगठन किया, जो 'बोक्सर' के नाम से प्रसिद्ध है। 'बोक्सर' मुट्ठी से युद्ध करने वाले को कहते हैं। बोक्सर लोगों का उद्देश्य था, कि जो विदेशी लोग अपनी मातृभूमि को टुकड़े टुकड़े कर लूट रहे है, उन्हें मार कर बाहर निकाल

दिया जावे। ये क्रान्तिकारी लोग थे, जो सब तरह के उपायों का प्रयोग कर अपने देश को पूर्णरूप से स्वाधीन कर देना चाहते थे। चीनी सरकार की इनके साथ सहानुभूति थी। चीनी सरकार की सहायता और प्रोत्साहन पाकर बोक्सर लोग निरन्तर शक्तिशाली होते जाते थे। इन्होंने चीन में काम करने वाले ईसाई पादरियों पर हमले शुरू किये, और विदेशी व्यापारियों को कतल करना प्रारम्भ किया। बोक्सर लोगों के हमलों और हत्याओं के कारण विदेशियों के लिये चीन में कार्य कर सकना असम्भव होगया। २० जून सन् १६०० के दिन बोक्सर लोगों ने जर्मन राजदूत बैरन फान कैटेलर के ऊपर भी आक्रमण किया और वह मारा गया। चीन की राजधानी पेकिङ्ग में बहुत से यूरोपियन लोग बसते थे। उन पर बाकायदा हमले किये गये। दूतमण्डल के निवासस्थानों और गिरजों को घेर कर बोक्सर लोग विदेशियों का अन्त करने के लिये कटिबद्ध हो गये।

इन समाचारों से विदेशों में बहुत सनसनी फैल गई। अगस्त १६०१ में जापान, रशिया, ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस और जर्मनी की सम्मिलित सेनाओं ने पेकिङ्ग पर आक्रमण किया। पेकिङ्ग को बुरी तरह लूटा गया। इन उन्नत और सभ्य लोगों ने चीन की राजधानी में बड़े ही अमानुषिक अत्याचार किये। चीनी राजप्रासादों और धर्म-मन्दिरों को लूटा गया। चीनी सरकार के लिये यह असम्भव था, कि इन शक्तिशाली राज्यों की सम्मिलित शक्ति का मुकाबला कर सके। उसे सन्धि के लिये वाधित होना पड़ा। इस सन्धि के अनुसार चीनी सरकार ने प्रतिज्ञा की, कि (१) बोक्सर आन्दोलन को नष्ट करने के लिये पूरा प्रयत्न किया जायगा, (२) एक अरब रुपया ३६ वार्षिक किस्तों में क्षति पूर्ति के तौर पर चीनी सरकार प्रदान करेगी। और साथ ही विदेशियों ने चीन में अनेक नये आर्थिक और व्यापारिक अधिकार प्राप्त

किये। इनके अतिरिक्त इस सन्धि द्वारा यह भी व्यवस्था की गई, कि चीन का एक राजदूत जर्मनी की राजधानी बर्लिन में जाकर-जर्मन राजदूत की हत्या के लिये क्षमा प्रार्थना करे।

बोक्सर युद्ध से चीन में सुधार की प्रक्रिया बन्द नही होगई थी। सुधारवादी लोग अपना कार्य बड़ी तेजी के साथ कर रहे थे। सन् १९०४ में रशिया और जापान का युद्ध शुरू हुआ। इस युद्ध में चीन के पड़ोसी जापानी लोग किस प्रकार रशिया जैसे शक्तिशाली और विशाल राज्य को परास्त कर रहे थे, इसे चीनी लोग आंख फाड़ फाड़ कर देख रहे थे। वे सोचते थे, क्या हम भी जापान के समान उन्नत और शक्ति-शाली नहीं बन सकते। चीनी देशभक्त इस समय चिल्ला चिल्ला कर कह रहे थे, कि चीन में भी नवयुग आना चाहिये और वर्तमान युग की प्रत्येक बात को अपनाये बिना हमारी मातृभूमि का उद्धार नहीं हो सकता। विशेषतया विदेशों से शिक्षा प्राप्त कर के वापिस आये हुए विद्यार्थी चीन को आमूल चूल परिवर्तित कर देने के लिये उतावले हो रहे थे। इस समय चीन में एक नये आन्दोलन का सूत्रपात हुआ, जिसका प्रधान नेता डा० सनयात सेन था। डा० सनयात सेन और उसके अनुयायी चीन में एक सत्तात्मक शासन का अन्त कर रिपब्लिक की स्थापना करना चाहते थे। माञ्चूवंश को चीन में शासन करते हुए पौने तीन सौ बर्ष के लगभग हो गये थे। माञ्चू सम्राटों का एकतन्त्र शासन जहाँ समय की गति के प्रतिकूल था, वहाँ उसमें बहुत विकृति भी आ गई थी। डा० सनयात सेन और उसके अनुयायी चीन में उन्हीं प्रवृत्तियों का सूत्रपात कर रहे थे, जो इटली में मैजिनी द्वारा प्रादुर्भूत हुई थीं। चीन की साम्राज्ञी स्वाभाविक रूप से इन सुधारकों के विरोध में थी। उसने इनके आन्दोलन को दबाने के लिये अपनी सम्पूर्णशक्ति का प्रयोग किया। बहुत से देशभक्तों को देश निकाला दिया गया। बहुत से जेलखानों में बन्द किये गये। पर

आन्दोलन बन्द न हुआ। आखिर, १२ फरवरी सन् १९१२ के दिन सुधारवादियों का यह आन्दोलन क्रान्ति के रूप में फूट पड़ा। चीन में एकतन्त्र शासन का अन्त कर रिपब्लिक की स्थापना की गई। मार्च १९१२ में यूआन शिकाई चीनी रिपब्लिक का पहला राष्ट्रपति बना।

चीन में एकतन्त्र राजसत्ता का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना से पाश्चात्य देशों को खुश होना चाहिये था। पर वे भली भांति समझते थे, कि चीन की नई सरकार उनके विशेषाधिकारों को नष्ट करने के लिये पूरा प्रयत्न करेगी। माञ्चू सम्राटों के समय में चीन को खुले हाथों से लूटने का जो सुवर्णावसर उन्हें प्राप्त हो रहा था, वह अब न मिल सकेगा। इसलिये उन्होंने इस नई सरकार को स्वीकृत करने से ही इन्कार कर दिया। पर उधर रिपब्लिकन सरकार अपना कार्य करती जा रही थी। एप्रिल १९१३ में चीन की प्रथम पार्लियामैन्ट का अधिवेशन हुआ, इसमें जनता द्वारा निर्वाचित हो कर ५९६ प्रतिनिधि सम्मिलित हुए।

इस प्रकार गत यूरोपिय महायुद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व चीन में माञ्चू शासन का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना हो चुकी थी। सन् १९१४ में जब यूरोपीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ, तो युआन शिकाई ही चीन के राष्ट्रपति थे। चीनी रिपब्लिक में आगे चल कर कौन कौन से परिवर्तन हुए, इस पर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

(४) जापान का उत्कर्ष

चीन के उत्तर-पूर्व में एक विस्तृत द्वीप समूह है, जिसे जापान कहते हैं। इसमें चार बड़े और तीन हजार के लगभग छोटे द्वीप सम्मिलित हैं। जापान के ये छोटे बड़े द्वीप चीन के समुद्रतट के साथ-साथ प्रायः २००० मील तक फैले हुए हैं। अधिकांश द्वीप पर्वतों से आवृत हैं, और उनकी जमीन खेती के लिये उपयुक्त नहीं हैं। इन

पर्वतों में ज्वालामुखी भी प्रचुरता के साथ विद्यमान हैं, यही कारण है कि जापान में बहुधा भूकम्प आते रहते हैं। जापान का कुल क्षेत्रफल ग्रेट ब्रिटेन से कुछ ही बड़ा है। उसकी आबादी सन् १९२५ में ६ करोड़ के लगभग थी। जापानी लोग जातीय दृष्टि से चीनियों से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। उनकी सभ्यता और संस्कृति का आदिस्रोत भी चीन ही है।

अब से प्रायः साठ साल पूर्व जापान की भी वही हालत थी, जो चीन व अन्य एशियाई देशों की थी। शिल्प, व्यवसाय, कला आदि के क्षेत्र में वहाँ के लोग बहुत पीछे पड़े हुए थे। पर देखते देखते ज़ापान ने आश्चर्यजनक उन्नति कर ली है। आज से चालीस वर्ष पूर्व भी जापान संसार के सबसे अधिक शक्तिशाली राज्यों में गिना जाने लगा था और उसने रशिया जैसे विशाल और शक्तिशाली देश को युद्ध में पछाड़ दिया था। इस प्रकार जापान ने केवल २५ व ३० साल में इतनी अधिक उन्नति कर ली थी, कि वह एक मध्यकालीन दशा से ऊपर उठ कर संसार के सर्वोत्कृष्ट सभ्य और उन्नत देशों में गिना जाने लगा था। आज जापान व्यवसाय, कला, विज्ञान और युद्धनीति के क्षेत्र में संसार के किसी भी देश से पीछे नहीं रह गया है। उसकी गिनती अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में महाशक्तियों में की जाती है। सारा संसार जापान की इस आश्चर्यजनक उन्नति पर चकित है

जापान के प्रारम्भिक इतिहास के सम्बन्ध में यहाँ कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं है। यूरोपियन लोगों को जापान का परिचय सबसे पहले मार्कोपोलो नामक इटालियन यात्री द्वारा तेरहवीं सदी के अन्तिम वर्षों में प्राप्त हुआ था। परन्तु जो यूरोपियन यात्री पहले पहल जापान पहुँचा, उसका नाम पिएटो है। वह पोर्तुगीज था और सन् १५४२ में जापान गया था। उसके कुछ वर्ष बाद प्रसिद्ध जेसुअट धर्म प्रचारक फ्रांसिस क्सेवियर जापान गया और उसने वहाँ ईसाई

मत का प्रचार प्रारम्भ किया। उसके साथ में अनेक जापानी शिष्य भी थे, जिन्हें उसने गोआ में ईसाई मत में दीक्षित किया था। जापान में ईसाई धर्म का प्रचार बड़ी तेजी के साथ हुआ। कहा जाता है कि तीस साल में पचास हजार जापानी ईसाई हो गये और दो सौ ईसाई गिरजे वहाँ कायम कर दिये गये। पर ईसाई धर्म प्रचारकों का व्यवहार अच्छा नहीं था। वे यदि विशुद्ध धार्मिक दृष्टि से जनता में अपने मन्तव्यों का प्रचार करते तो कोई हानि नहीं थी, जापानी सरकार उनके कार्य में कोई हस्तक्षेप न करती। पर ईसाई पादरी धर्म के आवरण में यूरोपियन साम्राज्यवाद के एजण्टों का काम करते थे। वे अपने देश के व्यापारियों के लिये और फिर उनके द्वारा धीरे-धीरे अपनी राजनीतिक शक्ति के प्रसार के लिये मार्ग तैयार करने का काम करते थे। ईसाई पादरियों की इस मनोवृत्ति को अनुभव कर सन् १५८६ में जापानी सरकार ने एक उद्घोषणा प्रकाशित की। उसमें आज्ञा दी गई कि कोई जापानी ईसाई धर्म को स्वीकृत न करे। जो लोग ईसाई हो चुके थे, उन्हें भी अपना मत परिवर्तन करने के लिये कहा गया। विरोध करने पर बीस हजार के लगभग जापानी ईसाईयों को प्राण दण्ड भी दिया गया। सन् १५८६ की उद्घोषणा में केवल ईसाई मत का प्रचार ही रोका गया था। विविध यूरोपियन जातियों को जापान के साथ व्यापार करने के लिये अभी निषेध नहीं किया गया था। पर कुछ समय बाद जापानी सरकार ने देखा कि डच, इङ्गलिश आदि व्यापारी आपस में लड़ते है, और उनके व्यापार से जापान को नुकसान है। इस लिये उसने हुकुम जारी किया, कि कोई विदेशी जाति जापान में व्यापार न कर सके। प्रायः २०० वर्ष तक जापान की यही हालत रही। यद्यपि इस काल में यूरोपियन लोग चीन में न केवल व्यापार अपितु अपना प्रभुत्व स्थापित करने के प्रयत्न में लगे थे, पर जापान के साथ उनका कोई सम्बन्ध न था। इस समय जापान शेष

संसार की प्रगति से सर्वथा पृथक् अपनी स्वप्नमयी दुनिया में रह रहा था। वहाँ के लोगों में यह विचार प्रचलित था कि शेष संपूर्ण संसार के लोग असभ्य और जंगली हैं। उनके साथ सम्पर्क रखने से कोई लाभ नहीं है।

सन् १८५३ में अमेरिका के सेनापति पेरी ने जापान की इस सुखमयी निद्रा का भंग किया। वह संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार से यह पत्र लेकर आया, कि यदि कोई अमेरिकन जहाज जापान के समुद्र तट पर टूट जाय, तो उसके मुसाफिरों और माल की रक्षा के लिये वहाँ प्रबन्ध किया जाय। उसने यह भी मांग पेश की, कि जापान और अमेरिका का व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किया जाय और कुछ बन्दरगाहों पर व्यापार करने का अधिकार अमेरिकन व्यापारियों को दिया जाय। सेनापति पेरी ज़ंगी जहाजों का एक बड़ा भारी बेड़ा अपने साथ लाया था। इन विशालकाय अद्भुत जहाजों को देख कर जापान में बड़ी खलबली मच गई। इस प्रकार के जहाजों की कल्पना भी कभी जापानी लोगों को नहीं हुई थी। वे इन्हें देख कर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। जापानी राजदरबार में सेनापति पेरी के पत्र पर बहुत देर तक बहस होती रही। परन्तु अन्त में संयुक्त राज्य अमेरिका की मांगें स्वीकृत कर ली गई और दो बन्दरगाह उनके व्यापार के लिये खोल दिये गये। धीरे-धीरे अन्य यूरोपियन राज्यों ने भी जापानी सरकार के सम्मुख इसी प्रकार की मांगे पेश करनी प्रारम्भ कीं। अब जापान अपनी पुरानी एकान्तवास की नीति का परित्याग कर चुका था। अतः अन्य जातियों को भी व्यापार के अधिकार दिये गये। विविध यूरोपियन राज्यों को विविध बन्दरगाहों में व्यापार के अधिकार प्राप्त हुए और अब जापान को लूटने का उसी प्रकार से उपक्रम प्रारम्भ हुआ, जैसा कि पहले भारत और चीन में हो चुका था।

पर जापानी लोग बहुत समझदार और चालाक थे। उन्होंने अनु-

भव किया कि हम यूरोपियन लोगों की अपेक्षा बहुत पीछे पड़े हुए हैं। हमारे देश का उद्धार तभी हो सकता है, जब हम विदेशियों की विद्या, विज्ञान, शिल्प, कला आदि को सीख कर उनकी बराबरी करने लगें। इसी अनुभूति से हजारों जापानी विद्यार्थी यूरोप और अमेरिका में विद्या का अध्ययन करने के लिये गये और उन्होंने अपने देश में वापिस लौट कर उसे आमूलचूल परिवर्तित करना प्रारम्भ किया। सरकार की ओर से अनेक कमीशन पाश्चात्य देशों में इस उद्देश्य से भेजे गये कि वे वहाँ जाकर उनकी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं का अध्ययन करें और उनके अनुसार अपने देश में परिवर्तन लानें का प्रयत्न करें। विद्या व विज्ञान किसी देश विशेष की वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं होते, जो चाहे उन्हें अपना सकता है। जापान के लोगों ने जब एक बार अनुभव कर लिया, कि उन्नति की दौड़ में हम संसार से पीछे रह गये हैं, तब उन्होंने अपने को सम्भाला और देश की उन्नति के लिये अपनी सम्पूर्ण शक्ति को लगा दिया। देखते-देखते पच्चीस तीस सालों में जापान यूरोप और अमेरिका का मुकाबला करने लगा। जिन विविध क्षेत्रों में जापान में परिवर्तन हुए, उन पर प्रकाश डालना आवश्यक है—

(१) सामन्तपद्धति का अन्त—उन्नीसवीं सदी के मध्य तक जापान में सामन्त पद्धति विद्यमान थी। विविध सरदार अपनी अपनी जागीर में स्वतन्त्र राजाओं के समान राज्य करते थे। विविध सामन्तों के रहते हुए राष्ट्रीय एकता की स्थापना असम्भव थी। इसलिये सन् १८७१ में सामन्तपद्धति का अन्त किया गया। बहुत से सामन्तों ने राष्ट्रीय हित को दृष्टि में रख कर अपनी इच्छा से अपने विशेषाधिकारों का परित्याग कर दिया। जिन्होंने विरोध किया, और विद्रोह की प्रवृत्ति प्रदर्शित की, उन्हें शस्त्रबल से काबू किया गया। सामन्तों से जो विशेषाधिकार लिये गये थे, उनके बदले में उन्हें पैंशिनें दी गई तथा

विविध उपाधियों से उनका सत्कार किया गया। सामन्तपद्धति के अन्त होने से स्वाभाविक रूप से किसानों की स्थिति में परिवर्तन हुए। पहले जमीन पर उनका कोई हक नहीं था। जमींदार उन्हें जब चाहे बेदखल कर सकता था। उनकी स्थिति अर्धदास के समान थी। पर अब ऐसे कानून बनाये गये, जिनसे किसान जमीन के मालिक होगये और वे सीधा सरकार को मालगुजारी देने लगे।

(२) शासन व्यवस्था सन् १८८६ में जापान में बाकायदा शासन विधान का निर्माण किया गया। मार्क्विस इतो की अध्यक्षता में एक कमीशन यूरोप में इस उद्देश्य से भेजा गया था, कि वह वहाँ के विविध शासन विधानों का अध्ययन करे और उनके अनुसार जापान के लिये एक नवीन ढंग का शासन विधान प्रस्तावित करे। जापानी कमीशन ने अपने देश के लिये प्रशिया की शासन-व्यवस्था को बहुत उपयुक्त पाया और उसी के सदृश अपना शासन विधान तैयार किया। सन् १८८६ के शासन विधान में सम्राट् को बहुत अधिक अधिकार दिये गये थे। शासन विभाग का अध्यक्ष वह स्वयं बनाया गया और पार्लियामैण्ट के निर्णयों को वीटो करने की भा उसे पूरा अधिकार दिया गया। जापनी पार्लियामैण्ट में दो सभायें हैं—लार्ड सभा और प्रतिनिधि सभा। लार्ड सभा के सदस्यों की संख्या ३६८ होती है, इनमें १६ राजवंशी कुमार, १८५ विविध कुलीन श्रेणियों के महानुभाव, १२२ सम्राट् द्वारा मनोनीत और ४५ सब से अधिक कर देने वालों के प्रतिनिधि होते हैं। प्रतिनिधि सभा में ३७६ सदस्य होते हैं, जो सर्वसाधारण मतदाताओं द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं। चौबीस वर्ष से अधिक आयु के ऐसे प्रत्येक पुरुष को वोट का अधिकार दिया गया, जो एक निश्चित टैक्स सरकार को देता हो। मन्त्रिमण्डल की नियुक्ति सम्राट् द्वारा होती हैं। मन्त्रिमण्डल अपने कार्यों के लिये सम्राट् के प्रति ही उत्तरदायी होता है। सन् १८८६ के शासन विधान के साथ

ही सर्वसाधारण जनता के स्वतः सिद्ध अधिकारों को भी स्वीकृत किया गया। कानून के सम्मुख सब लोग एक समान स्थिति रखते हैं, सब को लिखने बोलने तथा अपनी सम्मति को प्रगट करने की पूरी स्वतन्त्रता है। धर्म के कारण किसी के साथ कोई भेद नहीं किया जायगा आदि विविध सिद्धान्त राज्य द्वारा स्वीकृत किये गये। दीवानी और फौजदारी कानून का नये सिरे से संकलन किया गया। न्यायालयों का पुनः संगठन हुआ। स्थानीय स्वशासन की भी व्यवस्था की गई। अभिप्राय यह है, कि कुछ ही वर्षों में जापान शासनव्यवस्था की दृष्टि से यूरोप के उन्नत राज्यों का मुकाबला करने लगा।

(३) सैनिक पद्धति—पहले जापान में कोई राष्ट्रीय सेना नहीं होती थी। विविध समान्त अपनी सेनायें रखते थे, जो सदा अपने वंशक्रमानुगत सरदार के हुकुम में रहती थीं। सामन्तपद्धति के साथ ही इस प्रकार की सेनाओं का अन्त होगया था। अब जापान में नये ढंग से राष्ट्रीय सेना का संगठन किया गया। जर्मनी के अनुकरण में बाधित सैनिक सेवा की पद्धति जारी की गई और यूरोप की युद्ध नीति तथा सैनिक आदर्शों के अनुसार जापान में भी सेना का नये ढंग से संगठन किया गया। कुछ समय बाद ब्रिटेन को अपना आदर्श बना कर जलसेना का भी प्रारम्भ किया गया। नये जंगी जहाज बनाये गये। परिणाम यह हुआ, कि उन्नीसवीं सदी के समाप्त होने से पूर्व ही जापान की गणना संसार के शक्तिशाली देशों में होने लगी।

(४) व्यावसायिक क्रान्ति—जहाँ एक तरफ सामन्तपद्धति के अन्त तथा नये शासन विधान की स्थापना से जापान में भारी परिवर्तन आ रहा था, वहाँ व्यावसायिक क्रान्ति उसे आमूल चूल परिवर्तित कर देने के लिये बड़ा काम कर रही थी। जब जापानी लोगों ने एक बार अनुभव कर लिया कि हम उन्नति की दौड़ में संसार से पीछे रह गये हैं, तो वे कमर कस कर उन्नति के लिये लग गये। हजारों जापानी

विद्यार्थी विदेशों में गये और वहाँ के ज्ञान विज्ञान को सीख कर अपने देश की व्यावसायिक उन्नति के लिये प्रयत्न करने लगे। देखते-देखते जापान में व्यावसायिक क्रान्ति शुरू हो गई। बड़े बड़े कारखाने खुलने लगे। जापान के बाजार पहले विदेशी माल से भरे रहते थे, पर अब न केवल जापानी उत्पादक अपने देश में विदेशी माल का सफलता से मुकाबला करने लगे, परन्तु साथ ही दूसरे देशों के बाजारों में भी जापानी माल दृष्टिगोचर होने लगा। सन् १८७७ से १९१३ तक ३५ वर्षों में जापान का विदेशी व्यापार २७ गुना बढ़ गया। सन १९-१३ के बाद इस व्यापार में और भी अधिक तेजी से वृद्धि हुई। गत यूरोपियन महायुद्ध के समय जापान को अपनी व्यावसायिक उन्नति के लिये अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ और उसका उपयोग कर उसने एशिया के विविध बाजारों पर अपना व्यापारिक कब्जा कायम कर लिया। बाद में जापान सारे संसार को व्यापारिक दृष्टि से नीचा दिखा सकने में समर्थ हुआ। इङ्गलैण्ड और जर्मनी जैसे देशों के लिये भी उसका मुकाबला कर सकना कठिन हो गया।

राजनीतिक और व्यावसायिक क्रान्तियों के कारण जापान बिलकुल बदल गया। शुरू में जापान ने पाश्चात्य सभ्यता का अनुसरण इस लिये प्रारम्भ किया था, ताकि वह यूरोपियन और अमेरिकन लोगों से अपनी रक्षा कर सके। पर पाश्चात्य संसार के ज्ञान विज्ञान को सीख कर उसने साम्राज्यवाद के क्षेत्र में भी उनका अनुकरण प्रारम्भ कर दिया। जापान के माल के लिये बाजार चाहियें थे, जापान की बढ़ती हुई आबादी के लिये नये उपनिवेश बसाने की आवश्यकता थी, जापान को बढ़ती हुई सम्पत्ति के लिये यह आवश्यक था, कि उसकी पूँजी अन्य देशों में सुरक्षित रूप से लगाई जा सके। ये सब बातें तभी सम्भव थीं, जब जापान भी यूरोपियन देशों के समान साम्राज्यवाद के लिये संघर्ष प्रारम्भ करे। सैनिकवाद का वहाँ प्रारम्भ हो ही चुका था,

उस की जल और स्थल सेना बहुत काफी उन्नति कर चुकी थी, इसलिये जापान ने भी अब अपने साम्राज्य का विस्तार प्रारम्भ किया। कोरिया और चीन उसके पड़ोसी थे। किस प्रकार कोरिया पर जापान का कब्जा हुआ और चीन को अपने अधीन करने के लिये उसने प्रयत्न शुरू किये, इसका वृत्तान्त हम पहले लिख चुके हैं। जापान के इस बढ़ते हुए साम्राज्यवाद के कारण ही बीसवीं सदी के प्रारम्भ में रशिया से उसका युद्ध शुरू हुआ। रशिया और जापान के इस युद्ध का वृत्तान्त हम अगले प्रकरण में लिखेंगे।

(५) रशिया और जापान का युद्ध

हम पहले लिख चुके हैं; कि रशिया का उत्तरी तथा पश्चिमी समुद्र तट साल के बारहों महीनों में नौकागमन के लिये उपयुक्त नहीं रहता। कारण यह कि शीत की अधिकता से सर्दी की मौसम में वहां समुद्र का जल जम जाता है। इसलिये स्वाभाविक रूप से रशिया इस बात के लिये इच्छुक था कि कोई ऐसा समुद्रतट उसके कब्जे में रहे, जहाँ साल भर नौकागमन हो सके। इसी उद्देश्य से उसने पहले काला-सागर तथा उसे भूमध्यसागर के साथ मिलाने वाले जलडमरूमध्य पर अपना कब्जा स्थापित करने का प्रयत्न किया था। क्रीमियन युद्ध मुख्यतया इसी कारण से लड़ा गया था। बाल्कन प्रायद्वीप संबन्धी बहुत से राजनीतिक दांव पेचों की जड़ में रशिया की यही महत्त्वाकांक्षा कार्य कर रही थी। पर रशिया को इस बात में सफलता नहीं हुई। इधर से निराश होकर उसने प्रशान्त महासागर की तरफ ध्यान दिया। उत्तरी एशिया उसके क़ब्जे में था, साइबीरिया के विस्तृत प्रदेशों को वह अपनी अधीनता में ला चुका था। परन्तु इसका समुद्रतट भी सर्दियों में नौकागमन के लिये निरर्थक था। अतः रशिया चाहता था कि मञ्चूरिया, लाओटुंग प्रायद्वीप और फिर कोरिया को अपने कब्जे में कर लिया जाय, ताकि इनके समुद्रतट

पर (जो बारहों महीने नौकागमन के काम आ सकते थे) वह उपयोग कर सके। रशिया के कूट नीतिज्ञ अपने प्रयत्न में सफल भी हुए। किस प्रकार मञ्चूरिया और लाओटुंग प्रायद्वीप में रशिया प्रविष्ट हुआ, इसका वृत्तान्त हम ऊपर लिख चुके हैं। उसे यहाँ दोहराने की कोई आवश्यकता नहीं। मञ्चूरिया में रशिया की रेल बन गई थी, रेलवे की रक्षा के लिये रशिया पुलीस और फौजी टुकड़ियाँ भी वहाँ आ पहुँची थीं। लाओटुंग प्रायद्वीप तो उसके कब्जे में आ ही चुका था। पोर्ट आर्थर की किलाबन्दी के लिये रशियन लोग विशेष उद्योग कर रहे थे। प्रशान्त महासागर के तट पर असली रशिया से हजारों मील दूर पोर्ट आर्थर में रशियन लोग अपनी शक्ति का बड़ा भारी अड्डा तैयार करने में लगे हुए थे। उनकी इच्छा आगे कोरिया में भी प्रवेश करने की थी। इसमें उन्हें कुछ सफलता भी प्राप्त हो रही थी। यालू नदी की घाटी पर कब्जा कर वहाँ उन्होंने अपनी किलाबन्दी भी प्रारम्भ कर दी थी।

रशिया की इन महत्त्वाकांक्षाओं को जापान कैसे सहन कर सकता था? चीन और जापान के युद्ध (१८६४-६५) की समाप्ति पर शिमोनोसेकी की सन्धि के अनुसार लाओटुंग प्रायद्वीप जापान को प्राप्त हुआ था। रशिया के हस्ताक्षेप के कारण ही जापान लाओटुंग पर अपना कब्जा कायम नहीं रख सका था। रशिया के भड़काने पर फ्रांस और जर्मनी ने भी जापान को इस प्रायद्वीप का परित्याग करने के लिये जोर दिया था। जापान यह भूला नहीं था, कि लाओटुंग वस्तुतः उसकी अपनी चीज है। रशिया ने कूटनीति से लाओटुंग पर अपना अधिकार भले ही कायम कर लिया हो, पर जापान इस बात को नहीं सह सकता था। वह चीन के इन प्रदेशों को अपने साम्राज्यवाद का शिकार बनाना चाहता था। कोरिया पर तो वह अपना स्वयं सिद्ध अधिकार समझता था। जिस समय यालू नदी की घाटी पर रशिया ने अपना कब्जा शुरू किया, तो जापान से नहीं रहा गया। वह युद्ध के लिये तैयार होगया।

असली बात यह है, कि मञ्चूरिया, कोरिया और लाओटुंग प्रायद्वीप में रशिया और जापान की महत्त्वाकांक्षायें आपस में टकराती थीं। इन प्रदेशों पर किस का प्रभुत्व हो, इसका फैसला युद्ध के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से नहीं हो सकता था। इसी का परिणाम यह हुआ कि, ५ फरवरी १६०४ को रशिया और जापान में युद्ध प्रारम्भ होगया।

जापान युद्ध के लिये भली भाँति तैयार था। व्यावसायिक क्रान्ति और वैज्ञानिक उन्नति ने जापान की दशा में आमूल चूल परिवर्तन कर दिया था। राष्ट्रीयता और देशभक्ति के भाव जापानी लोगों में कूट कूट कर भरे हुए थे। वे अपने देश के लिये बड़ी से बड़ी कुरबानी करने के लिये तैयार थे। दूसरी तरफ रशिया में सरकार और जनता में भारी संघर्ष इस समय चल रहा था। जनता की एकतन्त्र रशियन सरकार के साथ जरा भी सहानुभूति नहीं थी। युद्ध में राष्ट्रीय तन्मयता के साथ लग जाने के बजाय रशियन जनता समझती थी कि अधिकारों के लिये संघर्ष करने का यह सुवर्णावसर प्राप्त हुआ है। साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि यह युद्ध असली रशिया से तीन हजार मील की दूरी पर प्रशान्त महासागर के तट पर लड़ा जा रहा था। युद्ध स्थली तक सेनाओं तथा युद्ध सामग्री को पहुँचाने का केवल एक साधन था—ट्रांस साइबीरियन रेलवे। इस दशा में रशिया की सम्पूर्ण शक्ति को जापान के विरुद्ध संघर्ष के लिये एकत्रित कर सकना बहुत कठिन था।

युद्ध के प्रारम्भ होते ही जापान के जंगी जहाजों ने रशियन बेड़े पर आक्रमण किया। पोर्ट आर्थर और व्लाडीवोस्टक के बन्दरगाहों के समीप रशियन जंगी बेड़ा जापानियों द्वारा बुरी तरह से परास्त हुआ। इन विजयों के कारण समुद्रतट पर जापान का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित होगया। इसी समय जापान की स्थल सेना ने यालू नदी की घाटी पर आक्रमण किया। रशियन लोग परास्त हुए। एक अन्य जापानी सेना ने सेनापति ओकू के नेतृत्व में लाओटुंग प्रायद्वीप में प्रवेश किया। इधर सेनापति

ओकू रशियन लोगों को उत्तर की तरफ खदेड़ रहा था, उधर सेनापति नोगी ने पोर्ट आर्थर को घेर लिया। पोर्ट आर्थर का घेरा दस मास के लगभग तक जारी रहा। इस घेरे में जापानी लोगों ने असाधारण वीरता प्रदर्शित की। आखिर, १ जनवरी सन् १९०५ के दिन पोर्ट आर्थर पर जापानी सेनाओं का कब्जा होगया। इसी तरह कुछ दिन पहले सेनापति ओकू ने मुकडन के समीप रशियन सेनापति कुरोपटकिन को बुरी तरह परास्त किया। रशिया और जापान की सेनाओं में जहाँ जहाँ भी लड़ाई हुई, प्रायः सभी स्थानों पर जापानी लोग विजयी रहे। जापानी लोगों की देशभक्ति, राष्ट्रीय भावना और सैनिक क्षमता इस विजय के प्रधान हेतु हैं। दूसरी तरफ रशियन लोगों में इस युद्ध के लिये किसी भी प्रकार का जरा भी उत्साह नहीं था, इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं।

रशिया और जापान के इस युद्ध का अन्त पोर्टसमाउथ की सन्धि (१९०५) द्वारा हुआ। इस सन्धि के अनुसार (१) पोर्ट आर्थर और लाओटुंग प्रायद्वीप जापान को प्राप्त हुए (२) कोरिया पर जापान का प्रभुत्व स्वीकृत किया गया और (३) मञ्चूरिया को रशिया और जापान के दो प्रभावक्षेत्रों में विभक्त कर दिया गया। उत्तरी मञ्चूरिया पर रशिया और दक्षिणी मञ्चूरिया पर जापान का प्रभुत्व स्वीकृत किया गया।

इस युद्ध के बाद से जापान की गणना संसार के सब से शक्तिशाली राष्ट्रों में होने लगी। ग्रेट ब्रिटेन रशिया और जापान के युद्ध से पूर्व ही जापान के साथ सन्धि कर चुका था, १९०५ में इस सन्धि को और भी अधिक दृढ़ किया गया। बात यह है, कि ग्रेट ब्रिटेन को अपने एशियाई साम्राज्य में यदि किसी देश का सबसे अधिक डर था, तो वह रशिया का था। भारत और पश्चिमी एशिया में रशिया ब्रिटिश साम्राज्यवाद का प्रतिद्वन्द्वी था। इसी प्रकार पूर्वी एशिया में रशिया और

जापान की महत्वाकांक्षायें आपस में टकराती थीं। इसलिये यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि ब्रिटेन और जापान अपने एक समान प्रतिद्वन्द्वी रशिया का मिलकर मुकाबला करें, और उसके लिये सन्धि द्वारा घनिष्ट सम्बन्ध से सम्बद्ध हो जायें। ग्रेट ब्रिटेन की सहायता से प्रोत्साहित हो कर सन १९१० में जापान ने कोरिया को पूर्णतया अपने अधीन कर लिया। कोरिया के राजा को राजसिंहासन त्याग देने के लिये विवश किया गया और उसे अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। कोरिया की आबादी दो करोड़ के लगभग है।

रशिया की पराजय का एक अन्य भी महत्त्वपूर्ण परिणाम हुआ, जिसका निर्देश करने की आवश्यकता है। इससे एशिआई लोगों में नवजीवन और नये उत्साह का संचार हुआ। इससे पूर्व यह विचार प्रायः सर्वत्र प्रचलित था, कि यूरोपियन जातियां एशियाई जातियों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट हैं। रशिया की इस पराजय से इस विचार को भारी धक्का लगा। एशिया के लोग सोचने लगे कि क्या हम भी आधुनिक ज्ञान विज्ञान को सीख कर जापान की तरह यूरोपियन लोगों का मुकाबला नहीं कर सकते? यदि जापान रशिया को परास्त कर सकता है, तो क्या अन्य एशियाई लोग अपने यूरोपियन-शासकों को परास्त कर बाहर नहीं निकाल सकते?

(६) एशिया के अन्य देशों में यूरोपियन साम्राज्यवाद

चीन, जापान, भारत और इण्डोचायना में यूरोपियन देश किस प्रकार अपने साम्राज्य का विस्तार करने का प्रयत्न कर रहे थे, इस पर हम प्रकाश डाल चुके हैं। यह यूरोपियन साम्राज्यवाद इन देशों तक ही सीमित न था। पर्शिया, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान और तिब्बत आदि अन्य देश भी विविध यूरोपियन राज्यों की साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाओं के शिकार हो रहे थे। इन देशों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिये प्रयत्न करनेवाले देशों में इङ्गलैण्ड और रशिया सबसे

मुख्य हैं। रशिया इन प्रदेशों को इसलिये जीतना चाहता था, क्योंकि साल भर काम आने वाले समुद्रतट को प्राप्त करने की उसे धुन थी। पर्शिया पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिये वह मुख्यतया इसीलिये उत्सुक था। इङ्गलैण्ड अपने विशाल भारतीय साम्राज्य की रक्षा के लिये उसके पड़ौसी राज्यों को अपने प्रभाव में रखना चाहता था—इसलिये वह इन प्रदेशों को किसी अन्य राज्य की अधीनता में आया हुआ नहीं देख सकता था। रशिया भी एशिया में सब ओर अपने पैर फैला रहा था, इङ्गलैण्ड अपने विशाल साम्राज्य की रक्षा के लिये उसे आगे नहीं बढ़ने देना चाहता था। रशिया और इङ्गलैण्ड का यह संघर्ष किस प्रकार चल रहा था, इस पर संक्षेप से प्रकाश डालने की आवश्यकता है।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में रशिया जिस प्रकार पूर्वी एशिया में अपना प्रभाव बढ़ा रहा था, उसी प्रकार दक्षिणी एशिया में भी आगे बढ़ने के लिये कोशिश कर रहा था। धीरे धीरे उसने तुर्किस्तान के दुर्गम प्रदेशों में प्रवेश किया और वहाँ निवास करने वाली जातियों को अपने अधीन किया। रशिया को इस प्रकार दक्षिण में आगे बढ़ते देख कर इङ्गलैण्ड बहुत व्याकुल हुआ, उसे अपने भारतीय साम्राज्य का खतरा था। पर इङ्गलैण्ड भी चुप नहीं बैठा था। उसने भी भारत से पश्चिम उत्तर की तरफ आगे बढ़ना प्रारम्भ किया। बलूचिस्तान और पञ्जाब पर पहले ही कब्जा हो चुका था। अब भारत के उत्तर पश्चिमी प्रदेशों को जीतकर अफगानिस्तान पर आक्रमण शुरू हुए। उधर रशिया भी अफगानिस्तान की सीमा तक आ पहुंचा था। यूरोप के ये दोनों साम्राज्यवादी देश अफगानिस्तान पर अपना कब्जा कायम करने के लिये संघर्ष करने लगे। आखिर, अंग्रेजी सेना ने काबुल पर कब्जा कर लिया और उस पर शासन करने के लिये अपनी अधीनता में एक अमीर को राजगद्दी पर बिठाया। वह अमीर ब्रिटिश

लोगों के प्रभाव में था। उधर रशियन सरकार भी अफगानिस्तान और भारतीय सीमा प्रान्त में निवास करनेवाली विविध जातियों को रिश्वत दे उन्हें अंग्रेजों के विरुद्ध भड़काने में लगी हुई थी। बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक रशिया और ब्रिटेन में अफगानिस्तान सम्बन्धी यह संघर्ष निरन्तर जारी रहा।

उधर रशिया तिब्बत में भी प्रवेश कर रहा था। रशियन कूटनीतिज्ञ ल्हासा में प्रवेश कर वहाँ के शासक दलाई लामा को अपने प्रभाव में लाने में समर्थ हो गये थे। ब्रिटिश साम्राज्यवादी इस बात को नहीं सह सके। सन् १९०४ में लार्ड कर्जन के, जो उस समय भारत के वायसराय थे, आदेश पर कर्नल यङ्ग हसबैन्ड के नेतृत्व में एक ब्रिटिश मिशन तिब्बत गया। इस मिशन के साथ में बहुत से हथियार थे और इसका उद्देश्य अपनी शक्ति का रोब दिखाकर दलाई लामा के साथ सन्धि करना था। कर्नल यङ्ग हसबैन्ड को अपने प्रयत्न में सफलता हुई और लामा के साथ उसने जो सन्धि की, उसके अनुसार तिब्बत की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर ब्रिटिश प्रभाव स्थापित हो गया।

पर्शिया में यूरोपियन साम्राज्यवाद का संघर्ष बहुत महत्त्वपूर्ण है। किसी समय पर्शिया बहुत ही शक्तिशाली तथा उन्नत राज्य था। प्राचीन इतिहास में पर्शियन सेनाओं ने ग्रीस पर आक्रमण कर उसके शक्तिशाली राज्यों का अन्त किया था। सभ्यता की दृष्टि से अब भी पर्शियन लोग काफी उन्नत थे। पर काल के चक्र से वहाँ की राजनीतिक शक्ति क्षीण पड़ गई थी, और यूरोपियन लोगों को इस बात का अवसर मिल गया था कि उस पर भी अपने साम्राज्यवाद का जाल बिछाना प्रारम्भ करें। पर्शिया का शासक शाह बहुत कमजोर तथा बेपरवाह था। उसे अपने भोग-विलास से ही फुरसत न थी। राज्यकार्य की ओर वह क्या ध्यान दे सकता था? इस परिस्थिति से लाभ उठाकर पहले रशिया ने उत्तर की तरफ से उसमें प्रवेश करना प्रारम्भ किया।

शाह से इजाजत ली गई, कि रशिया उत्तरी पर्शिया में रेलवे बना सके और अपनी पूँजी लगा कर खानों को खोद सके। शाह रशिया का कर्जमन्द था। राष्ट्रीय आय-व्यय की ठीक प्रकार से व्यवस्था न होने के कारण पर्शिया पर ऋण का बोझ लदा हुआ था और यह ऋण मुख्यतया रशिया और ब्रिटेन से लिया गया था। शाह के लिये यह असम्भव था, कि अपने उत्तमर्ण देशों की मांगों को अस्वीकृत कर सके। पर्शिया आर्थिक दृष्टि से रशिया और ब्रिटेन के शिकञ्जे में बुरी तरह से फँसता जा रहा था। ऋण की अदायगी के लिये पर्शिया के विविध टैक्स अमानत के तौर पर रख लिये गये थे। उधर रशिया उत्तरी पर्शिया में विशेषाधिकार प्राप्त कर रहा था, इधर दक्षिणी पर्शिया में यही प्रक्रिया इङ्गलैण्ड ने प्रारम्भ की। खानें विदेशियों की अधीनता में चली जा रही थीं। रेलवे विदेशी ही बना रहे थे, उन पर उनका पूर्ण अधिकार था ही। अनेक टैक्स भी कर्ज की अमानत के तौर पर विदेशियों के अधिकार में जा चुके थे। इस दशा का एक ही परिणाम हो सकता था, वह यह कि कुछ समय में पर्शिया अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता से भी हाथ धो बैठे और उस पर विदेशियों का कब्जा हो जाय।

पर्शियन देशभक्त अपने देश की इस दुर्दशा को चिन्ता की दृष्टि से देख रहे थे। उनका यह विश्वास हो गया था, कि जब तक एकतन्त्र और विकृत सरकार का अन्त न होगा, पर्शिया का उद्धार असम्भव है। देशभक्तों ने शासन सुधार के लिये आन्दोलन प्रारम्भ किया। १९०६ में बाकायदा क्रान्ति हो गई और शाह पर्शिया में पार्लियामैन्ट की स्थापना के लिये मजबूर हुआ। पार्लियामैन्ट में एकत्रित देश के प्रतिनिधि सब से महत्त्वपूर्ण कार्य यह समझते थे, कि अपने देश की आर्थिक नीति को विदेशियों के पंजे से मुक्त किया जाय। इसलिये उन्होंने मांग पेश की, कि राष्ट्रीय आयव्यय पर पार्लियामैन्ट का अधिकार

हो। १९०६ के शासनविधान के अनुसार यह आवश्यक भी था। पर रशिया के उकसाने से शाह ने इसे मंजूर नहीं किया। इससे पर्शियन देश-भक्तों का असन्तोष बहुत अधिक बढ़ गया। वे एक बार फिर विद्रोह के लिये तैयार हो गये। पर अपने प्रयत्नों में उन्हें सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। कारण यह कि शाह की सहायता के लिये रशिया और ब्रिटेन हर समय तैयार थे।

अब तक पर्शिया में रशिया और ब्रिटेन की साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षायें आपस में टकराती थीं। पर १९०७ में उन्होंने आपस में सन्धि करली। इसका कारण यह है, कि १९०५ में जापान से पराजित होकर रशिया ने यह भली भांति अनुभव कर लिया था, कि साम्राज्यवाद के क्षेत्र में अपने प्रतिद्वन्द्वी से लड़ने के बजाय उसके साथ सहयोग से काम लेना अधिक श्रेयस्कर है। दूसरी तरफ इङ्गलैण्ड भी इस समय जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति तथा साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों से बहुत चिन्तित था। जर्मनी टर्की तथा मैसोपोटामिया होकर पर्शिया की खाड़ी में पंहुचने का प्रयत्न कर रहा था। इङ्गलैण्ड अच्छी तरह अनुभव करता था कि जर्मनी का पर्शियन खाड़ी में प्रवेश रशिया की अपेक्षा बहुत अधिक खतरनाक है। इसलिये उसने भी यही उचित समझा कि रशिया के साथ सन्धि कर ली जाय। सन् १९०७ की सन्धि के अनुसार पर्शिया को तीन भागों में विभक्त किया गया। उत्तरी पर्शिया पर रशिया का प्रभाव क्षेत्र स्वीकृत किया गया और दक्षिणी पर्शिया पर ब्रिटेन का। रशिया और ब्रिटेन के प्रभाव क्षेत्रों के बीच में मध्य पर्शिया को उदासीन प्रदेश के रूप में स्वीकृत किया गया और यह निश्चय हुआ कि रशिया और ब्रिटेन दोनों को इसमें अपनी पूँजी लगाने की स्वतन्त्रता हो। सन् १९०७ की ही सन्धि में अफगानिस्तान और तिब्बत के मामलों पर रशिया और ब्रिटेन में परस्पर समझौता हो गया। यह निश्चय हुआ, कि तिब्बत पहले की तरह चीन के ही अधीन रहे और रशिया और ब्रिटेन उसे

अपने प्रभावक्षेत्र में लाने का प्रयत्न न करें। अफगानिस्तान पर ब्रिटिश प्रभाव स्वीकृत किया गया और रशिया ने यह मान लिया कि वहाँ के अमीर के साथ सीधा सम्बन्ध न रख ब्रिटेन की मार्फत ही उससे व्यवहार किया जाय।

सन् १९०७ में रशिया और ब्रिटेन ने पर्शिया के सम्बन्ध में जो व्यवस्था की थी, उसे शाह ने स्वीकृत किया था। पर्शियन देश-भक्त इससे बहुत दुखी हुए। उनका विरोध इतना बढ़ गया, कि दो साल बाद सन् १९०९ में उन्होंने शाह के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और उसे पदच्युत कर उसके लड़के को शाह बनाया। सन् १९११ में पार्लियामैन्ट के जोर देने पर इस नये शाह ने मार्गन शुस्टर नामक एक अमेरिकन को आर्थिक मामलों में सलाहकार के तौर पर नियुक्त किया। यह शुस्टर वस्तुतः पर्शिया का कल्याण चाहता था। उसकी इच्छा थी, कि पर्शिया के आय व्यय को संभाल कर उसे नाश से बचाया जाय। पर रशिया इस बात को नहीं सह सका। उसने जोर देना प्रारम्भ किया, कि शुस्टर को बर्खास्त कर किसी ऐसे व्यक्ति को आर्थिक सलाहकार बनाया जाय, जिसे रशिया और ब्रिटेन दोनों पसन्द करते हों। पर्शिया के शाह में रशिया की इस मांग का विरोध करने के लिये पर्याप्त शक्ति न थी। उसे झुकना पड़ा, शुस्टर को बर्खास्त कर दिया गया और अब पर्शिया में ऐसे आर्थिक सलाहकार नियत किये जाने लगे, जो रशिया और ब्रिटेन की हां में हां मिलाने वाले थे। उन्हें पर्शिया के हितों की अपेक्षा इन विदेशियों के हितों का ज्यादा ध्यान था। इस समय से पर्शिया केवल देखने को ही स्वतन्त्र राज्य रह गया। वस्तुतः वह रशिया और ब्रिटेन के सम्मिलित साम्राज्यवाद का में शिकार बन गया था।

(७) यूरोपियन जातियों का अफ्रीका में प्रवेश

अफ्रीका बहुत बड़ा महाद्वीप है। उसका क्षेत्रफल १,१४,६२,०००

वर्ग मील है। आकार में वह यूरोप से तिगुना है। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक यूरोप के सभ्य निवासियों को इस विशाल महाद्वीप के सम्बन्ध में बहुत कम परिचय था। उत्तरी प्रदेशों के अतिरिक्त शेष अफ्रीका के विषय में वे केवल समुद्रतट की ही जानकारी रखते थे। इस सुविस्तृत भूखण्ड में कौन सी जातियां निवास करती हैं, इसमें कौन से पहाड़, नदियाँ, व झीलें हैं, इसकी भौगोलिक और प्राकृतिक दशा किस प्रकार की है—इन सब बातों का कुछ भी परिचय यूरोपियन लोगों को न था। अफ्रीका के ज़ंगलों, पशुओं तथा अद्भुत निवासियों के विषय में अनेक विचित्र गाथायें यूरोप में अवश्य प्रचलित थीं, पर उन लोगों ने इसमें प्रवेश कर इसका परिचय प्राप्त करने के लिये कोई विशेष उद्योग नहीं किया था।

अफ्रीका का उत्तर पूर्वी कोना ईजिप्ट या मिसर कहलाता है। प्राचीन समय में यह एक अत्यन्त उन्नत सभ्यता की रंगभूमि था। केवल ईजिप्ट में ही नहीं, उत्तरी अफ्रीका के अन्य भी कई प्रदेशों में प्राचीन समय में सभ्यता का विकास हुआ था। कार्थेज व्यापार का बड़ा भारी केन्द्र था और ईसा से कई सदी पूर्व एक अत्यन्त विशाल और समृद्ध नगर बन चुका था। रोमन साम्राज्य के विस्तार के समय में उत्तरी अफ्रीका उसके अन्तर्गत था। आगे चल कर सातवीं सदी में जब इस्लाम का उत्कर्ष हुआ, तो मुसलमानों ने उत्तरी अफ्रीका के इन प्रदेशों को विजय कर लिया और अपने अनेक राज्य वहां स्थापित किये। अरब लोग बड़े साहसी और वीर थे। वे केवल उत्तरी अफ्रीका पर आधिपत्य स्थापित कर के ही संतुष्ट नहीं हुए, अपितु सहारा का मरुस्थल पार कर उन्होंने मध्य तथा दक्षिण अफ्रीका में भी प्रवेश करने का प्रयत्न किया। मध्य अफ्रीका के निवासियों के साथ उनका व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान था, ऊँटों के काफिलों पर सहारा को पार कर वे दक्षिणी प्रदेशों में व्यापार के लिये आया जाया करते थे। इसी

प्रकार अफ्रीका के पूर्वी तट पर उन्होंने अनेक व्यापारिक केन्द्र कायम किये थे और दक्षिण में मैडागास्कर तक वे व्यापार के लिये आते जाते थे। अपने परिचित प्रदेशों का नकशा बनाने तथा उनकी भौगोलिक और प्राकृतिक दशा को लेखबद्ध करने का प्रयत्न भी अरब लोगों ने किया था। यूरोपियन लोगों को अफ्रीका के सम्बन्ध में परिचय पहले पहल अरब लोगों द्वारा प्राप्त हुआ। स्पेन अरब साम्राज्य के अधीन था, वहाँ के लोगों का अरबों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध था। इसलिये सबसे पहले स्पेन तथा उसके पड़ौसी पोर्तुगाल को अफ्रीका के विषय में परिचय हुआ।

पन्द्रहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जब यूरोपियन जातियों ने पूर्वी देशों तक पहुँचने के लिये नवीन मार्गों को ढूंढना प्रारम्भ किया, तो पोर्तुगीज लोगों में अफ्रीका का चक्कर काट कर पूर्व में जाने की कल्पना उत्पन्न हुई। पर इन पोर्तुगीज लोगों की दृष्टि में अफ्रीका का कोई महत्त्व न था। उसमें प्रवेश कर उसके निवासियों का पता लगाना उनकी दृष्टि में कोई उपयोग न रखता था। भारत आदि पूर्वी देशों के साथ व्यापार इतना लाभदायक था, कि अफ्रीका में प्रविष्ट होने की आवश्यकता ही इन्हें अनुभव नहीं होती थी। पर धीरे धीरे अफ्रीका का एक उपयोग यूरोपियन लोगों को ज्ञात हुआ। अमेरिका का इस समय तक पता लग चुका था। विविध यूरोपियन देश, जिसमें स्पेन सबसे प्रमुख था, वहाँ अपने उपनिवेश बसा रहे थे। इन नई बस्तियों के लिये गुलामों की जरुरत थी। अमेरिका के मूल निवासी गुलामी के लिये उपयुक्त न थे, इसलिये अफ्रीका के हबशियों को जहाजों पर लाद कर अमेरिका ले जाया जाने लगा, और वहाँ उनकी बिक्री प्रारम्भ हुई। शीघ्र ही यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्यापार बन गया और बहुत से लोग गुलामों का क्रय विक्रय कर धनी होने लगे। हालैण्ड, ब्रिटेन, फ्रांस आदि विविध देशों ने इस घृणित व्यापार के लिये विविध अड्डे

अफ्रीका में बनाये हुए थे और विविध उपायों से हबशियों को पकड़ कर उन्हें अमेरिका भेजा करते थे। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक यूरोपियन लोगों की दृष्टि में अफ्रीका का यही एक उपयोग था। इसी प्रकार अफ्रीका के पूर्वी तट पर अरब लोग भी गुलामों का व्यापार करते थे। उस समय के लोग इस व्यापार को घृणित नहीं समझते थे। आर्थिक दृष्टि से तो गुलामों के क्रय विक्रय से प्रत्यक्ष लाभ था ही, पर धार्मिक दृष्टि से भी लोग इसे अच्छा समझते थे। उस समय ईसाई पादरी कहा करते थे, कि गुलाम प्रथा ईश्वर तथा धर्म द्वारा अनुज्ञात है और हबशी लोग ईसाईयों की शरण में आकर परलोक में सुख तथा शान्ति प्राप्त करेंगे। यह व्यापार कितने बड़े पैमाने पर होता था, इसका अनुमान इस बात से किया जासकता है, कि सन् १७६१ में अकेले ब्रिटेन के १६२ जहाज इस व्यापार में लगे हुए थे और वे एक बार में सैंतालीस हजार गुलामों को ढो सकते थे। १७६१ में विविध देशों के गुलाम व्यापार के अड्डे इस प्रकार थे —हालैण्ड के १५, ब्रिटेन के १४, पोर्तुगाल के ४, डेनमार्क के ४, और फ्रांस के ३। इन विविध अड्डों से लाखों गुलाम प्रतिवर्ष अमेरिका तथा यूरोप के विविध बाजारों में विक्रय के लिये पहुँचाये जाते थे।

अमेरिका और फ्रांस की राज्यक्रान्तियों ने जिन नवीन विचार-धाराओं का प्रारम्भ किया, उनसे इस गुलाम व्यापार के विरुद्ध भी भावना उत्पन्न हुई। सन १८०७ में ब्रिटिश पार्लियामेन्ट ने गुलाम व्यापार के विरुद्ध प्रस्ताव स्वीकृत किया। इसी प्रकार का प्रस्ताव सन १८१४ में वीएना की कांग्रेस में भी स्वीकृत किया गया। धीरे धीरे इस घृणित प्रथा का अन्त होना प्रारम्भ हुआ और इसके कारण यूरोपियन लोगों की दृष्टि में अफ्रीका का उपयोग भी कम होने लगा। अब तक यूरोपियन लोग इसी व्यापार के लिये अफ्रीका आते जाते थे, अब इसके बन्द हो जाने पर उन्हें उसका कोई उपयोग नहीं प्रतीत होता था।

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में सन १८१५ में अफ्रीका की दशा निम्नलिखित प्रकार से थी—उत्तरी अफ्रीका पर टर्की के सुलतान का आधिपत्य माना जाता था। ईजिप्ट, ट्रिपोली, ट्यूनिस और अल्जीरिया तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत समझे जाते थे, यद्यपि उनके शासक क्रियात्मक दृष्टि से स्वतन्त्र थे। मोरक्को तुर्की साम्राज्य में नहीं था, वहां एक स्वतन्त्र सुलतान राज्य करता था। सेनेगल नदी के मुहाने पर (पश्चिमी तट पर) फ्रांस का कब्जा था। पूर्वी तट पर मैडागास्कर द्वीप के ठीक सामने के कुछ प्रदेश पोर्तुगाल के कब्जे में थे। ब्रिटिश लोग केप कोलोनी पर कब्जा कर चुके थे और अफ्रीका के पश्चिमी तट पर उनके अन्य भी कई छोटे छोटे अड्डे विद्यमान थे। शेष सुविस्तृत अफ्रीका अभी यूरोपियन लोगों के लिये एक अपरिचित, अज्ञात और रहस्यमय भूखण्ड था। उसके सघन जङ्गलों, विस्तृत झीलों और अद्भुत निवासियों के सम्बन्ध में उन्हें कुछ भी परिचय नहीं था।

गुलाम व्यापार के दिनों में भी अनेक यूरोपियन लोग अफ्रीका के अन्दरूनी हिस्सों में प्रवेश करने का प्रयत्न करते रहते थे। विशेषतया, रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट ईसाई पादरी अफ्रीका के हब्शी निवासियों को सद्धर्म का सन्देश पहुँचाने के लिये बहुत उत्सुक रहते थे। अनेक व्यापारी भी अफ्रीका में मिलने वाले हाथी दाँत, आबनूस, गोंद, रबड़ आदि कीमती पदार्थों को प्राप्त करने के लिये काफी दूर दूर तक अन्दर चले जाते थे। इन पादरी तथा व्यापारी लोगों द्वारा अफ्रीका के सम्बन्ध में बहुत सी अद्भुत बातें यूरोप में फैल रही थीं और बहुत से साहसी लोग केवल ज्ञानवृद्धि की दृष्टि से भी इस विशाल महाद्वीप का अवलोकन करने के लिये अग्रसर हो रहे थे। गुलाम व्यापार के बन्द हो जाने पर यह प्रवृत्ति और भी अधिक बढ़ गई। गुलामों के अतिरिक्त अन्य व्यापारिक वस्तुओं को अधिगत करने के लिये विविध साहसी व्यापारी अफ्रीका में प्रवेश करने लगे। पादरियों

के लिये अब यह सम्भव नहीं रहा था, कि हबशियों को गुलाम बना कर उनकी आत्माओं को उद्धार कर सकें। पर उन्हें इन 'पथभ्रष्ट' लोगों को मार्ग प्रदर्शित करने तथा 'सद्धर्म' में लाने की उत्सुकता इतनी अधिक थी, कि वे उन्हीं के घरों में जाकर उन्हें ईसा का सन्देश सुनाने के लिये प्रयत्नशील होने लगे। सबसे बढ़ कर साम्राज्यवाद की भूख यूरोपियन लोगों को अफ्रीका में प्रविष्ट होने के लिये प्रेरित कर रही थी।

यहाँ हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि हम यूरोप के उन साहसी पुरुषों का विस्तृत वर्णन कर सकें, जिन्होंने प्रकृति और मनुष्य—दोनों के भयंकर प्रकोप की जरा भी परवाह न कर अफ्रीका के दुर्गम प्रदेशों का अवगाहन किया और यूरोपियन जातियों के लिये इन पर आधिपत्य स्थापित करने का मार्ग साफ कर दिया। उनका वृत्तान्त उपन्यास से भी अधिक मनोरञ्जक है, उनके साहसिक कार्य पुराणी वीरगाथाओं को भी मात करते हैं। निस्सन्देह, संसार के इतिहास में उनका स्थान बहुत ऊंचा है। पर हम इस इतिहास में उनका केवल निर्देश ही कर सकते हैं। इङ्गलैण्ड की 'रायल जियोग्राफिकल सोसायटी' के संरक्षण में नील नदी का उद्गम स्थान ढूंढने के लिये प्रयत्न शुरू किया गया और इसके लिये ब्रिटिश लोग मध्य अफ्रीका में बहुत दूर अन्दर तक प्रविष्ट हुए। सन १८५८ में भूमध्य रेखा के ठीक नीचे एक विशाल झीलका पता लगाया गया और इसका नाम 'विक्टोरिया नियान्जा' रखा गया। सन १८६४ में सर सेमुअल बार्कर ने विक्टोरिया नियान्जा के उत्तर पश्चिम में एक अन्य झील का पता लगाया और उसका नाम 'एल्बर्ट नियान्जा' रखा। इसी समय लिविङ्गस्टोन नाम का एक अन्य साहसी मिशनरी अफ्रीका के मध्यभाग का अवगाहन कर रहा था। अफ्रीका की खोज करने वालों में इस लिविङ्गस्टोन का प्रमुख स्थान है। सन् १८४० से १८७३ तक इसने अपना प्रायः सारा समय इसी कार्य में व्यतीत

किया। सन १८५१ में वह पूर्व की तरफ से अफ्रीका में प्रविष्ट हुआ और पाँच साल तक मध्य अफ्रीका के विविध प्रदेशों का अवगाहन करते हुए १८५६ में वह पश्चिमी तट पर पहुँच गया। इसी तरह उसने अफ्रीका के अन्य प्रदेशों की भी यात्रायें की। उसके यात्रावृत्तान्तों से सारे सभ्य संसार में एक प्रकार की हलचल सी मच गई और लोगों का ध्यान अफ्रीका की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। अफ्रीका के अवगाहकों में लिविङ्गस्टोन के बाद स्टेनली का नाम बहुत प्रसिद्ध है। उसने लिविङ्गस्टोन की मृत्यु से दो वर्ष पूर्व सन १८७१ में अपना कार्य प्रारम्भ किया और अफ्रीका के विविध प्रदेशों का खूब अच्छी तरह आलोडन किया। लिविङ्गस्टोन की मृत्यु अफ्रीका में ही हो गई थी। पर स्टेनली १८७८ में सकुशल यूरोप वापिस लौटने में समर्थ हुआ। उसके यात्राविवरणों ने अफ्रीका के प्रति यूरोपियन लोगों को और भी अधिक आकर्षित किया और विविध यूरोपियन देश इस अद्भुत और विशाल भूखण्ड में प्रवेश पाने तथा उससे लाभ उठाने के लिये विशेष रूप से आतुर होगये।

अफ्रीका में प्रवेश पाने का प्रयत्न करने वाले यूरोपियन देशों में बेल्जियम सबसे मुख्य था। उन दिनों बेल्जियम का राजा लिओपोल्ड द्वितीय था। वह बहुत ही चाणाक्ष तथा हुशियार व्यक्ति था। स्टेनली की यात्राओं से वह बहुत प्रभावित हुआ और उसने अफ्रीका में प्रवेश कर उसे अपने प्रभाव में लाने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। स्टेनली इङ्गलिश जाति का था, पर अँग्रेजों ने उसकी तरफ विशेष ध्यान नहीं दिया। कारण यह, कि केप कोलोनी उन दिनों ब्रिटेन के अधीन था, और अँग्रेज लोग वहाँ बोअर लोगों से उलझ रहे थे। बोअर और अँग्रेज लोगों के इस संघर्ष का वृत्तान्त हम पहले लिख चुके हैं। स्टेनली की यात्राओं से प्रोत्साहित होकर लिओपोल्ड द्वितीय ने सन् १८७६ में अपनी राजधानी ब्रुसल्स में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन

किया और उसमें अफ्रीका का अवगाहन करने तथा वहाँ के निवासियों को सभ्यता तथा धर्म का पाठ पढ़ाने के लिये उपायों पर विचार किया गया। इसी सम्मेलन में लियोपोल्ड ने अफ्रीका के अवगाहन के लिये एक 'अन्तर्राष्ट्रीय सभा' का संगठन किया। सन् १८७६ में स्टेनली ने इस सभा की संरक्षा में एक वार फिर अफ्रीका के लिये प्रस्थान किया और वहाँ के विविध राजाओं से सन्धि कर उनके प्रदेशों को 'अन्तर्राष्ट्रीय सभा' के अधीन किया।

लियोपोल्ड की अन्तर्राष्ट्रीय सभा जिस तेजी से अफ्रीका के विविध प्रदेशों को अपनी संरक्षा में ला रही थी, उसे अन्य यूरोपियन राष्ट्र सहन न कर सके। विशेषतया, इङ्गलैण्ड और पोर्तुगाल ने उसका विरोध किया। इन देशों के प्रयत्न से अफ्रीका की परिस्थिति पर विचार करने के लिये एक अन्य अन्तर्राष्ट्रीय काँग्रेस का अयोजन किया गया। इस काँग्रेस की बैठक नवम्बर सन् १८८४ में बर्लिन में प्रारम्भ हुई। स्विटजरलैण्ड के अतिरिक्त अन्य सब यूरोपियन राज्यों तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रतिनिधि इस काँग्रेस में सम्मिलित हुए थे। इस काँग्रेस में कोन्गो नदी से सींचे जाने वाले प्रदेशों में लियोपोल्ड की 'अन्तर्राष्ट्रीय सभा' के अधिकार स्वीकृत हुए और इन्हें 'कोन्गो के स्वतन्त्र राज्य' के रूप में परिवर्तित किया गया। कोन्गो के स्वतन्त्र राज्य का अधिपति लियोपोल्ड द्वितीय को स्वीकृत किया गया। पर यह ध्यान रहे, कि कोन्गो पर बेल्जियम का आधिपत्य नहीं माना गया था, उस पर लियोपोल्ड द्वितीय का वैयक्तिक रूप में अधिकार स्वीकृत किया गया था। साथ ही, यह भी व्यवस्था की गई थी कि इस राज्य में कोन्गो, नीगर तथा उनकी सहायक नदियों में नौकानयन की सब को स्वतन्त्रता हो और किसी राज्य को इसमें व्यापार आदि के लिये न रोका जा सके।

कोन्गो के स्वतन्त्र राज्य में लिओपोल्ड द्वितीय का शासन बहुत क्रूर तथा अत्याचारपूर्ण था। उस में वहाँ के मूलनिवासियों पर घोर

अत्याचार किये जा रहे थे। लियोपोल्ड कोन्गो की जमीन पर अपना हक समझता था और उस पर खेती करने के लिये वहाँ के निवासियों को जबर्दस्ती गुलाम बनाने का प्रयत्न कर रहा था। रेलवे का विस्तार करने और रबड़ एकत्रित करने आदि के लिये भी अफ्रीकन लोगों पर जबर्दस्ती की जा रही थी। बेल्जियन लोगों के अत्याचारों की कथायें सभ्य संसार के समाचार पत्रों में प्रकाशित हो रही थीं, और यूरोप तथा अमेरिका का लोकमत उनके बहुत विरुद्ध होता जाता था। इस दशा में कोन्गो के स्वतन्त्र राज्य के शासन में परिवर्तन किया जाना अवश्यम्भावी था। आखिर सन् १६०८ में बेल्जियम की सरकार ने इस राज्य को बाकायदा अपने अधीन कर लिया और उसके सुशासन के लिये प्रयत्न प्रारम्भ किया। सन् १६०८ से कोन्गो बेल्जियम के अधीन है।

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में यूरोप के प्रायः सभी प्रमुख राज्य अफ्रीका की लूट में अपना अपना हिस्सा प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील हो गये थे। इङ्गलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, पोर्तुगाल आदि विविध राज्य इस बात के लिये उत्सुक थे कि जितने भी प्रदेशों पर सम्भव हो, अपना आधिपत्य स्थापित करें। बेल्जियम के राजा लियोपोल्ड द्वितीय ने जो उदाहरण उपस्थित किया था, सब देश पूर्ण उत्साह से उसका अनुसरण करना चाहते थे। अफ्रीका के वास्तविक निवासियों की क्या इच्छा है, उनका भी अपनी मातृभूमि पर कोई अधिकार है, इन प्रश्नों पर विचार करने की यूरोपियन देशों को कोई अभिलाषा नहीं थी। उनकी दृष्टि में अफ्रीका का यह विशाल भूखण्ड उनके निवास तथा शासन के लिये खुला पड़ा था। सन् १८६० में यूरोप के ये सभ्य देश अफ्रीका के टुकड़े कर उन्हें आपस में बांट लेने के लिये कटिबद्ध हो गये। जो अफ्रीका कुछ साल पहले तक एक अज्ञात व अपरिचित देश था, जिसमें भयंकर जीव-जन्तु व मनुष्य स्वच्छन्द रूप से जहाँ चाहें विचरते थे, अब यूरो-

पियन राज्यों में विभक्त हो गया। अफ्रीका का यह विभाग किस प्रकार हुआ, इसका वृत्तान्त यहाँ लिख सकना सम्भव नहीं है।

सन् १९१४ तक अफ्रीका के प्रायः सम्पूर्ण प्रदेश विविध यूरोपियन देशों की अधींनता में आचुके थे। सम्पूर्ण अफ्रीका में केवल एक प्रदेश था, जो स्वतन्त्र था। उसका नाम है, अबीसीनिया। यह राज्य उत्तर पूर्वी अफ्रीका में हैं, और इसकी जनसंख्या अस्सी लाख के लगभग है, इसका क्षेत्रफल जर्मनी से दुगना है।

इसमें सन्देह नहीं, कि यूरोपियन लोगों के प्रवेश से अफ्रीका में भारी परिवर्तन शुरू होगये हैं। जंगलों को साफ कर शहर बसाये जारहे हैं। जहाँ पहले दुर्गम जंगल व भयंकर दलदल थे, वहां अब लहलहाते खेत नजर आते हैं। खानों को खोदकर तथा भूमि का उपयोग कर अफ्रीका की विशाल सम्पत्ति को प्रयुक्त किया जा रहा है। आज अफ्रीका में रेलों का जाल बिछाया जाना शुरूहो गया है, सड़कें बन रही हैं, और धीरे धीरे यह विस्तृत भूखण्ड वही रूप धारण करता जाता है, जो अन्य सभ्य व उन्नत देशों का है। अफ्रीका के मूल निवासी जो पहले जंगली व अर्धसभ्य थे, अब सभ्यता के क्षेत्र में बड़ी तेजी से पग बढ़ा रहे है। यूरोपियन लोगों के संसर्ग से वे आधुनिक समय के विज्ञान व विद्या से भी परिचित होते जाते हैं। अफ्रीका का भविष्य बहुत उज्वल है। अगली सदियों के इतिहास में अफ्रीका का स्थान बहुत महत्वपूर्ण होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता।

अट्ठतीसवाँ अध्याय

महायुद्ध से पहले की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

(१) त्रिगुट का निर्माण

सन् १८१५ में वीएना की कांग्रेस ने अपना कार्य समाप्त किया था। वीएना में एकत्रित राजनीतिज्ञों का मुख्य लक्ष्य एक था। वह यह कि फ्रांस की राज्यक्रान्ति द्वारा उत्पन्न हुईं नवीन प्रवृत्तियों को एक साथ मिलकर कुचला जावे। राष्ट्रीयता और लोक तन्त्रवाद की नवीन प्रवृत्तियों को उस समय के राजा और राजनीतिज्ञ लोग सहन नहीं कर सकते थे। इसीलिये मैटरनिच के नेतृत्व में राजाओं के पवित्र मित्र-मण्डल का विचार प्रादुर्भूत हुआ था। इस मित्र-मण्डल में आष्ट्रिया, प्रशिया, इङ्गलैण्ड और रशिया सम्मिलित थे। आगे चल कर सन् १८१८ में फ्रांस को भी इसमें शामिल कर लिया गया और यूरोप के ये पांचों प्रमुख राज्य एक साथ मिल कर क्रान्ति की नई प्रवृत्तियों को कुचलने के लिये सन्नद्ध हो गये। सन् १८१५ से १८४८ तक यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इसी 'पवित्र मित्र मण्डल' का जोर रहा। जहाँ कहीं भी क्रान्ति के चिन्ह प्रकट होते, ये राज्य उसे नष्ट करने में अपनी शक्ति को लगा देते। इसमें सन्देह नहीं, कि फ्रांस और इङ्गलैण्ड देर तक इस मण्डल में शामिल नही रह सके, दूसरे देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने की नीति का समर्थन कर सकना उनके लिए

कठिन हो गया। पर यह ठीक है, कि १८४८ तक यूरोपियन राजनीति में पवित्र मित्र मण्डल का पूरा जोर रहा और सभी यूरोपियन राज्य उसके आतंक को मानते रहे।

परन्तु १८४८ से इस स्थिति में परिवर्तन आना शुरू हुआ। इस बीच में राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति निरन्तर जोर पकड़ती जाती थी। फ्रांस, इङ्गलैण्ड और रशिया तो पहले से ही संगठित राज्य थे। अब इटली और जर्मनी भी अपने राष्ट्रीय संगठन के लिये प्रयत्न कर रहे थे। पवित्र मित्र मण्डल नई प्रवृतियों के चाहे कितना ही विरुद्ध क्यों न हों, पर समय की लहर को रोक सकना उसके लिये असम्भव था। राष्ट्रीय भावना की वृद्धि के साथ साथ मित्र मण्डल में सम्मिलित विविध राज्यों के लिये आपस में एक साथ मिलकर कार्य करना कठिन होता चला गया। उन्हें नजर आने लगा, कि हमारे राष्ट्रीय हित एक दूसरे के विरुद्ध हैं। व्यावसायिक क्रान्ति इस समय में सब देशों की आन्तरिक अवस्था को परिवर्त्तित कर रही थी। विविध देशों के आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थ आपस में टकराने लगे थे। परिणाम यह हुआ, कि पवित्र मित्र मण्डल का विचार शिथिल पड़ता गया और उसके स्थान पर विविध राज्य एक दूसरे के विरुद्ध आपस में गुट बनाने लगे। बाल्कन प्रायद्वीप, काला सागर और तुर्की साम्राज्य के सम्बन्ध में रशिया और इङ्गलैण्ड के स्वार्थ एक दूसरे के विरुद्ध थे। इसलिये इङ्गलैण्ड ने फ्रांस और पीडमौन्ट के साथ मिलकर रशिया के खिलाफ गुट तैयार किया। क्रीमियन युद्ध (१८५४-५६) में इङ्गलैण्ड, फ्रांस और पीडमौन्ट के इसी गुट ने रशिया को परास्त किया था। इटली की बढ़ती हुई राष्ट्रीय भावना के लिये यह आवश्यक था, कि उत्तरी इटली के प्रदेशों से आस्ट्रियन शासन को समाप्त किया जावे। इसलिये १८५६ में पीडमौन्ट के राजा ने फ्रांस के साथ मिलकर आस्ट्रिया के खिलाफ गुट तैयार किया। यह गुट इटली से आस्ट्रियन शासन का अन्त करने

में बहुत कुछ सफल हुआ। इसी प्रकार १८५६ में प्रशिया और आस्ट्रिया ने डेन्मार्क के खिलाफ और १८६६ में प्रशिया और इटली ने आस्ट्रिया के खिलाफ गुटों का निर्माण किया। इन उदाहरणों से यह भली भाँति समझा जा सकता है, कि सन् १८४८ के बाद यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से पवित्र मित्रमण्डल की भावना नष्ट हो चुकी थी और विविध राज्य अपने राष्ट्रीय उत्कर्ष के लिये एक दूसरे के विरुद्ध गुट बनाने में तत्पर हो गये थे।

१८७० तक पवित्र मित्रमण्डल का विचार यूरोप में पूर्णतया नष्ट हो गया था। वाएना की कांग्रेस ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की जिस पद्धति का प्रादुर्भाव किया था, वह अब सर्वांश में समाप्त हो गई थी। उसका स्थान अब विविध राज्यों की पारस्परिक गुटबन्दी ने ले लिया था। इस गुटबन्दी का उद्देश्य यह होता था, कि कोई राज्य या राज्यों का कोई गुट इतना अधिक शक्तिशाली न हो जावे, कि अन्य राज्य उसके सम्मुख कोई चीज न रहें। राज्यों की शक्ति समुत्तुलित रहे, क्योंकि शक्ति के समुत्तुलन से ही शान्ति कायम रह सकती है, यह इन गुटबन्दियों का आधारभूत सिद्धान्त होता था। सन १८७० के बाद यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जर्मनी के प्रधान मन्त्री प्रिंस बिस्मार्क का बहुत अधिक महत्त्व है। जिस प्रकार १८१४ से १८४८ तक यूरोपियन राजनीति का प्रधान सञ्चालक मैटरनिच था, उसी प्रकार १८७० से शुरू कर प्रायः २० वर्ष तक यूरोप में बिस्मार्क का प्राधान्य रहा। १८७० के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को भली-भाँति समझने के लिये बिस्मार्क के कर्तृत्व पर ध्यान देना आवश्यक है। इस काल में यूरोपियन राजनीति का प्रधान नेता बिस्मार्क ही था।

सन १८७०-७१ के युद्ध में जर्मनी ने फ्रांस को बुरी तरह परास्त किया था। फ्रांस के लोग जर्मनी से अपने राष्ट्रीय अपमान का बदला चुकाने के लिये व्याकुल थे। इसलिये स्वाभाविक रूप से बिस्मार्क की

यह आकांक्षा थी, कि यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जर्मनी की स्थिति बहुत शक्तिशाली रहे और फ्रांस किसी अन्य राज्य का सहयोग न प्राप्त कर सके। इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर बिस्मार्क ने विविध राज्यों से सन्धि करनी प्रारम्भ की। सन १८७६ में उसने आस्ट्रिया हंगरी के साथ सन्धि की। आस्ट्रिया हंगरी उन दिनों बालकन प्रायद्वीप में अपनी शक्ति का विस्तार करना चाहता था। पर इस प्रयत्न में रशिया के साथ उसका टाकरा होता था। रशिया बालकन प्रायद्वीप पर अपना प्रभाव कायम करने के लिये बहुत समय से प्रयत्न कर रहा था। विस्मार्क ने इस स्थिति से लाभ उठाकर रशिया के खिलाफ आस्ट्रिया-हंगरी से सन्धि कर ली। इसी प्रकार उन दिनों इटली और फ्रांस के साम्राज्य विषयक हित एक दूसरे के साथ टकराते थे। इटली और फ्रांस दोनों ही उत्तरी अफ्रीका में अपना अपना साम्राज्य स्थापित करने के लिये प्रयत्न कर रहे थे। ट्यूनिस पर इन दोनों राज्यों की आँख थी। सन १८८१ में फ्रांस ने ट्यूनिस को अपने कब्जे में कर लिया। इससे इटली में बहुत असन्तोष हुआ। विस्मार्क तो ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में ही था। इटली में फ्रांस के विरुद्ध जो भावना फैल रही थी, उसका लाभ उठा कर उसने उसके साथ सन्धि कर ली। यह सन्धि फ्रांस के विरुद्ध की गई थी और निस्सन्देह इससे जर्मनी को फ्रांस के विरुद्ध एक अच्छे शक्तिशाली राज्य की सहायता प्राप्त हो गई थी।

जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली की इस पारस्परिक सन्धि को इतिहास में त्रिगुट (ट्रिपल एलायन्स) के नाम से कहा जाता है। १८७६ और १८८२ की इन सन्धियों में जर्मनी, आष्ट्रिया और इटलो ने यह निश्चय किया था, कि यदि उनमें से किसी एक पर दो या अधिक राज्यों ने आक्रमण किया, तो वे उसकी सहायता करेंगे। यदि फ्रांस जर्मनी पर आक्रमण करे, तो इटली ने जर्मनी की सहायता के लिये

प्रतिज्ञा की थी। इसी प्रकार यदि फ्रांस इटली पर आक्रमण करे, तो जर्मनी और आस्ट्रिया दोनों ने उसे सहायता देने का बचन दिया था। यह निश्चय किया गया था, कि यदि जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली में से किसी का किसी अन्य एक राज्य के साथ युद्ध हो रहा हो, तो दूसरे उस राज्य की सहायता नहीं करेंगे। यह लिखना व्यर्थ है, कि इस गुट से जर्मनी की स्थिति बहुत सुरक्षित तथा दृढ़ हो गई थी। फ्रांस से उसे कोई भय नहीं रहा था, क्योंकि फ्रांस के साथ युद्ध होने की दशा में उसे इटली की सहायता का पूरा भरोसा था और यदि कोई अन्य राज्य फ्रांस की सहायता करने को उद्यत हो, तो आस्ट्रिया की शक्ति उसके साथ थी। इसी प्रकार रशिया के विरुद्ध आस्ट्रिया की सहायता का जर्मनी को पूरा भरोसा था।

किसी समय जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली एक दूसरे के घोर शत्रु थे। बिस्मार्क ने ही आस्ट्रिया को जर्मन संघ से निकाल कर बाहर किया था और इटली और आस्ट्रिया का युद्ध समाप्त हुए अभी अधिक दिन नहीं हुए थे। फिर क्या कारण है, जो ये राज्य आपस में इस प्रकार का गुट बनाने में समर्थ हुए? जर्मनी को इस गुट से प्रधान लाभ यह था, कि फ्रांस की तरफ से वह बहुत कुछ निश्चिन्त हो जाता था। इस गुट से उसे यह पूरा भरोसा था कि यदि फ्रांस ने कभी अपने राष्ट्रीय अपमान (१८७०) का बदला लेने का प्रयत्न किया, तो इटली, आस्ट्रिया और जर्मनी की सम्मिलित शक्ति के सम्मुख वह कुछ न कर सकेगा। आस्ट्रिया को इस गुट में शामिल होने से यह लाभ था, कि बालकन प्रायद्वीप सम्बन्धी नीति में उसे जर्मनी जैसे शक्तिशाली राज्य की सहायता प्राप्त होती थी। हम पहले बता चुके हैं, कि आस्ट्रिया की महत्त्वाकांक्षा इस समय बाल्कन प्रायद्वीप के राज्यों को अपने अधीन करने की थी। जर्मनी और इटली से आस्ट्रिया की शक्ति अब नष्ट हो चुकी थी। पश्चिम और दक्षिण की तरफ अपना प्रभाव स्थापित

करने में असफल होकर अब आस्ट्रिया का ध्यान पूर्व के कमजोर राज्यों की तरफ आकृष्ट हुआ था और बोस्निया तथा हर्जोगोविना के प्रदेशों को वह अपने अधीन कर भी चुका था। पर रशिया भी बालकन प्रायद्वीप के इन्हीं प्रदेशों को अपने प्रभाव में लाना चाहता था। बालकन राज्यों की राष्ट्रीय भावना का लाभ उठा कर इस समय रशिया उन्हें सहायता देने के लिये विशेषतया उत्कण्ठित था और इस प्रकार आस्ट्रिया और रशिया के स्वार्थ इस क्षेत्र में बुरी तरह टकराते थे। रशिया के विरुद्ध अपनी शक्ति को कायम रखने के लिये आस्ट्रिया जर्मनी की सहायता को बहुत महत्त्व देता था। इटली जर्मनी और आस्ट्रिया के साथ त्रिगुट में क्यों शामिल हुआ, इसे समझ सकना भी कठिन नहीं है। हम पहले बता चुके हैं, कि उत्तरी अफ्रीका में इटली और फ्रांस के साम्राज्य-विषयक हित एक दूसरे के विरुद्ध थे। इटली साम्राज्यवाद की दौड़ में बहुत पीछे रह गया था। वह चाहता था, कि अपने प्राचीन गौरव का पुनरुद्धार करे। इसीलिये वह त्रिगुट में शामिल हुआ था। पर यह ध्यान रखना चाहिये, कि एड्रियाटिक सागर के तट पर इटली और आस्ट्रिया के स्वार्थों में विरोध था। यद्यपि फ्रांस के विद्वेष से इटली जर्मनी और आस्ट्रिया के साथ मिल गया था, पर वस्तुतः आस्ट्रिया के साथ उसका हितविरोध बहुत अधिक था। यही कारण है, कि इटली इस त्रिगुट में बहुत देर तक कायम नहीं रह सका, और आगे चल कर वह इस त्रिगुट से न केवल निकल ही गया, पर उसके विरोधियों के साथ मिल गया।

आस्ट्रिया और इटली के साथ सन्धि करके जर्मनी की स्थिति बहुत सुरक्षित हो गई थी, पर बिस्मार्क इतने से ही संतुष्ट नहीं था। वह बहुत ही कूटनीतिज्ञ था। उसे रशिया से कोई प्रत्यक्ष विरोध नहीं था। आस्ट्रिया को अपने साथ में मिलाने के लिये ही उसने बालकन प्रायद्वीप में इन दोनों राज्यों के हित विरोध को प्रयुक्त किया था। पर वह चाहता था,

कि रशिया के साथ भी जर्मनी की सन्धि रहे। इसीलिये उसने रशिया के साथ पृथक् रूप मे समझौता करने का प्रयत्न किया। पहले उसने १८७२ में रशिया के साथ सन्धि की। पर यह सन्धि देर तक कायम नहीं रह सकी, क्योंकि बालकन प्रायद्वीप में आस्ट्रिया और रशिया के हित एक दूसरे से सर्वथा विरुद्ध थे और जर्मनी के लिये यह सम्भव नहीं था, कि आस्ट्रिया और रशिया दोनों से एक साथ सन्धि रख सके। इसलिये १८८७ में रशिया और जर्मनी की सन्धि टूट गई। पर बिस्मार्क जिस किसी तरह भी सम्भव हो, रशिया से अच्छे सम्बन्ध कायम रखने के लिये उत्सुक था। सन् १८८७ के समाप्त होने से पूर्व ही उसने आस्ट्रिया से छिपा कर फिर रशिया के साथ समझौता किया और इस प्रकार यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जर्मनी की स्थिति को बहुत सुदृढ़ कर दिया। इतने देशों के साथ जर्मनी की सन्धि हो जाने पर फ्रांस के लिये जर्मनी से बदला उतार सकना सर्वथा असम्भव था। इटली, आस्ट्रिया और रशिया को बिस्मार्क अपने जाल में फंसा चुका था। इस दशा में फ्रांस किसकी सहायता पर भरोसा कर सकता था? बिस्मार्क की कूटनीति ने फ्रांस को सर्वथा असहाय बना दिया था। यूरोपियन राजनीति में उसका कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रह गया था। अठारहवीं सदी में फ्रांस यूरोप का शिरोमणि था। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में नैपोलियन के नेतृत्व में फ्रांस की शक्ति का असाधारण रूप से विस्तार हुआ था। पर अब बिस्मार्क ने उसे बहुत अगण्य बना दिया था। बिस्मार्क फ्रांस से भी कोई विशेष दुश्मनी नहीं रखता था। यूरोप से बाहर अफ्रीका आदि में वह अपने राज्य का जितना चाहे विस्तार करे, बिस्मार्क को उसमें कोई आपत्ति नहीं थी। वह तो यही चाहता था, कि यूरोप में वह जर्मनी से बदला उतारने के खयाल को अपने दिमाग से बाहर निकाल दे, आल्सेस लोरेन को फिर से वापिस लेने की बात भी न सोचे और जर्मनी को यूरोप में अपनी शक्ति को यथेष्ट रूप से बढ़ाने दे।

इङ्गलैण्ड के साथ बिस्मार्क की नीति का कोई विरोध न था। कारण यह कि बिस्मार्क भली भाँति समझता था, कि यदि इङ्गलैण्ड के सामुद्रिक आधिपत्य को आघात पहुँचाने का कोई प्रयत्न न किया जावे, तो इङ्गलैण्ड का जर्मनी के साथ कोई विरोध नहीं हो सकता। यूरोप में चाहे कोई राज्य शक्तिशाली हो जावे, इङ्गलैण्ड उसका तब तक विरोध नहीं करेगा, जब तक वह उसके सुविस्तृत साम्राज्य को नुकसान पहुँचाने का विचार न करे। जब तक जर्मनी की शक्ति स्थल में है, और समुद्र पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिये वह उद्योग नहीं करता, तब तक इङ्गलैण्ड का उससे विरोध हो ही कैसे सकता है! बिस्मार्क कहा करता था, कि जमीन के चूहे और जल के चूहे में आपस में लड़ाई क्यों कर हो सकती है? बिस्मार्क नहीं चाहता था, कि जर्मनी अपनी सामुद्रिक शक्ति को विशेषतया उन्नत करे। यूरोप में अपनी शक्ति को अद्वितीय बनाना ही उसका चरम लक्ष्य था। इस दशा में इङ्गलैण्ड के साथ उसका कोई विरोध नहीं हो सकता था। बिस्मार्क के समय में इङ्गलैण्ड और जर्मनी के सम्बन्ध बहुत उत्तम तथा मित्रतापूर्ण थे।

(२) फ्रांस और रशिया का गुट

बिस्मार्क की कूटनीति के कारण कुछ समय के लिये फ्रांस बिलकुल अकेला रह गया। आस्ट्रिया और इटली जर्मनी के साथ गुट में शामिल हो चुके थे। रशिया के साथ भी बिस्मार्क सन्धि कर चुका था। इस दशा में फ्रांस यूरोपियन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बिलकुल अकेला रह गया। फ्रैंको प्रशियन युद्ध के बाद १८७१ से १८९३ तक फ्रांस की प्रायः यही दशा रही। जर्मनी से बदला उतारने की भावना उसमें बड़े तीव्र रूप में विद्यमान थी। आल्सेस और लारेन के प्रदेशों को फिर से अपने साथ मिलाने के लिये फ्रेञ्च

लोग व्याकुल हो रहे थे। पर अकेले रहते हुए फ्रांस के लिये यह असम्भव था, कि वह जर्मनी से बदला उतार सके। जब तक बिस्मार्क विद्यमान रहा, फ्रांस अपना सिर नहीं उठा सका। बिस्मार्क की कूटनीति के सम्मुख फ्रेञ्च राजनीतिज्ञ बिलकुल अप्रतिभ हो गये थे।

कैसर बिलियम द्वितीय के जर्मन सम्राट् बनने पर बिस्मार्क की शक्ति क्षीण होने लगी। १८६० में वह अपने पद से पृथक् हो गया और उसका उत्तराधिकारी जनरल फान केप्रिवी (१८६०-१८६४) बना। वह बहुत कमजोर शासक था और उसके समय में जर्मन नीति का सञ्चालन स्वयं सम्राट् विलियम करता था। १८६० से जर्मनी की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में परिवर्तन आना प्रारम्भ हुआ। इस समय बाल्कन प्रायद्वीप और काला सागर के सम्बन्ध में आष्ट्रिया और रशिया के हित परस्पर टकरा रहे थे। बिस्मार्क ने इस हित विरोध के होते हुए भी दोनों देशों के साथ सन्धि स्थापित की हुई थी। कैसर विलियम की सम्मति में आस्ट्रिया और रशिया के हित परस्पर इतने विरुद्ध थे, कि एक समय में उन दोनों के साथ सन्धि रख सकना असम्भव था। उसका खयाल था, कि पूर्वी यूरोप (बाल्कन प्रायद्वीप) की समस्या पर आस्ट्रिया और रशिया में युद्ध का छिड़ना अवश्यम्भावी है। अतः जर्मनी को यह निर्णय पहले से ही कर लेना चाहिये कि युद्ध की दशा में किसका साथ दे। कैसर विलियम का यह भी विचार था, कि जर्मनी के लिये आस्ट्रिया का साथ देना लाभप्रद है। कैसर विलियम आस्ट्रिया, जर्मनी और इटली के त्रिगुट को बहुत अधिक महत्त्व देता था और उसके लिये रशिया की मित्रता को कुर्बान करने को तैयार था। जर्मनी और रशिया में जो सन्धि सन् १८८७ में हुई थी, वह १८६० के जून मास में समाप्त हो जाती थी। यदि बिस्मार्क की नीति का अनुसरण किया जाता, तो इस सन्धि को इस समय फिर दोहराया जाना चाहिये था, पर कैसर

विलियम ने इसकी आवश्यकता नहीं समझी और रशिया तथा जर्मनी की सन्धि स्वयमेव समाप्त हो गई। फ्रांस के समान रशिया भी यूरोपियन राजनीति में अकेला रह गया।

इस दशा में यह अस्वाभाविक नहीं था, कि फ्रांस और रशिया परस्पर सन्धि कर लें। यह ठीक है, कि उनमें एक दूसरे से बहुत भिन्नता थी। फ्रांस क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों की जन्मभूमि था, वही एक ऐसा महत्त्वपूर्ण यूरोपियन देश था, जहाँ रिपब्लिक स्थापित थी। दूसरी तरफ रशिया में एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन था। इन दोनों की सभ्यता, संस्कृति और परम्पराओं में भी बहुत भेद था। पर यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियां इस समय उन्हें परस्पर सन्धि करने के लिये प्रेरित कर रही थीं। फ्रांस को रशिया की सहायता की आवश्यकता थी, क्योंकि फ्रांस की महत्त्वाकांक्षा जर्मनी से बदला उतारने की थी। दूसरी तरफ रशिया भी अकेला पड़ गया था, उसे भी किसी शक्तिशाली राज्य की सहायता अभीष्ट थी। इसके अतिरिक्त, रशिया को धन की आवश्यकता भी थी। एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन के उस जमाने में रशियन सरकार की आर्थिक दशा सन्तोषजनक नहीं थी। साम्राज्यविस्तार की विविध योजनाओं में रशियन सरकार बहुत खर्च कर रही थी, और इसे राष्ट्रीय आमदनी से पूरा नहीं किया जा सकता था। इसलिये रशिया को कर्ज की आवश्यकता थी। फ्रांसने इस कर्ज में बड़े उत्साह के साथ भाग लिया। रशिया और फ्रांस की सन्धि में इस बात से भी बड़ी सहायता मिली।

सन् १८६१ में फ्रांस के एक जहाजी बेड़े ने रशिया की यात्रा की। रशिया के जार अलेक्जेण्डर तृतीय ने उसका बड़ी धूमधाम के साथ स्वागत किया। फ्रांस का क्रान्तिकारी राष्ट्रीय गीत पहले रशिया में प्रवेश भी नहीं पा सकता था। पर इस मौके पर जार अलेक्जेण्डर तृतीय ने सिर झुका कर बड़े सम्मान के साथ इस क्रान्तिकारी गीत का

श्रवण किया। रशिया और फ्रांस का यह सम्बन्ध निरन्तर बढ़ता गया। जार ने फ्रांस की यात्रा की और फ्रांस का राष्ट्रपति रशिया गया। आखिर सन् १८६३ में दोनों राज्यों में परस्पर सन्धि हो गई। यूरोप के आधुनिक इतिहास में इस सन्धि का बड़ा महत्त्व है। इस सन्धि के अनुसार यह निश्चय किया गया, कि यदि जर्मनी व जर्मनी और इटली फ्रांस पर आक्रमण करें तो रशिया फ्रांस की सहायता करेगा और इसी प्रकार यदि जर्मनो व जर्मनी और आस्ट्रिया रशिया पर आक्रमण करें, तो फ्रांस रशिया की सहायता करेगा।

इस सन्धि से फ्रांस की अन्तर्राष्ट्राय स्थिति बहुत मजबूत हो गई। वह अब अकेला नहीं रह गया। बिस्मार्क ने जर्मनी को जिस सुरक्षित दशा में पहुँचा दिया था, वह नष्ट हो गई। बिस्मार्क इस समय शक्तिच्युत होकर एकान्तवास कर रहा था। जब उसे इस सन्धि का पता लगा, तो उसके दुःख की सीमा नहीं रही। उसने कैसर विलियम को बहुत कुछ बुरा भला कहा। पर अब हो क्या सकता था? फ्रांस और रशिया का शक्तिशाली गुट जर्मनी के त्रिगुट का भली भांति मुकाबला कर सकता था।

(३) जर्मनी और इङ्गलैण्ड

कैसर विलियम द्वितीय के शासन में जर्मनी की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बहुत परिवर्तन आया। कैसर विलियम की यह महत्त्वाकांक्षा थी, कि जर्मनी सम्पूर्ण संसार में शिरोमणि हो जावे। वह इतने से संतुष्ट नहीं था, कि यूरोप में जर्मनी की स्थिति सुदृढ़ तथा सुरक्षित रहे, वह चाहता था कि जर्मनी सारे संसार का नेतृत्व करे और 'जर्मनी तथा जर्मन सम्राट् की अनुमति के बिना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में पत्ता भी न हिल सके।' बिस्मार्क ने जर्मनी की सामुद्रिक शक्ति को बढ़ाने तथा औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित करने के लिये कोई प्रयत्न